सांस्कृतिक कहानियाँ

भाग-1

सुदर्शन सिंह 'चक्र'

श्री राम आध्यात्मिक प्रन्यास

हनुमद्धाम

शुकतीर्थ, जनपद मुजफ्फरनगर (उ०प्र०)

वेबसाईट : www.hanumaddhamshukratal.com मोबाइल : 9457546661, 9720514512

ईमेल : hanumatdham.skt@gmail.com फोन : 01396-228225

◆ **प्रकाशक**
हनुमद्धाम (श्री राम आध्यात्मिक प्रन्यास)
शुकतीर्थ मुजफ्फरनगर (उ.प्र.) 251316

◆ **संस्करण**
हनुमत् जयन्ती चैत्र पूर्णिमा सं० 2073 वि०
सन् 2016 ई०

◆ **आवरण एवं टाइपसैटिंग**
ड्रीम शेपर्स, मुजफ्फरनगर
मो०- 09897035745

◆ **मुद्रक**
एन०पी०पी०एल० (प्रेस यूनिट)
मेरठ

◆ **पत्र-पुष्प** ₹150

अनुक्रमणिका

हनुमद्धाम
श्रीराम आध्यात्मिक प्रन्यास
(संक्षिप्त परिचय)

श्री शुकतीर्थ

जिस प्रकार नदियों में गंगा देवताओं में विष्णु और वैष्णवों में भगवान शंकर सबसे उत्तम हैं, वैसे ही पुराणों में श्रीमद्‌भागवत पुराण सर्वश्रेष्ठ है। यह पुराण दोषरहित अत्यन्त निर्मल ग्रन्थ है। इसमें जीवनमुक्त परमहंसों के सर्वोत्तम, अद्वितीय एवं विशुद्ध ज्ञान का वर्णन किया गया है।

शुकतीर्थ वही पावन स्थान है जहाँ शुकदेव जी के श्री मुख से निःसृत श्रीमद्‌भागवत कथा मानव के तीन भव-तापों के शमन के लिए घोषणा कर रही है -

श्री शुक मुनि भागवत कहि लीनों जगत उबार।
नहि अब लौं भवसिंधु में, डूबि जात संसार।।

मुजफ्फरनगर जनपद मुख्यालय से २९ किमी. दूर माँ भागीरथी गंगा के तट पर स्थित शुकतीर्थ उत्तर भारत का अत्यंत पौराणिक धार्मिक तथा सुरम्य तीर्थ स्थल है। इसका अन्य पुराणों एवं श्रीमद्‌भागवत महापुराण में आनन्दवन नाम से भी वर्णन मिलता है इसको ही शुकतार अथवा शुकताल या शुक्रताल कहते हैं। मुजफ्फरनगर से यहाँ तक बस, टैम्पो इत्यादि द्वारा पहुँचा जा सकता है। श्री शुकदेव जी ने यहीं महाराज परीक्षित को श्रीमद्‌भागवत सुनाई थी। श्रीमद्‌भागवत की उद्‌गम-स्थली होने के कारण यह भूमि सदा से ही सन्त महात्माओं की साधना-स्थली रही है। यहाँ के तपोमय सात्विक वातावरण से मुग्ध होकर श्री 'चक्र' जी महाराज ने इसे श्रद्धालुओं का श्रद्धा केन्द्र जानकर इसी शुकतीर्थ को हनुमद्धाम के निर्माण के लिए चुना।

हनुमद्धाम में श्री हनुमान-विग्रह का स्वरूप

हनुमद्धाम में हनुमान-विग्रह सिद्धपीठ के रूप में प्रतिष्ठित है। सिद्धपीठ का अभिप्राय है – जीव को समस्त लौकिक परितापों से छुटकारा दिलाकर परम प्राप्तव्य भगवत्प्राप्ति के जाग्रत साधन का केन्द्र।

श्री हनुमान जी का यह विग्रह श्री चरणों से मुकुट तक ६६ फुट तथा सतह से मुकुट ७७ फीट ऊँचा, विशाल, चित्ताकर्षक, नयनाभिराम एवं प्रसन्न वरद्-मुद्रा में विराजित है। इस विग्रह के अन्दर भारत की विभिन्न लिपियों में लिखे ७०० करोड़ भगवन्नाम (विग्रह में समाहित भगवन्नाम जिस कागज पर अंकित है उसका वजन १४ टन तथा क्षेत्रफल १००५० घनफुट है) सुरक्षित करके स्थापित किये गये हैं। विग्रह के प्रत्येक अंग में नख से शिख पर्यन्त भगवन्नाम समाहित हैं। श्री हनुमान जी का यह चित्ताकर्षक, नयनाभिराम एवं प्रसन्न मुद्रा में स्थित विग्रह देखने से ऐसा लगता है कि अभी-अभी गगन-चुम्बी, कनक-भूधराकार विग्रह प्रकट हो गया है। इसके श्रीअंग-उपांग, वस्त्र-आभूषण, आयुध सभी में राम-नाम समाहित हैं। यह विग्रह वज्रांग है तथा 'वामहस्त गदायुक्तम्' है, अर्थात बाँया हाथ गदा से युक्त है जो इनका प्रमुख आयुध है। इसे कंधे के सहारे युद्ध की मुद्रा में नहीं अपितु बाँये चरण के सहारे टिकाये, कर-कमल से बड़ी सहजता से सँभाले हैं, मानों शरण में आये जीव को समस्त विघ्न बाधाओं और लौकिक परितापों से संरक्षण करने का वचन दे रहे हों। दाहिना हाथ आशीर्वाद की मुद्रा में है इस विग्रह के दर्शन से ही भक्त-साधक में अपूर्व आत्मबल, धैर्य, साहस, अभय एवं शक्ति का संचार होने लगता है।

हनुमान मंदिर

जिस पर विशाल श्री हनुमत-विग्रह है उसी पीठिका पर एक और श्री हनुमान जी का सुन्दर और आकर्षक, लघु-विग्रह-मंदिर है।

इस विग्रह के अंग-उपांग में भी राम-नाम समाहित हैं। दैनिक मंगलादर्शन, अभिषेक, पूजा-अर्चना, श्रृंगार-सेवा, राजभोग, नीराजन, उत्थापन, संध्या-आरती, शयन-आरती आदि अष्टायाम-सेवा इसी मंदिर में स्थित लघु विग्रह का होता है। मथुरा वृन्दावन में श्रीकृष्ण के श्रीविग्रह का जिस प्रकार श्रृंगार किया जाता है, उसी प्रकार इस विग्रह का प्रतिदिन अलग-अलग रंगों के अनुसार वस्त्र-आभूषण से श्रृंगार सज्जा होती है। इस प्रकार की आकर्षक सज्जा श्री अवध के अतिरिक्त अन्यत्र देखने को कम ही मिलती है।

सुदर्शन सिंह 'चक्र'

(परिचय)

हनुमद्धाम के संस्थापक, उन्नायक और निदेशक श्री सुदर्शन सिंह 'चक्र' का जन्म सकलडीहा रेलवे स्टेशन से ६ किमी० दूरी पर स्थित ग्राम भेहलटा तहसील चन्दौली जिला वाराणसी (उ०प्र०) में क्षत्रीय (रघुवंशीय) परिवार में दिनांक १४ नवम्बर सन् १९११ (कार्तिक शुक्ल गोपाष्टमी) को हुआ था। आपको हिन्दी, संस्कृत, गुजराती और बंगला भाषा का उत्कृष्ट ज्ञान था। जन्मजात अक्खड़ स्वभाव और फक्कड़ व्यक्तित्व ने इन्हें अनिकेत अपरिग्रही, एकान्तप्रिय एवं जगत से निरपेक्ष बना दिया। इन्हीं दिनों देश में गाँधी जी के नेतृत्व में स्वतंत्रता संग्राम की लहर चरमोत्कर्ष पर थी, देश प्रेम की पुनीत भावना से प्रभावित नवयुवक चक्रजी का मानस उद्वेलित हो उठा और स्वाधीनता के असहयोग आन्दोलन में खुलकर भाग लेने लगे। इस क्रम में कई बार जेल भी जाना पड़ा। १९३३ में गाँधी-इर्विन समझौते के समय जूनागढ़ शिविर में मंत्री रूप में जब आप पं० शान्तनुबिहारी द्विवेदी (सन्यास के बाद अनन्त श्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती) से अनन्य मित्रता की डोर में बंधे तो राष्ट्र भक्ति भगवद् भक्ति में परिवर्तित हो गई। १९३६ में आप वृन्दावन आकर भगवद्साधना करने लगे। १९३७ से १९४१ तक मेरठ की पत्रिका 'संकीर्तन' का सम्पादन किया। फिर 'मानसमणि' रामवन सतना (म०प्र०) के सम्पादक के साथ-साथ गीताप्रेस, गोरखपुरकी प्रमुख पत्रिका 'कल्याण' के यशस्वी सम्पादक श्री हनुमान प्रसाद पोद्दार ने कल्याण के कई विशेषांक के सम्पादन में श्री सुदर्शनसिंह का सहयोग लिया, जिनमें कुछ हैं – नारी अंक, सत्यकथा अंक, तीर्थांक, मानवता-अंक, भगवन्नाम-महिमा और प्रार्थना-अंक, धर्मांक, श्रीरामवचनामृतांक इत्यादि। कल्याण के मासिक अंकों में आपकी

लिखी कहानी नियमित छपती थी जिसमें लेखक के नाम में केवल 'चक्र' लिखा होता था। आप जीवन पर्यन्त आध्यात्मिक ग्रन्थों के लेखन में व्यस्त रहे। पौराणिक उपन्यास लेखन में आप सिद्धहस्त थे। जितनी अधिक संख्या में आपने हिन्दी पौराणिक उपन्यास लिखे हैं, इतनी संख्या में और किसी ने नहीं लिखा है। आप द्वारा लिखी गई पुस्तकों में प्रमुख हैं – जरठ जटायु, महात्मा बाली, श्रीरामचरितमानस में विवेकी विभीषण, श्रीरामचरितमानस में सुमंत्र, श्रीभगवन्नाम संकीर्तन, दिव्य दशमी, मानस-मंदाकिनी (तीन खण्डों में), विधाता विश्वामित्र, ब्रह्मर्षि वशिष्ट, श्री हनुमान चरित्र, देवर्षि नारद, शत्रुघ्न कुमार की आत्मकथा, माता सुमित्रा, रामवन, नव-निर्झरिणी, अष्टदल, नूतन-नवरत्न, जीवन निर्माण, प्रभु आवत, मानस के अनुष्ठान, राक्षस राज, साधन सोपान, मानस के मंगलाचरण, भगवान वासुदेव, श्री द्वारिकाधीश, पार्थसारथि, नन्दनन्दन, आञ्जनेय की आत्मकथा, हमारी संस्कृति, राम-श्याम की झाँकी (दो खण्डों में), सखाओं के कन्हैया, श्याम का स्वभाव, हमारे धर्मग्रन्थ, कर्म रहस्य, साध्य और साधन, कन्हाई, शिव चरित्र, मजेदार कहानियाँ, कल्कि-अवतार या कलयुग का अन्त, भगवान वामन, गोलोक एक परिवार, श्री कृष्ण पंचशील सर्वरुप, उन्मादिनी यशोदा, शिव स्मरण, हमारे अवतार एवं देवी-देवता, हिन्दुओं के तीर्थ स्थान, ज्ञान गंगा भक्ति भागीरथी, नवधा भक्ति, दस महाव्रत, सांस्कृतिक कहानियाँ (१२ खण्डों में), प्रेरक प्रसंग मधु बिन्दु और ज्योति कण, पंचगीत, पुराण-विज्ञान और रहस्य, रामचरित मानस में पंचायती राज्य, वीणा के तार, पर्वोत्सव विवरण, अमृत पुत्र, पलक झपकते– वे मिलेंगे, श्री रामचरित (चार खण्डों में), स्वजनों की दृष्टि में बालकृष्ण और आपकी चर्या इत्यादि। आपने निम्न पुस्तकों का भी सम्पादन किया है – हरि लीला, भागवत परिचय, श्रीमद्भागवत महापुराण, (पदच्छेद, अन्वय एवं हिन्दी शब्दार्थ टीका सहित)।

निरन्तर साहित्य साधना में रत रहने वाले श्रीचक्र जी ने सर्वदा शास्त्रीय सिद्धातों को ही सर्वोच्च माना। आप अध्यात्म-ज्ञान के मणी के रूप में लब्धप्रतिष्ठित होते हुये भी होम्योपैथ, आयुर्वेद एवं प्राकृतिक चिकित्सा के अच्छे जानकार थे। आप ज्योतिष के भी अप्रतिम मर्मज्ञ थे।

बहुआयामी व्यक्तित्व के धनी श्रीचक्र जी ने दिनांक २५ सितम्बर सन १९८९ ई० सोमवार, एकादशी तिथि को गोलोक धाम की ओर प्रयाण किया।

पांच भौतिक शरीर द्वारा हमसे परोक्ष होने पर भी उनकी कृपा प्रत्यक्ष रूप से हनुमद्धाम के विकास में सम्बल है। उनकी अन्तस्थ कल्पना से प्रकटित साहित्य सरिता निरन्तर इस महापुरुष (श्रीचक्र जी) का यशोगान करती हुई प्रवाहित होती रहेगी।

अपनों से अपनी बात

'आञ्जनेय' लिखा गया था सन १९३७ में। उस समय मैं मेरठ में 'संकीर्तन' मासिक का सम्पादक होकर आया था। 'आदेश' के सम्पादक भाई श्रीमदनगोपाल सिंह जी प्रायः 'संकीर्तन' कार्यालय में शाम को मेरे पास आ जाते थे। उनके साथ ही चर्चाओं में श्रीहनुमान–चरित की बात आयी तो उन्होंने आग्रह कर दिया– 'इसे पहिले लिख दीजिये।

उन दिनों लिखने की धुन थी। शरीर कुल २७ वर्ष का होने से उत्साह था। मुझे स्मरण है, एक अध्याय प्रतिदिन के क्रम से 'आञ्जनेय' शीघ्र ही पूरा हो गया था। नगर से बाहर सूर्यकुण्ड पर श्रीमनोहरनाथ के मन्दिर में रहता था। अब तो वहाँ तक नगर का विस्तार हो चुका है। प्रातःकाल अपने नित्यकर्म से निवृत्त होकर लिखने बैठ जाता था। अध्याय पूरा करके तब कार्यालय दस बजे के लगभग पहुँचता था।

लिखते समय पुस्तकें रखने–देखने का अभ्यास नहीं है। मनोहर नाथ में तो मेरे पाठ का ग्रन्थ श्रीमद्भागवत मात्र था। लेकिन मैं कुछ लिखता हूँ, यह बात तो सत्य नहीं है। लेखनी मैंने अपने कन्हाई से माँगी थी और इस प्रकार श्याम ने मुझे लेखक होने का सुयश दिया है। जब मुझे स्वयं लिखना–सोचना नहीं तो मैं ग्रन्थ पढ़ने के पचड़े में क्यों पड़ूँ। बिना कुछ पढ़े, बिना किसी तैयारी के लिखने बैठ गया था। आपको अद्भुत लग सकता है, लेकिन जो उत्तम कोटि के विद्वान हैं, वे अच्छा भ्रान्तिहीन लेखन–प्रवचन कर सकते हैं अथवा जो सर्वथा अपठित हैं, वह अपनी बात बिना हिचक कह सकता है। मैं लगभग अपठित हूँ यदि आप हिन्दी माध्यमिक शिक्षा (सातवीं कक्षा तक) को ही पठन मानते हों। मेरे कन्हाई को तो बाबा ने पढ़ाया ही नहीं। ब्रजराज कुमार ने तो पाँच वर्ष की आयु से ही बछड़े चराने प्रारम्भ कर दिये। ऐसों को लिखना था, अतः जो भी मन में आता गया,

लेखनी कागज काला करती गयी।

'आञ्जनेय' मेरी दूसरी पुस्तक थी– ठीक गणना करूँ तो चौथी; क्योंकि सबसे पहले मैंने गोस्वामी तुलसीदास जी की 'कृष्ण–गीतावली' की टीका की। यह पीछे 'मानसमणि' (रामवन–सतना) और 'परमानन्द' (कलकत्ता) में क्रमशः प्रकाशित हुई। वाराणसी के ग्राम महराई से झूसी (प्रयाग) श्रद्धेय श्रीप्रभुदत्त ब्रह्मचारीजी महाराज के अखण्ड–संकीर्तन अनुष्ठान यज्ञ के दूसरे सत्र में सम्मिलत होने पर सन १९३५ में 'शतदल' लिखा गया। यह सौ गीतों का संग्रह है। अभी प्रकाशित है, यद्यपि उसके बहुत से गीत 'कल्याण' संकीर्तन आदि पत्रों में समय समय पर छप चुके हैं। अभी तो वह तुलसी–संग्राहलय रामवन की चक्रपेटिका की शोभा है। सन १९३६ में वृन्दावन आने पर मैंने अपना पहला श्रीकृष्ण–चरित 'त्रिभुवन सुन्दर' के नाम से लिखा। यह 'संकीर्तन' के ही सन १९३९ के विशेषांक 'श्रीकृष्ण–चरितांक' के रूप में प्रकाशित हुआ। इसके अनन्तर 'आञ्जनेय' लिखा गया। इसको 'संकीर्तन' कार्यालय ने ही प्रकाशित किया।

'संकीर्तन' तो श्रीकृष्ण–चरितांक प्रकाशित करके बन्द हो गया। मैं 'मानसमणि' का सम्पादक होकर रामवन (सतना म०प्र०) आ गया। लेकिन 'आञ्जनेय' लोगों को इतना रूचा था कि उसका प्रथम संस्करण ड़ेढ़–दो वर्ष में समाप्त हो गया था। बहुतों ने उसे अपने नित्य पाठ का ग्रन्थ बना लिया था। मानससंघ, रामवन से उसका किंचित परिवर्धित संस्करण 'श्रीहनुमान–चरित' के नाम से प्रकाशित हुआ। अब अनेक वर्षों से वह भी अप्राप्य हो चुका है।

मैं चाहता था कि 'भगवान वासुदेव' श्री द्वारिकाधीश' 'पार्थ–सारथि' के पश्चात 'नन्दनन्दन' लिखने के साथ जब वह विशाल श्रीकृष्ण–चरित पूरा हो गया तो लेखनी रख दूँ, किन्तु लेखनी जिसने दी है, उसे यह जब स्वीकार हो तब यह हो। उसकी इच्छा पूर्ण हो। प्रिय श्रीविष्णुहरि

डालमिया का आग्रह है कि मुझे लिखना चाहिए। हाथ में उत्पन्न कम्पन को वे बाधा मानने को प्रस्तुत नहीं। उनका तर्क है– 'आप लिख नहीं सकते, पर बोल तो सकते हैं।'

शीघ्र लेखन की सुविधा ने मुझे उत्साहित किया। 'शिव चरित' लिखवा रहा हूँ। उसके पूर्ण होने से पहले ही यह 'आञ्जनेय की आत्मकथा' प्रारम्भ करने का अर्थ इतना ही है कि जो चार चरित लिख–लिखवा देने का संकल्प उठ गया है, वह पूरा हो जाय। श्रीकृष्ण–चरित तो 'श्रीकृष्ण–सन्देश' में क्रमशः प्रकाशित हो रहा है। 'शिव चरित' जैसा क्रम चल रहा है– उसके अनुसार शीघ्र पूर्ण हो जायेगा। अब यह आञ्जनेय की आत्मकथा और उसके पश्चात 'श्रीराम चरित।'

'कल्याण' के सन १९७५ के विशेषांक 'हनुमान अंक' में भाई श्रीविश्वनाथ जी दुबे द्वारा लिखा गया विस्तृत 'हनुमान चरित' प्रकाशित हो गया। अतः श्रीरामदूत के भक्तों को एक अच्छा चरित अपने आराध्य का प्राप्त हो गया है। अब उसी चरित शैली में फिर से 'हनुमान चरित' लिखने की आवश्यकता मुझे नहीं लगती। लेकिन भगवच्चरित और सर्वेश्वर के सर्वात्मना सेवकों–भक्तों का चरित दूसरों को दृष्टि में रखकर, पाठकों अथवा साहित्य की आवश्यकता देखकर नहीं लिखे जाने चाहिए। भगवच्चिन्तन, भक्तचिन्तन चिन्तक के हृदय को पवित्र करके भगवन्मय बनता है, यही सर्वोत्तम फल है इस चिन्तन का। इस पर परम लाभ से मैं क्यों वंचित रहूँ।

भगवच्चरित की अपेक्षा भक्त–चरित का लेखन अधिक कठिन है। भगवान तो सर्वरूप, सर्वात्मक है। वे सबके भावों को सार्थक करते हैं। उन पर सत्यस्वरूप के श्रीचरणों से लगकर समस्त कल्पनाएँ सत्य–सार्थक हो जाती हैं। उनके सम्बन्ध में कोई भी कुछ भी सोचे–कुछ असम्बद्ध नहीं है। वे तो घोषणा कर चुके हैं–

'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजयाम्यहम्।' गीता

लेकिन भक्तों की तो अपनी अपनी निष्ठा होती है। उनके अपने भाव हैं और वे अत्यन्त दृढ़ हैं। उसमें परिवर्तन के लिए स्थान नहीं है। फिर मैं तो 'आत्म चरित' लिखने चला हूँ। आशा इतनी ही है कि राघवेन्द्र के नाते– उनका वंशज होने के नाते श्रीपवनपुत्र का स्नेह मेरा स्वत्व है। वे मंगलमय हृदयारूढ़ होकर वाणी को, कर को बल वैभव देंगे और मेरा कन्हाई सम्हालता–सजाता चलेगा। इसी आस्था पर यह धृष्टता प्रारम्भ कर रहा हूँ।

जय जय श्रीरघुबीर समर्थ!

जय जय श्रीरामदूत– पवनसुत आञ्जनेय!

– सुदर्शन सिंह 'चक्र'

अतिथि–भवन
उड़िशा सिमेंट लि०
राजगंगपुर–७७००१७
शनिवार, भाद्र पूर्णिमा, संवत् २०३२ वि०

अध्यात्म की ओर

[1]

यह एक द्वीप है। मैं पता-ठिकाना इतना नहीं जानता कि उसके आधार पर उसे आप मानचित्र में पा सकें या पानी में अथवा हवा में चलकर इसका पता लगाने निकल पड़ें। मुझे इतना ही पता है कि यह द्वीप है क्योंकि इसके चारों ओर समुद्र हिलोरें मारता है। यह द्वीप इतना बड़ा है कि एक ओर से दूसरी ओर किनारे तक जाने में मुझे तीन दिन लग जाते हैं। जितना लंबा है, मुझे लगता है कि उतना चौड़ा भी है। वैसे मैंने कभी अपनी लाठी से इसे नापा नहीं है। कुछ लोग इसे गोल कहते हैं। गोल हो या चौकोर, बहुत अच्छा है। इसलिए भी अच्छा है कि हम लोगों का है- मेरा है।

ऊँचे-ऊँचे वृक्ष हैं नारियल के, केले का वन है, लंबी-लंबी घासे हैं। इतना अच्छा द्वीप देखा है कहीं आपने? हमारे यहाँ और भी बहुत-से-वृक्ष हैं और वे खूब घने हैं। सदा हरे-भरे रहते हैं। प्राय: वर्षा होती रहती है और जब बादल हटते हैं, धुले आकाश में चमकती धूप निकलती है। क्या हुआ कि हमारे वनों में साँप बहुत हैं, कीड़े बहुत हैं और दूसरे साधारण तथा भयङ्कर पशु भी बहुत हैं। जो अच्छी भूमि होती है, वहीं तो सभी रहना चाहते हैं। यह ठीक है कि हमारे यहाँ लोग साँप काटने से या बीमार होकर मरते हैं और कभी-कभी उन्हें चीते या तेंदुए भी खा लेते हैं; पर क्या ऐसा भी कोई देश आप जानते हैं, जहाँ लोग मरते न हों? क्या सब कहीं लोग इससे भी अधिक कष्ट से नहीं मरते?

यहाँ कई झीलें हैं निर्मल झरने हैं, फूलों से भरे सरोवर हैं और दो नदियाँ भी हैं। मुझे अपने इस टापू पर गर्व है। मुझे पूरा विश्वास है कि इससे अच्छी और कोई भूमि कहीं नहीं है। नारियल के कच्चे फलों का हम पानी पीते हैं, पकने पर उसकी गिरी खाते हैं। नारियल का तेल तो हमारे घर की मुख्य वस्तु है। केले हम पके तो काम में लेते हैं। कच्चे केले को सुखाकर आटा बना लेते हैं। केले की रोटी और केले का ही शाक होता है। ऐसा कोई पदार्थ आपके यहाँ। गेहूँ की रोटी, उबला चावल और दाल तो अब कुछ वर्षों से हमारे यहाँ कुछ लोग सफेद मनुष्यों की देखा-देखी खाने लगे हैं। अच्छे लोग

इन बातों को रोकते हैं। इन सफेद मनुष्यों की नकल करना अच्छी बात नहीं। ये लोग तो ऊदबिलाव की भाँति मछलियाँ खाते हैं। ये उन्हें उबाल लेते हैं- इतने से हो क्या गया। पानी में चञ्चलता से घूमनेवाली कोमल उज्ज्वल सुन्दर मछली, क्या पेड़ों पर फुदकने वाली मनोहर चिड़िया या वन में कूदने-दौड़ने वाले हिरन अथवा शशक की भाँति ही देखने में अच्छी लगने वाली और प्यार पाने योग्य नहीं हैं? क्या मनुष्य को चाहिए कि उसे दुःख दे। मैंने तो यहाँ तक सुना है कि ये सफेद लोग अपने धुएँ वाली काली लाठी से दूर से भी चिड़ियों को, मृग को और बेचारे शशक को भी मार देते हैं और उन्हें भी खा जाते हैं। ये मायावी लोग हैं। इनके पास जाना ही अच्छा नहीं है। इन लोगों ने ही हममें-से कुछ लोगों को यह चावल गेहूँ और पता नहीं और क्या-क्या घास-पात खाना सिखा दिया है। नहीं तो, जबसे यह पृथ्वी बनी हमारे पूर्वज पवित्र नारियल और केले का उत्तम आहार ही करते आये हैं।

आपने हमारे घर देखे हैं? आज आप मेरे घर भोजन करें। मेरी माता आपको देखकर बहुत प्रसन्न होंगी। हम पर आपकी यह कृपा होगी; क्योंकि मेरे बड़े भाई प्रतिदिन तब तक भोजन नहीं करते, जब तक घर में एक नवीन अतिथि को भोजन न करा दिया जाय और आप जानते ही है कि यह बहुत कठिन नियम है। कोई बहुत ही कृपा करता है, तब किसी के घर भोजन की आवश्यकता होने पर जायगा, यह सोचा ही नहीं जा सकता। लेकिन आप मेरा घर देखकर प्रसन्न होंगे। हमने अभी इसी वर्ष नारियल के हरे पत्तों से उसे बनाया है। ऊँचे लट्ठों पर हमने उसे इस प्रकार बनाया है कि जब भी अतिथि आयें, उन्हें कम-से-कम सीढ़ियाँ चढ़नी पड़े, हमारे घर में केवल दस सीढ़ियाँ चढ़कर आप पहुँच जायँगे। यद्यपि चीते तथा सर्प के चढ़ने का भय रहता है; फिर भी अतिथि को कभी पुकारना न पड़े, इसलिए हम रात्रि में भी सीढ़ी को लटकते रहने देते हैं। उसे ऊपर नहीं खींचते। आप जब मेरे घर पधारेंगे, देखेंगे कि मुन्नी आपको देखते ही प्रसन्नता से किलकने लगेगी और हमारी गाय तक हुम्मा-हुम्मा करके आपका स्वागत करेंगी। वहीं बड़ी उत्तम गाय है। दोनों समय दूध से हमारा बर्तन भर देती है । यह गाय मैं दूसरे गाँव से लाया। वहाँ के एक सज्जन इसे एक सफेद आदमी से ले आये थे। सफेद आदमियों ने हमें यही एक उत्तम काम सिखाया। अब आप कृपा करके मेरे साथ मेरे घर पधारें।

× × ×

[2]

मैं उन सज्जन का अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। आज से दस वर्ष पूर्व मेरी प्रार्थना पर वे मेरे घर पर अतिथि हुए थे। उस समय मेरा घर था, यह कहना ही ठीक नहीं है। सहस्रों वर्ष

से हमारे पूर्वज जैसे रहते आये थे, हम भी वैसे ही थे- अनपढ़, असंस्कृत और असभ्य! कुछ ऊँचे लट्ठे भूमि में गाड़कर पृथ्वी से दस-बारह फुट ऊँचाई पर लकड़ियों तथा पत्तों से एक जो गंदा घोंसला बनाया जाता था, आदि युग से हम उसी को घर कहते आते थे। मेरे लिए तो वह भी घर नहीं था। हमारा वह घोंसला, झोपड़ा या घर आप उसे जो चाहें कहें वह था मेरे बड़े भाई का। मुझे तो उनकी आज्ञा में सदा ही रहना पड़ता था। मैं एक प्रकार से दास था उनका। उन सज्जन ने उसी दिन मुझसे मित्रता कर ली। उनके कारण पाश्चात्य जाति के लोगों से मेरा परिचय हुआ। जिनको 'सफेद आदमी' कहकर हम घृणा करते थे। उन्होंने ही हमकों सभ्य बनाया, शिक्षित बनाया। हम उनके सम्पर्क में आकर ही मनुष्य बन सके।

हमारे पक्के मकान सहज ही नहीं बन गये हैं। वनों को काटने में, वन-पशुओं का विरोध तथा प्राकृतिक कठिनाई इतनी अधिक नहीं थी, जितनी कठिनाई अपने स्वजनों के विरोध से किसी प्रकार बचने में उठानी पड़ी। आप देखते ही है कि मेरे बड़े भाई ने मेरा साथ नहीं दिया है। वे अपने उस गंदे घोंसले को छोड़ना नहीं चाहते थे। मुझे भी वे उसी में बन्द रखना चाहते थे। उनसे बहुत विवाद हुआ। किसी प्रकार लड़-झगड़कर मैं यहाँ चला आया; क्योंकि मैंने कुछ पढ़ी लड़की से अपनी इच्छा से विवाह कर लिया है, बड़े भाई ने मुझसे पूरा सम्बन्ध तोड़ लिया है। यह अच्छा ही हुआ; क्योंकि नवीन समाज में मुझे इसलिए संकुचित-लज्जित नहीं होना पड़ता कि मेरा सम्बन्ध एक असभ्य, असंस्कृत परिवार से है।

हमारा दीप छोटा है, इसलिए यूरोप से आये उदार लोगों को अपना प्रभाव यहाँ फैलाने में बहुत समय नहीं लगा। यद्यपि वृद्ध लोग विरोध करते रहे। और वे अब भी विरोध करते हैं; किन्तु युवकों ने इस सभ्यता के प्रकाश का स्वागत किया। अब आपको हमारे द्वीप में पर्याप्त पक्के मकान मिलेंगे जो सुरक्षित ढङ्ग से बनाये गये हैं। जहाँ-तहाँ पादरी लोग शिक्षा देने लगे हैं। मैंने स्वयं इतना अभ्यास कर लिया है कि पुस्तकें पढ़ लेता हूँ। हमें पादरी बिना मूल्य के ही पुस्तकें देते हैं, जिन्हें हम पढ़कर लौटा देते हैं। द्वीप में दो-तीन चिकित्सालय भी चलने लगे हैं।

आप मेरे घर चलकर देखेंगे कि हम यूरोप से बने वस्त्रों का पर्याप्त प्रयोग करने लगे हैं। यद्यपि केले के पत्ते लपेटने वाले लोग अभी बहुत हैं; किन्तु असभ्यता का यह चिह्न शीघ्र समाप्त हो जायगा। हमने वनों को बहुत कुछ काटकर घटा दिया है। धान की खेती करने लगे हैं। वन-पशु तो आखेट के कारण स्वतः ही घट गये। हमारा द्वीप धीरे-धीरे उन्नत होता जा रहा है। मछलियों का व्यवसाय हमने अभी ही प्रारम्भ किया है और यह आपकी दृष्टि से उत्तम व्यवसाय सिद्ध हो रहा है। मैंने अपने घर के आस-

पास फूल लगा रक्खे हैं और मुर्गियाँ, बत्तखें तथा शशक भी पाल रक्खे हैं। ये स्वादिष्ट भोजन के साधन तो हैं ही, अच्छी आमदनी भी इनसे हो जाती हैं।

हमारे गाँव में सप्ताह में दो बार पादरी आता है। मेरे घर पर ही वह ठहरता है। उसके उपदेश एवं शिक्षा के प्रभाव से हम अपने पुराने अन्धविश्वासों को छोड़ते जा रहे हैं। मैंने ही अपनी पसंद की लड़की से विवाह किया जैसा कि पहले कभी सम्भव नहीं था। अब हमने पेड़ों तथा पत्थरों को पूजना भी छोड़ दिया । बीमारी होने पर पुरोहित की उलटी-सीधी क्रियाओं को मानने वाले अब घटते जा रहे हैं। अब हम चिकित्सालयों में जाकर औषधि लेते हैं।

यह ठीक है कि हम अभी यूरोपियन लोगों से बहुत पिछड़े हैं, हमारे घरों में और मनों में भी अभी बहुत-से अन्धविश्वास बचे हैं, अभी बहुत कुछ सीखना और करना हैं हमें तथा बहुत उलट-फेर करना होगा इसके लिए अपने घरों में एवं समाज में; किन्तु हम इसे करेंगे। हमारा निश्चय दृढ़ हैं। हम पूर्ण सभ्य एवं सुसंस्कृत बनेगे। हमारा जातीय जीवन संसार में किसी से पिछड़ा नहीं रहेगा। जीवन-निर्वाह के स्तर को हम क्रमशः ऊँचा उठाते जा रहे हैं और मेरे घर चलने पर आप स्वयं समझ लेंगे कि मेरी बातों में कितना सत्य है। आप अवश्य कभी मेरे यहाँ पधारें।

× × ×

[3]

और दस वर्ष पञ्चात्-

मैं उस कथा को दुहराना नहीं चाहता जो विदेशियों के कारण हमारे इस छोटे-से सुन्दर टापू पर घटी है। अत्याचार, शोषण और उत्पीड़न की यह कहानी उससे कुछ भी भिन्न नहीं हैं, जो आपके यहाँ घटित हुई। यदि आपका देश कभी इन पाश्चात्य लोगों की अधीनता में रहा है। यदि सौभाग्य से ऐसा नहीं है, तो किसी भी पुस्तकालय में किसी पराधीन देश का इतिहास देख लेना। आपके लिए पर्याप्त होगा। हमारी पराधीनता एवं हमारे उत्पीड़न का क्रम भी वही है, जो सदा सर्वत्र रहता आया है। अब इस सब इतिहास को दुहराने से लाभ क्या है? मैं तो केवल अपने लोगों की ओर अपनी बात सोचता हूँ शिकारी तो जाल फैलाता ही है। और दाने भी डालता हैं उसमें; किन्तु खेद तो पक्षी पर है जो नेत्र रहते भी उस जाल पर जा बैठता है।

हमने शिक्षा प्राप्त की, स्वच्छता सीखी, सभ्यता सीखी और बहुत कुछ सीखा! हमें पक्के मकान मिले, कल-कारखानें मिले, चमकते-दमकते वस्त्र मिले,रेल,

वायुयान तथा सभी वैज्ञानिक उपकरण मिले, लंबी-लंबी उपाधियाँ मिली, तितली-सी पत्नियाँ मिली और इसी प्रकार बहुत-सी बातें मिलीं। लेकिन यह बात अधूरी रह जायगी, यदि मैं यह न कहूँ कि इसके साथ ही हमें चोरी मिली, झूठ मिला, क्रोध मिला, दम्भ मिला, छल मिला, आलस्य मिला, अनाचार मिला, आडम्बर मिला, विलासिता मिली, फिजूलखर्ची मिली और ऐसे ही सभ्यता-का वह प्रसाद मिला जो सभ्य देशों को प्राप्त होता है।

हमने अपनी झोंपड़ियाँ छोड़ दीं, असभ्यता छोड़ दी, केले के छिलके लपेटने छोड़ दिये और भोलापन छोड़ दिया। इसके साथ ही हमें अपनी शान्ति, अपना सुख, अपना आचार भी छोड़ देना पड़ा। हमें दया, क्षमा, सरलता, सादगी, सब छोड़ देनी पड़ी। हमारे समाज में जो आज नेता हैं, जो विद्वान हैं, वे अब भी इस टापू की इस उन्नति पर गर्व करते हैं, वे बार-बार कहते हैं कि उन्हीं के सतप्रयत्न से यहाँ के लोगों का जीवन-स्तर इतना ऊँचा हुआ है। मैं उनकी बात को अस्वीकार नहीं करता; किन्तु मुझे लगता है कि जीवन-स्तर ऊँचा होने के साथ-साथ वास्तविक जीवन उसी क्रम से नीचा होता गया है और मानवता तो हमसे बहुत ही दूर जा पड़ी है।

हमारा टापू अब वैसा हरा-भरा कहाँ है? कहाँ हैं वे केले और नारियल के प्राकृतिक वन? केले और नारियल तो है; पर अब वे शोभा के लिए लगाये गये हैं। अब वे लट्ठों पर बनी पवित्र कुटीरें दिखायी नहीं पड़ती! कहाँ हैं अब वैसे सरल निष्कपट स्वस्थ लोग? अब तो नियमित रूप से घरों में सातवें दिन डाक्टर आता है। उसे रोज न आना पड़े, यह गृहपति के लिए सौभाग्य की बात है। अब दूसरों से व्यवहार करते समय यह मान लिया जाता है कि वह यदि मूर्ख नहीं है तो हमें ठगेगा और हमें उसको ठगना है। यह तो सामाजिक कर्तव्य है। अतिथि-सत्कार की तो चर्चा करना व्यर्थ है।

हमारे नेता कहते हैं कि हमारे सौभाग्य से ही हमारे टापू में इतने खनिज प्राप्त हुए कि यदि ये खनिज न प्राप्त होते-परंतु मैं किस मुँह से दूसरी बात कहूँ। मैंने स्वयं ठेका ले रक्खा है दो खदानों का और उसका पूरा लाभ उठाता हूँ। मेरे पास उस पीली चमकीली वस्तु का अभाव नहीं है, जिसे संसार 'सोना' कहता है। आज कोई उसके बिना कैसे प्रतिष्ठा पा सकता है। मेरे पास तो कुछ बहुमूल्य चमकीले पत्थर भी हैं। इन पत्थरों-रत्नों का हमारे समाज ने पहले नाम भी नहीं सुना था। इस सोने का भी हममे-से-गिने चुने लोगों ने ही दूर से देखा था। इनके बिना मजे से हमारा काम चल जाता था। आज भी हम इन्हें खाते नहीं। इन्हें पहनने से सर्दी दूर नहीं होती। लेकिन यदि ये हमारी तिजोरी में बंद न हों....।

आप पूछते हैं कि मैं इतना क्षुब्ध क्यों हूँ। मैं स्वयं ही इसका उत्तर नहीं सोच पाता

हूँ। हमने जो किया है उसका फल जब सामने है, तब हमें क्षोभ क्यों होना चाहिए! मेरा पुत्र मेरी बात नहीं मानता। मैं अपने बड़े भाई से इसीलिए तो पृथक् हुआ कि उनकी दासता मुझे अखर रही थी। उनका स्नेह मुझे काटने दौड़ता था। मेरा पुत्र मेरी दासता स्वीकार नहीं करता तो उसका दोष? वह सभ्य है, शिक्षित है; फिर क्यों किसी की दासता स्वीकार करे? वह अपनी पसंद की एक लड़की से विवाह करने जा रहा है। मैंने रोकना चाहा था, उसने स्पष्ट कह दिया- 'मेरे व्यक्तिगत जीवन में हाथ देने का आपको कोई अधिकार नहीं है।' मैं जानता हूँ कि उस लड़की का आचरण अच्छा नही है। वह अच्छे कुल की भी नहीं है। जो भी हो, उसके साथ जब मुझे नहीं, मेरे लड़के को पूरा जीवन व्यतीत करना , तो मैं क्यों बीच में पड़ता हूँ? मुझे क्या अधिकार?

मेरी लड़की के आचरण के विषय में कुछ लोगों ने मुझसे उलटी-सीधी बातें कही हैं। मैंने आज अपनी पुत्री से बड़े प्यार से पूछा। वह क्रोध से लाल हो गयी। उसने कहा- 'आचार की ये रूढ़ियाँ हम स्त्रियों को गुलाम बनाने के लिए गढ़ी गयी है। पुरुषों की दासता मैं स्वीकार नहीं कर सकती। किसी को कोई अधिकार नहीं कि मेरे आने-जाने, मिलने-जुलने पर प्रतिबन्ध लगावे। मैं अपने सम्बन्ध में स्वयं विचार कर सकती हूँ।; मैं चुप रह गया। जैसे पुरुष स्वतन्त्र है, वैसे ही स्त्री भी स्वतन्त्र है। अब इस स्वतन्त्रता के युग में कोई किसी से क्यों कुछ कहे-सुने?

'मेरी पत्नी !' अब आप यह न पूछते तो अच्छा करते। मेरी वह पत्नी जिसके साथ मैंने बड़े भाई की अवज्ञा करके विवाह किया था, वह इस समय सातवाँ विवाह कर चुकी है। मेरे भाग्य इस विषय में अच्छे हैं; क्योंकि मेरी दूसरी पत्नी ही मेरे घर में अब तक है। वैसे मेरी वर्तमान पत्नी के लिए यह तीसरा पति-गृह है। मेरी यह गृहदेवी संयोगवश ही मुझे प्राप्त हुई और अब तक मैं सीख चुका था कि अपनी रूचि एवं स्वतन्त्रता का गर्व कितना कष्टदायी है। अब मेरे घर में मुझे छोड़कर शेष सब स्वतन्त्र हैं। केवल मैं ही सबकी इच्छा का परतन्त्र हूँ। सबके लिए धन कमाने का यन्त्र बनकर रह गया है मेरा जीवन और उसमें भी परिश्रम-ही-परिश्रम है, परिश्रम के पश्चात् मिलने वाला विश्राम नहीं; क्योंकि जब विश्राम के स्थान पर जो कि 'घर' कहा जाता है, जाता हूँ, तब वहाँ इस प्रकार का स्वागत मिलता है कि उसे पाकर मेरे घर का कुत्ता भी वहाँ दो क्षण बैठना न चाहता।

नहीं-आप भ्रम में न पड़े। मेरा घर सुशिक्षित एवं सभ्य है। मेरे घर का कोई व्यक्ति समाज की सभ्यता का अनादर कभी नहीं करता। मेरा पुत्र, मेरी पुत्री और मेरी स्त्री कभी मेरा अपमान नहीं करेंगी यदि कोई तीसरा व्यक्ति वहाँ हो। मेरी दोनों संतानें प्रातः-सायं का नियमित अभिवादन करना नहीं भूलते। मेरी पत्नी वे सब शिष्टाचार

पूरे चुकाती है, जो एक सभ्य स्त्री को चुकाने चाहिए। हम यन्त्र के युग के प्राणी हैं, यन्त्र के आराधक हैं, तब हमें क्यों इन यन्त्र-से आचारों पर संतुष्ट नहीं रहना चाहिए। हृदय-लेकिन क्या स्वयं हमने अपने पास हृदय को जीवित रहने दिया ? जब अपने हाथों हमने उसका गला घोंट दिया, तब उसके न मिलने पर असंतोष क्यों?

दूसरों की बात छोड़ दीजिये- यह मेरा शरीर और मन है। मैं श्रम करता हूँ या कपट करता हूँ; पर मैंने सोने की ढ़ेरी लगा दी है। इतने पर भी मुझे सुख क्या मिला? डाक्टर कहता है कि मुझे मधुमेह है। मेरा पेट खराब है। मुझे सब मीठी वस्तुएँ छोड़ देनी पड़ी हैं। रूखे, उबाले शाकों पर मुझे रहना पड़ता है। कोई आमोद-प्रमोद मेरे उपयोग का नहीं है। मैं दौड़ नहीं सकता, चल नहीं सकता। कुछ दूर और दो घंटे बैठा भी नहीं रह सकता। मन की दशा और दयनीय है। क्रोध,ग्लानि-क्षोभ, विषाद-दुःख के अतिरिक्त वहाँ कुछ भी नहीं है। अशान्ति, क्लेश, शोक-जीवन जैसे इन तीन शब्दों से ही बना है।

आप कहते हैं मेरे घर चलने के लिए। मेरा बगीचा द्वीप के सुन्दरतम उपवनों में है। मेरा भवन बहुत बड़ा है और कलापूर्ण सामग्रियों से सुसज्जित है। बड़ी तड़क-भड़क से आप जैसे अतिथि का राजोचित सम्मानपूर्वक सत्कार किया जा सकता है; आप मेरा घर देखना चाहते हैं; इस द्वीप के एक वास्तविक निवासी का घर देखने की इच्छा है आपकी। क्या मुँह लेकर मैं आपसे अपने घर पधारने को कहूँ?

× × ×

[4]

जब कि कुछ वर्ष और बीत चुके-

मेरा कोई घर नहीं है। मेरा घर था, यह कहना भी सत्य नहीं है। मैंने परिश्रम करके कोई घर नहीं बनाया था। मेरा घर या भवन था मेरी सम्पत्ति, जिसके विषय में आप पूछ सके हैं, वह तो समाज की थी। मैंने छल, झूठ और कपट के व्यवहार के द्वारा समाज से उसे ठग लिया था। इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता कि आज समाज में इसे नीतिपुटता या दूसरा कोई उत्तम नाम दिया जाता है। इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता कि समाज के प्रतिष्ठित व्यक्ति ऐसा ही करते हैं। समाज उस पर मेरा स्वत्व मान चुका था, यह तो ऐसी ही बात है, जैसे हम चोर के पास जो चोरी की वस्तु है, उसे चोरी की न जानने के कारण चोर स्वत्व की वस्तु मानते हैं। मैं वह सब समाज को दे आया। स्त्री, पुत्र और पुत्री के प्रति मेरा कर्तव्य पूरा हो चुका था; क्योंकि स्त्री को अपने लड़के के साथ रहना स्वीकार था

और संतानों की शिक्षा पूरी हो चुकी थी। वे दोनों स्वतन्त्र रहना चाहते थे। जीवन के पूरे क्षेत्र में – विचार–आचार एवं उपार्जन सबमें मैंने उन्हें स्वन्त्र कर दिया है।

मेरे बड़े भाई अत्यन्त उदार हैं। उन्होंने पूछा तक नहीं मेरी पिछली भूलों के विषय में। अब भी वे द्वीप निवासियों का पुराना जीवन व्यतीत करते हैं। अवश्य ही मेरे लिए अब उनके झोपड़े में कभी–कभी चावल या आलू उबाल लिया जाता है तथा रोटियाँ सेंक ली जाती हैं। वैसे वे नारियल तथा केले के पुराने आहार पर ही रहते हैं। आपको देखकर वे प्रसन्न होंगे और यह आपकी कृपा होगी कि आप उस झोपड़ी पर पधारें। वे अब भी किसी अतिथि को भोजन कराये बिना भोजन नहीं करते। आप जानते ही हैं कि अतिथि बनने वालों का अब इस टापू में कितना बड़ा समुदाय ही हो गया है; किन्तु वे लोग नारियल एवं केले पर रहने वाले मेरे बड़े भाई की झोंपड़ी का आतिथ्य स्वीकार करने का उत्साह कभी नहीं दिखाते।

मेरी बात आप पूछते हैं? मैंने तो सभ्यता छोड़ दी, नगर छोड़ दिया और विज्ञान के दिये उपहार छोड़ दिये। इसके फलस्वरूप मेरे शरीर ने रोग छोड़ दिये। अब मजे से बड़े भाई के लिए केले और नारियल संग्रह करता हूँ। यथेष्ट चल लेता हूँ और थोड़ा–बहुत दौड़ भी सकता हूँ। मेरे मन ने भी बहुत कुछ छोड़ दिया है। अब शोक, क्लेश, क्षोभ मुझे तंग नहीं करते। मैंने अपने द्वीप के पुराने जीवन को अपनाया और उसने मुझे सुख तथा शान्ति के उपहार दिये।

मैं मानता हूँ आपकी यह बात कि द्वीप का पूरा समाज अब अपने कई दशक पीछे के जीवन पर नहीं लौट सकता। हमारे नारियल के वन जितनी सरलता से काटे जा सके, उतने शीघ्र बनाये नहीं जा सकते। हमारे हृदय तो सर्वथा ही नहीं बदले जा सकते। लेकिन एक काम किया जा सकता है। वह जो पीपल के नीचे मठिया है, हम उसे फिर बना सकते हैं। मेरा अर्थ सम्भवतः आप समझे होंगे। हम अपने देवता को फिर अपना सकते हैं और देवता तो तभी अपनाया जाता है, जब सत्य, सदाचार तथा परिश्रम से पवित्र जीवन एवं पूजा–सामग्री लेकर हम उसकी मठिया में जाँय।

मुझे पता नहीं कि द्वीप के लोगों ने मठिया को अपनाया या नहीं और मैं नहीं जानता कि पृथ्वी के लोग भी मठिया को अपनायेंगे या नहीं; किन्तु मानवता क्या उस मठिया में नहीं है? क्या मनुष्य को मनुष्य बनने के लिए मठिया की पगडंडी पर बढ़े बिना भी कोई दूसरा मार्ग मिल सकता है?

❑❑

सर्वश्रेष्ठ दान

'प्रभु! आज इस दीन का गृह श्रीचरणों से पवित्र हो।' वैशाली के दण्डनायक करबद्ध हो तथागत के सम्मुख उपस्थित थे। उन्होंने अपना रथ उपवन के बाहर ही छोड़ दिया था। बड़ी श्रद्धा से प्रातःकालीन प्रवचन समाप्त होने पर वे खड़े हो गये थे और जब भगवान् बुद्ध ने उनकी ओर दृष्टि उठायी, उनका कण्ठ गद्गद हो उठा। 'भिक्षुसंघ का स्वागत करने का सौभाग्य माँगने आया है यह जन आपके समीप।'

'भन्ते! बुद्ध कृपण की भिक्षा स्वीकार नहीं करते। पहले भी किसी बुद्ध ने ऐसा नहीं किया है।' पता नहीं क्या बात हुई, दण्डनायक के मुख पर दृष्टि पड़ते ही तथागत के विशाल नेत्रों में एक अद्भुत तेज आ गया। केवल चिरजीव आनन्द ने लक्षित किया कि प्रभु आज कुछ असाधारण कह रहे हैं। तथागत का स्वर गम्भीर था। 'तुम दान करो! प्रथम-प्रथम कोटि का दान तुम्हीं कर सकते हो।'

'कृपण की भिक्षा बुद्ध स्वीकार नहीं करते।' उपस्थित गणनायकों तथा सम्मान्य नागरिकों ने एक-दूसरे की ओर देखा। भिक्षु वर्ग में भी सब गम्भीर नहीं थे। अनेक दृष्टियाँ एक साथ उठी दण्डनायक की ओर। उनमें घृणा, तिरस्कार, अवहेलना के भाव थे- 'यह कृपण है।'

दण्डनायक दो क्षण हतप्रभ रह गये। उनकी मुखकान्ति लुप्त हो गयी। उनका शरीर काँपने लगा। सबको भय लगा- वैशाली का प्रचण्ड पराक्रम, उग्रतेजा दण्डनायक क्रुद्ध होगा कुछ बखेड़ा उठेगा। कुछ भी तो नहीं हुआ इस प्रकार- दो क्षण पश्चात् दण्डनायक का अत्यन्त हताश स्वर सुनाई पड़ा-जैसी प्रभु की आज्ञा!' उनका मस्तक और झुक गया। वे शीघ्रता से मुड़े और उपवन के बाहर हो चलें।

'प्रभु! वह रो पड़ा।' चिरंजीव आनन्द प्रभु के पृष्ठभाग में खड़े थे। उनकी दृष्टि के ठीक सम्मुख थे दण्डनायक। अतः दण्डनायक के नेत्रों में जो अत्यन्त प्रयत्नपूर्वक अवरोध करने पर भी बिन्दु झलमला उठे थे, आनन्द से वे छिपे नहीं थे। अब उन उदार का हृदय द्रवित हो उठा था और वे प्रभु से प्रार्थना कर रहे थे- 'आपकी अस्वीकृति ने उसे वेदना से झकझोर दिया है। प्रभु प्रातः उस पर कृपा कर सकते हैं।

एक दिन से अधिक निमन्त्रण तथागत स्वीकार नहीं किया करते। भिक्षु कल और परसों का प्रबन्ध करने लगें- इसे वे उनके त्यागव्रत से च्युत हो जाना मानते हैं। यह सब जानते हुए आनन्द से प्रार्थना की थी। वे इतना ही चाहते थे कि प्रभु कोई ऐसा उत्तर दे दें, जिससे उस दुखी गृहस्थ को आश्वासन प्राप्त हो जाय। 'यह तो निश्चित होगा कि दण्डनायक आज विपुल दान करेगा। कल वह कृपण कहने योग्य रहे, यह शक्य नहीं है।'

'उसका सौभाग्य उसे यहाँ ले आया!' प्रभु के नेत्र अर्धोन्मीलित हो चुके थे। वे जैसे कहीं दूर से कुछ कह रहे हों- 'उसके आगत को न जानकर तुम दुखी हो रहे हो।'

'कुछ होने वाला है- इस सदगृहस्थ के साथ कुछ अद्भुत होने वाला है।' आनन्द अब शान्त हो गये; क्योंकि वे जानते थे कि भविष्य का स्पष्टीकरण तथागत का स्वभाव नहीं है, वे उसका संकेत भी यदा-कदा ही देते हैं।

'वैशाली का प्रचण्ड दण्डनायक - सम्मानित गणश्रेष्ठ भी उससे भय खाते हैं। वह नगर में जिस ओर से निकल जाय, महान श्रेष्ठी भी अपने आसनों से उठकर उसे अभिवादन करते हैं। उस उग्रतेजा दण्डनायक का अपमान! गणनायकों, नागरिकों, श्रेष्ठियों और भिक्षुओं से भरी सभा में उसका अपमान! गौतम के शत्रु इससे संतुष्ट हो सकते थे। उन्होंने दण्डनायक के सैनिकों के प्रधान को उभाड़ने का अवसर पा लिया था।

'प्रभु!' साथ के सैनिक स्वतः उत्तेजित थे। दण्डनायक के लौटते ही उनका नायक सम्मुख आया उसके नेत्र अङ्गार हो रहे थे, मुख अरुण हो उठा था- 'भिक्षु गौतम अब अत्यधिक धृष्ट हो गया है।'

'भद्रसेन! तुम भगवान को अपशब्द कहने की धृष्टता कर रहे हो।' दण्डनायक ने दृष्टि कठोर कर ली। 'केवल इस बार तुम्हें क्षमा किया जाता है।!'

'आपका अपमान किया उस.........।'

'चुप रहो!' झिड़क दिया दण्डनायक ने। शूर को कुछ समझदार भी होना चाहिए। मैं अपनी बात स्वयं समझ सकता हूँ।'

भद्रसेन भकुआ बन गया। सैनिक मुँह बाये खड़े देखते रहे। गौतम के शत्रुओं को कोई समय ही नहीं मिला। दण्डनायक चुपचाप अपने रथ पर आ बैठे। उनके मुख पर क्रोध नहीं, अपार उदासी छायी थी। वे किसी प्रकार अपने अश्रु रोके हुए थे।

× × ×

'भद्रे! कृपण की भिक्षा बुद्ध स्वीकार नहीं करते।' अपने भव्य भवन में पहुँचते ही फूट पड़े दण्डनायक। हम कृपण हैं! हमारा यह ऐश्वर्य कलुषित है। प्रभु के स्वागत के

योग्य नहीं है यह। फेंक दो ! लुटा दो इसे !'

'प्रभु ने हमारा आमन्त्रण अस्वीकार कर दिया ! वह भावमयी महिला भी सुनते ही सूख गयी। कितने उत्साह-से वह पूरे सप्ताह से लगी थी तथागत के स्वागत की प्रस्तुति में। क्षण-क्षण उसके नेत्र द्वार की ओर जा रहे थे और उसे यह क्या सुनना पड़ा? उसके शरीर में तो जैसे रक्त ही नहीं रह गया। फटी-फटी आँखों से देखती रह गयी अपने स्वामी की ओर- 'प्रभु नहीं पधारेंगे।'

'पधारना तो पड़ेगा उन्हें !' दण्डनायक का नैसर्गिक ओज उनकी निराशा में भी मरा नहीं था। अब वह जग पड़ा- 'भगवान् किसी को अस्वीकार कर नहीं सकते उन्होंने कहा है- प्रथम दान करो।'

'करो दान !', उस भावमयी को कहाँ आपत्ति थी? वह तो जैसे उन्मादिनी हो उठी है- 'यह सब दान कर दो !, अपने अङ्ग के आभूषण उतारकर फेंकने प्रारम्भ कर दिये उसने। तथागत दान किये बिना उसके आँगन में नहीं आना चाहते तो वह दान करेगी, अपना सर्वस्व दान कर देगी।

'तुम ठीक कहती हो।' दण्डनायक ने बाधा नहीं दी पत्नी के पागलपन में। उन्होंने भी मानो दान के स्वरूप की प्रेरणा प्राप्त की पत्नी से। 'प्रभु ने प्रथम-कोटि का दान करने का आदेश दिया है। यह सब दान कर ही देना है।'

सेवक क्या कर सकते थे। उन्हें तो स्वामी का आदेश स्वीकार करना था। दो दण्ड भी नहीं बीते जब उपवन में तथागत ने एक भिक्षु से सुना- 'दण्डनायक अपना सर्वस्व लुटा रहे हैं। उन्होंने नगर में घोषणा करा दी है और उनकी अपार सम्पत्ति अब राजपथ पर सेवक उनके सौंध से फेंक रहे हैं।'

'आनन्द कहता है कि कल मुझे उसका निमन्त्रण स्वीकार कर लेना चाहिए।' प्रभु के अधरों पर स्मित आया।

चिरंजीव आनन्द चौके। 'कल भी प्रभु उसका आग्रह स्वीकार करने की बात तो नहीं कह रहे हैं।'

'भिक्षु को कल के प्रबन्ध की चिन्ता नहीं करनी चाहिए!' तथागत के स्वर में उलाहना नहीं, स्नेह था।'कल वह और प्रतीक्षा करे, इससे कोई हानि नहीं दिखती।'

'भन्ते ! बुद्ध कृपण की भिक्षा स्वीकार नहीं करते।' आनन्द अपने मन में ही सोच रहे थे। 'कल उस सद्गृहस्थ के आने पर प्रभु यह बात कह कैसे सकते हैं। अब उसे कल निराश करने का कौन-सा मार्ग हो सकता है।'

वह कल बहुत दूर तो था नहीं। रात्रि व्यतीत हुई और कल आज बनकर आ गया। प्रातःकालीन प्रवचन पूर्ण होने पर सबने देखा कि कल की भाँति आज भी दण्डनायक करबद्ध सम्मुख खड़े हैं।

'भन्ते! बुद्ध कृपण की भिक्षा स्वीकार नहीं करते। पहले भी किसी बुद्ध ने ऐसा नहीं किया है।' आज भगवान् ने दण्डनायक को प्रार्थना करने का भी अवकाश नहीं दिया- 'तुम दान करो प्रथम। प्रथम कोटि का दान तुम्हीं कर सकते हो।'

'जैसी प्रभु की आज्ञा! बुद्ध की वाणी ने उपस्थित समुदाय को उतना चकित नहीं किया, जितना चकित किया दण्डनायक की शान्त स्वीकृति ने। दण्डनायक ने अपने सर्वस्वदान की चर्चा तक नहीं की। उन्होंने तो कल की भाँति ही मस्तक झुकाया और शीघ्रतापूर्वक लौट पड़े अपने रथ की ओर।

चिरंजीव आनन्द आज भी प्रभु के पृष्ठप्रान्त में थे। आज भी उनके सम्मुख ही थे दण्डनायक। आज उनकी दृष्टि बड़ी सावधानी से दण्डनायक के मुख पर स्थिर थी। आज इस सद्गृहस्थ के नेत्रों में अश्रु नहीं झलमलाये। आज इसके मुख पर अद्भुत गाम्भीर्य आया। गणनायक सम्मान्य नागरिक, श्रेष्ठि वर्ग, भिक्षुगण- आज कोई उपहास या अवहेलनापूर्वक दण्डनायक की ओर नहीं देख सका। आज सबके नेत्र प्रभु की ओर उठ गये। प्रभु इन्हें कृपण क्यों कहते हैं? क्या रहस्य है तथागत के इस अद्भुत व्यवहार का? वैशाली के दण्डनायक से और किस दान की आशा है?

तथागत ने प्रातःकालीन प्रवचन समाप्त कर दिया था। वे आसन से उठ चुके थे। अब तो उनसे कल कोई जिज्ञासा की जा सकती है।

× × ×

'प्रभु आ रहे हैं?' कितने उल्लास से गृहस्वामिनी स्वयं दौड़ी आयी थी द्वार तक।'

'भद्रे! हमने अभी प्रथम कोटि का दान नहीं किया है।' दण्डनायक आज क्षुब्ध नहीं थे। उनका स्वर शान्त-गम्भीर लगता था - 'मुझे लगता है कि प्रभु की प्रीति मैं पा गया हूँ। वे हमारी परीक्षा नहीं ले रहे हैं, हमें कोई परमपुनीत पथ प्रदान करना चाहते हैं; किंतु हमारा निमन्त्रण आज भी स्वीकृत नहीं हुआ है।'

'प्रभु नहीं पधारेंगे?' वह भावुक महिला विह्वल हो गयी।

'वे अवश्य पधारेंगे!' दृढ़ श्रद्धा थी दण्डनायक में। 'तुम पगली मत बनो! प्रथम हमें प्रथम कोटि का दान करना है।'

'क्या रहा है अपने पास अब?' उस महान् महिला ने कहा- 'यह सदन और मेरे ये वस्त्र - यही बाधा बने होंगे। इन्हें शीघ्र दे डालो। मैं जीर्ण वस्त्र पहन लेती हूँ। हमारा काम एक तृण-कुटीर में चल जायगा। सेवकों को विदा कर दो।'

'कल यह भी पर्याप्त नहीं सिद्ध होगा!' दण्डनायक ने पत्नी को चौंका दिया।

'क्या?'

'हमने केवल अब तक का संग्रह दिया है।' दण्डनायक कह रहे थे। 'मेरी आय पर्याप्त अधिक है। आगे की आय की व्यवस्था कहाँ की हमने।'

उसे हम दे डाला करेंगे दीनों को! पत्नी को कोई संकोच नहीं था। 'प्रभु स्वीकार करें तो उसे भिक्षुसङ्घ को अर्पित कर दो।'

प्रभु ने मुझे कहा है- तुम्हीं प्रथम कोटि का दान कर सकते हो।' दण्डनायक इस बार स्पष्ट हुए। 'इसमें तुम्हें कुछ संदेश नहीं सुन पड़ता? मैं अपनी आगे की समस्त आय अध्ययनशील विद्यार्थियां के निर्वाह के लिए अर्पित कर रहा हूँ। मैं उनके लिए ही उपार्जन करूँगा। गृह का निर्वाह अब तुम कैसे करोगी, तुम सोचो।' विद्यादान प्रथम कोटि का दान है।' वह महिला प्रफुल्ल हो उठी। उसे विश्वास हो गया, प्रभु अवश्य कल उसके यहाँ पधारेंगे। 'मेरी बात मत सोचो।' हमारा काम उटज में चल जायगा। मुझे वस्त्र सीना आता है। और वह हमारे निर्वाह को पर्याप्त है!'

× × ×

'भन्ते! तुम्हारा निमन्त्रण बुद्ध को स्वीकार है।' प्रातःकालीन प्रवचन पूर्ण करके प्रभु ने सम्मुख करबद्ध खड़े दण्डनायक की ओर देखा और उनके निमन्त्रण देने की प्रतीक्षा किये बिना ही बोले- 'जब तक तुम चाहो, तब तक के लिए स्वीकार है ; किंतु प्रथम कोटि का दान किया नहीं तुमने।'

'प्रभु!' दण्डनायक का कण्ठ भर आया था। वे बोलने में समर्थ नहीं थे। तथागत की यह महती कृपा! एक दिन से अधिक का निमन्त्रण एक साथ तो उन्होंने महाराज शुद्धोदन का भी स्वीकार नहीं किया था।

प्राणियों को अभय कर देना- अपने महान्-से-महान् अपराधी को क्षमा।' तथागत ने समझाया। 'दण्ड का सर्वथा त्याग-यही सर्वश्रेष्ठ दान है। समस्त जीवों को अभय दे देने के समान कोई दान नहीं।'

'प्रभु को कोई एक श्रद्धालु निमन्त्रित करेंगे!' दण्डनायक ने एक बार फिर चौंका दिया सबको। उन्होंने अब तथागत के चरण आगे बढ़कर पकड़ लिये। 'मुझे तो अब इनमें स्थान देने की कृपा करें।'

तथागत ने उस दिन आग्रह करके निमन्त्रण लिया। वे पधारे भिक्षु-सङ्घ के साथ दण्डनायक के भवन में; किन्तु उस दिन सायंकाल भिक्षु सङ्घ में एक भिक्षु भी बढ़ गया। वे दण्डनायक थे और उनकी सहधर्मिणी भिक्षुणियों के आवास में उपस्थित हो चुकी थी सदा के लिए।

❑❑

शरीर और आत्मा

[1]

बात आजकी नहीं है। वैसे है कलियुग की ही बात; किन्तु इसे सत्ताईस चतुर्युगियाँ बीच चुकीं। अपने इस वैवस्वत मन्वन्तर के प्रारम्भ में तीन युग बीत जाने पर जब कलियुग आया था, उस कलियुग की बात है। लेकिन वह भी कलियुग ही था, इसलिए बहुत कुछ अपने इस कलियुग से उसकी समानता थी। लगभग ऐसे ही देश थे, ऐसे ही प्राणी थे, ऐसा ही समाज था।

उस समय अवन्तिका-नरेश के एक पुत्र था- बहुत सुन्दर, बहुत सुकुमार, बहुत सुखी। एक तो राजकुमार था, दूसरे अपने पिता का इकलौता पुत्र था। उसकी सेवा में बहुत-से सेवक सदा हाथ जोड़े खड़े रहते थे। उसे जिस वस्तु की इच्छा होती थी, वह वस्तु तत्काल उसके पास पहुँच जाती थी। राजकुमार भद्रबाहु- यही उसका नाम था। वह बहुत कोमल मूल्यवान वस्त्र पहिनता था, सारे शरीर में और वस्त्रों में सुगन्धित इत्र लगाता था। स्वर्ण और मणियों के आभूषण पहिनता था। उसके गले और कलाइयों में ताजे फूलों की माला पड़ी रहती थी। उसका बहुत-सा समय अपने को सजाने में ही बीतता था।

एक दिन राजकुमार भद्रबाहु राजभवन से निकला। वह सुन्दर सजे हुए रथ पर बैठा था। उसके साथ घोड़ों पर बैठे बहुत से सैनिक थे। बहुत-से सेवक उसके साथ चल रहे थे। नगर का मार्ग स्वच्छ किया था, सींचा गया था। पताकाओं और तोरणद्वारों से सजाया गया था। लेकिन राजकुमार ने राजभवन से निकलने पर कहा- 'मैं नगर में नहीं जाऊँगा। सरिता के किनारे-किनारे मुझे घूमना है।'

सरिता के किनारे राजकुमार के घूमने जाने का किसी-का पहले से कोई पता नहीं था। उधर कोई तैयारी नहीं हुई थी। लेकिन राजकुमार को रोकता कौन। उसका रथ उधर घूम गया। किनारे-किनारे कुछ दूर राजकुमार का रथ चलता गया। आगे सरिता के उस पार श्मशान था, वहाँ एक चिता जल रही थी। राजकुमार ने पूछा- 'वहाँ क्या हो

रहा है ? लोग इतनी अग्नि जलाकर क्या भून रहे हैं?'

राजकुमार ने कभी किसी को मरते नहीं देखा था। उसके पास कोई रोगी व्यक्ति भी जाने नहीं पाता था। उसे पता ही नहीं था कि चिता क्या होती है। राजकुमार के साथ राज्य के मन्त्री का पुत्र था। उसने कहा– 'कुमार! वह चिता जल रही । कोई मनुष्य मर गया है। उसके सम्बन्धी उसकी देह को जला रहे हैं।'

'कोई बहुत कुरुप मनुष्य होगा!' राजकुमार को अपनी सुन्दरता का बड़ा गर्व था। उसे लगा कि कुरूप मनुष्य ही जलाये जाते होंगे।

मन्त्रीपुत्र ने कहा– 'यह तो पता नहीं कि वह कुरूप था या सुन्दर; किन्तु जो भी मरेगा, उसे जलाया तो जायगा ही और मरना एक दिन सभी को है।'

'किसी सुन्दर व्यक्ति को कोई क्यों जलायेगा?' राजकुमार ने मन्त्रीपुत्र को कुछ डाँटते हुए कहा।

'श्रीमान्! शरीर में सुन्दरता तो चमड़े के रूप-रंग की है।' मन्त्री कुमार ने नम्रता से कहा। 'मरने पर शरीर को रखा रहने दिया जाय तो उसमें-से दुर्गन्ध निकलने लगेगी। उसमें कीड़ें पड़ जायँगे। उसकी ओर देखा तक नहीं जायेगा।'

'क्या? केवल चमड़ा ही सुन्दर होता है? राजकुमार भद्रबाहु ने अपने गुलाब की पंखुड़ी-जैसे सुन्दर सुकुमार शरीर की ओर देखा और उसके नेत्र कुछ कड़े हो गये।

'एक क्षण....' मन्त्री का पुत्र अन्ततः मन्त्री का ही पुत्र था उसने संकेत किया। एक सेवक नदी के किनारे पड़ी एक मनुष्य की सूखी खोपड़ी ले आया। मन्त्रीपुत्र ने उसे हाथ में लेकर कहा– 'कुमार! आप इसे देखते है?'

'छि! एक घिनौनी अत्यन्त कुरूप वस्तु! राजकुमार ने मुख फेरते हुए कहा 'फेंको! मेरे पास से इसे दूर फेंक दो!'

'यह लीजिये!' मन्त्री के पुत्र ने वह खोपड़ी नदी के जल में धप् से फेंककर कहा– 'हम सबके सिर और मुख ऐसे ही हैं। भीतर तो सबका यही रूप है।'

'मेरा मुख भी ऐसा ही है?' राजकुमार चौंक पड़ा।

'कुमार! मुझे क्षमा करें! मन्त्री पुत्र ने दोनों हाथ जोड़कर मस्तक झुका दिया।

राजकुमार के नेत्रों से टप-टप आँसू की बूँदें गिरने लगीं। उसने अपना रथ राजभवन लौटा ले चलने की आज्ञा दे दी।

× × ×

(2)

अवन्तिका के नरेश की चिन्ता का पार नहीं है। महाराज के एकमात्र पुत्र कुमार भद्रबाहु को पता नहीं क्या हो गया है? वे न ठिकाने से भोजन करते हैं न स्नान करते हैं।

माता के बहुत आग्रह करने पर थोड़ा कुछ मुँह में डाल लेते हैं। उनके सुन्दर घुँघराले बाल रूखे उड़ा करते हैं। सेवकों को वे न अपने शरीर में इत्र मलने देते हैं न सिर में सुगन्धित तेल ही लगाने देते हैं, फूलों की माला और आभूषणों से उन्हें जैसे घृणा हो गयी है। कोई उनसे कुछ पूछता है तो राजकुमार के बड़े-बड़े नेत्रों से आँसू की बूँदें गिरने लगती हैं।

बड़ा विचित्र रोग है राजकुमार का। कोई मनुष्य उनके पास जाता है तो वे उसके मुख को एक बार कुछ क्षण एकटक देखते रहते हैं और फिर मुँह फेरकर रोने लगते हैं। जिन लोगों को वे बहुत मानते थे, जिनसे मिलकर बहुत प्रसन्न होते थे, उनके आने पर भी अब राजकुमार में कोई उल्लास नहीं आता। अपने अत्यन्त प्रिय मित्रों के आने पर कभी-कभी वे बड़ी उमंग से मिलने को उठते है; किन्तु उसी क्षण फिर धम् से आसन या पलंग पर गिर-से जाते हैं। उनकी सब उमंग, पता नहीं, कौन-सी दानवी निगल लेती है। वही एकटक मुख घूरना और फिर वही रोना.....।'

महाराज ने बड़े-बड़े चिकित्सक बुलवाये। रस, भस्म, पाक, चूर्ण, आसव, वटिका-पता नहीं, क्या-क्या दिया वैद्यों ने। राजकुमार को आजकल जैसे स्वाद क्या होता है, यह पता नहीं लगता। पिता के आग्रह करने पर चुपचाप औषध ले लेते हैं। औषध कड़वी या तीखी तो नहीं है, यह प्रश्न उनसे पूछना ही व्यर्थ है। वे पूछने वाले का मुख इस प्रकार देखने लगते हैं, मानो उनके नेत्र कहते हों - 'मैंने आज्ञा का पालन तो कर दिया। अब आप और क्या चाहते हैं?'

ज्योतिषियों ने कुण्डली देखी, हाथ देखे और पता नहीं राहु-केतु, शनि-मङ्गल की कितनी शान्ति करायी गयी। कितने अनुष्ठान-पूजन नित्य चल रहे हैं। कोई राजकुमार के ऊपर मन्त्र पढ़ता हुआ कुश से जल छिड़क जाता है, कोई भस्म लगाता है। कभी कोई उनकी भुजा में कोई यन्त्र बाँधता है और कोई दूसरे कोई खटपट कर जाता है। लेकिन राजकुमार के लिए जैसा कुछ हो ही नहीं रहा है। वे तो एक मूर्ति की भाँति हो गये हैं- जिसके जो मन में आये, वह कर जाय।

वैद्यों ने महाराज से कहा- 'युवराज हमारी दृष्टि में स्वस्थ हैं। उन्हें निद्रा ठीक आती है, पाचन ठीक होता है। हमने उनकी नाड़ी, हृदय की गति, मल-मूत्रादि की सब प्रकार परीक्षा कर ली। उन्हें कोई रोग नहीं है।'

ज्योतिषियों ने बताया- 'राजकुमार की कुण्डली में सब ग्रह अनुकूल हैं। उनकी हाथ की रेखाएँ और शरीर के लक्षण तो उलटे यह कहते हैं कि उनका परम मङ्गल होना चाहिए।

मन्त्र-तन्त्र के मर्मज्ञों ने कहा- 'भूत-प्रेत-पिशाच की, यक्ष-राक्षस-गन्धर्व की तो चर्चा ही क्या, कोई देवता भी राजकुमार को कष्ट दे सके- ऐसा सम्भव नहीं है। हम

लोगों ने सब प्रकार से उन्हें सुरक्षित कर दिया है।'

महाराज ने सबकी बातें सुन लीं, सबको भरपूर दक्षिणा प्राप्त हुई; किन्तु महाराज की चिन्ता दूर नहीं हुई। उनके कुमार का रोना दूर नहीं हुआ, उनकी उदासीनता दूर नहीं हुई! राजकुमार भद्रबाहु का सुन्दर शरीर पीला पड़ता जा रहा है। वे दिनों दिन दुबले होते जा रहे हैं। महाराज की चिन्ता का कोई समाधान नहीं।

अन्त में राज्य के वृद्ध एवं नीति-निपुण महामन्त्री ने अपने ऊपर यह भार लिया कि वे राजकुमार को स्वस्थ एवं प्रसन्न बना देंगे। महाराज को तनिक आश्वासन मिला। अब तक कभी ऐसा नहीं हुआ कि महामन्त्री ने किसी काम का भार उठाया हो और वह अधूरा रह गया हो।

× × ×

(3)

घंटे बीते, दिन बीते और सप्ताह बीतने को आया। अवन्तिका-राज्य में नगर नहीं, पूरे राज्य में हलचल मची हुई है। राज्य का एक-एक मनुष्य जिन्हें पिता से भी अधिक आदर देता है,वे वयोवृद्ध दयालु महामन्त्री भगवान् महाकाल के मन्दिर में भूखे-प्यासे सात दिनों से बैठे हैं। वे सात दिन पहले बैठे थे अपने आसन पर और अब तक बैठे हैं। अभी भी वे जीवित हैं; क्योंकि उनके ओष्ट हिल रहे हैं। लेकिन अन्न-जल और निद्रा के बिना कब तक टिका रहेगा उनका बूढ़ा शरीर। प्रजा के लोग दल-के-दल नगर में कोलाहल करते घूम रहे हैं- 'हमारे महामन्त्री हमारे पिता!'

महाराज अब पश्चात्ताप कर रहे हैं। उन्हें क्या पता था कि महामन्त्री ऐसा कुछ करेंगे। महाराज गये और अपने शरीर तक से उदासीन राजकुमार भद्रबाहु तक गये भगवान् महाकाल के मन्दिर में। लेकिन पुकारने पर क्या, शरीर छूने और हिलाने पर भी महामन्त्री बोलते नहीं। उनके नेत्र खुले नहीं, हाँ, वे जीवित हैं; क्योंकि उनके ओष्ठ हिल रहे हैं। मन्दिर के बाहर अपार जनसमूह कोलाहल कर रहा है और मन्दिर में राजकुमार भद्रबाहु महामन्त्री की गोद में सिर रखकर फूट-फूटकर रोते हुए जनता के साथ कह रहे हैं- 'हमारे महामन्त्री! हमारे पिता!'

'कुमार! तुम आ गये ? अच्छा अभी यहीं रहना, जाना मत! भगवान् महाकाल का दर्शन करने महर्षि लोमश पधार रहे हैं।' महामन्त्री ने सहसा नेत्र खोले। उन्होंने बड़े स्नेह से राजकुमार भद्रबाहु की पीठ पर हाथ फेरा। अब उनकी दृष्टि महाराज पर पड़ी और बाहर से आती जनता की पुकार उन्होंने सुनी। महाराज के सम्मान में खड़े हो गये और वे बोले - 'महाराज! भगवान् महाकाल ने अपने इस अकिंचन दास की प्रार्थना स्वीकार कर ली। मुझे राजकुमार के साथ अभी कुछ मुहूर्त यहाँ रहना है। बाहर पता

नहीं क्यों लोग कोलाहल कर रहे हैं। आप पधारे और प्रजा का समाधान करें।'

'आप कुछ क्षण को मन्दिर से बाहर नहीं चलेंगे?' महाराज ने बड़ी नम्रता से कहा– 'प्रजा अपने महामन्त्री का दर्शन चाहती है।'

महामन्त्री मन्दिर के द्वार पर आये। उन्होंने लोगों को आश्वासन दिया। जनता जिसका सम्मान करती है, उसके आदेश का पालन करना भी जानती है। थोड़ी देर बाद वहाँ एक भी व्यक्ति नहीं था। अपने वयोवृद्ध महामन्त्री का आदेश मानकर वे सब लोग अपने घरों को लौट चुके थे। महामत्री मन्दिर में पहुँचे और दूसरे ही क्षण उन्होंने द्वार से आते एक तेजपुंज को पृथ्वी में लेटकर प्रणाम किया।

'कुमार! भगवान् महाकाल के अनुग्रह से महर्षि लोमश ने हमें दर्शन दिया है।' राजकुमार इतने भोंचक्के रह गये थे कि उनकी समझ में ही नहीं आता था कि वे क्या करें। उन्होंने अपने दोनों हाथों से नेत्र बंद कर लिये थे। उन्होंने कभी स्वप्न में भी नहीं सोचा था कि भगवान् सूर्य कभी पृथ्वी पर उतर सकते है। मन्दिर में जो प्रकाशपुंज आ रहा था, वह ऐसा ही था, जैसे सूर्य भूमि पर उतर आये हों। महामन्त्री ने राजकुमार को सचेत किया– ''इस युग में हम मनुष्यों के कलुषित नेत्र जिनका दर्शन नहीं कर पाते, वे महर्षि कृपा करके तुम्हारे सामने प्रकट हुए है।'

राजकुमार का साहस नेत्र खोलने का नहीं हुआ। उसने नेत्र बन्द किये-किये-ही भूमि में लेटकर प्रणिपात किया। वह जटाधारी तेजोमयी मूर्ति – महामन्त्री ने भी केवल इतना ही देखा कि वह मूर्ति भगवान् महाकाल की मूर्ति के पास पहुँच गयी है। महामन्त्री के नेत्रों में भी चकाचौंध छा गयी थी। वे मस्तक झुकाकर मन्दिर में एक किनारे खड़े हो गये। उन्हें तब तक प्रतीक्षा करनी थी, जब तक महर्षि भगवान् महाकाल की पूजा करें।

× × ×

[4]

'महामन्त्रीजी! चाचाजी!' राजकुमार ने महामन्त्री की गोद में सिर छिपा लिया। महामन्त्री स्वयं भी इस समय अपने-आप में नहीं है। उन्हें भी पता नहीं कि वे कहाँ खड़े हैं। अनजान में ही उनका हाथ राजकुमार की पीठ पर घूम रहा है।

राजकुमार का हृदय धक्-धक् कर रहा है। उसने नेत्र बंद कर रक्खे हैं, पलकें दबा रक्खी हैं; किन्तु अप्राकृत दृश्य नेत्रों से देखे जाने की अपेक्षा कहाँ करते हैं। सब कुछ नेत्र बंद करने पर भी दिख रहा है, जैसे वह सब नेत्रों में ही बस गया हो। क्या है वह सब? भगवान् महाकाल के गण- भूत, प्रेत, पिशाच, योगिनियाँ, बेताल- लेकिन ये

तो नाम हैं, महाकाल के गण केवल नाम नहीं, वे संज्ञा नहीं, वे देवता हैं- ज्वर, उन्माद, अपस्मार, हैजा, क्षय, शीतला आदि भयंकर रोगों के, विपत्तियों के, महामारियों के साकार देवता और वे सब जैसे भगवान् महाकाल के मन्दिर में उस दिन मूर्तिमान् होकर महोत्सव मना रहे थे।

बलवानों का बल ज्वर पीता जा रहा है- मीठे पेय के समान वह गटागट पी रहा है। जो मत्त गजराज के सामने ताल ठोक सकते थे, दो दिन में लाठी टेककर उठने लगे हैं, पीले पड़ गये हैं। पैर काँपते हैं उनके। उन्माद का देवता विद्वानों-बुद्धिमानों की विद्या, प्रतिभा मक्खन के गोले के समान निगलता जा रहा है। गूँज रहा है उसका अट्टहास। बड़े-बड़े व्याख्याता, उद्भट शास्त्रार्थ-महारथी-बच्चे तालियाँ बजा रहे हैं। कितनी लज्जाजनक गंदी बातें वे कह रहे हैं। हैजा और क्षय के देवता- रूप जैसे उनका जलपान है, शक्ति और आयु जैसे उनकी मुख-शुद्धि के साधन हैं। सुन्दर स्वस्थ तरुण, फूल-सी खिली सुकुमार सौन्दर्य की पुतलियाँ-उनकी ओर देखा तक नहीं जाता। गड्ढ़े में धँसे उनके नेत्र, पीले-पीले मुख, मुख से निकलता विषैला दुर्गन्धित.....। राजकुमार चीख पड़ा। उसे लगा कि उसके भीतर की आँतें तक मुख के मार्ग से निकल जायेंगी।

कोई चीखे, कोई चिल्लाये, कोई कराहे- भगवान महाकाल के गणों का महोत्सव बंद होने से रहा। भगवती शीतला रूपवानों के रूप को झल्लाई-सी, नोचती-खसोटती जा रही हैं। उन्होंने राजकुमार का अपने लाल-लाल नेत्रों से देखकर डाँटा - 'तू चीखता क्यों है? हम तेरा क्या बिगाड़ते हैं? हमने किसी का भी क्या बिगाड़ा है? यह चमड़ा, मांस, रक्त, हड्डी, कफ, पित्त-यह सब तो हमारा है। तुम लोगों ने हमारी वस्तुओं को अपनी माना क्यों है? हम अपनी वस्तुएँ लेते हैं, उनसे खेलते हैं तो इतनी आह-कराह, चीख-पुकार क्यों?'

बेचारा राजकुमार- उसने दोनों हाथों से महामन्त्री को घबराकर पकड़ लिया। स्वयं महामंत्री ने दोनों हाथों से भूमि पकड़ ली। ऐसा लगता था कि दिशाएँ फट रही हैं। तारे टूट रहे हैं, पृथ्वी चूर-चूर हो रही है। अग्नि हाहाकार कर रहे हैं, समुद्र उमड़-घुमड़कर छा गये हैं। त्रिलोकी पर पर्वतों के समान राशि-राशि शव धू-धू करके जल रहे हैं और नाच रहे हैं भगवान् महाकाल अपनी जटाएँ बिखेरे, त्रिशूल उठाये। ब्रह्माण्डराशि उनके चरणों के आघात से इस प्रकार चूर्ण हो रही , जैसे कोई पुष्ट तरुण कुम्हार की हाँडियों के ढेर पर उछल-उछलकर नाच रहा हो और हाँडियाँ फूट रही हों।

ज्वाला, धूम्र, हाहाकार, भयानक शब्द-कोई कल्पना तक न कर सके वह महाप्रलय और वह नृत्य है- उन्माद नृत्य है महाकाल का। महर्षि लोमश हाथ जोड़े थर-थर काँप रहे हैं। भगवान् महाकाल के चरणों के नीचे एक एक ब्रह्माण्ड चूर्ण होता

है और महर्षि के शरीर का एक रोम टूटकर गिर जाता है। गिरते जा रहे हैं महर्षि के रोम। वे पुकार रहे हैं, प्रार्थना कर रहे हैं– 'रक्षा! प्रभो! रक्षा करो।'

दो क्षण –दो क्षण भी वे दो कल्प जैसे थे। उतनी ही देर में राजकुमार के हृदय की गति बंद नहीं हुई, यही क्या कम आश्चर्य है। लेकिन दो क्षण में राजकुमार ने देखा एक शिशु–नवनीति से भी सुकुमार, चन्द्र से भी उज्ज्वल, सौन्दर्य से भी सुन्दर शिशु। भूत, प्रेत, पिशाचों ने मस्तक झुका दिये। प्रलयाग्नि की लपटें काई की भाँति फट गयीं, महाकाल के चरण एक क्षण को ठिठक गये। उन्होंने शिशु को गोद में उठा लिया।

वही प्रलयनृत्य, वही प्रकाण्ड–ताण्डव, वही पिशाचों का अट्टहास, वही अग्नि का हाहाकार; किन्तु शिशु हँस रहा है। महाकाल की गोद में वह शिशु– अपने बालक को गोद में लिये कोई पिता जैसे उसे प्रसन्न करने को उछाल रहा है। शिशु के उन्मुत्त हास्य से झरती ज्योतिर्मयी सुधाधारा। राजकुमार के मन से भय, घबराहट, धुकपुकी सब दूर हो गयी है। शिशु–केवल शिशु का उज्ज्वल हास्य है उसके मनः पटल पर।

'यही तू है। यही तेरा स्थान है। तुझे यहीं पहुँचना है। यह जो प्रेतों, पिशाचों, योगिनियों का खिलौना है उनका आहार है, तू उसे अपना बनाकर क्यों रोता है? महर्षि लोमश जैसे फिर अपने तेजोमय रूप में प्रकट हो गये।

× × ×

महामन्त्री और राजकुमार भद्रबाहु मन्दिर से उस दिन लौट आये। अब कोई राजकुमार की सुन्दरता की प्रशंसा करता है तो वह केवल हँस देता है। मन्त्री पुत्र से एक दिन उसने मनुष्य की खोपड़ी मँगाकर देखी और हंसा– 'यह बेतालों की गेंद! एक ऐसी गेंद इस शरीर के भीतर भी छिपी है– यही तो। वह गेंद बेताल ले ले, इससे मेरा क्या होता–जाता है। मैं महाकाल का अमर पुत्र–मुझे डर किसका?'

भगवान् महाकाल का एक घनिष्ठ उपासक राजकुमार भद्रबाहु– उसे हुए सत्ताईस चतुर्युगियाँ बीत चुकीं।

सर्वस्व दान

'सम्राट् संघ के शरणापन्न हैं।' स्थाण्वीश्वर(कन्नौज) की वार्षिक श्रमण-परिषद की आज अन्तिम उपस्थिति है। सम्राट् हर्षवर्द्धनको प्रयाग के महाकुम्भ में जाने की शीघ्रता है। सेवक वहाँ पहुँच चुके हैं पर्याप्त पूर्व ही। सम्राट् संक्रान्ति त्रिवेणी-स्नान करेंगे ही; किंतु कुम्भ एवं अर्धकुम्भी के समय होने वाली प्रयाग की मोक्ष-सभा-एक बौद्ध सम्राट् ब्राह्मणधर्म को इतना सम्मान दे, प्रयाग में ब्राह्मणों को प्रति छठे वर्ष सर्वस्व-दान करे, वह बौद्ध संघ के अनेक तरुण भिक्षुओं को रूचिकर नहीं लगता। संघ में दीक्षित नवतरुणों का नवीन उत्साह इसे एक प्रकार का अनर्थ ही मानता है। आज श्रमणपरिषद् में एक तरुण भिक्षु उठकर खड़ा हो गया है। वह अकेला बोल रहा है, किंतु सभी-स्वयं सम्राट् भी जानते हैं कि वह अकेला नहीं है। वह भिक्षुओं के एक बड़े समूह के मत का प्रतिनिधित्व करता बोल रहा है- 'एक बौद्ध सम्राट् की शक्ति तथागत के संघ के अभिवर्द्धन में ही व्यय होनी चाहिए।'

'संघ तथागत के उपदेश के प्रसार का साधनमात्र है भद्र! सम्राट् को बोलना नहीं पड़ा। राजगुरु एवं श्रमण-परिषद् के अध्यक्ष भिक्षु श्रेष्ठ ह्वेनसांग ने तरुण भिक्षु को रोक दिया आगे बोलने से। 'भगवान् तथागत का उपदेश समूहों, जातियों का बँटवारा करके प्रतिस्पर्धा बढ़ाने, द्वेष एवं संघर्ष का पोषण देने के लिए नहीं है। मानवमात्र-प्राणी-मात्र के लिए प्रेम एवं समता का संदेश है उसमें। बौद्ध धर्म की ही यह महानता है कि यह विजातीय विदेशी चीन-देशवासी आज भारत के ज्ञान का प्रसाद पाकर अपने द्वारा सम्मानित हुआ है।'

लेकिन जो धर्म - जो समाज सदा से संघ की प्रगति का अवरोधक रहा है।' तरुण भिक्षु को संतोष नहीं हुआ था।

'उसे और अधिक स्नेह-और अधिक अपनत्व मिलना चाहिए।' भिक्षु श्रेष्ठ ने उसे गम्भीरता से उत्तर दिया। 'तथागत ने प्रतिस्पर्धा की शिक्षा तो कहीं नहीं दी है।'

'मैं नालन्दा के सम्मान्य स्नातक एवं शिक्षक तथा आचार्य शीलभद्र के आदरणीय सहाध्यायी से तर्क कर सकूँगा ऐसी क्षमता मुझमें नहीं है।' भिक्षु ने लगभग अपनी बात समाप्त कर दी- 'लेकिन मैं केवल अपना मत नहीं व्यक्त कर रहा हूँ, संघ के भिक्षु के समूह में एक बड़ा समुदाय मेरे साथ है।'

'मैं संघ को मस्तक झुकाता हूँ।' सम्राट् हर्ष का धन-गम्भीर स्वर गूँजा। उस सुगठित गौरवर्ण शरीर से आभूषण न होने पर भी जो एक तेज प्रकट हो रहा था, उस संयम, सात्त्विकता की मूर्ति में जो एक अद्‌भुत गौरव था, उसने सबको स्तब्ध-शान्त कर दिया। 'मैं निजी रूप से संघ के शरनापन्न हूँ और संघ आदेश दे तो यहीं से भिक्षु होकर उसकी सेवा में लग जाने को प्रस्तुत हूँ।'

दो क्षण सम्राट् रुके। किसी को इस उत्तर की आशा नहीं थी। 'दक्षिणापथ के शासक महाराज पुलकेशी बौद्ध नहीं हैं। हर्ष का अनुगमन करने वाले इक्कीस नरेश एवं शतशः मण्डलीश्वर भूपति बौद्ध नहीं हैं और वे हर्ष को भय से सम्राट् मानते हैं, भय से हर्ष का अनुगमन करते हैं- यह मान ले इतना हर्ष मूर्खनहीं है। सम्राट् तो दूर- हर्ष तो नरेश भी नहीं है। वह तो साम्राज्ञी राज्यश्रीका प्रतिनिधिमात्र है।'

भिक्षुओं ने एक दूसरे की ओर देखा। सबके हृदय धक्-धक् करने लगे। सबके मुखों पर चिन्ता के लक्षण व्यक्त हुए- 'तरुण भिक्षु ने अनवसर चर्चा की। पता नहीं सम्राट् क्या करने जा रहे हैं।' केवल भिक्षुश्रेष्ठ आचार्य ह्वेनसांग स्थिर बैठे थे। उनकी प्रसादभरी दृष्टि बड़े गौरव से अपने योग्य शिष्य को कृपा का दिव्य वरदान प्रदान कर रही थी।

'शासक किसी धर्म का प्रतिनिधि नहीं होता। वह प्रजा का सेवक है, धर्म उसका व्यक्तिगत है। शासक के नाते प्रजा की सेवा करनी है उसे।' सम्राट् ने आगे बात स्पष्ट की – 'स्वयं तथागत ने कहीं ब्राह्मण-धर्म को तिरस्करणीय माना हो, यह मुझे स्मरण नहीं। प्रत्येक धर्म में तो अज्ञान तथा अनपेक्षित आचार भ्रम, प्रमाद एवं व्यक्तियों के स्वार्थवश आ जाते हैं, उनका समय-समय पर सत्पुरुषों द्वारा परिष्कार होता रहा है। संघ के नियमों में स्वयं तथागत को ये परिष्कार करने पड़े हैं।'

'प्रयाग की मोक्ष-परिषद् ब्राह्मण एवं भिक्षु दोनों के लिए उन्मुक्त है।' भिक्षु श्रेष्ठ ने विस्तार को रोक दिया जिसमें कटुता एवं विवाद न उत्पन्न हो। कुम्भ केवल एक समूह का पर्व नहीं है। वह तो राष्ट्र का सांस्कृतिक पर्व है और देश के शासकों को श्रद्धासमवेत उस महासमुदाय की सेवा कर पवित्र होना ही चाहिए जो देश के कोने-कोने से इस पुण्य अवसर पर तीर्थभूमि में पहुँचता है।'

× × ×

[2]

'भाई ! कल तुम मेरे यहाँ वस्त्र लेने आओगे?' देवी राज्यश्री ने अपने गौरवमय छोटे भाई को बड़े स्नेह से देखा कितना महान् है उनका यह अनुज। रथाण्वीश्वर का गौरव भारत का सम्राट और इतना स्नेहमय कि चाहे सारा भारत हर्ष को सम्राट् कहे- हर्ष अपने को बहन राज्यश्री का प्रतिनिधिमात्र मानते हैं।

'भाई जब कंगाल हो जाय तो बहिन को छोड़कर किसके द्वार पर भिक्षुक बने।' हर्ष के मुख पर मन्द हास्य आया।

'लेकिन इस बार तुम यह पुराना उत्तरीय ले लेना राज्यश्री ने एक कौशेय उत्तरीय हाथ में उठाया। उत्तरीय जीर्ण हो चुका है; किन्तु अब भी यत्र-तत्र ही फटा है सम्राट् सर्वथा चिथड़े लपेटे- यह क्या शोभा देता है?'

'यह तो मेरा हो चुका और कल नाविक इसे पाकर प्रसन्न हो जायगा। बहिन का उपहार ही तो भाई का सर्वस्व है। अन्यथा हर्ष के सर्वस्व दान में धरा क्या है।' हर्षवर्धन ने वह जीर्ण उत्तरीय बहिन के हाथ से लेकर कंधों-पर डाल लिया।

'बहिन के पास ही क्या धरा है? शत्रु ने उसे तो अरण्यवासिनी बना दिया था। बलशाली भाई की शौर्यमयी भुजाएँ चितारोहण के लिए प्रस्तुत बहिन को साम्राज्ञी बना दें, यह बात दूसरी है; किन्तु बहिन तो वही है न।' राज्यश्री के नेत्र टपटप टपकने लगे। ये स्थाण्वीश्वर की अधिदेवी-हर्ष किसी काम में ननुनच तक नहीं करती इनकी सम्मति के बिना। राज्य-नियमों में राज्यश्री साम्राज्ञी है। और वे साम्राज्ञी हैं, यह कोई अस्वीकार कर नहीं सकता; किन्तु ये पतिहीना तपस्विनी-भूमिशयन, साधारण वस्त्र, नित्य एकाहार व्रत-साम्राज्य-का करना क्या है इन्हें। यह तो छोटे भाई का स्नेह है, अनुरोध है जो यह वनदेवता की साक्षात् तपोमूर्ति राज-सदन को, राजसभा को पवित्र करती है।

'बहिन ! हर्ष का कण्ठ भर आया। बहिन के नेत्रों में अश्रु उनसे कभी नहीं देख जाते।

'तुमने अभी गङ्गाजल भी नहीं लिया भाई !' राज्यश्री ने झटपट नेत्र पोंछ लिये और प्रसंग बदल दिया। आजकल केवल तीसरे प्रहर के प्रारम्भ में सम्राट् थोड़ा-सा फलाहार ग्रहण करते हैं। रात्रिमें दूध लेने के बदले वे केवल गङ्गाजल लेते हैं। भीड़भाड़ स्वागत-सत्कार, दान-पुण्य और समस्त दौड़धूप-कार्यव्यस्तता के पश्चात् लगभग मध्यरात्रि को थके-माँदे जब वे विश्राम के लिए शिविर में पहुँचते हैं- इस समय कोई ऐसी बात तो नहीं होनी चाहिए, जिससे उनका भावमय हृदय क्षुब्ध हो।

'तुममें केवल स्नेह-ही-स्नेह है बहिन? हर्ष ने भरे दृगों से राज्यश्री की ओर देखा। माता जैसे निरन्तर पुत्र का ध्यान रखती है- हर्ष की क्षण-क्षण की चिन्ता यह उनकी तपस्विनी बहिन ही तो करती है।

'तुम मेरे स्नेह को मानो तब तो।' राज्यश्री ने तनिक स्नेह की फटकार दी- 'एक पुराना उत्तरीय भी तुम्हें स्वीकार नहीं। चिथड़ा लोगे- ऐसा चिथड़ा जिसे कोई राह का भिखारी भी लपेटना न स्वीकार करे और उसी फटे चिथड़े को लपेटे कुम्भ के इस अपार समुदाय के मध्य से भारत का सम्राट् प्रयाण करेगा।'

'आचार्य कहते हैं कि जीव संसार में राग और द्वेष इन दो बन्धनों से ही बँधता है। हर्ष ने तथागत की शरण लेकर द्वेष को निर्मूल कर दिया है। प्रयाग में प्रत्येक कुम्भ या अर्धकुम्भी पर यह जो मोक्ष-सभा होती है, वह दूसरों के लिए मोक्षदायनी हो या न हो, हर्ष के लिए भी मोक्षदायिनी न हो तो उसका आयोजन दम्भ ही तो होगा।' सम्राट्-पर नहीं, त्यागी भाई ने तपस्विनी बहिन को समझाना चाहा।

'मैं तुम्हारी मोक्ष-सभा का विरोध कहाँ करती हूँ।' 'तुम अपने ही आयोजन का विरोध कर भी कैसे सकती हो।' हर्ष का स्वर भावगम्भीर बना रहा- 'यह तो मैंने तुमसे ही सीखा है कि संसार के पदार्थों का जितना त्याग किया जाय, उनसे राग जितना-जितना दूर हो, मोक्ष उतना-उतना पास आता है; उतना-उतना ही बन्धनमुक्त होता है जीव। हर्ष के पास एक भी पदार्थ-एक भी वस्त्र-खण्ड ऐसा रह जाय जो दूसरे किसी के काम में भी आ सकता हो तो सर्वस्व दान की घोषणा मिथ्या नहीं होगी।'

'अच्छा अब गङ्गाजल पी लो और सो जाओ! प्रहरी मध्यरात्रि का शंखनाद कर रहे हैं और तीसरे प्रहर के अन्त में तुम्हें उठ जाना है।' राज्यश्री ने जलपात्र उठाया- 'मैंने इस बार इतना फटा चिथड़ा तुम्हारे लिए सुरक्षित रक्खा है कि तुम उसे बहुत दिन स्मरण रखोगे।'

'मैं चाहे भूल भी जाऊँ, तुम्हें अवश्य स्मरण रहेगा वह।' परन्तु हर्ष को और बोलने देने का अर्थ था उनके विश्राम के एक प्रहर से भी कम समय को और कम करना। राज्यश्री के हाथ में जलपात्र दे दिया और वे शयन-कक्ष से सेविकाओं के साथ अपने कक्ष में चली गयीं।

× × ×

[3]

प्रयाग महाकुम्भ- यह पर्व बारह वर्ष पर आता है और जबसे स्थाणीश्वर की सीमाएँ हर्ष के पराक्रम से विस्तृत हुई, कुम्भ के स्नान की महिमा को सम्राट् की मोक्षसभा के आयोजन ने द्विगुणित कर दिया। गङ्गा-यमुना के अन्तराल की पावन भूमि में, महर्षि भारद्वाज आश्रम के पुनीत पदप्रान्त से अक्षयवट की मङ्गल छाया तक शतशः महापुरुषों के आश्रम सदा बस जाते हैं। अवधूत तपस्वियों के आसन इस शीत ऋतु में भी हिमशीतल बालुकापर केवल धनी के सहारे स्थिर रहते हैं- स्थिर रहते हैं वे

तपः काय अनावरण, दिग्वसन, नग्न आकाश के नीचे तब भी जब आकाश उपलवृष्टि करता या वर्षा की धार उनकी आधारभूता धूनी की अग्नि शीतल कर जाती हैं। विभूतिभूषित उनके पवित्र देह-तप में यदि प्रदर्शन एवं कामना न हो, वह भुवन को पवित्र करता है।

शतशः शिविर हैं संतों, महापुरुषों, विद्वानों एवं सम्प्रदायप्रवर्त्तकाचार्यों की परम्परा में प्रतिष्ठित लोकपूज्य आचार्यचरणवृन्द के। श्रुति-पुराणों की कथा, धर्म का प्रवचन, भगवन्नाम का पवित्र कीर्तन-गङ्गा-यमुना-सरस्वती की पावन त्रिवेणी के समान यह आध्यात्मिक वाग्देवता की मङ्गल-आराधना समस्त वातावरण को पुनीत करती है।

मुण्डित मस्तक श्रद्धावनत यात्रियों के यूथ-यूथ त्रिवेणी का स्नान करते हैं। कालिन्दी की नीलिमा जहाँ भागीरथी की शुभ्रता को अङ्कमाल देती है- कुम्भ के पुनीत पर्व पर मानव वहाँ निमज्जन करके अपने को कृतार्थ करने ही तो यात्रा का अपार कष्ट सहकर आता है। महीनों की यात्रा, वन-वन भटकना, जहाँ-तहाँ पड़े रहना, नंगे पैर आधे पेट खाकर, छाले पड़े, बिवाई भरे थके-माँदे सहस्र-सहस्त्र यात्री आते हैं- देश के कोने-कोने के तीर्थयात्री-पर्व स्थान तो मार्ग की राजसेवक संक्रान्ति से ही यह पता लगाने में व्यस्त है।

× × ×

[4]

'सम्राट् हर्षवर्द्धन की जय!' राजसेवकों के लिए यात्रियों का नियन्त्रण इतना कठिन अमावस्या के स्नानपर्व पर भी नहीं था। सहस्र-सहस्र यात्री एक ही राजपथ के दोनों ओर एकत्र हो गये हैं।अपार जनसमूह एकत्र होता जा रहा है। पुष्पों की वर्षा ने मार्ग को आच्छादित कर दिया है। जनता अपने सम्राट् के दर्शन करना चाहती है।

सम्राट-स्थाण्वीश्वर का अधिदेवता-विश्व ने किसी सम्राट का यह अद्‌भुत वेश नहीं देखा होगा। सम्राट् के पास अपना रथ तक नहीं है। अपनी बहिन राज्यश्री के रथ पर खुले केश, वस्त्राभूषणहीन, कटि में फटा चिथड़ा लपेटे दोनों हाथ जोड़े जो तेजोमय गौरवर्ण सुपष्टकाय भव्यमूर्ति अपने दीर्घदृगों में जल भरे विनम्र खड़ी है- प्रान्त-देश में धनुष और त्रोण पड़े न भी हो तो भी वह सम्राट है, यह भ्रम भला किसे हो सकता है। इतना उदार, इतना महान-सम्राट् उसकी कटि का चिथड़ा त्रिभुवन की विभूति उस चिथड़े को देखकर लज्जा से मुख छिपा लेगी। यह सम्राट्-जन-जन के

हृदय का यह अधिदेवता-यह धनुष और त्रोण रक्खे या न रक्खे, त्रिभुवन की विजयश्री तो स्वतः इसके चरणों में प्रणत होकर कृतार्थ होगी।

'सम्राट् हर्षवर्धन की जय!' राजरथ प्रयाग की पुण्यतीर्थभू सीमा से पार हुआ और सम्मुख आती रथों की पंक्ति-में एक रथ आगे बढ़ आया।

'मेरे मान्य बन्धु!' दक्षिणापथ से प्रख्यात पराक्रमी शासक पुलकेशी ने रथ से कूदकर प्रणिपात करना चाहा; किन्तु हर्ष की स्फूर्ति को दूसरा कोई कहाँ पा सकता है, सम्राट् ने अपनी भुजाओं में भर लिया उन्हें।

'यह भारत के सम्राट् का रथ है।' पुलकेशी का रथ सारथि ने संकेत पाते ही आगे बढ़ा दिया।' 'सम्राट ने मुझे छोटे भाई का गौरव दिया है और अब छोटे भाई को उनका स्वत्व देने की बारी है। सर्वस्वदान पूरा हो जाना चाहए।' हँसते हुए पुलकेशी ने दोनों हाथ फैला दिये वह चिथड़ा लेने के लिए, जिसे हर्ष ने अपनी कटि में लपेट रक्खा था।

'आप जो उपहार चाहें, वह पहले से आपके हैं।' सम्राट् ने बड़ी उदारता से कहा। 'हर्ष के पास ऐसा कोई अधिकार नहीं जो दक्षिणापथ के शासक को न दिया जा सके।'

'परंतु दक्षिणापथ के शासक अपने सम्राट् को इस वेश में और दो क्षण नहीं देख सकेगा। उपहार स्वीकृत न हों ऐसा कोई अपराध उसने नहीं किया है।' पुलकेशी के सारथि ने रत्नजटित वस्त्र सम्राट् के चरणों में रख दिये- 'बड़े भाई के अधिकार छोटे भाई के अपने ही हैं। इस समय तो पुलकेशी को बड़े भाई का यह प्रसाद चाहिए जो उसके कुल में सुरक्षित रहे और यह बतावे कि हर्ष ने अपने छोटे भाई को इस गौरव के योग्य समझा।'

सेवकों ने वस्त्रों का आवरण किया, पुलकेशी ने अपने हाथों सम्राट् को सजाया और जब सम्राट् रथ पर बैठ गये उनकी कटि से छूटा चिथड़ा उठाकर उस दक्षिणापथ के शासक ने अपने कंधेपर डाल लिया।

'यह आप क्या कर रहे हैं?' बड़े संकोच से हर्ष ने रोकना चाहा।

'सम्राट् का सर्वस्वदान सम्पूर्ण हो गया और उसका सबसे मूल्यवान भाग पुलकेशी ने प्राप्त किया।' दक्षिणापथ के शासक ने प्रसन्नता से दाहिना हाथ उठाकर जयनाद किया- 'सम्राट् हर्षवर्द्धन की जय!'

❑❑

आत्मदान

विद्याधराधिप जीमूतकेतु के कुमार जीमूतवाहन परिभ्रमण करने निकले थे। उस दिन अमरावती की ओर न जाकर उन्होंने दूसरी दिशा अपनायी। उत्ताल तरङ्गों से क्रीड़ा करता अमित विस्तीर्ण नीलोदधि उनको सदा ही परमाकर्षक प्रतीत हुआ। सृष्टि में अनन्त के तीन ही प्रतीक है– उदधि, आकाश और उत्तुङ्ग हिमगिरि। इनमें भी आकाश नित्य दृश्य होने से कदाचित् ही किसी के मन में कोई प्रेरणा दे पाता है; किन्तु उत्ताल तरङ्गमान सागर तथा हिमाच्छादित उत्तुङ्ग शृङ्ग के समीप पहुँचकर प्राणी अपनी अल्पता का अनुभव सहज कर पाता है। उसका अहंकार शिथिल हो जाता है वहाँ।

जीमूतवाहन चले जा रहे थे आकाशमार्ग से। अकस्मात् उनकी दृष्टि रमणक द्वीप पर पड़ी। सुविस्तीर्ण व मनोहर द्वीप और उसमें क्रीड़ा करे नागकुमार; किन्तु विद्याधर राजकुमार के लिए इसमें कोई आकर्षण नहीं था। उन्हें चौकाया था एक विचित्र दृश्य ने। द्वीप के बहिर्भाग में पर्याप्त दूर एक अन्तरीप चला गया था और सागरगर्भ में और उसके लगभग छोर पर एक उज्ज्वल शिखर दीख रहा था।

'रमणक पर तो कोई उच्च पर्वत नहीं है। यह हिमशिखर यहाँ और इतना उज्ज्वल!' अपने मूल भाग से ऊपर तक उज्ज्वल यह पर्वत! इस नागालय के निवासियों ने यहाँ कोई रजतगिरि बनाया है।' जितना ही ध्यान से उसे देखा, जिज्ञासा उतनी बढ़ती गयी। जीमूतवान उतर पड़े वहाँ।

'हे भगवान्!' कोई भी उस दृश्य को देखकर विह्वल हो उठता और जीमूतवाहन तो अत्यन्त सदय पुरुष थे। वे स्तम्भित, चकित, भयातुर स्तब्ध खड़े रह गये। वहाँ कोई पर्वत नहीं था। वह पर्वताकार दीखता अस्थि-पंजरों का अकल्पित अम्बार था। वहाँ अखण्ड कङ्काल और उनमें मेद, माँस, स्नायु का लेश नहीं। जैसे किसी ने सावधानी से स्वच्छ करके ये सहस्त्र-सहस्त्र वहाँ एक क्रम से सजाये हैं।

'क्या है यह? क्यों हैं ये अस्थियाँ यहाँ?' उस अस्थिपर्वत के ऊपरी भागके

कङ्काल ऐसे लगते थे जैसे उन्हें अभी कुछ सप्ताह पूर्व ही वहाँ रक्खा गया है। लेकिन पूछे किससे? उस अशुभ स्थान के आसपास कोई प्राणी नहीं था। लगभग पूरा अन्तरीप नीरव निर्जन पड़ा था।

रमणक द्वीप नागालय है। असंख्य नाग निवास करते हैं वहाँ। अनेक सिरधारी भयङ्कर विषधर नागों की वह भूमि-उस पर दूसरे प्राणी न पाये जायँ यह स्वाभाविक था। पशु-पक्षी वहाँ सकुशल रह नहीं सकते और समुद्रा वेष्टित उस पाषाण भूमि में क्षुद्र पिपीलिकादि का प्रवेश नहीं। लेकिन रमणकद्वीप नाग-निवास है, सर्पावास नहीं। वहाँ पृथ्वी के साधारण सर्प पहुँच नहीं सकते। जन्मसिद्ध इच्छानुरूप रूप धारण करने वाले उपदेव जाति नाग वहाँ रहती है। उसके नगर हैं, भवन हैं, समाज व्यवस्था है। नागपुरुष विषधर, सहज सर्पशरीरी हैं, यदि वह अपनी सिद्धि का उपयोग करके कोई अन्य रूप धारण न किये हों।

जीमूतवाहन उस अन्तरीप से द्वीप के मध्यभाग की ओर बढ़े। उन विद्याधर के लिए नागजाति से कोई भय नहीं। यह उपदेव जाति तो मित्र है। उनके पिता की और शत्रुता भी होती तो उनका सिद्धदेह विषय से प्रभावित होने वाला तो नहीं है।

'क्या है वहाँ अन्तरीप के अन्तिम भाग में?' जो पहला नाग मिला, उससे ही जीमूतवाहन ने पूछ लिया।

'वहाँ?' नाग-तरुण ने एक बार दृष्टि उधर उठायी और उसके नेत्र भर आए। उसका मुख कान्तिहीन हो गया। उसने बड़े खिन्न स्वर में कहा- 'हममें कोई उस अशुभ स्थान की चर्चा नहीं करता। उस ओर मुख करने से भी हम बचते रहते हैं। लेकिन उसका आतङ्क हममें से सबके सिर पर सदा रहता है।'

'ऐसी क्या बात है वहाँ?' जीमूतवाहन ने अपना परिचय नहीं दिया; किन्तु वे इस द्वीप के अतिथि हैं, यह उन्होंने सूचित कर दिया।

आज पूर्णिमा है। स्वर्णवर्णा मृत्युपक्षी आज वहाँ उतरेगा और एक नाग के शरीर का अस्थिपंजर उस पर्वत-पर और बढ़ जायगा।' उस नाग-तरुण ने व्यथित स्वर में बताया।''आज के दिन आप उस ओर जाने की भूल न करें।'

'स्वर्णवर्णा मृत्युपक्षी !' जीमूतवान कुछ सोचते खड़े रहे। अब उन्हें स्मरण आया कि इस द्वीप में कहीं उन्होंने पीतरंग नहीं देखा है। वस्त्र, भित्तियाँ तथा अन्य सब स्थान इस रंग से रहित हैं ! पूरे द्वीप में जैसे पीले रंग को अशुभ मानकर बहिष्कृत कर दिया गया है।

'स्वर्णवर्णा मृत्युपक्षी क्या?' अब भी कोई बात समझ में नहीं आयी थी। मस्तक उठाया तो वह नाग-तरुण जा चुका था। किसी वृद्ध नाग से यह पहेली सुलझ सकती है।

'विनता का पुत्र गरुड़ है हमारा आतङ्क। प्रत्येक पर्व पर उसके लिए बहुत-सी खाद्यसामग्री लेकर किसी-न-किसी को अन्तरीप के अन्त में स्थित उस महा वृक्ष के समीप जाना पड़ता है। वह वैनतेय सामग्री के साथ उसको लानेवाले को भी उदरस्थ कर लेता है। प्रहरभर पश्चात् वह अस्थि-राशि के ऊपर उसके कङ्काल को उगलकर उड़ जाता है। ' बड़ी कठिनाई से बृद्धनाग ने रुक-रुक कर क्रोध क्षोभ तथा पीड़ा के स्वर में यह बतलाया।

'आप लोग यह सब क्यों करते हैं? जीमूतवाहन ने पूछा।

'अपनी जाति का समूल नष्ट होने से बचाने के लिए।' वृद्ध बोल रहा था। 'गरुड़ अमर है। वह निखिल सृष्टि के नायक श्रीनारायण का अनुग्रहभाजन, उनका वाहन है। समस्त सुर-असुर एक साथ होकर भी समर में उससे पराभव ही पायेंगे। उसका रोषभाजन बनना स्वीकार करे, ऐसा सृष्टि में कोई नहीं। वह पहले संख्याहीन नामों का स्वेच्छा-विनाश करता था। यह तो हमारे उस वंश-शत्रु की उदारता ही है कि पर्व पर केवल एक बलि का वचन लेकर उसने हमारी जाति को जीवित छोड़ रक्खा है।'

'वैनतेय श्रद्धा-सम्मान-भाजन हैं। समस्त प्राणियों के - यह तो सत्य है।' जीमूतवाहन ने स्वीकार किया।'श्री हरि-के उन प्रमुख पार्षद की अवमानना कोई सदाशय करना नहीं चाहेगा।

'हम सब अपनी आदि माता के सहज सपत्नी-द्वेष का दण्ड भोग रहे हैं। इसमें गरुड़ को दोष कैसे दिया जा सकता है?' वृद्ध ने कहा। 'केवल शथैकशीर्षा कालिया ने एक बार साहस किया था। व्यर्थ था उसका औद्धत्य। विनतानन्दन के वामपक्ष का एक आघात ही बड़े कष्ट से वह सह सका। कालिन्दी के सौभरिप्रशप्त ह्रद में शरण न ली होती उसने तो उसका वंश उसी दिन नष्ट हो गया था। लेकिन श्रीकृष्णकी कृपा - उनके चरणचिह्नों से अङ्कित मस्तक, वह अब गरुड़ से निर्भय हो गया है। आज पर्व कादिन है। उन हिरण्यवर्णा के गगन से अवतरण-काल में द्वीप पर स्वच्छन्द घूमता केवल कालिया देखा जा सकता है। यद्यपि गरुड़ ने अपने आश्वासन को भंग कभी नहीं किया; किन्तु हममें किसी का साहस उनको दूर से देखने का भी नहीं है।'

'अतीत में कुछ भी हुआ, अब इसे विरमित होना चाहिए।' जीमूतवाहन जैसे अपने-अपने कुछ कह रहे हों,ऐसे बोल रहे थे। 'नागमाता क्रदूने देवी विनता के साथ छल किया। माता के अनुरोध पर नाग भगवान् सूर्य के रथाश्वों की पूँछ में लिपट गये। दूसरे अश्वों की श्वेत पूँछ श्याम जान पड़ी। देवी विनता अपने वचनों-स्पर्धा के नियम से पराजित होकर पुत्र के साथ नागमाता की दासी हो गयी। माता तथा स्वयं को इस

दास्यभाव से मुक्त करने के लिए अमृत-हरण करने में वैनतेय को जो श्रम करना पड़ा, सुरों से जो उनके सम्मान-भाजन थे, संग्राम करना पड़ा और दास्यकाल में नागों ने उनको वाहन बनाकर उनका तथा उनकी माता का बार-बार तिरस्कार करके जो अपराध किया, उससे नागों पर उनका रोष सहज स्वाभाविक था।'

'हम गरुड़ को दोष नहीं देते।' वृद्ध नाग ने अपने दुःख-भरे स्वर में कहा। 'गरुड़ अन्न अथवा फल का आहार करने वाला प्राणी तो है नहीं। उसे जब जीवाहार ही करना है, सृष्टि के प्रतिपालक से अपने शत्रुओं को आहार के रूप में प्राप्त करने का वरदान लिया उसने। हम तो अपने पूर्व पुरुषों के अपकर्म का प्रायश्चित कर रहे हैं। अनन्त काल तक के लिए यह प्रायश्चित हमारी जाति के सिर पर आ पड़ा है।'

'ऐसा नहीं। संतानों को सदा-सदा के लिए पूर्व पुरुषों के अपराध का दण्डभाजन बनाये रक्खा जाय, यह उचित तो नहीं है।; जीमूतवाहन ने गम्भीर स्वर में कहा।'गरुड़ इतने निष्ठुर नहीं हो सकते। वे यज्ञेशवाहन-मुझे उनकी उदारता पर विश्वास है।'

'हतभाग्य नागों के अतिरिक्त विश्व में सबके लिए वे उदार हैं।' वृद्ध नाग ने दीर्घ श्वास ली।

'आज पर्व-दिन है। किसको जाना है आज गरुड़ की बलि बनकर?' जीमूतवाहन ने कुछ क्षण सोचकर पूछा।

'द्वीप में उस आवास में आज क्रन्दन का अविराम स्वर उठ रहा है।' वृद्ध को यह बताने में बहुत क्लेश हुआ। वह वहाँ से एक ओर चला गया। लेकिन उसने जो बता दिया था, उस संकेत से उस अभिशापग्रस्त आवास को ढूँढ़ लेना कठिन नहीं था।

'बेटा! तुम युवक हो। अभी तुम्हारे आमोद-प्रमोद के दिन हैं। तुम मुझे जाने दो। इस वृद्ध के बिना भी तुम इस परिवार का पालन कर सकते हो।' एक वृद्ध नाग उस परिवार में रोते-रोते पुत्र से अनुनय कर रहा था।

'मैं जाऊँगी। मेरे न रहने से परिवार की कोई हानि नहीं। अब मैं आपकी संतानों की रक्षा में शरीर देकर धन्य बनूँ, इतनी अनुमति दे।' वृद्धा नागिन ने नेत्र पोंछ लिये।

'मातः! गरुड़ को नारि-बलि कभी भेजी नहीं गयी। कोई नाग-परिवार इतना कायर पुरुष नहीं निकला अब तक कि किसी नारी को मृत्यु के मुख में भेजकर अपनी रक्षा करना चाहे। गरुड़ को भी ऐसी बलि कदाचित् ही स्वीकार होगी। उन्होंने यदि इसे अपनी प्रवंचना अथवा अपमान माना तो सम्पूर्ण जाति विपत्ति में पड़ जायेगी। पिता की सेवा में पुत्र का शरीर लगे, यह पुत्र का परम सौभाग्य आज मुझे मिल रहा है। मैं इसे नहीं छोड़ूँगा।' युवक नाग में कोई व्याकुलता नहीं थी। पूरे परिवार में वही स्थिर, धीर दीख रहा था।

'यह अवसर आप सब मुझे देगे।' अचानक उस आवास में पहुँचकर जीमूतवाहन ने सबको चौका दिया।

'आप? आप कोई हों, हमारे अतिथि हैं।' पूरा परिवार एक साथ सम्मान में उठ खड़ा हुआ।'दयाधाम! आप हमारी परीक्षा न लें। यह तो हमारी पारिवारिक समस्या है।'

'मुझे आपका कोई सत्कार स्वीकार नहीं। मैं अतिथि हूँ और आपसे गरुड़ के पास उनकी बलिसामग्री ले जाने का अवसर माँगने आया हूँ। जीमूतवान के स्वर में दृढ़ निश्चय था। 'आप मुझे निराश करेंगे तो भी मैं वहाँ जाऊँगा। आप मुझे रोक नहीं सकते।

'अतिथि की ऐसी माँग कैसे स्वीकार की जा सकती है?' बड़े धर्मसंकट में पड़ गया वह नाग-परिवार। जीमूतवाहन आसन तक स्वीकार नहीं कर रहे थे। अन्त में उनका आग्रह विजयी हुआ। वे जायँगे ही, वह जानकर अत्यन्त अनिच्छा होने पर भी नाग-परिवार को उनकी बात माननी पड़ी। यद्यपि वह युवक जीमूतवाहन के साथ उस अन्तरीप के अन्तिम छोर तक गया। रमणक द्वीप में आज पहली बार एक साथ दो व्यक्ति उस बलिस्थान तक पहुँचे थे। जीमूतवाहन ने बहुत आग्रह करके किसी प्रकार युवक को लौटा दिया।

आकाश में गरुड़ के पक्षों में से उठता सामवेद ऋचाओं का संगीत गूँजा और उन तेजोमय का स्वर्णिम प्रकाश दिशाओं में फैल गया। सम्पूर्ण धरा और सागर का जल जैसे स्वर्णद्रव से आर्द्र हो उठा। उच्च अस्थिराशि स्वर्ण-वर्णा बन गयी। जीमूतवाहन इस छटाको मुग्ध नेत्रों से देख रहे थे। भय-कम्प का उनमें लेश नहीं था।

एक बार प्रचण्ड वायु से सागर क्षुब्ध हुआ और तब गरुड़ उतर आये महातरु के समीप अन्तरीप पर। उन्होंने बलि-सामग्री प्रथम भोजन करना प्रारम्भ किया। उन्हें भी आश्चर्य था - 'नाग मानवाकार में आया, यह तो उसकी सिद्धि और इच्छा; किन्तु यह है कैसा? यह रोता है, न भयभीत है और न व्याकुल ही दिखता है।

क्षुधातुर गरुड़ के समीप अधिक विचार करने का अवकाश नहीं था। बलि-सामग्री शीघ्र समाप्त करके उन्होंने जीमूतवाहन को समूचा निगल लिया और उड़कर अस्थि-पर्वत के ऊपर बैठ गये। भोजन के पश्चात् वे विश्राम करके नागदेह का कङ्काल उगलकर तब जाया करते है।

'महाभाग! तुम कौन हो? गरुड़ ने बड़ी व्याकुलता अनुभव की। उन्होंने कण्ठ इधर-उधर घुमाया। अस्थि-समूह से उड़कर नीचे आये। लगता था कि उन्होंने कोई तप्त लौहा निगल लिया है। जीमूतवाहन को उन्होंने झटपट उगल दिया और पूछा - 'तुम नाग नहीं हो सकते। तपस्वी ब्राह्मण अथवा भगवद्भक्त, जीव-दया-सम्पन्न

पुरुष ही अपने तेज से मेरे भीतर ऐसी ज्वाला उत्पन्न कर सकता है। अनजान में हुआ मेरा अपराध क्षमा करो ! मैं तुम्हारा क्या प्रिय कार्य करूँ?'

जीमूतवाहन का सर्वाङ्ग गरुड़ के जठर-द्रव से लथपथ हो रहा था। उनके शरीर में कई खरोचें थी; किन्तु वे अविचलित, स्थिर शान्त स्वर में बोले- 'आप परम पुरुष- के कृपाभाजन, परम कारुणीक यदि इस क्षुद्र विद्याधर पर प्रसन्न है तो आज से इस नागद्वीप के निवासियों को अभय दें।

महाभागवत दया धर्म के धनी जीमूतवाहन। गरुड ने अब उन्हें पहचान लिया था। तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो। तुम्हें प्रसन्न करके मैं अपने आराध्य का प्रसाद प्राप्त करूँगा। तुम निश्चित बनो। अब इस द्वीप पर गरुड़ नहीं उतरेगा।

वैनतेय गरुड़ ही नहीं, कोई सर्पाहारी गरुड़ पक्षी भी उस द्वीप पर फिर कभी नहीं उतरा।

[महाकवि अश्वघोष के 'नागानन्द' के किचिंत आधार पर]

❑❑

संयम

'आपको क्या हो गया है? मुझे बहुत संकोच हो रहा था। जो पूरे वर्ष पड़ोस में रहे, उन्हें मैं पहचान नहीं सका था और जब उन्होंने अपना नाम भूमि पर मिट्टी में लिखा, तब मैं जैसे चौंक पड़ा।

मेरे प्रश्नों के उत्तर में उन्होने ललाट पर इस ढ़ंग से हाथ पटका जैसे कहते हों–'भाग्य फूट गया!'

वे मौन थे। मैं उन्हें कमरे में ले गया और एक कुर्सी खींची बैठने को; किन्तु उन्होंने संकेत किया कि वे कुर्सी पर नहीं बैठेंगे। भूमि पर चटाई डालनी पड़ी।

कुछ मिनटों में पता लग गया कि उन्होंने चीनी, नमक और गोरस मात्र (घी, दूध, दही, मक्खन–सब) छोड़ रक्खा है। तेल, मिर्च, खटाई भी वर्जित है। रूखी रोटी और बिना नमक की दाल तथा उबाला हुआ शाक उनके लिए बनाने की व्यवस्था मुझे पहले करनी पड़ी।'

आप उनका परिचय जानना चाहेंगे। वे मेरे पड़ौसी थे, यह बता चुका हूँ। पहलवान थे, मुहल्ले के युवकों को व्यायाम करवाते थे। मुहल्ले में उनका आदर भी था, आंतक भी।

दूध, रबड़ी, मलाई–पहलवानों के सामने उनके भी ये प्रिय आहार थे और नंगे शरीर अथवा मलमल का पतला कुर्ता ही उन्हें भी प्रिय था। धूलि–धूसर देह पहलवान की शोभा है और जब स्नान किये हों, अलकों–से तेल जैसे टपक पड़ता हो।

पता नहीं क्या बात हुई कि मुहल्ले के ये 'उस्ताद जी' सहसा बिना किसी को कुछ बताये कहीं चले गये और आज पूरे दो वर्ष के बाद लौटे हैं तो मैं इन्हें पहचान ही नहीं सका।

दुबला–सूखा शरीर, बड़ी–बड़ी जटाएँ, बिवाइयों से भरे पैर, कपर में लिपटा मैला–सा कपड़ा, कंधे पर झोली, हाथ में बड़ा भारी लोटा और एक लकड़ी, मेरे

सामने जो रामानन्दी तिलक लगाये वैष्णव साधु चटाई पर बैठे हैं, वे इस मुहल्ले के सामान्य 'उस्ताद जी' है, यह उनके व्यायाम सिखाये युवक भी आज नही कह सकेंगे, इसका मुझे भरोसा है।

घर में कोई था या नहीं। वृद्धा माता की गङ्गायात्रा हो चुकी थी साधु होने के एक वर्ष पूर्व। 'उस्ताद जी' यहाँ से कहीं चले गये तो कोई विशेष बेचैन होने वाला नहीं था। भला आदमी अपने मकान का किवाड़ तक बंद नही कर गया था। कई दिन उसमें कुत्ते और पशु रात्रि व्यतीत करते रहे। जोजिसके हाथ लगा, दूसरों की दृष्टि बचाकर उठा ले गया। और लगभग सप्ताहभर पीछे उस्तादजी के ही एक शिष्य ने उनके मकान पर अधिकार कर लिया। रोकने वाला कोई नहीं था। उससे झगड़ने का साहस भी किसी में नहीं था।

अब समझमें आया कि 'उस्ताद जी' को सचमुच वैराग्य हुआ था। साधु होना तो फिर घर और सामग्री की क्या सम्हाल। संसार की वस्तु संसार के पास छोड़कर चले गये।

× × ×

'गये थे चौबे जी छब्बे होने दूबे रह गये।' चटाई पर जब मैं भी बैठ गया और मैंने स्लेट-पेन्सिल उन्हें दे दी तब लिखकर उन्होंने अपना पिछला हाल बताना प्रारम्भ किया।

'बड़ा वैराग्य था मन में और बड़ी श्रद्धा थी साधुओं के प्रति।' वे लिखते-मिटाते जा रहे थे- 'दीक्षा लेने के गिने-चुने दिन बीतते-न-बीतते जमात के साथ रमताराम हो गया और फिर जैसा संग, वैसा रंग!

'आप पर साधुता का रंग तो गहरा चढ़ा है।' मैंने कहा।

'यह तो उसका प्रायश्चित है।'उन्होंने लिखा दिनभर गाँजे-चरस की चिलम चढ़ी रहती थी।प्रातः प्रतिदिन माल घुटते थे। वैसी गंदी गालियाँ मेरे मुख से यहाँ भी कभी नहीं निकली, जैसी वहाँ धड़ल्ले से बकी जाती थी। भजन की चर्चा कोई करे तो उसकी खिल्ली उड़ती थी। किसी पर चिमटा फटकार देना या लोटा पकट देना कोई अनोखी घटना नहीं थी।

'जो लोग ऐसा नहीं करते थे, बगुला जैसे मछली-की ताक में ध्यानस्थ रहता है और अवसर पाते ही शिकार कर लेता है, दम्भ से साधु के वेश में रहते हुए ही नित्य निरन्तर विषय-सेवन का अवसर ढूँढ़ा करते और मौका पाते ही उसमें डूब जाते थे।

'आप सह लेते थे यह सब?'यहाँ रहते भी उस्ताद-जी अपने युवकों का तनिक भी अटपटा व्यवहार नहीं सह पाते थे। अपनी शिष्टता और नम्रता के लिए वे प्रसिद्ध थे।

'कर लेता था कहो! उनके मुख पर खेद के भाव स्पष्ट आ गये- 'वहाँ भी दंड-बैठक करता था और ये सब ऊधम भी। दूसरा काम भी क्या था। फिर वहाँ सब तो एक-जैसे थे। दूसरों की निन्दा और अनर्गल बातचीत के अतिरिक्त हम करते भी क्या। अवश्य ही कोई मुझसे उलझने का साहस नहीं करता था। मुझे किसी का चिमटा नहीं सहना पड़ा।'

'किंतु अब तो आप एक आदर्श साधु तो है।' मैं यह जानने को उत्सुक था कि यह परिवर्तन कैसे हुआ।

'यदि वेशधारियों में कुछ सच्चे संत न होते, तो यह सब कब का मिट चुका होता।' वे लिखते गये -'कुछ बहुत उच्चकोटि के संत और कुछ अच्छे भजनानन्दी साधक भी प्रायः सभी स्थानों में होते हैं। उन्हीं के भजन का प्रताप है कि दूसरे वेशधारी भी पूजे जाते हैं और उनका यह सब चलता रहा है। गिने-चुने रत्नों के लिए पूरी खदान की मिट्टी-कंकड़ को सुरक्षित रखना ही पड़ता है।'

मैं चुप रहा, क्योंकि यह स्पष्ट हो गया था कि इनको भी कोई रत्न मिल गया।सुना है कि स्पर्शमणि (पारस) सोना बना देता है लोहे को स्पर्श मात्र से। भगवान जाने यह बात सच है या झूठ; किन्तु महापुरुष तो वे पारस हैं जो अपने स्पर्श से दूसरों को पारस ही बना देते हैं।

'हमारी जमात में एक वृद्ध महात्मा थे। हम सब उनका सम्मान करते थे; किन्तु रहते उनसे दूर-दूर ही थे।' उन्होंने लिखा- 'एक दिन उन्होंने मुझे बुलाया और बड़े प्रेम से तुलसीदल दिया।'

'तुम यही सब करने साधु हुए हो? यह सब तो इससे बहुत अधिक घर पर कर सकते थे!' स्नहेपूर्वक ही उन्होंने कहा- 'यह देह कीड़े-कछुए या पक्षी खा जायँगे एक दिन। साधु हुए हो तो रघुनाथजी का भजन करो।'

× × ×

उन वृद्ध साधु को अपने जप-पाठ से अवकाश नहीं था। इतने थोड़े-से क्षण भी उन्होंने अनुग्रहपूर्वक दिये थे। उन्होंने कुछ नहीं बताया था कि क्या करो, क्या मत करो किन्तु महापुरुष का वह क्षणभर का सङ्ग, उनका उपदेश लग गया था। उस्ताद जी वेश धारण करके भले न बदले हों, उस दिन बदल गये। उसी दिन वे सचमुच साधु हो गये।

'जमात मैंने उसी दिन छोड़ दी।' उन्होंने लिखकर बताया- 'मुझे किसी ने कुछ बताया तो था नहीं, जो-जो मन में आया, वह नियम बना लिया और जितना बनता है 'राम-राम' करता हूँ।'

'संयम क्या है भैया?' उनके अक्षर स्लेट पर लिखे थे और नेत्रों में आग्रह उमड़ आया था। 'अब तुम्हीं यह बता दो। तुमने शास्त्र पुराण पढ़े हैं और मुझे कुछ आता-जाता नहीं है, यह तुम जानते ही हो।'

'बहुत वाणी का असंयम हुआ तो उसकी प्रतिक्रिया सर्वथा मौन। बहुत जिह्वा असंयम हुआ तो यह अलोना भोजन।' मैंने कहा- किन्तु भगवान् बुद्ध ने कहा है कि दोनों अतियों से बचकर चलना ही उत्तम मार्ग है। गीता में भी 'युक्ताहार विहारस्य' की बात आयी है।'

'वाणी का संयम सत्य और अत्यावश्यक मितभाषण!' वे क्योंकि उत्सुकतापूर्वक सुन रहे थे, मैं कह गया- 'जिह्वा का संयम सात्विक, हल्का एवं आवश्यकमात्र भोजन। आप साधु हैं, अतः दूसरे संयमों की चर्चा ही व्यर्थ है। वे तो आपके स्वभावसिद्ध हैं।'

'दूसरे संयम क्या है?' उन्होंने पूछा।

नेत्र किसी को रोष से, घृणा से, बुरी कामभरी दृष्टि से न देखें और बंद भी न रक्खें जाँय। वे संतों के भगवन्मूर्तियों के दर्शन करें और दूसरों को भी स्नेह एवं एक पवित्र भाव से देखें। कान परनिन्दा न सुनें। वे भगवच्चर्चा सुनें। इसी प्रकार शरीर की सभी इन्द्रियाँ न निष्क्रिय हों, न पाप कर्म में लगें। वे भगवत्सेवा, भगवच्चिन्तन-सम्बन्धी कार्य करें और मन भी संसार की बात न सोचकर भगवान् की बात सोचें।'

'रघुनाथ जी! अब आपके यहाँ से ही मेरा यह दम्भ समाप्त हो!' इस बार वे बोल उठे थे।

'आप दम्भ कहकर मुझे लज्जित क्यों करते हैं? मैंने कहा - 'मेरा सौभाग्य कि मुझे आपके तप के उद्यापन का सुअवसर मिला। अब आज्ञा दें तो जो नैवेद्य प्रस्तुत हो रहा है, उसमें किञ्चित रामरस का योग कर दिया जाय और गोघृत तो उसे शुद्ध ही करेगा।'

'मुझे रघुनाथजी ने ही तुम्हारे पास भेजा है।' वे बोले - अब तुम जो उचित समझो करो; किन्तु साधु को जिह्वा-लोलुप बनाने का पाप मत करना।'

सचमुच मुझे लगा कि यह पाप अनेक बार श्रद्धातिरेक के कारण अनजान में हमसे होता है। उस दिन ऐसी कोई बात नहीं हुई और उस रमतेराम को दूसरे दिन भला रोक पाने में कैसे समर्थ होता। वे सबेरे कब चले गये आसन समेटकर, यह भी मुझे पता नहीं लगा।

मूर्खता

'सबका मूल्य है।' नाम देना उत्तम नहीं; क्योंकि वे मेरे मित्र हैं। किसी की आलोचना नहीं कर रहे थे वे, सहज स्वभाववश अपने सरल विश्वास की बात व्यक्त कर रहे थे। 'यह दूसरी बात कि किसी का मूल्य बहुत कम है और किसी का बहुत अधिक; किन्तु सबको क्रय किया जा सकता है।'

'यद्यपि यह अर्थप्रधान युग है, तथापि सम्पत्ति ही सब कुछ नहीं है।' मैंने प्रतिवाद किया। 'ऐसे लोगों की संख्या पर्याप्त अधिक है, जो किसी भी मूल्य पर क्रय नहीं किये जा सकते। अपने ही यहाँ........।'

'ऐसे कुछ ही अपवाद निकलेंगे।' बात यह है कि उनके सम्मुख कुछ नाम रख दिये गये थे और उन नामों की महत्ता अस्वीकार करने का उपाय नहीं था।

'एक सीमा तक अर्थ आवश्यक होता है।' मैंने स्पष्ट किया। 'मान लेने में कोई आपत्ति नहीं कि बहुत बड़ी सीमा तक; किन्तु एक सीमा तक ही। व्यक्ति के व्यक्तित्व-को वह तभी क्रय कर सकता , जब व्यक्ति मूर्ख हो। अपने को मूर्ख बनाये बिना कोई अर्थ के हाथों अपने को सौंप नहीं सकता।'

'बड़े-बड़े विद्वान्, सुप्रख्यात साधु और महान् लेखक.....' वे प्रसिद्ध नामों की पूरी पंक्ति बोल गये।

'मैंने कितने बीज चुने हैं!' बड़े उल्लास से एक बच्ची पास आ गयी। उसकी मुट्ठी में चिरमिटी के लाल-लाल चमकते सुन्दर बीज थे।

'चल खेल अभी!' बच्ची उन्हीं की थी, उन्होंने डाँट दिया। उसके भोले मुख पर उदासी आ गयी।

'बड़े सुन्दर बीज हैं तुम्हारे, मैं दो ले लूँ?' मैंने उसे प्रसन्न करने का प्रयत्न किया।

'नहीं।' मुट्ठी कसकर बाँध ली बच्ची ने।

'तुम छोटे भैया को ले आओ तो तुम्हें और बीज तोड़ दूँगा।' मैंने प्रलोभन दिया, क्योंकि मेरे मित्र उसे डाँटने जा रहे थे।

'पहले तोड़ दीजिये।' बच्ची के आग्रह में बल नहीं था। बीज मिलते हों तो वह छोटे भाई को ले आयेगी केवल तनिक पक्का आश्वासन अपेक्षित था। वह आश्वासन उसे मिल गया और वह दौड़ गयी छोटे भाई को ले आने।

'वह इसके केश नोचेगा, इससे झगड़ेगा और यह रो जायेगी।' मैंने मित्र की ओर देखा। बच्ची होने पर भी इस कन्या का अपने छोटे भाई से इतना स्नेह है कि उसे मार नहीं पाती, उसके द्वारा पिटने पर भी। माता-पिता का पुत्र पर अधिक प्यार है। बच्चा अकारण भी रो उठे तो बालिका डाँटी जायगी।

उसका अबोध हृदय इस भय को अनुभव करने लगा है। हो सकता है, इसी भय से छोटे भाई का ऊधम वह सह लेती हो- 'बीजों का क्या करेगी यह?' ये बीज इसके क्या काम आयेंगे?'

'थोड़ी देर खेलेगी, प्रसन्न होगी और फेंक देगी!' मित्र ने साधारण ढ़ंग से कहा।

'उसका अवसर भी अब नहीं आना है।' बात सच थी, उसका छोटा भाई उसके पास के बीज भी छीन लेगा और झगड़ेगा ऊपर से।

'बच्चों में इतनी समझ कहाँ होती है।' मित्र का ध्यान उस बात पर नहीं था, जो उन्होंने प्रारम्भ की थी।

'एक समय था, बहुत वर्षों का लंबा समय था वह, जब मेरे पास कभी दो-चार दिन को दस रुपये होते थे।' मेरी बात विशेष नहीं लगनी चाहिए। भारत के अधिकांश ग्रामीणों की स्थिति यही है और भारत की जन-संख्या का बड़ा भाग ग्रामों में रहता है। 'उन दिनों सनक थी- रुपया कैसे आये, इसके भाँति-भाँति के उपाय सोचता रहता था। अपने आलस्य से उनमें-से कोई काम में नहीं आ सका- यह दूसरी बात।'

'अच्छा, तो आप कहानी सुनाने लगे हैं।' मेरे मित्र समझते हैं कि कहानी लेखक सत्य भी कहे तो वह होती कहानी ही है।

'उन दिनों एक साधु मिल गये थे। वे कहते थे कि उन्हें स्वर्ण बनाना आता है।' मैंने मित्र का प्रतिवाद नहीं किया; क्योंकि घटना सत्य हो या कल्पित- उसमें समर्थित सत्य है, तो घटना के स्वरूप पर विवाद क्यों?

× × ×

'आपने कभी स्वर्ण बनाया है?' मैंने उस साधु से पूछा था।

'कभी आवश्यकता नहीं पड़ी' सक्षिप्त उत्तर था।

'अब भी कोई आवश्यकता नहीं।' उन्होंने उपेक्षा कर दी।

'परीक्षण के लिए।'

'प्रक्रिया में मुझे पूरा विश्वास है और कुतूहल मुझे सदा अरुचिकर लगता है ।' साधू तो साधु ठहरे।

'प्रक्रिया बता देने की कृपा करेंगे?' मैंने प्रार्थना की।

'बताना न होता तो तुमसे चर्चा क्यों करता?' साधु सीधे और स्पष्टवादी थे। 'किन्तु इससे पूर्व तुम ठीक समझाओ कि स्वर्ण का उपयोग क्या करोगे?'

'आप हँसेगे। मैं वह सब आपको नहीं सुनाऊँगा। सम्भव है आपने भी सम्पन्न हो जाने का कभी स्वप्न देखा हो। भवन कैसा बनवाना है, उसकी साज-सज्जा कैसी रखनी है, क्या-क्या उपकरण कहाँ-कहाँ से, किस प्रकार मँगाने हैं- देखा है कभी आपने ऐसा स्वप्न? देखा है तो आपसे कुछ कहना नहीं। आप मेरी बात समझ जायँगे। न देखा हो तो आपके सम्मुख मुझे अपनी हँसी कराना नहीं।'

साधु बड़े धैर्य से सुनते रहे मेरी कल्पना। दो-ढ़ाई घंटे पूरे सुनते ही नहीं रहे, मुझे प्रोत्साहित भी करते रहे। मेरे स्वप्न को बृहत् करने और स्पष्ट करने में योग देते रहे हैं।

'अब कल बातें करेंगे।' अन्त में वे अपने आवश्यक कार्य से उठ गये। आप समझ सकते हैं कि मैंने कितनी उत्सुकता से उस 'कल'की प्रतीक्षा की होगी।

'तुम्हारा स्वप्न सत्य हो जायगा तब? समझ लो कि सब कुछ हो गया।' साधु ने दूसरे दिन स्वयं प्रारम्भ किया, यद्यपि मैं कम उत्सुक नहीं था प्रारम्भ करने के लिए। उनके स्थान पर मैं समय से कुछ पहले ही पहुँचकर प्रतीक्षा कर रहा था। मुझे लगता था कि आज उनका पूजा-पाठ पूरा भी होगा या नहीं।

'इस प्रकार रहना होगा। लोग इतना सम्मान करेंगे।' मैंने अपनी स्वप्न-कल्पना को स्पष्ट करने में संकोच नहीं किया।

'एक दिन बीमार पड़ोगे !' साधु हँसे नहीं।

कौन-कौन डॉक्टर आयेंगे, कैसे लोग देखने आया करेंगे, आदि इस सम्बन्ध के स्वप्न भी सुना दिये मैंने।

'डाक्टर बहुत-से इञ्जेक्शन देगा ! शरीर उठने में असमर्थ रहेगा।' अवश्य वे साधु भी पक्के कहानीकार होंगे। उन्होंने बड़ी भयानक बातें बतायीं- 'नौकर मनमानी करेंगे। पड़े-पड़े चिड़चिड़ाते रहोगे।'

तिरस्कार, असमर्थता, हानि-सबका बड़ा भयानक वर्णन था साधु के शब्दों में। कठिनाई यह थी कि मैं उसे अस्वीकार नहीं कर सकता था। यदि मेरा स्वप्न सत्य होता है तो साधु की कल्पना के सत्य होने की सम्भावना ही अधिक थी।

प्रतिकूल स्वजनों का तिरस्कार, अकृतज्ञ सेवकों की उपेक्षा, असमर्थता, रोग,

हानि और बिना कुछ बोले कुढ़ते रहना; क्योंकि जो इतनी सम्पत्ति और प्रतिष्ठा पा लेगा, उसे अपने सम्मान को दूसरों के सम्मुख तो सदा सँभालकर रखना होगा- कितनी भयंकर कल्पना थी।

जो लोग मेरे समान स्वप्न देखते हों, उन्हें अवश्य उस साधु से मिल लेना चाहिए। वे स्वर्ण बनाना भी जानते हैं और पशुप्राय मनुष्य को समझाकर मनुष्य बनाना भी। कठिनाई यही है कि मैं उनसे पच्चीस वर्ष पूर्व मिला था। वे गङ्गाकिनारे पर्यटन करने वाले परिव्राजक थे।तीन दिन मेरे समीप रूके थे। कोई पता उनका मुझे ज्ञात नहीं।

'अन्त में मर जाओगे!' साधु ने अपनी बात समाप्त की। अवश्य समवेदना के बहुत तार आयेंगे। समाचार-पत्र में बड़े-बड़े शीर्षक देंगे। बड़े समारोह से अन्त्येष्टि होगी। भव्य समाधि बनेगी। मर-जाने वाले को इन सबसे क्या लाभ। उसे यमदूत नरककी यन्त्रणा देते होंगे - नरक का वर्णन सुना है तुमने? सम्पत्ति के साथ भोग और तब नरक। बुरी बात है- बहुत बुरे स्थान पर तुम्हारा स्वप्न समाप्त होता है। अच्छा, अब कल।'

मैं उस 'कल' भी गया। अवश्य मुझमें अब वह उत्साह नहीं रह गया था। साधु ने कमण्डलु उठा लिया था और गीली कोपीन भी कंधे पर डाल दी थी। वे अब जाने वाले थे।

'इस पुड़िया में दो चावल पारद-भस्म है!' चलते-चलते उन्होंने कहा - 'तुम इसे पिघलते ताम्र में डाल दो तो स्वर्ण बन जायगा। ऐसी मूर्खता न करो तो अच्छा। इसकी खुराक एक चावल है। दमा या दूसरे किसी रोग मरणासन्न व्यक्ति को दे दोगे । एक बार देने से ही वह कष्ट से पूरा छूटकारा पा जायगा।'

साधु कहीं किसी के होते हैं। मुझे एक नन्हीं पुड़िया देकर वे चले गये। उनका फिर कभी कोई पता नहीं लगा। आप समझ सकते हैं कि मैंने उनका पता लगाने का कम प्रयत्न नहीं किया होगा- कोई लाभ नहीं हुआ।

× × ×

'आपने स्वर्ण बनाया?' मेरे मित्र ने पूछा और सम्भवतः आप भी यही पूछना चाहेंगे।

'प्रयत्न भी नहीं कर सका।' निराश होना पड़ा मित्र को - यह तो बहुत पीछे पता चला कि ताँबे को पिघला लेना सामान्यतः सरल नहीं है। सम्भवतः एक सप्ताह पश्चात् ही रेल की यात्रा के समय एक अपरिचित यात्री को दमे का दौरा हुआ। बड़ी

दारुण वेदना थी उसे। एक चावल भस्म मैंने दे दी। इसी प्रकार एक महिला को यात्रा में हिस्टीरिया का दौरा हुआ और शेष भस्म दे दी गयी। तत्काल दोनों को आशातीत लाभ हुआ था। दोनों अपरिचित थे, अतः पीछे की बात तक मुझे पता नहीं।'

'प्रारब्ध में नहीं था स्वर्ण आपके।' मित्र खिन्न हो उठे।

'साधु ने एक वस्तु मुझे और दी थी।' मैंने उन्हें बताया; क्योंकि उन्हें खिन्न करने को तो यह कथा मैंने सुनानी प्रारम्भ नहीं की थी।

'वह क्या?' सोल्लास पूछा उन्होंने।

'विचार की एक शैली।' मैंने उनकी उत्सुकता में साथ नहीं दिया। 'सम्पत्ति और दूसरे साधनों का मोह मूर्खता है। उनका अन्तिम परिणाम तो दूर- उनके उपयोग की ठीक स्थिति भी समझ ली जाये तो उनका मोह समाप्त हो जाय।'

'आपने जो नाम गिनाये और वैसे और भी लोग' मैं अपनी बात कह रहा था- 'सब आपकी बच्ची के समान हैं- उनकी विद्या और प्रतिभा चाहे जितनी बड़ी हो। यह बच्ची ही कहाँ कम विद्वान मानती है अपने को। अपने अक्षर ज्ञान का पर्याप्त गौरव है उसे। चिरमिटी के बीजों में उसका विचारहीन आकर्षण – ऐश्वर्य का सारा आकर्षण इससे उच्चकोटि का नहीं।'

'आपकी दार्शनिकता अपनी समझ में नहीं आती।' मित्र बोले।

'सीधी बात है।' मैं समझाना चाहता था।'परमात्मा दयामय , सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ है। उसकी अपार कृपा पर विश्वास न भी हो तो हम सब प्रारब्ध को तो मानते ही हैं।'

'प्रारब्ध नहीं था, इसी से तो हाथ में आकर भी स्वर्ण बनाने की विधि आप सीख नहीं सके।' मित्र का मन नहीं अटका था।

'मैंने यह सीखा कि शरीर में आसक्ति भी सम्पत्ति की तथा स्वजनों की आसक्ति के समान मूर्खता है।' अब मैं भी बात समाप्त कर देना चाहता था। 'शरीर रोगी होगा, असमर्थ होगा और अन्त में साथ छोड़ देगा। शत्रु से भी व्यवहार स्वजनों को करते सर्वत्र देखा जा सकता है। शरीर का सुख, इसका सम्मान और इसकी स्मृति सुरक्षित रखने में जो नरक की चिन्ता न करें, जो इन्हें अपना मान ले, उससे बड़ा मूर्ख कौन?'

'अब दीजिये मुझे चिरमिटी ! बच्ची आ गयी थी। छोटे भाई को वह साथ लायी थी। अब मुझे चिरमिटी तोड़ने उठना था; क्योंकि वह बच्चा भी मचल रहा था- 'मुझे चिरमिटी दीजिये।'

❑❑

स्वधर्ममाराधनमच्युतस्य

'कालू कल मर गया।' पण्डित दीनानाथ दोनों समय संध्या करने वाले आचारनिष्ठ शुद्ध सनातनधर्मी ब्राह्मण हैं। वे आज के सुधारकों से सहानुभूति रखने वाले नहीं, उनको 'कलियुग के अग्रदूत' कहनेवाले हैं; किन्तु आज उनका स्वर अत्यन्त शिथिल है। उनका मुख उदास-उदास है। चिन्ता, शोक, वेदना-पता नहीं क्या-क्या है उनमें और आज सूर्यादय से पूर्व ही वे जो घर से निकलने को विवश हुए हैं, यह विवशता क्या कम दुःखद है।अपने खेत-खलिहान से निश्चित कर दिया था जिसने उन्हें, वह कालू तो कल मर गया। अब यह बेचारा ब्राह्मण - यह हलवाहा ढूँढ़ने निकला है तब, जब उसे स्नान करना है, संध्या करने का समय समीप आ गया है।

'कालू मर गया?' पूछने वाले को भी कालू से सहानुभूति है। गाँव में वैसे भी ऊँच नीद का भेद हृदयों में अन्तर नहीं डालता। अस्पृश्य वहाँ पराये नहीं हुआ करते। उनका प्रत्येक घर से सम्बन्ध होता है। वे यदि पण्डित जी को 'भैया' कहते हैं तो पण्डित जी के बच्चे उन्हें 'चाचा' कहते हैं। यह सरल शुद्ध स्नेह गाँव का स्वभाव है। फिर कालू - वह तो किसी के लिए पराया नहीं था। सबका अपना था, सबकी समय पर सहायता कर देने वाला।

'तुम तो कल कचहरी गये थे, भैया?' पण्डित दीनानाथ के नेत्र भर आये। 'कल दोपहर तक वह गाय-बैलों की सार-सम्हाल करता रहा। स्नान करने गया और तालाब में स्नान करके देर तक नहीं लौटा। घर से उसकी बिटिया पूछने आयी उसे, तो पता लगा कि घर भी नहीं गया।'

'डूब गया कालू?' पूछने वाला चौका- 'वह तो तैरना जानता था।'

'मैं उसे पुकारता सरोवर की ओर गया।' पण्डित जी ने प्रश्न का उत्तर देना आवश्यक नहीं माना। वे कहते गये- 'वहाँ कोई नहीं मिला। सब घाट सूने पड़े थे। उसके डूबने का डर मुझे नहीं था। उधर से मन्दिर की ओर होकर लौटा। वह प्रतिदिन की भाँति मन्दिर के चबूतरे के नीचे द्वार के सम्मुख दण्डवत् किये पृथ्वी पर पड़ा था।

मैंने पुकारा और जब वह बोला नहीं, तब उसके पास जाकर उसे हिला देना चाहा। वह तो शङ्कर जी के पास जा चुका था।'

'हृदय बंद हो गया उसका।' गाँव में भी कुछ नये पढ़े-लिखे लोग तो हैं ही। वे सज्जन अपनी विद्वता व्यक्त करने लगे- 'यह रोग तो बड़ों को ही होता है। परिश्रम करने वाले ग्रामीणों का हृदय तो सुदृढ़ होता है। कालू की यह मृत्यु अद्‌भुत्‌ है।

'वह धर्मात्मा था। उसकी मृत्यु चारपाई पर पड़े-पड़े कैसी होती।' पण्डित दीनानाथ-जैसे धार्मिक नियमनिष्ठ का भी कालू के सम्बन्ध में यहीं निर्णय था कि वह धर्मात्मा था। वे कह रहे थे- 'कल एकादशी के दिन भगवान्‌ शङ्कर को प्रणाम करते हुए उसने शरीर छोड़ा, वह तो सीधे भगवान्‌ के धाम गया होगा।'

कालू चमार- अस्पृश्य ग्रामीण, जिसे अपना नाम लिखना तक नहीं आता था, जो न दोपहर से पूर्व स्नान कर पाता था न कोई स्तुति जानता था। व्रत जिसने जाना नहीं, पूजन का जिसे अधिकार नहीं, मन्दिर के चबूतरे पर पैर रखने की जिसने कभी इच्छा नहीं की, वह 'कालू चमार धर्मात्मा था, वह सीधे भगवान्‌ के धाम गया होगा।' - गाँव के सबसे बड़े संस्कृत के विद्वान्‌, पक्के कर्मनिष्ठ पण्डित दीनानाथ यह कहते है। कालू उनका हलवाहा था, उनके घर हड्‌डीतोड़ परिश्रम करते वह बचपन से बढ़ा था, कहीं पण्डित जी उसके साथ पक्षपात तो नहीं करते?

कल एकादशी थी। कालू कभी व्रत नहीं करता था, किन्तु मरा तो वह। सुना है एकादशी को मरने वाला भगवान्‌ के धाम में जाता है। ठीक स्मरण आया, कल शुक्लपक्ष की एकादशी थी। कालू लगभग दो पहर दिन चढ़े मरा और मरा भी कहाँ - ठीक भगवान शङ्कर के मन्दिर के सामने दण्डवत्‌ करते। तब वह धर्मात्मा था, वह सीधे भगवान्‌ के धाम गया होगा- यह बात संदेह करने योग्य जान नहीं पड़ती।

× × ×

'आज ईख बोनी थी। दो दिन से गन्नों के बोझ पानी में पड़े हैं।' पण्डित दीनानाथ ने कहा। 'पता नहीं कालू किसे कह आया था। सबेरे किसे कहाँ ढूँढूँ?'

संसार का स्वभाव ही यही है। अपने सगे-सम्बन्धियों, स्त्री-पुत्रों तक को जो शोक होता है, अपने लिए होता है। अपनी सुख-सुविधा के छिन जाने का ही दुःख होता है। पण्डित दीनानाथ को भी इसी प्रकार का दुःख है। जब निश्चिन्त स्नान-संध्या करनी चाहिये, एक नियमनिष्ठ ब्राह्मण को चमारों की बस्ती में जाना पड़ रहा है। आजकल हलवाये मिलने कठिन ही हैं। सभी किसी-न-किसी का हल पकड़े हैं और गाँव में जिनके भी खेत हैं, गन्ना तो उन सभी को बो देना ठहरा इन्हीं दस-पाँच दिनों में।

कालू केवल हलवाहा नहीं था। वह पण्डित जी की खेती और पशुओं का पूरा प्रबन्धक था। किसी दिन तो दूसरों के समान पण्डित जी को प्रातः उसे पुकारना नहीं पड़ा। रात्रि के अन्तिम प्रहर में आकाश में शुक्र दिखायी पड़ा और कालू आ जाता पण्डितजी के यहाँ। बैलों को खली-भूसा देता और उसका हल खेत में पहुँच जाता सबसे पहिले।

'कालू! कल कौन-कौन आयेंगे?' बोने, काटने आदि के समय अधिक मजदूर आवश्यक होते हैं। कालू को ही उनका प्रबन्ध करना था। पण्डितजी केवल पूछ लेते। उन्हें तो कालू से ही पता लगता कि कल किधर हल जायगा।

'तुम अपना बोझा उठा लो?' फसल खलिहान में आ गयी। सब काटने वाले मजदूरों को 'बन्नी' (मजदूरी के रूप में फसल का ही कुछ भाग) दी जा चुकी। अपने हलवाये का 'हक' है कि अपनी पसंद का एक पूरा बोझा वह अपने लिए चुन ले; किन्तु कालू कुछ दूसरे ढ़ंग का है। पण्डित जी का यही आदेश उसने कभी स्वीकार नहीं किया। उसका भी एक सिद्धान्त है - 'स्वामी हाथ उठाकर जो दे दें, वही लाख का।'पण्डित जी को ही बताना पड़ेगा कि कालू कौन-सा बोझ ले जाय और ऐसे समय किसान कृपण नहीं हुआ करता।

कालू ने कभी एक तिनका नहीं लिया। एक मुट्ठी अन्न पर उसकी नीयत नहीं डिगी। वह कहने की बात नहीं है। कालू की सावधान दृष्टि सदा यही रही कि कोई और भी कहीं पण्डित जी के खेत-खलिहान में हाथ न चला सके। पण्डितजी निश्चिन्त थे कालू के रहते और कालू को कभी पण्डित जी की खेती परायी नहीं प्रतीत हुई। परिश्रम से 'जी चुराने वाले दूसरे हुआ करते है।'

'इनका क्या दे दें, कालू?' खेती का काम कम अवकाश देता है; किन्तु इधर कालू को अपनी कन्या के हाथ पीले करने की चिन्ता हो गयी थी। वह मुँह खोलकर माँगता तो पण्डिजी सौ-पचास के लिए जी छोटा करने वाले नहीं थे; परन्तु वह उनसे भी माँगना जो नहीं चाहता। अब रात्रि में जूते बनाने लगा था। पण्डितजी के घर से पहर रात गये लौटता और तब राँपी लेकर बैठ जाता। सात दिन में एक जोड़ी बन जाये तो हर्ज क्या है। उसके गवाँरू जूते बूढ़े किसानोंको बड़े अच्छे लगते हैं। वे चलते खूब हैं और वह तो जूता दे जाता है। किसी-न-किसी के यहाँ रख जायगा।

'आप पहिनकर देख ले भैया!' कालू की बँधी बात है। 'पैर में ठीक आता है या नहीं? तनिक चलकर देख लें। ठीक आ जाय तो भैया की मर्जी दे देंगे, दाम कहीं भागे जाते हैं?' मोल-भाव कालू करता नहीं। गाँव के लोग पैसे देने में उदार नहीं होते। अन्न तो वे आध सेर अधिक दे देंगे; किन्तु पैसा एक भी अधिक देना अखरता है उन्हें। यह स्वीकार करना ही होगा कि यदि कालू मोल-भाव करने में पटु होता तो उसे उससे

कहीं अधिक मूल्य मिलता, जो अब वह पा जाता था।

हाँ, तो पण्डित दीनानाथ जी का दुःख कालू के लिए कम, अपने लिए ही अधिक है। अब वे कहाँ हलवाहा ढूँढ़े? कैसे गन्ना बोने की व्यवस्था करें? स्नान-संध्या का समय हो रहा है और कालू के कारण वे इधर से तो वर्षों से अपरिचित रहे हैं। उन्हें तो कालू ने जैसे बीच धारा में छोड़ दिया है। उनकी व्याकुलता – किन्तु क्या संसार के सभी स्वजनों की व्याकुलता इसी कोटि की नहीं होती? केवल पण्डित जी को क्या दोष दिया जाय।

'अब तो भैया, यह सब करना ही पड़ेगा!' लंबी साँस ली पण्डित जी ने। 'कालू क्या मर गया, मेरा सगा भाई उठ गया।' उनके आँखों में आँसू आ गये।

'बेटी, अब रोने से तो कुछ होता नहीं। पण्डित जी सायंकाल कालू की कन्या तथा उसकी पत्नी को आश्वासन दे रहे थे।'कालू मेरा भाई था। उसके क्रिया-कर्म में जो लगे, यहां से ले जाने में संकोच मत करना।

'चाचा!' रो रही थी बेचारी लड़की। मनुष्य रुदन के अतिरिक्त और कर क्या सकता है। मृत्यु पर उसका बस कहाँ। 'हमारे पास देने को कुछ नहीं है। माँ के साथ मैं भी आपके यहाँ मजदूरी करके.........'

'ऐसी बात मत कह, बेटी!' पण्डित जी ने आँखें पोंछ लीं। 'कालू नहीं रहा तो क्या तेरा इस घर में कुछ नहीं रह गया।'

पण्डित जी ने क्या-क्या दिया, पता नहीं; किन्तु जब वे माँ-बेटी उनके यहाँ से लौट रही थीं, तब उनके पास एक बड़ी गठरी थी। अच्छे-से मोटे कपड़े में बँधी हुई।

पण्डित दीनानाथ जी बहुत दुःखी हैं। ब्राह्मण होकर कल वे एक चमार की अर्थी साथ गङ्गा किनारे तक गये थे। आज सबेरे हलवाहे दूढ़ने निकलकर भी चमार टोली-तक जा नहीं सके। वे मार्ग से ही लौट आये थे। उनके खेतों में आज हल नहीं चला। गाँव के वे सम्मानित व्यक्ति हैं। वे सम्पन्न हैं और इधर कई गाँवों में उनके जैसा संस्कृत का पण्डित भी नहीं है। संध्या-पूजा में उनकी निष्ठा ने गाँवों में उनके प्रति और श्रद्धा बढ़ा दी है। उन्हें इस दुःख में आश्वासन देने उनके यहाँ शाम को गाँव के बड़े-बूढ़े तथा और लोग भी आ गये हैं।

'बेचारी अनाथ हो गयी।' एक ने सहज भाव से कह दिया दोनों को जाते देखकर। वैसे चमार की पत्नी और कन्या के लिए कोई विशेष चिन्ता नहीं थी उसे।

'सबके नाथ तो भगवान हैं और वे इनको भला कैसे भूल सके हैं।' पण्डित जी की दृष्टि अभी कन्या को आगे करके चली जाती रोती कालू की पत्नी की ओर थी। 'कालू धर्मात्मा था। भगवान् का सच्चा भक्त था। उसकी स्त्री और पुत्री की चिन्ता वे परमपालक कर लेंगे।

'कालू धर्मात्मा था- भक्त था।' पण्डित जी की यह बात कुछ जँचती नहीं थी। लोगों को कल यह अखरा ही था कि उनके श्रद्धाभाजन पण्डित जी एक चमार की अर्थी के साथ गये। लोग कालू की प्रशंसा सुनने या करने नहीं आये थे। कालू से उन्हें अब कोई काम नहीं था और चमार की स्त्री की चिन्ता क्या, वह कल नहीं तो परसों किसी और के पास बैठ जा सकती है। पण्डितजी की यह प्रशंसा सुनकर लोगों ने परस्पर देखा एक-दूसरे की ओर - ये कितने भोले हैं।

'आप कोई चिन्ता न करें। आपके लिए अच्छा हलवाहा हम ढूँढ़ देंगे। हम मिलकर आपके गन्ने बो देंगे। दूसरी सहायता के लिए भी हम सब सदा प्रस्तुत रहेंगे। आप स्वीकार करें तो..... कल से आपके यहाँ काम करने लगे। वह अभी युवक है। बलवान है। काम करने में चतुर है और ईमानदार है। कालू के बिना आपका कोई काम अटकेगा नहीं।' लोग यह ऐसी ही बातें करने-कहने आये थे। उनका सोचना ठीक ही था कि पण्डितजी का शोक अपने लिए है- अपनी असुविधाओं के लिए और उन्हें वे दूर कर सकते हैं। यहाँ आने पर यह बात ही दूसरी डगर चल पड़ी।

'कालू ईमानदार था। परिश्रमी था। सीधा था। अच्छा आदमी था वह।' एक वृद्ध ने बात समाप्त कर देने के ढ़ंग पर कहा। अच्छा आदमी- इससे अधिक कालू को वे और कुछ मानने को प्रस्तुत नहीं थे। यों अच्छा आदमी और धर्मात्मा की दार्शनिक विवेचना उन्होंने न कभी की थी और न करने की उनमें क्षमता थी। 'जब दूसरे चमार लोगों के उकसाने पर मन्दिर में जाकर उसे भ्रष्ट कर आये, वह अपनी पूरी पंचायत के हठ पर भी मन्दिर के चबूतरे पर नहीं चढ़ा और मन्दिर के सामने दण्डवत् करने से किसी दिन चूका भी नहीं। उसमें श्रद्धा तो थी शंकर जी के लिए।'

'और धर्मात्मा में क्या होता है? बड़े-बड़े कामों में ही धर्म निहित हो, ऐसी बात तो है नहीं। सच्चाई, ईमानदारी, अपने कर्तव्य का पालन-बड़े-बड़े यज्ञ, दान आदि दूसरे धर्मों से भी बड़े हैं।' पण्डित दीनानाथ जी ने सम्भवतः लोगों का भाव समझ लिया था। वे बड़ी गम्भीरता से एक बार सबकी ओर देखकर कह रहे थे- 'अपनी शक्ति, स्थिति और वर्णाश्रम के अनुसार अपने कर्तव्य का ईमानदारी से पालन भगवान् की सच्ची आराधना है। कालू एकादशी को शंकर जी के सम्मुख बिना किसी कष्ट के शरीर छोड़ गया- यही बात बतलाती है कि प्रभु ने उसकी सेवा स्वीकार कर ली।'

देहात के सरल-सीधे लोगों ने श्रद्धापूर्वक स्वीकार लिया पण्डित जी का तर्क। आपका उर्वर मस्तिष्क न स्वीकार करता हो तो कोई और मार्ग अन्वेषण करना चाहिए।

शम-सम्पन्न (शान्त)

शमो मन्निष्ठता बुद्धेः

आज जब अणु-शक्तिचालित यान समुद्र के वक्ष और उसके अन्तराल को चीरते अबाध गति से चल रहे हैं, उस समय की स्थिति की कल्पना भी कठिन है, जब वाष्पचलित एञ्जिन का आविष्कार नहीं हुआ था। समुद्री यान तब भी थे और वे सुदूर देशों की यात्राएँ करते थे। उन्हें कहा तो जहाज ही जाता था; किन्तु वे बहुत विशाल नौकाएँ होती थीं, जो अनेक-अनेक पाल तान कर चलती थीं।

'क्या आप मुझे शाकद्वीप के मष्णार प्रदेश में उतार देंगे?' एक भारतीय ने फ्रांस के समुद्री जहाज के कप्तान से जब यह प्रार्थना की, तो कप्तान चकित रह गया। यह उस फ्रांसीसी जहाज की बात है जो प्रथम बार भारत पहुँचा था। पुर्तगाली उससे बहुत पहले आ चुके थे।भारत की यात्रा करके, यहाँ के बहुमूल्य वस्त्र लेकर वह जहाज लौटने जा रहा था। फ्रांस की सुन्दरियाँ उस समय भारतीय कलापूर्ण अत्यन्त सूक्ष्म वस्त्रों पर प्राण देती थीं।

'शाकद्वीप?' कप्तान तथा उसके साथी टूटी-फूटी हिंदी बोल-समझ लेते थे। इसके बिना भारतीय-प्रवास व्यर्थ होता। लेकिन इस युवक की बात कप्तान की समझ में नहीं आयी थी। वह यह भी नहीं समझ पाता था कि यह युवक यात्रा क्यों करना चाहता है; क्योंकि भारतीय व्यापारियों के अतिरिक्त अन्य वर्ण के लोग समुद्र-यात्रा से बचना चाहते थे और यह युवक व्यापारी नहीं लगता था।

'आप उसको दक्षिण करके ही स्वदेश जायँगे।' युवक ने बतलाया। उस समय स्वेज नहर तो थी नहीं। यूरोपीय व्यापारी के लिए सम्पूर्ण अफ्रीका घूमकर ही भारत आना पड़ता था। भारतीय व्यापारियों ने बहुत पहले से एक मार्ग बना रक्खा था। मिस्र वे पहुँचते थे समुद्र के द्वारा और वहाँ से स्थल पार करके भूमध्यसागर में; किन्तु यह मार्ग जलदस्युओं से पूर्ण था और इससे यात्रा अथवा व्यापार उनके लिए सम्भव था जो अरब तथा मिस्र के कई शासकों की मित्रता पहले से प्राप्त कर चुके हों।

'आप क्या करेंगे यहाँ उतरकर?' कप्तान ने नक्शा निकाल लिया था। युवक ने उसे ध्यानपूर्वक देखकर अफ्रीका महाद्वीप के पश्चिमी तटपर एक स्थान अँगुली से सूचित किया और कप्तान के नेत्र आश्चर्य से फैल गये- 'यह मनुष्यभक्षी प्राणियों की निवासभूमि है। घोर वन, और उसमें सुनते हैं कि शैतान अपनी पूरी सेना के साथ रहता है। सिंह, रीछ, अजगर, गुरिल्ले, सात फुटवाले दैत्याकार मनुष्य का इन सबसे भयानक बौने-वहाँ तो पूरी सेना लेकर हमारा सम्राट् भी उतरने का साहस नहीं करेगा और आप एकाकी हैं।'

'आप जिसे पृथ्वी कहते हैं, वह सप्तद्वीप भूमि के जम्बूद्वीप का भरतखण्ड मात्र है। उसे शाकद्वीप तो मैं आपके संतोष के लिए कहता हूँ।' युवक की बात कप्तान की समझ में तो क्या आती, आज के बड़े-से-बड़े भूगोलज्ञ की समझ में नहीं आनी है। वह कह रहा था- 'मैं सूर्यवंश में उत्पन्न क्षत्रिय हूँ। मेरे पूर्वज समस्त भूमण्डल के सम्राट् महाराज मरुत्त ने वहाँ युगान्तव्यापी महायज्ञ किया था। उनकी उस पावन यज्ञ स्थली के दर्शन करके मैं वहाँ एक अनुष्ठान करना चाहता हूँ। भारत में सूर्यवंशी सम्राटों की यज्ञभूमियोंपर अपनी श्रद्धाञ्जलि मैंने अर्पित कर ली है।'

यहाँ आपको मैं इतना बतला दूँ कि युवक का गन्तव्य 'मष्णार' अब भी है। वह कांगों के पश्चिमी समुद्री तट के समीप पड़ता है। अब उसे 'मस्नार' कहते हैं। सुना है कि वहाँ भूमि में कुछ नीचे बहुत बड़े भू-भाग में भस्म मिलती है। उस भाग के निवासी अब भी अपनी सात फीट की ऊँचाई के कारण विश्व के सबसे लम्बे मनुष्य माने जाते हैं।

'हम अपना जहाज वहाँ नहीं ले जायँगे।' यूरोप में कांगों के उस प्रदेश के सम्बन्ध में अनेक किंवदन्तियाँ फैली थीं। कप्तान अपने बहुमूल्य सामग्री से भरे जहाज को किसी संकट में डालना नहीं चाहता था। 'आपको बिना किसी शत्रुता के मौत के मुख में डालने का पाप मैं नहीं करूँगा।'

'आप मेरी चिन्ता मत करें। मौत काँपती है उन श्री नारायण से। यम उनके पुत्र हैं और मैं तो उन दण्डधर का भी वंशज हूँ।' युवक ने सूर्य की ओर नेत्र उठाये तो अद्भुत तेज एवं विश्वास से उसका मुख दीप्त हो उठा।'आप मुझे दूर समुद्र में एक छोटी नौका भी न दे सकें तो तट तक तैरकर चले जाने की शक्ति मुझमें है। मुझे केवल वहाँ समुद्र में उतरने के लिए ले चलें। आपको इसका पारिश्रमिक प्राप्त होगा।'

'नहीं, इसकी आवश्यकता हमें नहीं है।' कप्तान वे स्वर्ण मुद्राएँ उठा लेने का युवक से आग्रह किया, जो उसने कप्तान के आगे डाल दी थीं।' हमें आपके इस आदरणीय देश की मित्रता चाहिए। फ्रांस साहसी दृढ़निश्चय शूरोंका सम्मान करना जानता है। आप हमारे अतिथि होकर जहाज पर चलेंगे। समुद्रतट तक जहाज तो नहीं जायेगा; किन्तु एक छोटी नौका में हमारे नाविक तट तक उतार आयेंगे। तट पर आप

सुरक्षित उतर जाय, केवल इतना हम कर सकते हैं।

× × ×

अद्भुत अतिथि था यह भारतीय युवक भी। वह अपने साथ ढेर लाया गट्ठरों के और कई बड़े पात्र जल भरवाये उसने। कप्तान को इससे पता लगा कि भारतीय नदी गङ्गा का जल महीनों स्वयं स्वच्छ, सुरक्षित रहता है। यूरोप से भारत तक आने में जहाज के लोगों को पीने के पानी का बड़ा कष्ट हुआ। यद्यपि अफ्रीका के केप अन्तरीप पर तथा दो और स्थानों पर जल उन्होंने लिया था; किन्तु वह मार्ग में सड़ गया। उस कृमि पड़े जल को छानकर पीने पर भी अनेक नाविक रोगी हुए। दुर्गन्धित जल वैसे भी विवशता के कारण ही पीना पड़ा था। कप्तान ने जहाज का पूरा जल फेंक दिया और गङ्गाजल अपने पात्रों में भी उसने भरवाया। युवक प्रसन्न हो गया- 'गंङ्गाजल में स्पर्शदोष नहीं होता।'

जहाज पर वह अपने साथ लाये गट्ठरों में से सूखे मेवे खाता था। चना, गेहूँ, मूँग भिगोकर चबा लेता था। उसके मेवों में जहाज के प्रत्येक सदस्य का दैनिक भाग था; किन्तु उसने कप्तान की कोई वस्तु नहीं ली। उसका व्यवहार ऐसा था जैसे जहाज के दूसरे सब लोग अतिथि हों और वह स्वयं आतिथेय हो। कप्तान ने कई बार अपने लोगों में कहा - 'भारतीय आतिथ्य करने मेंअपनी तुलना नहीं रखते, यह हमने सुना था; किन्तु वे अपने सभी सद्गुणों में देवताओं से भी बड़े हैं, यह हमें अनुभव नहीं होता, यदि हम इस युवक का साथ न पाते।'

महीने लगते थे यात्रा में। स्नेह, सौजन्य, सरलता की मूर्ति वह युवक सबका अत्यन्त सम्मान-भाजन हो गया था। जहाज पर भी वह तीन समय स्नान करता था। यूरोप के उस समय के उन नागरिकों को भले वे सुसभ्यशालीन फ्रांस के नागरिक हों, युवकों की वह संध्या-पूजा समझ में नहीं आती थी। किन्तु जब वह जहाज पर दोनों हाथों में जलपात्र उठाकर सूर्य के सम्मुख खड़ा होता था, उसके मुख की वह उद्दीप्त भंगिमा, वह भव्य शान्ति ऐसी थी कि कप्तान और नाविक प्रायः नियम से उस समय उसे देखने डेक पर आ जाते थे। जब वह अपना न समझ में आने वाला स्तवन समाप्त करके घूमता, एक साथ सब उसे अभिवादन करते। यह क्रम अपने-आप बन गया था और क्यों बना था, इसे कोई जाना नहीं था।

× × ×

'अब क्या होगा।' अकस्मात् वायु सर्वथा बंद हो गया। जहाज के पाल अपने आधार के साथ सीधे झूल गये। जहाज पूरे सात दिन समुद्र में लगभग एक स्थान पर ही

स्थिर रहा तो कप्तान ने जहाज के सभी लोगों को एकत्र किया। व उनके साथ योजना बनाने लगा था- 'कोई नहीं जानता कि पवन कब प्रारम्भ होगा। महीने-दो-महीने अथवा उससे भी अधिक। अनेक जहाजों के यात्रियों के समान अन्न-जल के अभाव में हमारे भाग्य में भी मरना है या नहीं, कैसे कहा जा सकता है। ऐसी अवस्था में आज से सबको सीमित जल तथा आहार मिलेगा। हम अधिक-से-अधिक दिन विपत्ति का सामना करने को अभी से तैयार होंगे।'

सबने स्थिति की गम्भीरता समझ ली थी। किसी के लिए कुछ कहने को नहीं था। अन्त में कप्तान ने कहा- 'एक बात हमें विशेष रूप से ध्यान में रखनी है। भारतीय युवक फ्रांस का सामान्य अतिथि है। वह चाहे जितना हठ करे, उसके मेवे कोई नहीं स्वीकार करेगा। उसको पानी का अभाव अनुभव नहीं होना चाहिए।'

भारतीय युवक इस बैठक में नहीं था। होता भी तो फ्रेंच वह समझ नहीं सकता था। उसे बड़ा बुरा लगा तब, जब प्रातःकाल उसके मेवे स्वीकार करना एक ओर से नाविकों ने बंद कर दिया। वह झल्लाया पहुँचा कप्तान के कक्ष में- 'आपने मेरा सामूहिक बहिष्कार कर दिया है? अन्ततः मुझसे अपराध क्या हुआ?'

'आप देख रहे हैं कि जहाज सात दिन से समुद्र में स्थिर है। हमें कब तक पड़े रहना होगा, कौन कह सकता है?' कप्तान के नेत्र भर आये। 'आप हमारा भोजन स्वीकार नहीं करते। यह विपत्ति का समय सबके भोजन-को अधिक-से-अधिक सुरक्षित रखने का है।'

'ओह! मेरा ध्यान ही नहीं गया कि जहाज स्थिर रहने से हम विपत्ति में पड़ गये हैं।' युवक गम्भीर हो गया। 'जहाँ एक भी क्षत्रिय है, विपत्ति बचाने का दायित्व उस पर होता है। वायु को चलना पड़ेगा। वह न भी चले, आप सबको आहार तोमैं दे ही सकता हूँ।'

'आपके मेवे और अन्न सबको कितने दिन भोजन देंगे?' कप्तान को लगा कि युवक अभी परिस्थिति समझ नहीं रहा।

'आप सब मत्स्यभोजी हैं और मैं अपना धनुष साथ लाया हूँ। सागर मेंजलचर का अभाव नहीं है। भारतीय लक्ष्यवेध आपने देखा नहीं होगा।' युवक ने उसी गम्भीरता से कहा। 'किन्तु वायु को चलना चाहिए।'

वह मुड़ा और डेक पर आ गया। कुतूहलवश ही कप्तान उसके पीछे आया। युवक ने दोनों हाथ उठा दिये। भगवान् सूर्य की ओर मुख करके। उसके मुख से सस्वर श्रुति के मरुत्-स्तवन के मन्त्र उच्चारित होने लगे। उसके मुख को अरूणिमा गाढ़-से-गाढ़तर होती गयी।

'भारतीय अद्भुत शक्ति रखते हैं।' सुना तो सबने था; किन्तु आज सबने देखा। जहाज के नाविक डेकपर थोड़ी देर ही रह सके। वायु में गति आ गयी थी। पाल तन

गये थे। सबको अपने कार्य पर पहुँचना आवश्यक हो गया। जहाज पूरे वेगसे लक्ष्य की ओर चल पड़ा था।

× × ×

विपत्ति अकेली नहीं आती। केवल दो सप्ताह की यात्रा सकुशल चली उस सप्ताह भर एक स्थान पर स्थिर रहने के पश्चात्। अचानक रात्रि में जहाज पर खतरे का बिगुल बजने लगा। भाग-दौड़ ने युवक की निद्रा भंग कर दी। वह कक्ष से बाहर आया। नाविक दौड़ रहे थे। पाल सब कुछ क्षणों में उतार दिये गये। जल तथा भोजन के भारी पात्र जंजीरों से जकड़ दिये गये। प्रत्येक कक्ष में नाविकों ने जाकर हर छोटी-बड़ी वस्तु को कहीं बंद कर किया अथवा बाँधा। युवक के कक्ष में भी यही हुआ। लेकिन यह सब क्या हो रहा है, युवक समझ नहीं सका। इस समय किसी को उसकी ओर ध्यान देने का अवकाश नहीं था और युवक उन लोगों की पुकार तथा घबराहट भरे वाक्य समझ नहीं पाता था। वह कक्ष से निकलकर डेक पर आ गया।

पूर्णिमा की उज्ज्वल चन्द्रिका में उल्लसित सागर-उसमें उत्तल तरंग उठ रही थीं। युवक के लिए डेकपर निरावलम्ब खड़े रहना सम्भव नहीं रहा। उसने एक पाल के दण्ड को पकड़ लिया। उसे नाविकों की व्याकुलता समझने में देर नहीं लगी। दूर क्षितिज तक उठता, उबलता उदधि घोर गर्जन करता उमड़ा आ रहा था। उसे समुद्रीय तूफान का अनुभव भले न हो, विपत्ति का स्वरूप ज्ञात हो गया। जहाज की प्रत्येक वस्तु क्यों बन्धन में रक्खी गयी, यह भी समझ गया। उत्ताल लहरों पर उछले जहाज में कोई खुली वस्तु तो वेग से टकराती, लुढ़कती विनाश का ही साधन बनेगी। वह मनुष्यों को मार सकती है। सामग्री नष्ट कर सकती है। जहाज को तोड़ दे सकती है।

'हे भगवान' जहाज में प्रायः लोग कातर प्रार्थना करने में लगे थे। वह साधारण आँधी नहीं थीं। अकल्पित तूफान था। जहाज किसी के नियन्त्रण में नहीं रह गया था। वह किधर जा रहा है, कोई बता नहीं सकता था। सब भयभीत, सब अस्तव्यस्त और सब किसी-न-किसी खंभे अथवा दृढ़ आधार को दोनों भुजाओं में जकड़े बैठे थे। जहाज उछलता था, झटके लगते थे और लगता था कि भुजाएँ उखड़ जायँगी।'

'नारायण! तुम्हीं रुद्र हो। तुम्हारा यह ताण्डव-बड़ा भव्य है यह तुम्हारी पावनपदों की गति प्रभु!' किसी को अवकाश नहीं था कि देखे कि भारतीय युवक क्या कर सकता है।

'आप कुछ कर सके हैं?' कप्तान किसी प्रकार समीप आया युवक के और उसने प्रार्थना-कातर स्वर में कहा। पर्वताकार तरङ्गें-लगता था कि जहाज अब डूबा। कप्तान ने अपने सब लोगों को जहाज में आये जल को निकालने में लगा दिया था।

'मैं? मुझे कुछ करना चाहिए?' आप जो आदेश दें!' युवक चौंका। उसे लगा कि कप्तान उसे भी जल निकालने-जैसे काम में लगाना चाहता है।

'इस अकल्पित तूफान से जहाज की रक्षा के लिए आप अपनी अद्‌भुत शक्ति काम में लें तो कदाचित् हम सबका जीवन बच जाय।' कप्तान को ऐसी अवस्था में भी इस शान्त, सुप्रसन्न युवक का मुख देखकर आशा हो गयी थी।

'हम उस अनंतशायी के अङ्क में हैं। वह तनिक क्रीड़ा कर रहा है। उसकी क्रीड़ा में आप सहयोग करेंगे?' युवक अपनी धुन में पूछ गया।

'अवश्य!' कप्तान ने केवल इतना समझा कि युवक कुछ करना चाहता है और उसे सहयोग की अपेक्षा है।

'जहाज की दिशा नियन्त्रित कीजिये। उसे मेरे निर्दिष्ट मार्ग पर चलने दीजिये! वह लीलामय जो लीला दिखलाना चाहता है, उसे देखने में हम कातर क्यों हों?' युवक उठ खड़ा हुआ। उसने एक हाथ से स्तम्भ पकड़ा और एक से दिशा-निर्देश करना आरम्भ किया।

'कप्तान! रोको उसे। भारतीय पागल हो गया है।' नाविकों के तीनों नायक एक साथ दौड़ आये थे। 'वह जहाज को भयंकर भँवर की ओर ले जा रहा है।'

'जहाज को यदि कोई बचा सकता है तो वही बचा सकता है। जहाज वैसे भी डूबेगा ही, अतः उसके आदेश का पालन होना चाहिए।' कप्तान के स्वर में वज्र की दृढ़ता थी। 'तुम उसके मुख को नहीं देखते?'

सचमुच उस युवक के मुख पर जो शान्ति, जो निश्चिन्ता, जो प्रसन्नता थी, वह दूसरे को भी निश्चिन्त कर देती थी। कप्तान भी काँप गया जब ठीक मीलों तक चक्कर काटते भँवर में जहाज डाल देने का संकेत युवक ने किया; किन्तु उसका आदेश पालन करना ही था।

'अब आपका जहाज सिन्धुसुता के स्नेह से सुरक्षित है!' भारतीय युवक घूमा कप्तान की ओर।

'ओह! तो आप सागरीय-ज्ञान के भी महापण्डित है।' कप्तान बढ़कर गले लिपट ही गया। समुद्र में जहाँ उतुङ्ग लहरें उठती हैं, वे आगे उमड़कर एक स्थान पर जल के नीचे से लौटती हैं। इस स्थान को समुद्र की पछाड़ कहते हैं। यह स्थान परिवर्तित होता रहता है, किन्तु वहाँ समुद्र का जल स्थिर शान्त होता है। जहाज इस समय समुद्र की पछाड़ में पहुँचकर स्थिर, निश्चल खड़ा था। चारों ओर हाहाकार करती, क्षितिज को छूती लहरें अब उठती रहें, जहाज में केवल हल्का कम्पन ही होना सम्भव था। अनुभवी कप्तान ने देख लिया था कि अब तूफान शान्त होने तक उसे खुले समुद्र में ऐसा स्थान मिल गया है जो किसी भी सुरक्षित बन्दरगाह से अधिक सुरक्षित है।

'आपकी इस अखण्ड शान्ति का रहस्य क्या है?' कप्तान युवक को आदरपूर्वक अपने कक्ष में ले आया था। उसने बहुत विनम्र होकर पूछा– 'समुद्रीय-ज्ञान आपने कहाँ उपलब्ध किया!'

'मेरी यह सर्वप्रथम समुद्र-यात्रा है। समुद्र से मेरा कोई परिचय नहीं।' युवक सरल स्वर में कह रहा था। 'किन्तु समुद्रशायी श्रीहरि मेरे अपने हैं, यह मैं जानता हूँ। सृष्टि के संचालक पर से दृष्टि मत हटने दो, महाप्रलय भी तुम्हारी शान्ति को कम्पित करने में असमर्थ रहेगी।'

× × ×

कोई नहीं चाहता था कि युवक उस अरण्य के भयावह तटपर उतरे, किन्तु उसे उतरना ही था। छोटी नौका पर उसे तट तक छोड़ने स्वयं कप्तान गया।

उसके बाद कोई नहीं जानता कि उस युवक का क्या हुआ। पीछे कांगों के बेल्जियम प्रशासक को वन्य जातियों के एक प्रमुख ने एक दिन कहा था– 'एक भारतीय योगी हमारे यहाँ एक रात्रि रहा था। पता नहीं, उससे क्या था कि गुरिलों के दल का सरदार उसके पैरों के पास सवेरे आ बैठा। वह गुरिलों के साथ उत्तर चला गया।'

मिस्र में एक भारतीय व्यापारी को एक तरुण मिला एक दिन। व्यापारी ने उसके भारत की पहुँचाने की व्यवस्था कर दी। व्यापारी को लगा कि तरूण कुछ विक्षिप्त हो गया है; क्योंकि सम्पूर्ण अफ्रीका महाद्वीप को केवल धनुष लेकर पैदल पार करने की बात तो व्यापारी की समझ से कोई विक्षिप्त ही कर सकता है। इस पर वह युवक उस जाति के मांसाहारी, दारुणतम गुरिल्लों को अपना सहायक बतलाता था, जिनकी दहाड़ सुनकर सिंह भी पूँछ दबाकर दुबकने का स्थान ढूँढ़ते दीखते हैं।

❑❑

दम-सम्पन्न (दान्त)

'दम इन्द्रियसंयमः'

'अध्यामक-तत्त्व की उपलब्धि करनी है तो इन्द्रियों का दमन करो।' महात्मा ने जितने सीधे ढ़ंग से बात कह दी, कदाचित् उसका करना भी इतना ही सीधा-सरल होता।

'शरीर को स्वस्थ रखना है तो इन्द्रियोंको साधो !' पता नहीं क्या बात थी कि आज ये अवधूत जी एक ही बात के पीछे पड़ गये थे। कोई किसी प्रयोजन से आवे आज इन्हें इस एक उपदेश की धुन थी।

'यश अपेक्षित है तुम्हें?' इन्द्रियों को दबाओ।' अवधूत जी ने बात भी पूरी नहीं सुनी और उपदेश दे दिया।

'इन्द्रियोंका दमन करो, इन्द्रियों को दबाओ, इन्द्रियों को साधो' सुनते-सुनते ऊब गया वह। उसकी साधु-संतों में श्रद्धा है। इन अवधूतजी से उसे विशेष प्रेम है। ये भी इधर दो-तीन महीनों में आ जाते हैं और आते हैं तो पाँच-दस दिन इसी आम्रोद्यान में रुकते हैं। औषधि, ज्योतिष, मन्त्र और पता नहीं, क्या-क्या, अल्लम-गल्लम आता है अवधूत जी को। ग्राम के सीधे श्रद्धालु लोग साधु को सर्वसमर्थ सहज ही मान लेते है। उसकी धारणा है कि अवधूत जी उत्तम साधु हैं तथा योग-साधनों के ज्ञाता भी। दूसरी बातें तो वे लोगों के आग्रह से उन्हें संतुष्ट करने को करते हैं।

'नारायण ! यह सब आपका नाटक है। आप जो अभिनय कराना चाहते हो, करता हूँ।' अवधूतजी मस्ती में आने पर ऐसी बातें कहने लगते हैं, जो दूसरों-की समझ में कम आती हैं। 'यह रोग ग्रह-पीड़ा और यह आपका व्याकुलता नाट्य-नाट्य ही तो है यह सब आपका। आप लीला करना चाहते हो तो करो।'

'आपने आयुर्वेद और ज्योतिष का अध्ययन कहाँ किया था?' उसने एक दिन पूछ लिया था।

'नारायण! रोग-शोक कहाँ हैं तुम्हारे स्वरूप में।' वे सबको नारायण ही कहते हैं। 'अच्छा! हैं भी तो कर्म-प्रारब्ध का भोग मानते हो न उन्हें। चिकित्सा तथा दूसरे प्रयत्न एक प्रकार के कर्म-प्रायश्चित् ही हैं। मेरा ज्ञान कैसा। तुम मुझे अपनी लीला में योग देने को कहते हो तो मैं तुम्हारी इच्छा का पालन करता हूँ।

बात उसके पल्ले भी कम ही पड़ती है; किन्तु अवधूत जी उसे बहुत अच्छे लगते हैं। सम्पन्न घर का युवक है। घर पर काम कुछ है नहीं। पिता की सावधानी तथा भगवान् की कृपा से कोई दुर्व्यसन नहीं लगा। अवधूत जी आते हैं तो वह प्रायः पूरे दिन उनके समीप रहता है। घर केवल भोजन करता है। उसकी चले तो अपने घर से ही नित्य भिक्षा लाये इन साधुजी के लिए; किन्तु दूसरों की श्रद्धा को भी सत्कार मिलना चाहिए। अवधूत जी उसका ऐसा आग्रह नहीं स्वीकार करते, इसका औचित्य वह समझता है।

'संसारासक्त प्राणी सुख-शान्ति पा जाय तो प्रभु को स्मरण ही क्यों करे।' एक दिन अवधूत जी ने ही उससे कहा था। सृष्टिकर्त्ता ने इसीलिए समस्त सुख-साधनों में अपूर्णत्व, अशान्ति और क्लेश के बीज डाल दिये हैं। सृष्टि में सुख-शान्ति के प्रलोभन से जिस पुष्प का स्पर्श करो, वहीं कष्ट का, असंतोष का कड़ा दंश प्राप्त होता है। यह तुम्हारी ही तो व्यवस्था है नारायण! तुम्हारी असीम अनुकम्पा का स्वरूप है यह।'

रोगी, उत्पीड़ित, अभावग्रस्त अथवा कामनाओं के मारे लोग ही तो हैं संसार में। अवधूत जी आते हैं तो उनके पास आर्त प्राणियों की भीड़ आती है। किसी को औषधि बतलायेंगे, किसी को ग्रह-शान्ति करने को कहेंगे। मन्त्र, अनुष्ठान अथवा कोई आसन-प्राणायाम बतायेंगे। जिज्ञासु कम ही आते हैं। संसार के आकर्षण से प्राण छूटें तो इसके परे क्या है, यह जानने की इच्छा हो। जो गिने-चुने दो-चार जिज्ञासु आते हैं, अवधूत जी उनका बहुत आदर करते हैं। उनको स्नेह से समीप बैठाकर उपदेश करते समय स्वयं पुलकित हो जाया करते हैं।

'आपने साधन तो बतला दिये; किन्तु उनको करने-में मन तो लगता नहीं।'आज सबेरे ही उसने पूछा था और तबसे अवधूत जी को 'सब नुस्खेमें अमिलतास' बाली धुन चढ़ी थी। उसे तो उन्होंने इन्द्रिय दमन मन बतलाया ही, रोगियों का, संतान-कामना से आने वालों को, मुकदमे की चिन्ता लेकर जो आया उसे और चुनाव में जीतने का आशीर्वाद लेने पधारे नेताजी को भी एक ही उपदेश देते चले गये।

× × ×

'आप एक कहानी सुनने की कृपा करेंगे?' जब एकान्त मिला, युवक समीप बैठकर अवधूत जी के पैर दबाते हुए बोला।

'सुनाओ !' साधु ने विशेष ध्यान दिये बिना कह दिया।

'मेरे बच्चे को ज्वर आया है।' एक वृद्ध एक वैद्य जी के पास पहुँचा तो वैद्य जी ने अपने पुत्र से कहा– 'जुलाब दे दो !'

'मेरे घुटनों के जोड़ों में बहुत दर्द रहता है।' दूसरा रोगी आया।

'जुलाब दे दो !' वैद्य जी ने फिर कह दिया।

'मेरा भाई गिर गया था। पैर में बहुत चोट आयी है।'

'जुलाब दे दो !' वैद्य जी के पास नुस्खा ही दूसरा नहीं था।

युवक की यह कहानी सुनकर अवधूत जी जो लेट गये थे, उठ बैठे और खूब हँसे। उन्होंने कहा– 'तुम कहना क्या चाहते हो? यह कि मैं उन वैद्य जी–जैसा हो गया हूँ?'

युवक मौन बना रहा। अवधूत जी ने समझाया– 'वे वैद्य जी बहुत कम स्थानों पर असफल होते होंगे। शरीर के अधिकांश रोगों का मूल उदर है। उदर स्वच्छ हुआ तो रोग अपने आप चले जायँगे। मुझे जहाँ दीखेगा कि मेरा नुस्खा अनुपयोगी है, उसमें परिर्वतन कर लूँगा।'

'दुखता सिर है और आप कहते हैं पैर में मलहम मलो !' युवक बहुत खुल गया था महात्मा के समीप। वैसे भी साधु से संकोच नहीं होता, यदि वह सचमुच साधु हो।

'असंयम से रोग होते हैं इसे तुम जानते हो !' अवधूत जी ने स्नेहपूर्वक समझाना प्रारम्भ किया। अधिकांश रोग जिह्वा तथा उपस्थ के अतिचार से होते हैं। उनका संयम करो तो जो विकार देह में आये हैं प्रकृति उन्हें स्वयं दूर कर देगी।'

'मामले–मुकदमे, ग्रह–दोष सब इन्द्रिय संयम से मिट जायँगे। युवक के लिए यह बात समझना सरल नहीं था।

'झगड़े जिह्वा के दोष से होते हैं। इन्द्रियों को शान्त रक्खो। प्रतिपक्षी पिशाच न हो तो देर–सबेरे स्वयं लज्जित हो जायगा।' अवधूत जी कह रहे थे। 'न भी समझे तो तुम तो दोष से बचोगे और हानि दूसरा कर नहीं पाता। वह तो अपने ही कर्म का फल है। ग्रहों की बात भी समझ लो। किसी अनुष्ठान से ग्रह अपनी राशि तो परिवर्तित नहीं करेगा। राशि–परिवर्तन तो समय पर ही होगा। अनुष्ठान उसके प्रभाव को निष्क्रिय करता है। इन्द्रिय–संयम स्वयं में तप है और उसकी शक्ति किसी तप या अनुष्ठान से कम नहीं है।

'और वे नेताजी संयमी बन जाँय, लंबे व्याख्यान बंद कर दें तो चुनाव जीत लेंगे?'

युवक को अब भी लगता था कि सबको एक ही उपदेश देना साधु की सनक ही है।

'तुम सच बतलाओ, तुम्हारे क्षेत्र में कोई सरल संयमी सीधा व्यक्ति ऐसा है, जो सबकी सेवा करता हो?' महात्मा ने पूछ लिया।

'है'- युवक को कुछ क्षण सोचना पड़ा। उसने एक अहीर भगत का नाम लिया था।

'मैं उसे जानता हूँ। वह व्याख्यान तो क्या देगा ठीक बात करते भी संकोच करता है।' अवधूत जी बोले। 'मैं किसी प्रकार उसे चुनाव में खड़ा कर दूँ, तुम्हारा क्या अनुमान है कि उसको कुछ मत प्राप्त होंगे? '

'भगत खड़ा नहीं होगा।' युवक ने कहा, किंतु झिझक गया। नेताजी से उसका अच्छा सम्बन्ध है। अवधूत जी कोई आज्ञा देंगे तो वह अशिक्षित श्रद्धालु भगत टाल ही देगा, यह उसे भगत के चुनाव में खड़े होने से अधिक कठिन लगा। उसने कहा- 'आपकी आज्ञा मानकर वह खड़ा हो जाय तो इस क्षेत्र में कुछ अत्यन्त स्वार्थी ही हैं जो उसे मत नहीं देगे। वह बिना कुछ व्यय किये जीत जा सकता है।'

'इसका अर्थ है कि भ्रष्टतम व्यक्ति के मन में भी संयम के प्रति अत्यधिक आदर-भाव है। वह भले स्वयं उसे जीवन में अपना न सके।' अवधूत जी ने कहा। 'जनता आज अयोग्य असंयमी स्वार्थपरायण विद्वानों से ऊब चुकी है और उनके स्थान पर अशिक्षित, अज्ञ, संयमी का भी अपना प्रतिनिधि बनाना पसंद करतीहै।'

साधु की वाणी में जो सत्य था, उसे युवक कैसे अस्वीकार कर दे? कोई भी उसे कैसे अस्वीकार कर सकता है? युवक ने मस्तक झुकाकर विनम्र स्वर में कहा- 'मैं अपना स्पष्टीकरण सुनना चाहता हूँ।'

'अब कल !' अवधूत जी उठ गये। 'कानों से ग्रहण किये गये आहार को पचने का भी अवकाश दो।'

श्रुत-तत्व को मनन करने का अवकाश मिलना चाहिए, यह बात जहाँ सत्य थी, वहाँ यह बात भी सत्य थी कि युवक भूल ही गया था कि उसके संध्यावन्दन का समय हो गया है। काल का अतिक्रम अत्यन्त विवशता होने पर ही वह करता था।

× × ×

'तुम अपने सबसे छोटे भाई को दस सेर भार लाने को कह सकते हो?' दूसरे दिन प्रात:का प्रणाम करके जैसे ही वह बैठा, अवधूत जी ने पूछा उससे।

'दस सेर? वह तो अभी केवल तीन वर्ष का बच्चा है। अभी पिछले दिनों ही

बीमार रहा है।' युवक ने याचना भरे स्वर में कहा। 'ऐसा क्या कार्य है? कोई दूसरा उसे नहीं कर सकता?'

'भगवान् में तुमसे कम ममत्व और करूणा है, इसे मानने का कोई कारण है तुम्हारे समीप?'अवधूत जी ऐसे अटपटे, अप्रासंगिक प्रश्न प्रायः कर बैठते हैं। इससे किसी को आश्चर्य नहीं होता।

'उन करुणावरुणालय की अनन्त कृपा का क्षूद्रतम सीकर सम्पूर्ण दृष्टि को सनाथ करता है।' युवक ने भरे स्वर में उत्तर दिया।

'तब तुम जो नहीं कर सकते, उसकी तुमसे अपेक्षा वह दयाधाम नहीं करेगा। उसके लिए तुम्हें चिन्ता क्यों है?' अवधूत जी के स्वर में अत्यन्त वात्सल्य उमड़ आया। 'तुम उसके लिए जो कर सकते हो, उसमें प्रमाद मत करो। यही उसे संतुष्ट करने के लिए पर्याप्त है।'

'देव !' युवक ने मस्तक रक्खा महात्मा के चरणों पर।

'मन तुम्हारे वश में नहीं है। वह तुम्हारे लगाये कहीं नहीं लगता तो तुमसे अपेक्षा भी नहीं की जायगी कि तुम मन लगाकर एकाग्रता से ही कुछ करो।' अवधूत जी ने अपनी बात स्पष्ट की। 'तुम्हारे अधिकार में मन नहीं तो उसे तुम दे भी कैसे सकते हो? इन्द्रियाँ वश में हैं? प्रयत्न करके उन्हें रोक सकते हो।'

'उन्हें रोकने पर भी मन उनके विषयों का चिन्तन.........। ' युवक ने सिर उठाया।

'मन की बात अभी छोड़ दो। तुम इन्द्रिय-संयम का दम्भ तो कर नहीं रहे। इन्द्रियों को प्रयत्नपूर्वक रोको, दम सम्पन्न बनो। देखोगे कि मन स्वतः शान्त होने लगा है। मनोनिग्रहरूपी शम इन्द्रियों के दमन का अनुवर्ती है।' अवधूत जी ने अपनी बात समाप्त करके आशीर्वाद दिया-'दान्त हो वत्स !'

युवक ने उनके चरणों पर मस्तक रख दिया।

तितिक्षा

'तितिक्षा दुःखसम्मर्षः'

चतुर्दिक् रजतधवल उत्तुंग हिमशृङ्ग, उनसे अज्ञात गति से निकले हिमस्रोत जो नीचे आकर निर्झर में परिवर्तित हो जाते थे और उन निर्झरों का प्रवाह 'दामोदरकुण्ड' बनाता है। नैपाल में मुक्तिनाथ से पर्याप्त आगे दुर्गम पर्वतों में है। यह शालिग्राम-क्षेत्र। इसी परम पावन स्थली को बाबा गोरखनाथ ने अपनी साधनभूमि बनाया था।

'जहाँ दो कोस तक चारों ओर एक भी प्राणी न हो, वहाँ आसन लगा।' अपने सहज समर्थ शिष्य को दीक्षा के उपरान्त योगीश्वर मत्स्येन्द्रनाथजी ने आदेश दिया था। कहीं भी जायँ, प्राणी तो मिलेंगे ही। उस हिमप्रान्त को उन्होंने प्राणिशून्य देखा था। पर्वतीय पक्षी भी उन दिनों वहाँ नहीं थे। बरफ ने जहाँ सारी धरती को अपनी लंबी-चौड़ी सफेद चादर से ढक रक्खा हो, क्षुद्र कीटों का वहाँ रहना सम्भव नहीं होता।

'देह की स्मृति ही सबसे बड़ी बाधा है।' गोरखनाथ जी साधारण मानव तो थे नहीं कि उन्हें साधना की विस्तृत व्याख्या आवश्यक होती। गुरु ने केवल सूत्र सुना दिये थे। उन सूत्रों का विवेचन उन्हें स्वयं प्राप्त करना था।

'देह की स्मृति- देहाध्यास दुस्तर तो है।' आज जहाँ जाने के लिए विशेष वस्त्र, विशेष जूते तथा अनेक औषधियाँ आवश्यक होती हैं, जहाँ यात्री सिर से पैर तक अनेकानेक अच्छे भारी ऊनी वस्त्रों से आच्छादित होकर किसी प्रकार जा पाता है। जहाँ नेत्रों पर चश्मे का नीलावरण न हो तो हिम पर से प्रतिबिम्बित सूर्य की किरणें आधे ही क्षण में अन्धा बना दें और नासिका किसी चिकने लेप से लिप्त न हो तो हिमदंश से कब गल गयी, पता ही न लगे, उस स्थान में जो केवल कटि में काली कौपीन बाँधे, नग्नदेह, नग्नपद पहुँचा हो, उस कर्ण में विशाल योगमुद्राधारी की कठिनाई का कोई ठिकाना है?

उन योगाचार्य को शीत संतप्त नहीं करता। सिद्धौषध-शास्त्र के उन महान् मर्मज्ञ

को न हिमान्धता हो सकती थी, न हिमदंश; किन्तु प्रकृति अपने कार्य में प्रमाद तो नहीं करती। श्वास से बाहर आती आर्द्रता मूँछों पर हिमकण बनकर स्थिर होती जा रही थी। हिम ने जटाओं तथा श्मश्रु पर छाकर उन युवा योगीको श्वेतकेश-जैसा बना दिया था। हिम, जल और यत्र-तत्र कुछ शिलाएँ - तृण का नाम वहाँ नहीं था। कोई ऐसी पाषाण-शिला नहीं मिली, जिस पर वे आसन लगाते। दामोदर कुण्ड के जल में डुबकी लगाकर आर्द्रदेह, आर्द्रकेश ही वे हिमशिला पर पद्मासन से बैठ गये। प्राणायाम ने शरीर को संज्ञाशून्य नहीं होने दिया। अन्यथा वहाँ प्राणी दामोदर कुण्ड में प्रवेश करते ही अर्धमूर्छित हो जाता है, किसी प्रकार जल से शीघ्रता से निकलने पर भी सर्वाङ्ग अवश, अनियन्त्रित हो जाता है।

'बहुत बाधक है यह देह की अनुभूति।' गोरखनाथ जी जैसे जन्मसिद्धके लिए भी वहाँ मनको देह से हटाकर एकाग्र करना कठिन हो रहा था। प्राणायाम से प्राप्त उष्मा शीघ्र समाप्त हो जाती थी और तब लगता था कि शीत अस्थियों में प्रवेश करके उन्हें छिन्न-भिन्न कर रहा है। एक-एक स्नायु फट जायगी, इतनी दारुण वेदना उठने लगती। रक्त जब जमने लगे, पीड़ा होती ही थी। पुनः प्राणायाम का आश्रय लेना पड़ता था।

'युक्ताहारविहारस्य' गीता के गायक ने 'योगो भवति दुःखहा' की सिद्धि का साधन जो कहा है, बहुत महत्त्वपूर्ण है। आयुर्वेद ने स्वस्थ शरीर की पहचान बतलायी है कि शरीर का स्मरण न हो। बहुत शीत या उष्णता, अनाहार, अनिद्रा से उत्पीड़ित शरीर अपनी ओर मनको बार-बार आकर्षित करेगा। ऐसी अवस्था में ध्यान, भजन आदि नहीं होता। शरीर की सामान्य आवश्यकताओं को पूर्ण करके, उसे साधारण स्थिति में रखकर और मन की वासना-तृष्णा को बलपूर्वक दबाकर साधन चलता है।

ये सब बातें सामान्य साधन के लिए हैं, सृष्टि में जो विशेष शक्तिशाली आते हैं, वे अपना विशेष मार्ग भी बना लेते है। संघर्ष में अपने को डालकर विजय प्राप्त करने का जो गौरव है, वह उनका भाग है। उनके साथ स्पर्धा करने जाकर सामान्य व्यक्ति तो अपना विनाश ही बुलायेगा।

योगी युवक गोरखनाथ असामान्य पुरुष थे। प्रकृति उनको पराभव दे सके, इतनी शक्ति उसमें नहीं हो सकती। उस देववन्द्य पावन स्थल को त्यागकर अन्यत्र जाने कीबात मन में उठ नहीं सकती थी। प्राणी-वर्जित प्रदेश और वह भी पुण्य भूमि और कहाँ प्राप्त होनी थी। उन्होंने निश्चय किया- 'इस देह की ओर ही पहले ध्यान देना चाहिए।'

जब देह लक्ष्य की ओर नहीं जाने देता, देह को ही लक्ष्य बनाकर उसकी ओर से पहले निश्चिन्त हो लेना चाहिए, तर्क उस समय भी नवीन नहीं था। भगवान् दत्तात्रेय का रसेश्वर-सम्प्रदाय इसी आधार को लेकर चलता था और गोरखनाथ जी के लिए सिद्ध रसेन्द्र-प्रक्रिया अपरिचित नहीं थी।

× × ×

शुभ्र शशाङ्क-धवल विप्र पारद आज अप्राप्य है और सुप्राप्य वह कभी नहीं था; किंतु जो ध्यानावस्थित होकर त्रिलोकी के सम्पूर्ण बाह्याभ्यन्तर का दर्शन कर सकता हो, उसे वह दुर्लभ नहीं हो सकता था। सिद्धेश्वर रसेन्द्र मणिलिङ्ग सुतल में सही, महायोगी के लिए सुतल अगम्य कहाँ है।

सविधि सुमूहर्त में उस मणिलिङ्ग के सान्निध्य में जब अभिषिक्ता अर्चिता द्वात्रिंशल्लक्षणा सिद्धिदा कौमारी शक्ति ने रसार्दन प्रारम्भ किया, आधिदैविक शक्तियों में आक्रोश उठना स्वाभाविक था। स्थूल जगत् अपनी सीमा में रहे, यह उनका दायित्व है, मानव जब उनके अधिकार को चुनौती देकर उठ खड़ा होता है, उन्हें भी अपने शस्त्र सम्हालने ही पड़ते हैं। दिशाएँ काँपने लगीं। अकाल उल्कापात तथा प्रचण्ड उत्पात प्रारम्भ हुए; किन्तु गोरख ने दृष्टि उठायी और वे सब शान्त हो गये।

क्षेत्रपाल और स्थल-(ग्राम) कालिका ने अपने को असमर्थ पाया उस महासाधक के सम्मुख जाने में। जहाँ छिद्र होता है, विघ्न वहीं आते हैं। प्रमादरहित, पूर्ण जागरूक गोरखनाथजी के समीप विघ्न कहाँ से जाते? योग एवं रस-साधना के विघ्नों को तो उनका नाम-स्मरण ही निवृत्त कर देता है।

सहसा गोरखनाथ आसन से उठ खड़े हुए। उन्होंने जल एवं बिल्वपत्र हाथ में लिया। धरा-अम्बर को अपने पदाघात से पीड़ित करती, उग्रतेजा भगवती छिन्नमस्ता दौड़ती आ रही थीं। अपने ही हाथ में अपना मस्तक लिये, अपने छिन्नशिर कबन्ध के कण्ठदेश से फूटती रूधिर-धारा को उस मस्तक से और अपने अन्य दो रूपों से पान करती, खड्ग-खप्पर-पाश-मस्तकहस्ता,त्रिरूपधारिणी उन महाशक्ति के मुखों से बारंबार चीत्कार फूट रहा था। नाशय! नाशय! हुं।'

'नमः त्रिपुरान्तकाय महारुद्राय हुं फट्' गोरखनाथ जी ने बिल्वपत्र से जलबिन्दु निक्षिप्त किये और अत्यन्त विनीत स्वर में बोले -'मातः! आप कोई रूप ले लें शिशु पर निष्करूण नहीं हो सकतीं। यहाँ भगवान् नीललोहितका मणिलिङ्ग विराजमान है। इसकी अवमानना आपको भी अभीष्ट नहीं होगी।'

क्षणार्ध में सर्वत्र शान्ति का साम्राज्य हो गया। छिन्नमस्ता का हस्तस्थित मस्तक उनके कण्ठदेश पर पहुँचकर स्थिर हो गया। उनके पार्श्व की उनकी दोनों मूर्तियाँ उनमें लीन हो गयीं। वे दिगम्बरा त्रिरूपा अब पाटलारुणवस्त्रा, किञ्चित् श्यामवर्णा, तिर्यक् मुखस्थिता, त्रिलोचना त्रिपुरभैरवी बन चुकी थीं।

'शङ्करहृदिस्थता करुणामयी अम्बे! आप सुप्रसन्न हों।' गोरखनाथ ने स्तवन किया सविधि; किंतु वह रूप त्रिपुरसुन्दरी नहीं बना। कोई चिन्ता की बात भी नहीं थी। त्रिपुर-सुन्दरी के सम्मुख स्थित होने पर आशुतोष के स्फटिक गौर वक्ष में जो उनका प्रतिबिम्ब पड़ता है, भस्माङ्गरागलिप्ताङ्ग की छाया से किञ्चित् श्यामवर्ण वह त्रिपुरभैरवी शिवहृदिस्थित होने से अतिशय करुणामयी हैं। साधक के लिए वे परम सिद्धिप्रदा हैं।

'तुमने महाशक्ति की अर्चना के बिना ही यह कर्म प्रारम्भ कर दिया। यह भी स्मरण है तुम्हें कि यह युग कौन-सा है? कलि में रससिद्धि कदाचित् ही होती है। तुम केवल अपने तीन शिष्यों को इसे दे सकोगे।' भगवती ने एक सीमा निर्धारित की और वे अन्तर्हित हो गयीं।

रसार्दन का श्रम, नियम-पालन तथा प्राणापदा को जिन्होंने स्वीकार किया था, उन कौमारी शक्ति को वञ्चित करना शक्य नहीं था। वे उस सिद्ध रस का सेवन करके अमर योगिनी हो गयीं। अनेक नामों से उनका उल्लेख कई योग-सम्प्रदायों में पाया जाता है।

गोरखनाथजी का देह रसेन्द्र का सेवन करके सिद्ध हो गया। वे अपने तीन शिष्यों को ही यह लाभ दे सकेंगे, यह चिन्ता अनावश्यक थी। अब उन्होंने फिर दामोदर-कुण्ड के समीप हिमशिला पर आसन लगाया। प्रकृति की कोई शक्ति अब उनके देह को प्रभावित नहीं कर सकती थी। अब उनके ध्यान में देह बाधा नहीं दे सकता था।

× × ×

'यह क्या दम्भ करने बैठा है।' उन्मुक्तकेश, अङ्गारनेत्र, दिगम्बर, मलिनकाय एक अतिदीर्घ देह पागल पता नहीं कहाँ से उस प्राणिहीन प्रदेश में आ गया था और वह बार-बार अट्टहास कर रहा था। अद्‌भुत बात यह थी कि गोरखनाथजी ध्यान नहीं कर पा रहे थे। शत-शत वज्रपात-ध्वनि करते शिलाखण्ड जहाँ क्षण-क्षण में टूटते हैं, उस प्रचण्ड कोलाहल में सर्वथा अप्रभावित योगी इस उन्मत्त के अट्टहास से विचलित हो

गया था। उसे लगता था कि कोई उसके मन को बल पूर्वक बाहर खींच लाया है।

'आप कौन हैं?' गोरखनाथजी ने पूछा। वे अपनी नेत्र-पलक भी बंद नहीं कर पाते थे। पलकें चेष्टा करने-पर भी नहीं गिर रही थीं।

'तेरा बाप! तेरा गुरु!' पागल ने हाथ की तलवार से गोरखनाथ पर प्रहार किया; किन्तु योगी के सिद्ध वज्र-देह से टकराकर तलवार झनझनाकर पागल के हाथ से छूट गिरी। उनके शरीर पर चिह्न तक नहीं बना।

'दम्भी कहीं का! तेरा गुरु...., पागल का अट्टहास असह्य हो गया है। वह पता नहीं गुरुदेव को क्या कहने-वाला था। गुरु को कोई अपशब्द कहेगा, यह सम्भावना ही सहन नहीं हुई। गोरखनाथ जी ने झपटकर तलवार उठा ली और पूरी शक्ति से पागल पर चोट की; किन्तु यह क्या? अपने आघात के वेग से गोरखनाथ स्वयं भूमि पर - हिमशिला पर गिर पड़े। तलवार पागल के शरीर में से ऐसे निकल गयी थी, जैसे वायु में चलायी गयी हो।

'आप कौन? देवता, यक्ष, गन्धर्व?' गोरखनाथ स्वयं बोलते-बोलते रुक गये। उनके सम्मुख जब वे योगस्थ हों - प्रेत-पिशाच, यक्ष-गन्धर्व, देवता-दैत्य कोई ऐसी धृष्टता करने का साहस कर कैसे सकता है? ऐसा कौन है जो यह प्रयत्न करने पर भी उनकी सर्वज्ञ दृष्टि की पकड़ में नहीं आता।

'मैं असत्य नहीं कहता। तेरे दम्भ ने मुझे अविश्वासी बना दिया है।' पागल का स्वरूप बदल गया और गोरखनाथ गुरुदेव को पहचानकर उनके चरणों पर गिर पड़े।

'मेरे गुरुदेव को छोड़कर व्योमदेह दूसरा भूतल पर नहीं हुआ, यह मैंने सुना था।' गोरखनाथ के नेत्रों से झरती अश्रु धारा गुरु के चरण धो रही थी। मेरा सिद्ध बज्रदेह-प्राप्ति का गर्व गल गया। मुझ पर अनुग्रह करें देव! मेरा दम्भ?'

'माता को अपने अबोध शिशु की चिन्ता रहती है।' गुरु ने कहा। 'तू क्या समझता है कि मत्स्येन्द्र अपने कर्त्तव्य को भूल जायगा? शिष्य को स्वीकार किया तो उसको परम सिद्धि तक पहुँचाना कर्त्तव्य बन गया। तेरी प्रत्येक क्षण की साधना मेरी दृष्टि में रही है। तूने छिन्न-मस्ता को सुप्रसन्न कर लिया; किंतु यदि चामुण्डा आती?'

'गोरखनाथजी भी एक बार भयकम्पित हो गये। सचमुच आना तो चामुण्डा को ही चाहिए था और उन शिव-वक्ष पर ताण्डवकारिणी उग्रभैरवी को भला वे कैसे शान्त करते? वे तो कोई मर्यादा मानती नहीं हैं।

'मैं चामुण्डा-पीठ से ही आ रहा हूँ' मत्स्येन्द्रनाथ हँसे। 'मेरी अर्चा की उपेक्षा करके चामुण्डा कहीं जा नहीं सकती थी।'

'गुरुदेव !' शिष्य अपने समर्थ गुरु के पावन पदों पर मस्तक ही तो रख सकता है।

'किंतु अब यह तेरा दम्भ है।' मत्स्येन्द्रनाथ ने समझाया। 'मेरी इच्छा थी कि तू प्राणिहीन प्रदेश में कुछ काल तपस्या करता। तप अपार शक्ति का द्वार उन्मुक्त कर देता है। कलि के सम्पूर्ण जीवों को तेरा तपः तेज कल्पान्त तक पवित्र रखता; किन्तु सृष्टि के नियामक का विधान अन्यथा कैसे हो सकता है।'

'मेरा दम्भ?' गोरखनाथ जी को अपने आचरण में कहीं दम्भ नहीं दीखता था। दम्भ होता है दूसरों का अन्यथा दर्शन कराने के लिए। इस जनहीन प्रदेश में कोई किसलिए दम्भ करेगा?

'तप का मूल है तितिक्षा और तितिक्षा कहते हैं दुःखों को जान-बूझकर सहने को।' खिन्न स्वर में मत्स्येन्द्रनाथ कह रहे थे। 'शरीर को सिद्धरस-सेवन से वज्र बनाकर तू जो इस शीत-प्रदेश में आ बैठा है, यह कौन-सा तप, कौन-सी तितिक्षा है? जब शरीर शीत-उष्ण-आघातादिसे प्रभावित होता ही नहीं, तब तेरा यहाँ का निवास क्या तप का दम्भ नहीं है?'

गोरखनाथ जी चुप रह गये। उनके समीप भी कोई उत्तर नहीं था। मत्स्येन्द्रनाथ जी कुछ रुककर बोले- 'यही भूल मुझसे भी प्रारम्भ में ही हुई थी, जब मैंने स्थूल पाञ्चभौतिक देह को साधन-शक्ति से व्योमदेह में परिवर्तित किया। मैं प्रकृति की जिस विजय पर प्रफुल्ल था, अब जानता हूँ कि वही मेरी पराजय थी। माया ने मुझे देह की ओर आकृष्ट करके पंगु कर दिया था।'

'परमात्मा अनन्त करुणालय है। देह को बज्र अथवा व्योम-सदृश बनाना आवश्यक होता तो उसने ऐसा करने में संकोच न किया होता।' कुछ रुककर वे योगेश्वर बोले - 'देह की दुर्बलता- कष्टानुभव-क्षमता ही मानव को तप एवं तितिक्षा के वे साधन देती है, जिनमें सम्पूर्ण सृष्टि को परिवर्तित कर देने की शक्ति है।'

'अब मेरे समान तुम्हें भी लोकालय में अज्ञात विचरण करना है। अज्ञजन द्वारा प्राप्त मानापमानमें सम रहकर मानसिक तप करो।' मत्स्येन्द्रनाथ ने आदेश देकर कहा। 'प्राणिहीन प्रदेश अब अनावश्यक है, किन्तु तितिक्षा का सीमितक्षेत्र शक्तिस्रोत भी सीमित कर देता है। महेश्वर-की इच्छा पूर्ण हो।'

गुरु-शिष्य साथ ही वहाँ से नीचे चले।

घृति

'जिह्वोपस्थजयो धृतिः'

प्रिय इन्द्र!

बहुत-बहुत स्नेह। तुहारा पत्र मिला, यह जानकर खेद हुआ कि तुम रुग्ण हो। यह बात ठीक नहीं है कि तुम रोग को प्रारब्ध-प्राप्त भोग मानकर संयम तथा चिकित्साका परित्याग कर दो। तुम धनोपार्जन में तो ऐसी उपेक्षा नहीं दिखलाते। अपने कार्यालय में पदोन्नति के लिए तुम प्रयत्न करना नहीं छोड़ते। धन और पदोन्नति मुकदमे में जय-पराजय क्या प्रारब्ध पर निर्भर नहीं है?'

देखो, जब तक शरीर में आसक्ति है, जब तक संसार के दूसरे लाभों को पाने के लिए तथा हानियों को दूर करने के लिए मनुष्य प्रयत्न करता है, तबतक रोग की चिकित्सा भी उसका कर्तव्य है। कष्ट के भय से किसी प्रयत्न का त्याग प्रमाद है। जो देहाध्याय से रहित महापुरुष हैं, शरीर रहने, न रहने की जिन्हें चिन्ता नहीं है, जो धन तथा मान-प्राप्ति के लिए भी कोई प्रयत्न न करके केवल भजन-में लगे रहते हैं, वे रोग-निवारण का भी प्रयत्न न करें तो अनुचित नहीं है।

अनुष्ठानों से, पूजनादि से तथा प्रबल उद्योग से प्रारब्ध में भी परिवर्तन होता है, यह तुम जानते हो। चिकित्सा भी एक प्रकार का प्रायश्चित ही है।

एक बात और स्थूल शरीर वर्तमान कर्मों से एक बड़ी सीमा तक प्रभावित होता है। तुम श्रम करो और थको नहीं, यह नहीं हो सकता। इसी प्रकार अधिकांश रोग व्यक्ति के अपने असंयम तथा असावधानी से आते हैं। तुम अपनी असावधानी से चोट लगा लो, चाकू से उँगली काट लो तो उसकी चिकित्सा तथा पीड़ा असावधानी का ही प्रायश्चित्त है।

बहुत कम रोग आगन्तुक तथा बाह्य निमित्त से होते हैं। व्यक्ति का असंयम ही उसे रोगी बनाता है। तुम रोग की पीड़ा में व्याकुल नहीं होते, यह अच्छी बात है।

लेकिन इसी का नाम धैर्य नहीं है। धृतिमान् रोगी नहीं हुआ करता। तुम धृतिमान् बनो, इस शुभाकांक्षा के साथ-

अश्विनी पूर्णिमा-2021 तुम्हारा भद्रसेन

आदरणीय पितृव्य !

सादर प्रणति। आपका पत्र मिला। आपने अपना पता नहीं दिया पत्र में। लगता है, यात्रा में यह पत्र लिखा गया है। आपके कार्यालय के पते पर पत्र दे रहा हूँ। शरीर अब रोगहीन है; किंतु दुर्बलता है अभी। आपका आदेश स्वीकार करके मैंने औषधि ली और अब भी ले रहा हूँ।

'धृतिमान् रोगी नहीं हुआ करता'- यह बात समझ में नहीं आयी। कृपा करके इसे समझायेंगे। रोग भी तप है, यह आपका पिछला उपदेश बहुत काम आया इस बार। पञ्चाग्नि तापते साधुओं को मैंने देखा है। उत्तर काशी में एक महात्मा कई घंटे गङ्गा के हिमशीतल जल में खडे रहा करते थे। कष्ट में तपबुद्धि होने से वह प्रसन्नता का हेतु हो जाता है, यह अनुभव हो गया इस बार। ज्वर तथा उदर की पीड़ा मस्तक तो लगता था कि फट जायगा; किंतु इसमें बड़ा आनन्द आया। यह तपस्या मेरे लिए अत्यन्त शुभ रही।

पिछले वर्ष अपने नगर में विसूचिका का जब प्रकोप था, कितना धैर्य, कितनी सेवापरायणता थी विष्णुदत जी में। दुर्गन्धि से, मल तथा वमन से सने रोगियों की किस स्नेह से वे शुश्रूषा करते थे। स्वजन जहाँ प्राणभय से छोड़कर भाग गये, वे आगे आये। उनके-जैसा घृतिमान्य; किन्तु आप जानते ही हैं कि वे इस समय क्षय के शिकार हैं और चिकित्सालय में पड़े हैं।

मुझे अनेक व्यक्ति याद आ रहे हैं। अभी चीन तथा पाकिस्तान के साथ हुए संघर्ष में जिन सैनिकों ने अपूर्व शौर्य का परिचय दिया, आपने भी पढ़ा होगा वह समाचार कि उनमें से एक की चिकित्सा की विशेष व्यवस्था सरकार कर रही है। इसीलिए धृतिमान् की विशेष व्याख्या अपेक्षित हैं।

इधर थोड़ी वर्षा हुई है। शीत कुछ बढ़ा है। अब तक सब दीपावली की स्वच्छता में लगे हैं। छोटा भाई आपको प्रणाम कहता है।

अनिल-अवास आपका अनुग्रहाकांक्षी

कार्तिक कृष्ण 8 सं.2021 इन्द्रदत्त

प्रिय इन्द्र !

बहुत-बहुत स्नेह। तुम्हारा पत्र कार्यालय होकर मुझे मिल गया। तुम्हारा शरीर

स्वस्थ हो गया, यह जानकर प्रसन्नता हुई। आशा है, यह पत्र मिलने तक दुर्बलता भी दूर हो चुकी होगी।

तुम्हारी जिज्ञासा उचित है। मनुष्य बड़ी-बड़ी विपत्ति सह लेता है। कहते है कि नैपोलियन वोनापार्ट युद्धभूमि में गोली उगलती तोप केनीचे मजे से निद्रा ले लेता था। किन्तु घृति का आश्रय क्या है? चित्त अथवा बुद्धि। इसे बाहरी बड़े-से-बड़ा निमित्त विचलित न करे, ऐसा होना कठिन अवश्य है; किंतु ऐसे व्यक्ति संसार में बहुत मिलते हैं- सर्वत्र मिलते हैं।

सत्याग्रह आन्दोलन के समय कितना कष्ट, कितना उत्पीड़न सहा देश के लोगों ने, यह तुम 'कांग्रेस का इतिहास' देखकर जान सकते हो। बहुत कुछ इस विषय में तुम जानते हो। पुलिस का प्रहार रात-दिन, भटकना, परिवार के लोगों की पीड़ा, अनेक घरों का तो उस समय उच्छेद हो गया। वे देशभक्त घृतिमान नहीं थे, ऐसा कौन कहेगा। किन्तु जो उनके साथ कारागार में रहे हैं- मैं कुछ काल रहा हूँ और अनेकों का सम्पर्क वहाँ मिला है, तनिक-तनिक-सी बातों के लिए उन लोगों का उत्तेजित होना, कौड़ी बराबर गुड या चीनी के लिए अनेक अनुचित उपाय अपनाना देखकर बड़ा खेद होता था। उनकी धृति कहाँ चली गयी थी?

बात यह है कि इन्द्रियाँ मन-बुद्धि को बहुत प्रभावित करती हैं, बाह्य किसी भी निमित्त की अपेक्षा। जो अपने सम्पूर्ण परिवार तथा अपनी मृत्यु भी सम्मुख देखकर विचलित नहीं होते, वे भी स्वाद के वश में भटक जाते हैं और तुम जानते हो कि शरीर के अधिकांश रोग उदर तथा स्नायु के दोष से होते हैं। जिह्वा की लोपलुपता उदर को विकृत करती है और ब्रह्मचर्य-सम्बन्धी असंयम स्नायु-दौर्बल्य का हेतु होता है।

जिह्वा और उपस्थ संयम जिसने साध लिया, वही सच्चा धृतिमान् है। उसकी बुद्धि को विचलित करने का निमित्त नहीं रह गया। तुम इस प्रकार के धृतिशाली बनो।

मैं अब भी यात्रा में ही हूँ। पत्र कार्यालय के पते पर ही देना। नन्हें को स्नेह। परसों दीपावली के दिन ही कार्यालय पहुँच पाऊँगा।

कार्तिक कृष्ण 13 — तुम्हारा
सं. 2021 — भद्रसेन

आदरणीय पितृव्य !

सादर प्रणति ! आपका पत्र दीपावली के दूसरे दिन मिला। महालक्ष्मी-पूजन के इस पावन दिन के उपलक्ष में हम सबकी वन्दना स्वीकार करें।

मुझमें थोड़ी-सी जिह्वा-लोलुपता है। यह आप जानते ही हैं। चाट, खटाई, मिर्च

मैंने छोड़ दी है। बाजार की वस्तुएँ अब नहीं खाता। चाय-काफी या कुल्फी-शर्बत भी छोड़ देने का निश्चय कर लिया है। किन्तु मीठा खाने को बार-बार जी करता है। आप कहते ही हैं- 'इन्द्र मिष्ठानप्रिय है।' शरीर स्वस्थ है। जिह्वा बहुत समय से तंग करती आ रही हैं। आपके आदेश बार-बार भङ्ग हुए इसके कारण। अतएव अब उपवास करने का विचार है। दो-तीन दिन (जब तक सहा जाय) केवल जल और नींबू का रस लूँगा। इससे पेट भी स्वच्छ हो जायगा। उसके पश्चात् उबाले शाक, कच्ची घिया; किन्तु फल नहीं; क्योंक फिर तो मीठा खाने की इच्छा को ईंधन मिलेगा। आप आशीर्वाद दें।

अनिल-आवास | आपका अनुग्रहकांक्षी
कार्तिक शुक्ल प्रतिपदा सं० 2021 | इन्द्रदत्त

प्रिय इन्द्र!

बहुत-बहुत स्नेह! तुम्हारा पत्र मिला। संयम तथा साधन में तुम्हारी तत्परता देखकर प्रसनन्ता होती है। उपवास तुमने प्रारम्भ कर दिया होगा; क्योंकि तुम्हारे स्वभाव में ही निश्चय को, 'कल' पर टालना नहीं। चलो अच्छा है, एक सप्ताह उपवास कर लो। इससे उदर के दोष दूर हो जायँगे और तुम्हें कुछ अनुभव भी मिलेगा। किन्तु इससे अधिक उपवास का आग्रह मत करना। उससे कोई लाभ होने वाला नहीं है।

इन्द्रियाण्यनुशुष्यन्ति निराहारस्य योगिनः।
वर्जयित्वा तु रसनं तन्निरन्नस्य वर्धते।।
तावाज्जितेन्द्रियो न स्याज्जितसर्वेन्द्रियः पुमान्।
न जितेद्रसनं यावज्जितं सर्वं जिते रसे।।

अनाहार करने से शरीर के साथ दूसरी सब इन्द्रियों का बल क्षीण हो जाता है। उत्तम रूप देखने, उत्तम गन्ध सूँघने, कोमल वस्त्र पहनने, श्रेष्ठतम् संगीत सुनने तथा अभीष्टतम स्त्री को पाने की कामना भी उपवास में मर जाती है। क्षुधाक्षाम व्यक्ति को यह सब कुछ सुहाता नहीं; किन्तु अनाहार से जिह्वा की स्वादलोलुपता बढ़ती है।

तब तक मनुष्य जितेन्द्रिय नहीं है, जब तक जिह्वा को जीत न ले, भले उसने दूसरी सब इन्द्रियों को जीत लिया हो। जिसने रसना को जीत लिया, उसने सबको जीत लिया।

श्रीमद्भागवत का तुम नित्य पाठ करते हो, अतः यह बात तुम्हें ध्यान में आनी चाहिए थी। किन्तु इस भ्रम में नहीं रहना चाहिए कि स्वादेन्द्रिय को वश में कर लेने से जननेन्द्रिय भी वश में हो जायगी। तुमने पुराणों में महत्तम तपस्वियों तपःस्खलन की कथाएँ पढ़ी हैं। मनोभाव दुर्जय है और वह किसी को भी कब पराभूत कर देगा, कहा

नहीं जा सकता। अतएव इस ओर से सम्यक् सावधानी ही व्यक्ति को सुरक्षित रख सकती है।

मुझे एक संत की बात स्मरण आ रही है। उन्होंने कहा था – 'मैंने बहुत दिनों तक शीशम के पत्ते खाये। मुझे वे स्वादिष्ट लगने लगे। उन्हें त्यागकर नीम के पत्ते सबेरे चबाने लगा। थोड़े दिनों में वे भी स्वादिष्ट लगने लगे। उन्हें भी खाने को जी करता था। बड़ी दुष्टा है रसना। यह अफीम-जैसे कटु पदार्थ में भी स्वाद उत्पन्न कर देती है। स्वाद न आये, यह सम्भव नहीं है। स्वादानुभव को महत्त्व मत दो। स्वाद की उपेक्षा करके स्वास्थ्य, शुचिता और अपने संयम को महत्त्व दो।'

यही बात उपस्थ-जय के सम्बन्ध में भी कहनी है मुझे। साधक या संत होने का अर्थ पुंसत्वहीन होना नहीं है। काम मन में ही न आवे, ऐसी जिन महापुरुषों की स्थिति हो, वे लोकवन्द्य है; किन्तु सामान्यतः यह असम्भवप्राय है। जो वृत्ति मन में आने के पश्चात् ज्ञात होती है, उस अनागता अज्ञातवृत्ति को कैसे रोक सकता है? उसे आने का निमित्त न मिले, ऐसी अपनी ओर से सम्यक् सावधानी और आने पर उसे दबा देने की क्षमता-इतना तुम सम्पन्न कर लो तो तुम सच्चे साधक हो।

जिह्वा का स्वाद और उपस्थ की काम तृष्णा जिसको प्रतीत होकर, जिसके मन में आकर भी उसे विचलित नहीं कर सकें, वह धृतिमान् हैं; क्योंकि वही सम्यक् धारणा में स्थित रहने में समर्थ है। यह अवस्था दृढ़ निश्चय तथा सतत प्रयत्न से ही प्राप्त होती है। उपवासादि हठके साधन इसमें सहायक नहीं हो सकते।

आशा है, तुम इस तथ्य को ठीक रूप में ग्रहण करोगे और सच्चे अर्थ में धृतिमान् बनने का मार्ग अपनाओगे।

अब आज लम्बे प्रयास में जाना है। नन्हेंको प्यार।

कार्तिक शुक्ल अष्टमी
सं. 2021

तुम्हारा शुभैषी
भद्रसेन

शौर्य

'स्वभावविजयः शौर्यम्'

'आप यदि मेरा अनुरोध स्वीकार कर लें, हम सब पर असीम अनुग्रह होगा।' ब्राह्मण के साथ न बल प्रयोग किया जा सकता और उन्हें आज्ञा दी जा सकती, केवल प्रार्थना की जा सकती थी। जिनका सम्पूर्ण प्रजा सुरों के समान सम्मान करती हैं, उन शस्त्रज्ञ, विरक्त भगवान् लोकनाथ के आराधक की सुरक्षा सबसे अधिक आवश्यक थी; किंतु सुरक्षा के लिए भी उनकी अवमानना तो की नहीं जा सकती। इस बंगदेश के छोटे-से-राज्य की शक्ति ही कितनी है कि उस लोकभयंकर कालापहाड़ का प्रतिरोध किया जा सके। साश्रुनेत्र राजा ने प्रार्थना की- 'वह पिशाच देव-द्विज-द्रोही है और निसर्ग-क्रूर है।'

'राजन्! नश्वर शरीर इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है कि उसके मोह से ब्राह्मण अपने आराध्य का सान्निध्य-त्याग करे।' उन श्वेत रोम-केश, वलीपलितकाय, ताम्र गौर वृद्ध का विशाल भाल सौम्य तेज से विभूषित था। उनके सुदीर्घ दृगोंमें भय का कोई भाव नहीं था। 'भगवान् लोकनाथ का श्री विग्रह अचल-प्रतिष्ठि स्वयम्भू विग्रह है।'

उसे स्थानच्युत करने की बात सोची नहीं जा सकती। उन प्रलंयकर ने यदि अपने इस विग्रह के तेजोपसंहार का संकल्प किया है तो इस देह की पादाञ्जलि भी उन्हें प्राप्त होनी चाहिए। तुम प्रजा तथा अपने परिवार की रक्षा करो।'

'प्रजा के रक्षणीयवर्ग को यथाशक्य सुरक्षित स्थानों पर भेजा जा रहा है।' राजा के स्वरों में कोई उत्साह नहीं था। 'वैसे वह मृत्युका दूत किधर से आयेगा, कहाँ उसके क्रूर कर क्या-क्या करेंगे, कोई अनुमान नहीं है। केवल देवस्थान, विप्र एवं क्षत्रियवर्गका वह संहारक है। राज्य परिवार के साथ सैनिकों के स्वजन भी स्थानान्तरित किये गये हैं। अब तो आप आशीर्वाद दें कि अपने क्षात्रधर्मकी रक्षा करता हुआ यह शरीर सार्थक हो।

'तुम शूर हो।' उन तपोधनने एक बार आकाश की ओर इस प्रकार देखा जैसे नियति की अव्यक्त लिपि पढ़ रहे हों। 'मरण भी उसका मङ्गलपर्व ही है। जो जीवन

यज्ञ की पूर्णाहुति जनता के आतङ्क को समाप्त करने के लिए कर सके।

यह अल्पप्राण आत्माहुति मात्र दे सकता है और उसके लिए आये इस अवसर का सम्पूर्ण उपयोग करेगा। राजा के शब्दों में दृढ़ निश्चय के साथ निराशा की वेदना थी– लेकिन आतङ्क का अन्त अनावधि लगता है। कहीं मैं इस भारत-भूमि के आतङ्क का सचमुच अन्त कर पाता।'

राजन्! जो द्वेष तथा स्वार्थरहित है, जिसे अपनी स्वाभाविक दुर्बलताओंको विजित कर लिया है, उसका बलिदान व्यर्थ कर देने की शक्ति विश्व-नियन्ता में भी नहीं है।' ब्राह्मण का मुख तेजोदीप्त हो गया। नाभिकमल से उठते परावाणीके पूर्ववर्ती स्वर पश्यन्ती से अलंकृत आशीर्वाद दे गये– 'तुम्हारा आत्मदान आतङ्क के अन्तका अवश्य निमित्त बनेगा।'

'देव।' नरपति ने विह्वल होकर उनके चरण पकड़ लिये। मेरा जन्म सार्थक हो गया है इन श्रीचरणों की सेवा करके और मेरे मरण को अशून्य कर दिया इस आशीर्वाद ने; किंतु आप.........।'

'मेरी चिन्ता मत करो। मैं उन लोकनाथ के अङ्क में अभय बैठा हूँ।' वे महापुरुष इस समय ऐसे स्वर में बोल रहे थे, जिसकी सत्यता में संदेह किया नहीं जा सकता था। आतङ्क के अन्त में ब्राह्मण अपना सहयोग नहीं देगा तो कर्म की पूर्णता कैसे होगी।'

× × ×

'काला पहाड़ आ रहा है!' कितना भयंकर है यह संवाद। प्रलय का संदेश भी इतना दारुण नहीं होगा। वह नृशंसता की नग्न मूर्ति–जनपदों को फूँकते, रौंदते, मानव के छिन्न-भिन्न शवों से मेदिनी को वीभत्स बनाते, पिशाचों की सेना के समान आँधी के वेग से आने वाला निष्ठुर हत्यारा जिधर जाता है, पूरी दिशा उजाड़ हो जाती है और वह आ रहा है।

'काला पहाड़ आ रहा है!' प्रतिहिंसा ने उस मानव को दानव बना दिया है। वह हिंदूधर्ममें अपनाया नहीं गया। एक बार धोखे से-विवशता से धर्मभ्रष्ट हो जाने पर अब वह अपनी क्रूरता पर उतर आया है। जिसके अन्तर में इतनी दारुण हिंसा छिपी थी, वह धार्मिक ही कब था कि उसे कोई धर्मज्ञ स्वीकार करता। वह ध्वंस का दूत, सुना इधर ही आ रहा है।

'काला पहाड़ आ रहा है!' शिशु यह सुनते ही भय से माता के अङ्क में मुख छिपा लेते हैं। बालक क्रीड़ा त्यागकर घरों की ओर भागते हैं। नारियों के सिर से जल-कलश गिर जाते हैं। दूसरों की चर्चा व्यर्थ है, अच्छे-अच्छे शूर तक सशङ्क हो उठते हैं और

खड्गकी मूठपर कर रखकर भी अश्व की पीठ पर पहुँचने की त्वरा उन्हें हो जाती है। आज तो उसके सचमुच आने का समाचार आया है।

'काला पहाड़ आ रहा है।' जनपद उजाड़ बन गये। भवन उलूक-शृगालों के आवास बनने को त्याग दिये गये। केवल सुन्दरवन का दलदल तथा अरण्य लोगों को जीवन-रक्षा का आश्रय जान पड़ रहा था। वन के व्याघ्र, गज तथ महाकाय सर्प उस दैत्य की अपेक्षा कम भयानक थे।

'कालापहाड़ आ रहा है !' लोगों के समूह भागते आ रहे थे। पैदल और छकड़ों का अनन्त समूह बराबर बढ़ता जा रहा था। घर-द्वार, भूमि-उपवन तथा अपने परम प्रिय 'पोखर' त्यागकर किस विपत्ति में वंगीय परिवार इस प्रकार अनिश्चित प्रवास करता है, बड़ा दारुण है यह अनुमान भी। लोग आते गये और उनके साथ मार्ग के लोग भी सम्मिलित होते गये।

'काला पहाड़ आ रहा है !' प्रत्येक मुख पर एक ही चर्चा। प्रत्येक मार्ग जैसे सुन्दर वन ही जा रहा है। उन पर मानव-प्रवाह, जैसे शत-शत धाराओं में भगवती भगीरथी समुद्र को अङ्कमाल देने यहाँ धावित हैं। मुख श्रीहीन, भय-विह्वल। बालक-वृद्ध, स्त्री-पुरुष और उनके पशु भी साथ हैं।

'काला पहाड़ आ रहा है !' उसका आक्रोश केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं देवस्थानों पर हैं; किंतु उसके क्रूर मलेच्छ सैनिक कोई मर्यादा मानते हैं? वे जब स्वधर्मियों-तक को लूटने में संकोच नहीं करते, दूसरा उनकी दया का विश्वास करके कैसे रूका रह सकता है?

'काला पहाड़ आ रहा है !' इस आतङ्क के भगदड़ के मध्य अकस्मात एक दिन ग्राम-ग्राम, पथ-पथ में एक भेरी-घोष के साथ घोषणा सुनायी पड़ी- "कालापहाड़ कोई यमराज नहीं है। हो वह यम; किन्तु मृत्यु दो बार नहीं आती। युवकों ! तरूणो ! देश तुम्हें पुकारता है ! धर्म तुम्हारा आह्वान करता है ! तुम इस पुकार को अनसुनी कर दोगे?'

'देश पुकारता है ! धर्म पुकारता है !' चलते छकड़े रुक गये। भागते पद स्थिर हो गये। नारियाँ तक उत्कर्ण सुनने लगीं। उद्घोषक कह रहा था- आराध्य-पीठ पर अविचल खड़ी भगवन्मूर्तियाँ पुकारती हैं तुम्हें ! देव-ब्राह्मणों की रक्षा का महापर्व आज पुकार रहा है ! तुम इसे अनसुना कर सकोगे?'

'नहीं ! हम सुनेंगे यह पुकार। क्या करना है हमें? युवकों, तरुणों ही नहीं, वृद्धों तक ने उद्घोषकों को स्थान-स्थान पर घेर लिया। अनेक स्थानों पर नारियाँ आगे आ गयी थीं- 'बतलाओं ! क्या करना है हमें?'

'हम काला पहाड़ को मार भले न सकें, अपने मस्तकों से उसका मार्गाविरोध अवश्य कर सकते हैं।' उद्घोषक बोल रहा था 'राजा क्षमासेन ने खड्ग उठाया है।

उनके पीछे मृत्यु के इस महातीर्थ में स्नान करने का जिनमें साहस हो, आ सकते हैं वे। उनका स्वागत ! कायर पुरुषों की हमें कोई आवश्यता नहीं है।'

'हम आयेंगे ! जिसके समीप शस्त्र नहीं थे, वे भी लाठी उठाये आगे आये। केवल एक प्रश्न था प्रत्येक का 'क्षमासेन युद्ध करेंगे?'

'क्षमासेन युद्ध करेंगे !' उद्घोषक ने दृढ़ स्वर में घोषणा की। ब्राह्मण तथा मातायें क्षमा करें। उन्हें वृद्ध बालक तथा अन्य असमर्थों का आश्रय बनना चाहिए। उनका शौर्य वन में भी सार्थक होगा। यदि वे असमर्थों की, वन्य प्राणियों से रक्षा में सावधान रहें। क्षमासेन युद्ध करेंगे? इस चर्चा ने जैसे काला पहाड़ के आतङ्क को पहले ही पराजित कर दिया। अब काला पहाड़ आ रहा है।' के स्थान पर जन-जन में चर्चा का विषय बन गया- 'क्षमासेन युद्ध करेंगे।'

'क्षमासेन युद्ध करेंगे !' प्रत्येक श्रोता एक बार अविश्वास से कहने वाले का मुख देखता रह जाता था। बचपन से जो अपनी दया, उदारता, क्षमा के लिए प्रसिद्ध हैं, अपना अपमान करने वाले नायकको भी जिन्होंने दण्ड नहीं दिया राजकुल का अहितकरने वाले सेवकों को भी जिन्होंने वृत्ति दी जिन्हें क्रोध करते देखा ही किसी ने नहीं, वे नरपति शस्त्र उठायेंगे?

'क्षमासेन युद्ध करेंगे !' किसी के अपराध का दण्ड देना जिन्हें आता नहीं। प्रजा में कोई उद्धत हो तो उसके सुधार के लिए जो स्वयं उपवास का अनुष्ठान कर लेते हैं, जो प्रजा तथा पुत्र में भेद नहीं कर पाते और कोई शत्रु भी है, यह जिन्हें समझाया नहीं जा पाता, वे संग्राम करने आयेंगे, यह सहज विश्वास करने योग्य बात नहीं थी। राजा के सम्बन्ध में अनेक किवदन्तियाँ उस छोटे राज्य में तथा उससे बाहर भी फैली थीं। यह लोकस्वभाव है कि छोटी घटना भी फैलती है तो उसका रूप बहुत बड़ा बन जाता है। क्षमासेन के सम्बन्ध में यह भी नहीं हुआ था। लोगों में तो बात यहाँ तक फैली थी कि उनके नरेश अस्त्र छू जाय तो स्नान करते हैं। अतः उनके युद्ध की घोषणा जहाँ अविश्वसनीय प्रतीत हुई, अत्यधिक प्रेरणाप्रद भी बनी वह।

× × ×

'कापुरुष ! तू और क्या कर सकता था?' कोई इस प्रकार भी काला पहाड़ को कहसकता है, उसने कल्पना भी नहीं की थी। जिस प्रचण्ड झंझावात के सम्मुख महारण्य के तरु समूल धाराशायी हो जाते हैं, उसको एक उद्यान क्या अवरोध उत्पन्न कर सकता है। क्षमासेन अपने सैनिकों, सहायकों के साथ खेत रहे। रणभूमिसे रक्ताक्त शरीर, अंगारनेत्र, शोणितस्रावी तलवार लिये काला पहाड़ सीधे लोकनाथ

मन्दिर आया था। वह अपने हाथों इस प्रसिद्ध श्रीमूर्ति को नष्ट करने का संकल्प इस ओर अभियान से पूर्व ही कर चुका था। नील वस्त्रधारी, मलेच्छ सेना के कुछ मुख्य नायक उसके पीछे प्रेतों के समान आये थे। उन उद्धत लोगों के अश्व मन्दिर के भीतर गर्भगृह के सम्मुख तक आये। किन्तु जैसे ही अश्व पर से वह कूदा, वृद्ध पुरोहित द्वार पर सम्मुख दीखे।

'कापुरुष ! काला पहाड़ कापुरुष है ? मूर्ख ब्राह्मण ! क्या कहता है तू?' चीखा वह कजल-कृष्ण-वर्ण, अत्यन्त दीर्घ एवं प्रचण्डकाय दैत्य !

'इन असहायों की हत्या से अपवित्र शस्त्र और इस स्वर्ण-लोभी, प्राणिपीड़न प्रिय प्रेतों को लेकर तू अपने को शूर समझता है? कायर कहीं का!' वृद्ध ब्राह्मण की वाणी में केवल शब्दोंकी ही तीक्ष्णता नहीं थी, उसमें वह उपेक्षा तथा तिरस्कार था जो कुत्ते को भी कोई नहीं देता। 'शूर था वह जो तुझ नारकीय का प्रतिरोध करने में प्राण देकर सुरपूजित हो गया। तू अभिमान-उद्धत भीरु !'

'ले!' हाथ का शस्त्र काला पहाड़ ने पूरी शक्ति से एक ओर फेंक दिया। झनझनाकर टूट गयी वह भारी तलवार। पीछे घूमकर उसने अपने अनुचरों को आदेश दिया- 'दूसरे सब बाहर चले जायँ।'

'नपुंसक ! मैं नहीं जानता था कि तू मूर्ख भी है।' ब्राह्मण ने झिड़क दिया। 'अब तू वृद्ध ब्राह्मण से बाहुयुद्ध करने को उद्यत है। तू समझता है कि शौर्य सैनिकों में और शस्त्र में नहीं है तो तेरे इस प्रतिहिंसापरायण पापी शरीर में है। हड्डी, मांस और विष्ठा में शौर्य है- यह तुझ-जैसा नारकीय ही समझ सकता है।'

'ओह !' काला पहाड़ ने अपने अधर दाँत से इतने जोर से दबाये कि उनसे रक्त टपकने लगा। क्रोध के अधिकतम आवेश से नेत्रों से टपटप आँसू टपकने लगे, स्वेद-स्नात शरीर थरथर काँपा कुछ क्षण और स्तम्भित-जड़ हो गया। वह पलक तक गिरा नहीं पाता। मूर्ति के समान स्थिर खड़ा है वह। उसके नेत्र अंगार के समान जल रहे हैं। सर्प के समान फूत्कार युक्त श्वास छोड़ रहा है वह।

'शौर्य चित्त का गुण है, चित्त की स्वाभाविक विक्रिया को जीतकर वह प्राप्त होता है। स्वभाव-मन के विषयाभिमुख दौड़ने को, क्रोध-रोष को राग-द्वेष को जीत लेने का नाम है शौर्य। तुझ में साहस है शौर्य की प्राप्ति का?' बड़ी बेधड़क दृष्टि से देखते हुए दक्षिण हस्त पूरा फैलाकर उन्होंने द्वार की ओर निर्देश किया- 'जा !' विश्वनाथ का यह द्वार तुझ-जैसे कापुरुषों के लिए नहीं है। निकल जा।'

पता नहीं क्या हुआ, काला पहाड़ घूमा और सचमुच निकल गया। वह अपने क्रोध से ही उन्मत्त हो गया था। उसके पश्चात् रोगशय्या से वह उठ ही नहीं सका।

❑❑

सत्य समदर्शन

'मैं सत्य का पुजारी हूँ।' - महात्मा गांधी।

'बापू ने सत्य को परमात्मा माना है और अहिंसा को उसका साधन!' एक खद्दरधारी सज्जन अपने समीप के दूसरे व्यक्ति से कह रहे थे।

सबमें - प्रायः सभी मनुष्यों में कुछ-न-कुछ दुर्बलता होती है। मेरी अनेक दुर्बलताओं में यह एक है कि यदि थोड़ी भी आर्थिक सुविधा हो तो गर्मियों में पहाड़ की ओर भाग खड़ा होऊँगा और अपनी छोटी-सी जेब खाली होने तक वहीं डटा रहूँगा। इस बार कसौली रहने की ठानी थी; क्योंकि प्रसिद्ध पर्वतीय यात्रा-स्थानों में भीड़-भाड़ अधिक होती है।

कालका से ही मोटर बस पकड़ी हमने। दोनों ओर हरे-भरे पर्वत और वन-मार्ग बड़ा सुन्दर और उसमें भी वे खद्दरधारी महोदय एक गम्भीर चर्चा उठा चुके थे। उनकी बात सुनने और मार्ग के दृश्य देखते चलने में कोई बाधा नहीं थी; क्योंकि मैं चर्चा का तटस्थ श्रोता था।

'बापू ने सत्य किसे समझा, वे ही जानें।' दूसरे सज्जन खीझे लगते थे- 'किंतु उनके अनुयायियोंने आज जो कुछ कर रक्खा है......।' जाने दीजिये, दोषों की चर्चा से कोई लाभ नहीं है। किसी की निन्दा- किसी की दुर्बलता-का वर्णन करने तथा सुनने में हम जिस उल्लास -उत्साह का अनुभव करते हैं, वह स्वयं भारी दुर्बलता है। उस समय हम भूल ही जाते हैं कि हम जिन दुर्गुणों की चर्चा करते हैं, उनके बीज हममें भी हैं और वैसा ही अवसर आने पर वे ही सुविधाएँ प्राप्त होने पर हम उस व्यक्ति से जिसकी अभी निन्दा कर रहे हैं, अच्छे सिद्ध होंगे- यह साहस के साथ नहीं कह सकते।' सत्य क्या है? किसी भाई ने पूछा-

'तुसी जानदा नहीं?' एक हट्टे-कट्टे पंजाबी भाई ने कमीज की बाहें समेटी और घूसा बाँधकर दिखाया- 'सच यह है। बाजू की ताकत सच है।'

सहसा सब यात्रियों को एक बड़ा झटका लगा। मार्ग एक मोड़पर था। सामने से पूरी गति में एक ट्रक आ गया। बस का ड्राइवर भी सम्भवतः दो क्षणों को इस चर्चा की ओर आकृष्ट हो गया था। ट्रक ने 'हॉर्न' दिया होगा मोड़ लेते समय; किन्तु इसने सुना नहीं और स्वयं मोड़ पर हार्न देना भूल गया। आधे क्षण और कुछ इंच से दुर्घटना बच गयी। ट्रक और बस लगभग टकराते-टकराते रूके। 'ब्रेक' चीख-से पड़े। एक ओर पर्वत तथा दूसरी ओर गहराई। दोनों ड्राइवरों ने कुद्ध नेत्रों से एक-दूसरे को देखा। ट्रक ड्राइवर ने कुछ कहा पंजाबी में, जो मैं स्पष्ट सुन नहीं पाया; किन्तु दोनों गाड़ियों ने तत्काल एक दूसरे को बचाकर मार्ग पकड़ा। ऐसे अवसरों के अभ्यस्त लगते थे।

'अभी समझ लेने वाले थे तुम कि सत्य क्या है।' एक बाबा जी भी बैठे थे बस में। वे इतनी देर बाद बोले- 'बस खड्ड में जाती तो सत्य का पता लग जाता।'

'मौत सच है, यही कहते हैं न आप? उन खद्दरधारी-ने गम्भीरता से कहा- 'किन्तु मौत से जिंदगी कहीं ज्यादा सच है।'

'बाबा, कम-से-कम तू तो कह कि गुरु सच है और अकाल पुरुष का नाम सच है। एक बूढ़े सफेद दाढ़ी वाले सिख सज्जन ने कहा।

'आप ठीक कहते हो!' साधू बोले- 'परमात्मा सच है। परमात्मा का नाम सच है और गुरु सच है।'

× × ×

'सत्य परमात्मा है और परमात्मा सत्य है!' यह बात भले हो; किन्तु परमात्मा को समझ लें तब सत्य समझ में आये, तब तो समझ में आ चुका वह।

उस दिन 'मंकी पाइंट' पर जा बैठा था। यह एक ऊँचा शिखर है यहाँ का। पता नहीं इसे यह नाम क्यों अंग्रेजों ने दिया था। इसके चारों ओर प्रातः-सायं भ्रमण के लिए मार्ग है और शिखर पर चढ़ने के लिए पगदंडी है। यात्री प्रायः इस पर पहुँचते हैं; क्योंकि यहाँ से नीचे मैदान, नदी, झील ही नहीं, कालका और पंजाब की राजधानी चंडीगढ़ तक दीखते हैं।

सायंकाल - सूर्य के अस्त होने में कठिनाई से आध घंटे की देर होगी। मैं जब इस शिखर पर चढ़ने लगा था, यात्रियों के लौटने का समय हो चुका था। मुझे उतरते हुए लोग मिले थे। शिखर पर मैं पहुँचा तो वहाँ कोई नहीं था। एकान्त -शान्त। मैं इधर-उधर देखकर बैठ गया। ऊपर स्वच्छ आकाश है; किन्तु शिखर से नीचे पश्चिम दिशा में बादल बिछे हुए हैं।

पर्वत पर छा जाने वाले मिल की चिमनी से उठते सफेद धुएँ-जैसे मेघ मैंने बहुत देखे हैं। उनमें मीलों चला हूँ। उनसे घिरकर बैठा हूँ। वर्षा के पश्चात् इन पर्वतोंपर जहाँ-तहाँ छोटे-बड़े उज्ज्वल मेघखण्ड चीड़ की डालों और हरी झाड़ियों में जब रुक जाते हैं, लगता है खेलते-खेलते थककर मेघ शिशु जहाँ-तहाँ विश्राम कर रहे हों। किंतु आज की यह छटा सर्वथा भिन्न, सर्वथा अपूर्व है। मीलों-तक मानो खूब धुनी रूई के कोमल धुए तीस-चालीस फुट ऊँचे बिछा दिये गये हैं। पृथ्वी और गगन का भेद करना कठिन है और उस सम्मुख क्षितिज से ऊपर तो मैं बैठा हूँ इस शिखर पर।

रूई के धुए फैल रहे हैं, बढ़ रहे हैं। दृश्य डूबता जा रहा है उनमें और इनके पीछे अस्ताचलगामी सूर्य की किरणों ने इन पर अब अबीर उँड़ेलना प्रारम्भ कर दिया है। यह कैसा रंग- पूरा-एक भाग अतसीपुष्प-नीलाभ और वह भी सूर्य के पीछे से पड़ने वाले प्रकाश के कारण ज्योतिर्मय, अत्यन्त कोमल! यह रंग, यह सौकुमार्य, यह ज्योति- कई क्षण नेत्र और वृत्ति डूबे रह गये वहीं।

अब उतरना चाहिए। अन्धकार होने से पूर्व शिखर से नीचे पहुँचकर स्वच्छ पथ पकड़ लेना चाहिए। शिथिल पद उतरना पड़ा और पथ पर पहुँचते ही वे उस दिनवाले साधु मिल गये, जो आते समय बस में मिले थे।

'आप घूमकर आ रहे हैं।' उन्होंने पूछा और स्वतः कहने लगे- 'ये मेघ जो उमड़े आ रहे हैं, दृश्यों को एकाकार करते, सत्य का दर्शन करा देते हैं ये।'

'सत्य का दर्शन?' मैं कुछ चौक गया। अपने-आप वह प्रश्न फिर सम्मुख आ गया था, जो उस दिन यात्रा में उठा था और वह सब घटना स्मृति में स्पष्ट हो गयी।

'नाम रूप ने ही तो उस एक चिन्मय परमात्मा में ये भेद बना रक्खे हैं!' वे संत कह रहे थे - 'यह भेद और इस भेद को लेकर चलने वाला सब व्यवहार मिथ्या है। इस भेद को पृथक् कर देने पर जो एक रह जाता है, सत्य तो वही है।'

सत्यं च समदर्शनम्

साधु ने केवल श्रीमद्भागवत का एक वाक्य कह दिया। उन्हें अब दूसरी ओर जाना था। मार्ग की बत्तियाँ जल चुकी थी। मैं उनको अभिवादन करके पृथक् हुआ।

❑❑

अर्थ (धन) का प्रयोजन

'नार्थस्य धर्मैकान्तस्य कामो लाभाय हि स्मृतः'

(भागव १. २. ९)

'मुझे परम धर्मात्मा सुप्रसिद्ध दानवीर सेठ झगडूसाह के दर्शन करने हैं।' गौरवर्ण आतप में तपकर ताम्र बन चुका था और क्षीण काया तथा मलिन वस्त्र बतला रहे थे कि उस पर यदि किसी ने कृपा की है तो वे ज्येष्ठा देवी (दरिद्रता) ही हैं।

'आप दूर से आये जान पड़ते हैं और ब्राह्मण लगते हैं। मैं आपके चरणों में प्रणाम करता हूँ।' हाथ जोड़कर, मस्तक झुकाकर उस काठियावाड़ी पुरुष ने बड़ी श्रद्धा से मस्तक झुकाया। 'झगडूसाह को आपके दर्शन करने चाहिए। वह कब ऐसा धर्मात्मा और दानी हुआ कि उसके दर्शन करने आप-जैसे ब्राह्मण पधारें। आप इस घर-को पवित्र करें। कोई सेवा मैं कर सकूँ तो मेरे अहोभाग्य !'

'उन लोकविख्यात उदारचेता से आपकी ईर्ष्या उचित नहीं है।' आगन्तुक कैसे जानता कि उसके सामने जो घुटनों से ऊपर बाँधे बिना उत्तरीय के किंचित् स्थूलकाय अधेड़ उम्र का बड़ी-बड़ी मूँछो वाला व्यक्ति है, उसी से मिलने वह आया है और यही वह व्यक्ति है, जिसके समुद्री व्यापार की धाक सुदूर पश्चिम के गौराङ्ग देशों तक मानी जाती है। आगन्तुक ने तो उसे सामान्य व्यक्ति ही समझा था। 'मैं सेठ झगडूसाह से मिलकर ही विश्राम करूँगा। आप उनका गृह बतला देने की कृपा करेंगे !'

'आपके इस सेवक का ही नाम झगडूसाह है।' आगन्तुक दूर से आया है, उसके चरणों पर धूलि की परत जम रही है। वह बहुत थका लगता है। उसे अधिक उलझन में डालना अनुचित मानकर प्रार्थना की गयी- आप भीतर पधारने की कृपा करें !'

'आप?' आगन्तुक दो क्षण तो स्तब्ध देखता ही रह गया सामने खड़े व्यक्ति को। उसने झगडूसाह के सम्बन्ध में क्या-क्या सोचा था- कितनी भव्य, कितनी तड़क-भड़क, कितने सेवक-सैनिकों से घिरे व्यक्तित्व की उसने कल्पना की थी और यह उसके सम्मुख खड़ा ग्रामीण-जैसा दीखता व्यक्ति.....।

'श्रीपति तो श्रीनारायण हैं। समस्त सम्पत्ति उन्हीं की है। उनकी कृपा होती है तो वे किसी को अपना मुनीम बना लेते हैं। उन दीनबन्धु के बन्धुओं की जो सेवा कर सके तो वह मुनीम सच्चा।' सेठ ने अपने ढंग से उत्तर दिया। 'मैं वैश्य हूँ, मैंने तो यही समझा है।'

'आप कहते ठीक है।' आगन्तुक ब्राह्मण था और ब्राह्मण उस समय तक शास्त्र से विमुख एवं बहिर्मुख नहीं हुए थे। युवक आसन से उठकर नीचे बैठ गया। 'धन का एकमात्र उपयोग है- यज्ञ और दान। अर्थ की परानिष्ठा धर्म है। धन किसी भी पुण्य से आया हो- पुरस्कार है और प्राप्त पुरस्कार को वितरित कर देने में ही मनुष्यों की उदारता, महानता है। उसका उपभोग करने जो बैठा, वह तो कृपण है। आपने आज एक ब्राह्मण को बचा लिया लोभ के पाश से !'

'देव!' सेठ दो क्षण मौन रहे। 'आपने अपने आगमन से मुझे धन्य किया; किंतु इस जन को सेवा का सौभाग्य अभी प्राप्त नहीं हुआ। परिचय पाना भी चाहता था।'

'तक्षशिला का स्नातक बनकर तीर्थयात्रा को निकल पड़ा था।' युवक ने बिना किसी भूमिका के परिचय दिया। 'पिता-माता बाल्यकाल में परलोकवासी हो गये; किंतु देश में ब्राह्मण-पुत्र के पालन-शिक्षण की व्यवस्था करने वाले उदारचेता कम नहीं हैं। श्रीद्वारकाधीश के दर्शन करने के बहुत पूर्व से- कहना तो यहचाहिए कि तीर्थयात्रा के प्रारम्भ से ही आपकी कीर्ति कर्णकुहरों को पवित्र कर रही थी। इधर आया तो आपके दर्शन की उत्कण्ठा हुई। मेरा अध्ययन आज पूर्ण हुआ, ऐसा अनुभव करता हूँ।

'आप प्रमुख पथ त्यागकर केवल एक व्यापारी से मिलने मात्र के लिए तो यहाँ नहीं आये होंगे।'सेठ ने इस बार आग्रहकिया कि युवक संकोच त्यागकर उद्देश्य सूचित करें।

'आपका अनुमान अयथार्थ नहीं है।' युवक किंचित् हँसकर बोला। 'तीर्थयात्रा पूर्ण करके गृहस्थ जीवन स्वीकार करने की बात मन में थी। यह कल्पना ही नहीं थी कि बिना अर्थ के भी गार्हस्थय चला करता है; किंतु अब आपका गृह देखकर मुझे अपनी अल्पज्ञता पर लज्जा आती है। आप मेरे गुरू इस विषय के।'

'आप मुझे सेवा से वञ्चित करना चाहते हैं !' सेठ ने भी हँसकर कहा।

'आप धर्मात्मा हैं।' युवक गम्भीर बना रहा। 'एक ब्राह्मणकुमार को आप परिग्रह के कुपथ पर जाने की प्रेरणा नहीं देंगे। ब्राह्मण के गार्हस्थ्य में अर्थ की आवश्यकतानहीं है, यह आप अनुभवी होने के कारण मुझसे अधिक जानते हैं।'

'पञ्चाल धन्य है ऐसे विद्वानों से।' सेठ ने सिर झुकाया। 'किंतु आप मुझ - जैसे एक व्यापारी को यह कैसे समझा देना चाहते हैं कि घर आये अतिथि को रिक्तहस्त

प्रायः आभूषण रहित एक सामान्य नारी ने उसके सत्कार में भाग लिया था। झगड़ूसाह उन्हें बार-बार 'सती' न कहते तो वह जान भी नहीं पाता कि वही सेठानी है। कोई सेवक-सेविका नहीं। कोई विलास-सामग्री नहीं। गुजरात-कठियावाड़ में ग्रामीण कृषक के घर में भी इससे अधिक साज-सज्जा एवं सामग्री मिलती है।

'स्वच्छता, सुव्यवस्था, सौम्यता-अतिथि ब्राह्मण है, अतः उसने केवल एक अनुभव किया कि वह किसी गृहस्थ के गृह में न पहुँचकर देवालय में पहुँच गया है। देवालय में वह उपासना कर सकता है, दस-पाँच घंटे ध्यानस्थ रह सकता है; किन्तु उसे आवास बनाकर तो रहने योग्य वह अपने को सचमुच नहीं पाता।

'आप इतने अल्प में कैसे निर्वाह कर लेते हैं?' युवक अतिथि एक शब्द नहीं बोल सका था उस समय, जब वह सेठ के साथ उनके निज-सदन में गया था। उसने रात्रि के प्रथम प्रहर में अतिथिशाला में अपने पदों के पास बैठे सेठ से पूछा था।

'इतना वैभव-इतना विस्तार और यह जीवन!' अतिथि सायं-सन्ध्या से पूर्व सेठ के व्यावसायिक कार्यालय में भी हो आया था। उस गद्दी में उसने पंक्तियाँ देखी थीं बहीखाता सँभालने वाले मुनीमों की और वहाँ देखा था कि एक व्यावसायिक के प्रबन्ध, प्रशासन और नरेश के प्रशासन में क्या अन्तर होता है। सेठ का आत्मीय-जैसा सबके साथ व्यवहार उसने देखा तो यह भी देखा कि उनका कितना सम्मान करते हैं उनके सेवक एवं सहचर। उनके प्रत्येक शब्द एवं संकेतको कितनी गम्भीरता से ग्रहण किया जाता है। वही व्यक्ति यह उसके पैरों के समीप आ बैठा है और उसका निजी जीवन-निजी जीवन की वह सादगी समझने का प्रयत्न कर रहा था वह।

'अल्प-अल्प में कहाँ निर्वाह कर पाता हूँ, प्रभू?'

-सेठ के व्यवहार और वाणी में आडम्बर उसे सर्वथा नहीं दीखा। वे कह रहे थे- 'भगवान् ने एक सेवा दे दी है। उसका पारिश्रमिक जितना लेना चाहिए, उससे यदि अधिक न लेता होऊँ तो उनकी कृपा है। शरीर की सुख-सुविधाओं के लिए कितना अल्प प्राप्त है इस देश के अनेक अभावग्रस्त लोगों को। झोपड़ियों के निवासी क्या इतनी भी सुविधा पाते हैं? झगड़ूसाह तो अपनी देह के लिए बहुत व्यय करने वाला बन गया है।'

'किंतु सेठजी! व्यक्ति को अपने पूर्वकत कर्मों से सम्पत्ति प्राप्त होती है।' अतिथि ने अपनी बात कहीं। 'जिनके भाग्य में धन नहीं है, जिनके पूर्वकृत शुभ कर्म उनका प्रायश्चित; किन्तु जिसे पूर्व पुण्य के फलस्वरुप में अपार सम्पत्ति मिली है, वह उसका उपभोगन करके अभाव की पीड़ा क्यों उठाये?'

'देव! मैंने तो दूसरी ही बात सत्पुरुषों के मुख से सुनी है।' सेठ ने सुनाया।

'श्रीपति तो श्रीनारायण हैं। समस्त सम्पत्ति उन्हीं की है। उनकी कृपा होती है तो वे किसी को अपना मुनीम बना लेते हैं। उन दीनबन्धु के बन्धुओं की जो सेवा कर सके तो वह मुनीम सच्चा।' सेठ ने अपने ढंग से उत्तर दिया। 'मैं वैश्य हूँ, मैंने तो यही समझा है।'

'आप कहते ठीक है।' आगन्तुक ब्राह्मण था और ब्राह्मण उस समय तक शास्त्र से विमुख एवं बहिर्मुख नहीं हुए थे। युवक आसन से उठकर नीचे बैठ गया। 'धन का एकमात्र उपयोग है- यज्ञ और दान। अर्थ की परानिष्ठा धर्म है। धन किसी भी पुण्य से आया हो- पुरस्कार है और प्राप्त पुरस्कार को वितरित कर देने में ही मनुष्यों की उदारता, महानता है। उसका उपभोग करने जो बैठा, वह तो कृपण है। आपने आज एक ब्राह्मण को बचा लिया लोभ के पाश से!'

'देव!' सेठ दो क्षण मौन रहे। 'आपने अपने आगमन से मुझे धन्य किया; किंतु इस जन को सेवा का सौभाग्य अभी प्राप्त नहीं हुआ। परिचय पाना भी चाहता था।'

'तक्षशिला का स्नातक बनकर तीर्थयात्रा को निकल पड़ा था।' युवक ने बिना किसी भूमिका के परिचय दिया। 'पिता-माता बाल्यकाल में परलोकवासी हो गये; किंतु देश में ब्राह्मण-पुत्र के पालन-शिक्षण की व्यवस्था करने वाले उदारचेता कम नहीं हैं। श्रीद्वारकाधीश के दर्शन करने के बहुत पूर्व से- कहना तो यहचाहिए कि तीर्थयात्रा के प्रारम्भ से ही आपकी कीर्ति कर्णकुहरों को पवित्र कर रही थी। इधर आया तो आपके दर्शन की उत्कण्ठा हुई। मेरा अध्ययन आज पूर्ण हुआ, ऐसा अनुभव करता हूँ।

'आप प्रमुख पथ त्यागकर केवल एक व्यापारी से मिलने मात्र के लिए तो यहाँ नहीं आये होंगे।'सेठ ने इस बार आग्रहकिया कि युवक संकोच त्यागकर उद्देश्य सूचित करें।

'आपका अनुमान अयथार्थ नहीं है।' युवक किंचित् हँसकर बोला। 'तीर्थयात्रा पूर्ण करके गृहस्थ जीवन स्वीकार करने की बात मन में थी। यह कल्पना ही नहीं थी कि बिना अर्थ के भी गार्हस्थय चला करता है; किंतु अब आपका गृह देखकर मुझे अपनी अल्पज्ञता पर लज्जा आती है। आप मेरे गुरू इस विषय के।'

'आप मुझे सेवा से वञ्चित करना चाहते हैं!' सेठ ने भी हँसकर कहा।

'आप धर्मात्मा हैं।' युवक गम्भीर बना रहा। 'एक ब्राह्मणकुमार को आप परिग्रह के कुपथ पर जाने की प्रेरणा नहीं देंगे। ब्राह्मण के गार्हस्थ्य में अर्थ की आवश्यकतानहीं है, यह आप अनुभवी होने के कारण मुझसे अधिक जानते हैं।'

'पञ्चाल धन्य है ऐसे विद्वानों से।' सेठ ने सिर झुकाया। 'किंतु आप मुझ - जैसे एक व्यापारी को यह कैसे समझा देना चाहते हैं कि घर आये अतिथि को रिक्तहस्त

प्रायः आभूषण रहित एक सामान्य नारी ने उसके सत्कार में भाग लिया था। झगडूसाह उन्हें बार-बार 'सती' न कहते तो वह जान भी नहीं पाता कि वही सेठानी है। कोई सेवक-सेविका नहीं। कोई विलास-सामग्री नहीं। गुजरात-कठियावाड़ में ग्रामीण कृषक के घर में भी इससे अधिक साज-सज्जा एवं सामग्री मिलती है।

'स्वच्छता, सुव्यवस्था, सौम्यता-अतिथि ब्राह्मण है, अतः उसने केवल एक अनुभव किया कि वह किसी गृहस्थ के गृह में न पहुँचकर देवालय में पहुँच गया है। देवालय में वह उपासना कर सकता है, दस-पाँच घंटे ध्यानस्थ रह सकता है; किन्तु उसे आवास बनाकर तो रहने योग्य वह अपने को सचमुच नहीं पाता।

'आप इतने अल्प में कैसे निर्वाह कर लेते हैं?' युवक अतिथि एक शब्द नहीं बोल सका था उस समय, जब वह सेठ के साथ उनके निज-सदन में गया था। उसने रात्रि के प्रथम प्रहर में अतिथिशाला में अपने पदों के पास बैठे सेठ से पूछा था।

'इतना वैभव-इतना विस्तार और यह जीवन!' अतिथि सायं-सन्ध्या से पूर्व सेठ के व्यावसायिक कार्यालय में भी हो आया था। उस गद्दी में उसने पंक्तियाँ देखी थीं बहीखाता सँभालने वाले मुनीमों की और वहाँ देखा था कि एक व्यावसायिक के प्रबन्ध, प्रशासन और नरेश के प्रशासन में क्या अन्तर होता है। सेठ का आत्मीय-जैसा सबके साथ व्यवहार उसने देखा तो यह भी देखा कि उनका कितना सम्मान करते हैं उनके सेवक एवं सहचर। उनके प्रत्येक शब्द एवं संकेतको कितनी गम्भीरता से ग्रहण किया जाता है। वही व्यक्ति यह उसके पैरों के समीप आ बैठा है अैर उसका निजी जीवन-निजी जीवन की वह सादगी समझने का प्रयत्न कर रहा था वह।

'अल्प-अल्प में कहाँ निर्वाह कर पाता हूँ, प्रभू?'

-सेठ के व्यवहार और वाणी में आडम्बर उसे सर्वथा नहीं दीखा। वे कह रहे थे- 'भगवान् ने एक सेवा दे दी है। उसका पारिश्रमिक जितना लेना चाहिए, उससे यदि अधिक न लेता होऊँ तो उनकी कृपा है। शरीर की सुख-सुविधाओं के लिए कितना अल्प प्राप्त है इस देश के अनेक अभावग्रस्त लोगों को। झोपड़ियों के निवासी क्या इतनी भी सुविधा पाते हैं? झगडूसाह तो अपनी देह के लिए बहुत व्यय करने वाला बन गया है।'

'किंतु सेठजी! व्यक्ति को अपने पूर्वकत कर्मों से सम्पत्ति प्राप्त होती है।' अतिथि ने अपनी बात कहीं। 'जिनके भाग्य में धन नहीं है, जिनके पूर्वकृत शुभ कर्म उनका प्रायश्चित; किन्तु जिसे पूर्व पुण्य के फलस्वरुप में अपार सम्पत्ति मिली है, वह उसका उपभोगन करके अभाव की पीड़ा क्यों उठाये?'

'देव! मैंने तो दूसरी ही बात सत्पुरुषों के मुख से सुनी है।' सेठ ने सुनाया।

का चित्त क्षुब्ध नहीं होगा। प्रार्थना की स्वीकृति की यदि कहीं किञ्चित् सम्भावना है तो इसी प्रकार है। यह सोचकर ही राजकवि को चरणाद्रि-नरेश ने भेजा था। राजकवि ने अपनी प्रार्थना पुनः सुनायी-'यह अयोग्य ब्रह्मबन्धु श्रीचरणों के स्नेह से धृष्ट हो गया है! इसका यह अनुरोध-सुरों की श्रुति-सम्मत सेवा का परम सात्त्विक सम्भार श्रुति के पारद्रष्टा की अध्यक्षता की अपेक्षा करता है!'

'तुम्हारे यजमान का संकल्प क्या है? वे यज्ञ करके किस उद्देश्य की पूर्ति चाहते है?' आचार्य ने सीधे पूछ लिया।

'वे महाप्राण किसी लौकिक लोभ में नहीं है।' राजकवि ने कहा। 'वे धर्म-काम हैं। क्रतु सुरेश की संतुष्टि के संकल्प से ही होगा और वह पारलौकिक अभ्युदय की सिद्धि करेगा।'

'अपाम सोमममृताऽभूम'

आचार्य ने एक श्रुति बोल दी और कहा- 'यह पुष्पिता वाणी जिसे प्रलुब्ध करती है, उस बालोद्योग में मेरे-जैसे वृद्ध की अभिरूचि सम्भव नहीं है।'

'भगवन्।' राजकवि केवल सानुरोध सम्बोधन करके मौन रह गये।

'धर्म कामपूर्ति का साधन नहीं है।' आचार्य ने शान्त स्वर में कहा। 'इस लोक में धर्मानुष्ठान का फल-भोग कदर्य पुरुष चाहते हैं और स्वर्गोपलब्धि चाहते हैं किञ्चित् उदारचेता; किंतु दोनों कामपुरुषार्थी हैं- बालक हैं। धर्म स्थूल या सूक्ष्म देह की तृप्ति-तुष्टि का साधन तो होता है; किंतु यह उनका दुरुपयोग ही और ऐसे किसी दुरुपयोग में सहयोगकी सम्भावना तुम मुझसे नहीं कर सकते।'

'भगवन!' राजकवि कुछ कहते-इसके लिए समय नहीं मिला। सम्पूर्ण शस्त्र, कवच एवं शिरस्त्राण दूर उतारकर कोशल के महासेनाध्यक्ष उसी समय आचार्य के सम्मुख दण्ड की भाँति भूमि पर गिरे-

'शरणागतोऽस्मि'

'वत्स! इस पुरी में प्रत्येक जन श्रीविश्वनाथ की शरण में है। दण्डपाणि कालभैरव यहाँ पुरीपाल हैं। तुम माता अन्नपूर्णा के आश्रय में अभय हो।' आचार्य ने स्वयं उठकर महासेनाध्यक्ष को उठाया।

'आप यहाँ और इस प्रकार एकाकी?' राजकवि ने आगत सेनापति की ओर देखा।

'नहीं वत्स!' आचार्य ने रोक दिया। 'विश्वनाथ के शरणागत के सम्बन्ध में कुछ पूछने का स्वत्व किसी को नहीं है। उस निखिल ब्रह्माण्डनायक के सम्मुख कभी कोई अपराधी नहीं होता। जगज्जननी अन्नपूर्णा केवल ममतामयी, वात्सल्यमयी हैं।'

'प्रभु!' महासेनाध्यक्ष ने स्वयं कुछ कहना चाहा।

'नहीं- कोई आवश्यकता नहीं कुछ कहने की! तुम गङ्गास्नान करो और

धर्म का प्रयोजन

'धर्मस्य ह्यापवर्ग्यस्य नार्थोऽर्थायोपकल्पते'

(श्रीमद्भ० १. २. ९)

'भगवन्! चरणाद्रि-चञ्चरीक यह जन अपने दिगन्तयशोधवल परम भट्टारक की ओर से श्रीचरणों में प्रणत है! राजकवि ने साष्टाङ्ग प्राणिपात करके घुटनोंके बल बैठकर बद्धाञ्जलि प्रार्थना की। 'साकार शास्त्राधिदेव द्वितीय द्वैपायन प्रभुपाद अमित पराक्रम चरणाद्रि-नाथ के पुनीत संकल्प का सक्रिय अनुमोदन करने की अनुकम्पा करें। आपका आशीर्वाद भी पर्याप्त होगा। उनके यज्ञ की सम्पूर्णता के लिए; किंतु हमारे महाराज अपने यज्ञीय-आचार्यपीठ पर इन चरणों की अर्चा करने को अत्यन्त उत्कण्ठित हैं।'

वाराणसी भगवान् विश्वनाथ की प्रिय पुरी तो है ही, वाग्देवी के वरदपुत्रों की सनातन क्रीड़ाभूमि भी है और विद्या तो वीतराग की विभूति है। अब भी देववाणी के इस नगर के विद्वान विद्या को विक्रय की कम और वितरणकी वस्तु अधिक मानते हैं। अब भी किसी विद्याभिलाषी विद्यार्थी को निराश करना विद्वान् की गरिमा के विपरीत माना जाता है। और यह जबकी बात कही जा रही है, उस समय को व्यतीत हुए तो अनेक शताब्दियाँ हो चुकीं। काशी विद्या का केन्द्र - विद्याकामी पूरे भारत के जनों का परम तीर्थ और वहाँ भी जो सम्पूर्ण वेद-वेदाङ्ग-निष्णात सर्वविद्वद्वृन्द्वन्दित आचार्य चन्द्रमौलि-देश के सभी शासक उनके चरणों में मस्तक झुकाकर अपने को कृतार्थ ही मानते हैं।

चरणाद्रि वाराणसी का पार्श्ववर्ती राज्य है। उसके नरेश प्राय: भगवान् विश्वनाथ की वन्दना करने पधारते हैं। आचार्य के श्रीचरणों में प्राणिपात किये बिना अपनी यात्रा तो कभी उन्होंने पूर्ण मानी नहीं; किन्तु यज्ञीय आमन्त्रण देने के लिए स्वयं आने का साहस उन्हें नहीं हुआ। वीतराग, तपोधन आचार्य का क्या भरोसा-वे यदि अप्रसन्न हो जायँ, उने असंतोष का प्रतिकार करने की बात तो दूर-उसे सहन कर लेने की शक्ति भी कदाचित् ही सुरपति में हो।

राजकवि ब्राह्मण हैं और आचार्य के स्नेह-भाजन हैं। उन्हें सम्मुख पाकर आचार्य

का चित्त क्षुब्ध नहीं होगा। प्रार्थना की स्वीकृति की यदि कहीं किञ्चित् सम्भावना है तो इसी प्रकार है। यह सोचकर ही राजकवि को चरणाद्रि-नरेश ने भेजा था। राजकवि ने अपनी प्रार्थना पुनः सुनायी-'यह अयोग्य ब्रह्मबन्धु श्रीचरणों के स्नेह से धृष्ट हो गया है ! इसका यह अनुरोध-सुरों की श्रुति-सम्मत सेवा का परम सात्त्विक सम्भार श्रुति के पारद्रष्टा की अध्यक्षता की अपेक्षा करता है !'

'तुम्हारे यजमान का संकल्प क्या है? वे यज्ञ करके किस उद्देश्य की पूर्ति चाहते है?' आचार्य ने सीधे पूछ लिया।

'वे महाप्राण किसी लौकिक लोभ में नहीं है।' राजकवि ने कहा। 'वे धर्म-काम हैं। क्रतु सुरेश की संतुष्टि के संकल्प से ही होगा और वह पारलौकिक अभ्युदय की सिद्धि करेगा।'

'अपाम सोमममृताऽभूम'

आचार्य ने एक श्रुति बोल दी और कहा- 'यह पुष्पिता वाणी जिसे प्रलुब्ध करती है, उस बालोद्योग में मेरे-जैसे वृद्ध की अभिरूचि सम्भव नहीं है।'

'भगवन्।' राजकवि केवल सानुरोध सम्बोधन करके मौन रह गये।

'धर्म कामपूर्ति का साधन नहीं है।' आचार्य ने शान्त स्वर में कहा। 'इस लोक में धर्मानुष्ठान का फल-भोग कदर्य पुरुष चाहते हैं और स्वर्गोपलब्धि चाहते हैं किञ्चित् उदारचेता; किंतु दोनों कामपुरुषार्थी हैं- बालक हैं। धर्म स्थूल या सूक्ष्म देह की तृप्ति-तुष्टि का साधन तो होता है; किंतु यह उनका दुरुपयोग ही और ऐसे किसी दुरुपयोग में सहयोगकी सम्भावना तुम मुझसे नहीं कर सकते।'

'भगवन !' राजकवि कुछ कहते-इसके लिए समय नहीं मिला। सम्पूर्ण शस्त्र, कवच एवं शिरस्त्राण दूर उतारकर कोशल के महासेनाध्यक्ष उसी समय आचार्य के सम्मुख दण्ड की भाँति भूमि पर गिरे-

'शरणागतोऽस्मि'

'वत्स! इस पुरी में प्रत्येक जन श्रीविश्वनाथ की शरण में है। दण्डपाणि कालभैरव यहाँ पुरीपाल हैं। तुम माता अन्नपूर्णा के आश्रय में अभय हो।' आचार्य ने स्वयं उठकर महासेनाध्यक्ष को उठाया।

'आप यहाँ और इस प्रकार एकाकी?' राजकवि ने आगत सेनापति की ओर देखा।

'नहीं वत्स !' आचार्य ने रोक दिया। 'विश्वनाथ के शरणागत के सम्बन्ध में कुछ पूछने का स्वत्व किसी को नहीं है। उस निखिल ब्रह्माण्डनायक के सम्मुख कभी कोई अपराधी नहीं होता। जगज्जननी अन्नपूर्णा केवल ममतामयी, वात्सल्यमयी हैं।'

'प्रभु !' महासेनाध्यक्ष ने स्वयं कुछ कहना चाहा।

'नहीं- कोई आवश्यकता नहीं कुछ कहने की! तुम गङ्गास्नान करो और

धर्म का प्रयोजन

'धर्मस्य ह्यापवर्ग्यस्य नार्थोऽर्थायोपकल्पते'

(श्रीमद्भ० १. २. ९)

'भगवन्! चरणाद्रि-चञ्चरीक यह जन अपने दिगन्तयशोधवल परम भट्टारक की ओर से श्रीचरणों में प्रणत है! राजकवि ने साष्टाङ्ग प्राणिपात करके घुटनोंके बल बैठकर बद्धाञ्जलि प्रार्थना की। 'साकार शास्त्राधिदेव द्वितीय द्वैपायन प्रभुपाद अमित पराक्रम चरणाद्रि-नाथ के पुनीत संकल्प का सक्रिय अनुमोदन करने की अनुकम्पा करें। आपका आशीर्वाद भी पर्याप्त होगा। उनके यज्ञ की सम्पूर्णता के लिए; किंतु हमारे महाराज अपने यज्ञीय-आचार्यपीठ पर इन चरणों की अर्चा करने को अत्यन्त उत्कण्ठित हैं।'

वाराणसी भगवान् विश्वनाथ की प्रिय पुरी तो है ही, वाग्देवी के वरदपुत्रों की सनातन क्रीड़ाभूमि भी है और विद्या तो वीतराग की विभूति है। अब भी देववाणी के इस नगर के विद्वान विद्या को विक्रय की कम और वितरणकी वस्तु अधिक मानते हैं। अब भी किसी विद्याभिलाषी विद्यार्थी को निराश करना विद्वान् की गरिमा के विपरीत माना जाता है। और यह जबकी बात कही जा रही है, उस समय को व्यतीत हुए तो अनेक शताब्दियाँ हो चुकीं। काशी विद्या का केन्द्र - विद्याकामी पूरे भारत के जनों का परम तीर्थ और वहाँ भी जो सम्पूर्ण वेद-वेदाङ्ग-निष्णात सर्वविद्वद्वृन्दवन्दित आचार्य चन्द्रमौलि-देश के सभी शासक उनके चरणों में मस्तक झुकाकर अपने को कृतार्थ ही मानते हैं।

चरणाद्रि वाराणसी का पार्श्ववर्ती राज्य है। उसके नरेश प्रायः भगवान् विश्वनाथ की वन्दना करने पधारते हैं। आचार्य के श्रीचरणों में प्राणिपात किये बिना अपनी यात्रा तो कभी उन्होंने पूर्ण मानी नहीं; किन्तु यज्ञीय आमन्त्रण देने के लिए स्वयं आने का साहस उन्हें नहीं हुआ। वीतराग, तपोधन आचार्य का क्या भरोसा-वे यदि अप्रसन्न हो जायँ, उने असंतोष का प्रतिकार करने की बात तो दूर-उसे सहन कर लेने की शक्ति भी कदाचित् ही सुरपति में हो।

राजकवि ब्राह्मण हैं और आचार्य के स्नेह-भाजन हैं। उन्हें सम्मुख पाकर आचार्य

'तब? मेरा यह उपवासरूप धर्म क्या मुझे श्रेष्ठ सम्पत्ति नहीं दे सकता?' सेनाध्यक्ष ने कहा। 'न दे! उपवास करके प्राणत्याग तो मैं कर ही सकता हूँ।'

'तुम्हारा कुछ छीना नहीं गया है।' कोशल नरेश ने कहा। 'तुम्हे अयोध्या रहने से भी वञ्चित नहीं किया गया है। केवल तुम्हें राजसेवा से मुक्त किया गया है।'

'मेरा कुछ छीना नहीं गया?' वह चौंका। उसका आवेश शिथिल होने लगा। दु:ख- सर्वस्व चले जाने का दु:ख गया तो उसके आवेश का वेग भी चला गया।

'तुम यहाँ यथेच्छ दान-पुण्य कर सकते हो। तुम्हारी सम्पत्ति अब भी तुम्हारी ही है।' नरेश ने आश्वासन दिया।

'तब मैं उससे धर्म करूँगा।' सेनाध्यक्ष शान्त हुआ। उसने आचार्य के चरण पकड़ लिये- 'भगवन्! आप........'

'तुम किसलिए धर्म करोगे?' आचार्य ने पूछा। 'तुम देखते ही हो कि धर्म के संकल्पमात्र ने तुम्हें तुम्हारी समस्त सम्पत्ति दिला दी है; किंतु दान, व्रत, यज्ञादि समस्त धर्म-कार्य संकल्पपूर्वक ही होते हैं।'

'अक्षय सम्पत्ति की प्राप्ति के लिए मैं धर्म करूँगा।' सेनाध्यक्ष का निश्चय दो क्षण में स्थिर हो गया।

'समस्त पृथ्वी का स्वर्ण और रत्नराशि तुम्हें मिल जाय- कोई उपयोग है उसका तुम्हारे लिए?' आचार्य के नेत्र उसके मुख पर स्थिर हो गये।

'नहीं है!' सेनाध्यक्ष को निर्णय करने में कुछ क्षण लगे। 'किंतु तब धर्म का प्रयोजन क्या है?'

'धर्म का प्रयोजन है मोक्ष! मोक्ष ही प्राणी का परम पुरुषार्थ है।' आचार्य स्वर निर्णायक एवं स्थिर था।

'धर्म से मोक्ष?' बेताल भट्ट चौके।

'धर्म का परम प्रयोजन है अन्त:करण की शुद्धि। आचार्य ने उनकी ओर देखा। 'अन्त:करण शुद्ध होने पर ही ज्ञान अथवा भगवत्प्रेम का उदय होता है।'

राजकवि ने अपने कोमल मधुर स्वर में श्रीमद्भागवत का एक श्लोक उच्चारित किया-

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेनकथासु यः।
नोत्पादयेद्यदि रतिं श्रम एवं हि केवलम्।।

(१.२.८)

'धर्म से जो सुयश मिलता है?' कोशल-नरेश ने पूछ लिया।

'अज्ञजन सत्कार्य के परम प्रेरक को न देखकर देह की प्रशंसा करते हैं और उस प्रशंसा पर लुब्ध भी अज्ञ ही होते हैं।' सम्राट् ने नरेश की ओर सस्नेह देखकर कहा।'

'भगवन्' लगता था कि आज कुछ ऐसा मुहूर्त ही आ गया था कि किसी की चर्चा पूर्ण होने का अवकाश नहीं मिलता था। यह चर्चा चल ही रही थी कि चरणाद्रि के राजकवि ने कुछ आतुरतापूर्वक प्रवेश किया। लेकिन वे सम्बोधन के साथ ही ठिठक गये। उन्हें इसकी कोई सम्भावना नहीं थी कि आचार्य के समीप स्वयं सम्राट् विक्रमादित्य उपस्थित होंगे और वह भी अपने मन्त्री बेताल भट्ट के साथ। केवल कोशल नरेश के आने का समाचार उन्हें मार्ग में मिला था।

'वत्स! इतनी व्याकुलता किसलिए?' आचार्य ने पूछा।

'श्रीचरणों ने हमें एक के आतिथ्य का सौभाग्य दिया था।' दो क्षण में राजकवि स्वस्थ हो गये और उपालम्भ के स्वर में बोले। 'अब उन्होंने हमें इस सौभाग्य से वञ्चित कर दिया है। वे न तो निवास स्वीकार करने को प्रस्तुत हैं और न आहार ही। हमारी कोई सेवा लेना उन्होंने स्वीकार नहीं किया। वे तो उपोषित रहना चाहते हैं वाराणसी में भी अनिश्चित काल तक।'

'इसका अर्थ है कि वह अब माता अन्नपूर्णा को व्यथित करेगा।' आचार्य के स्वर में खेद आया। 'माता-के अङ्क में कहीं शिशु उपोषित रहा है? अन्नपूर्णा काशी में किसी को क्षुधातुर देख सकती हैं?'

'कौन हैं वे महाभाग?' शकारि ने सहज जिज्ञासा की।

'कोशल का सेनाध्यक्ष था वह।' आचार्य ने बतलाया। 'अब तो विश्वनाथ का आश्रित है। हम उसे देखेंगे।'

आचार्य के साथ सभी उठ खड़े हुए।

× × ×

'मैं क्षत्रिय हूँ। दान स्वीकार करना मेरा धर्म नहीं है। तीर्थ में मैं किसी का कोई दान-कोई सेवा ग्रहण करूँ, यह आज्ञा आप मुझे नहीं देंगे।' सेनाध्यक्ष ने आचार्य के साथ सम्राट् को, राजकवि को, बेताल भट्ट को प्रणाम किया; किन्तु कोशल नरेश की ऐसी उपेक्षा कर दी, जैसे वहाँ हों ही नहीं। उसका आग्रह अनुचित भी कौन कहता? वह कह रहा था- 'मेरे अपराध से ही मेरा सर्वस्व छीना गया। आज मैं कंगाल हूँ और अब किसी की सेवा नहीं करना चाहता। जो औढरदानी है- उसी से मुझे अर्थ लेना है।'

'उससे तुम्हें अर्थ लेना है?' आचार्य ने रोका। 'इतने अज्ञ हो तुम कि उस मोक्षदाता से मिट्टी के डले लेने को मचल रहे हो?'

'तब? मेरा यह उपवासरूप धर्म क्या मुझे श्रेष्ठ सम्पत्ति नहीं दे सकता?' सेनाध्यक्ष ने कहा। 'न दे ! उपवास करके प्राणत्याग तो मैं कर ही सकता हूँ।'

'तुम्हारा कुछ छीना नहीं गया है।' कोशल नरेश ने कहा। 'तुम्हे अयोध्या रहने से भी वञ्चित नहीं किया गया है। केवल तुम्हें राजसेवा से मुक्त किया गया है।'

'मेरा कुछ छीना नहीं गया?' वह चौंका। उसका आवेश शिथिल होने लगा। दु:ख- सर्वस्व चले जाने का दु:ख गया तो उसके आवेश का वेग भी चला गया।

'तुम यहाँ यथेच्छ दान-पुण्य कर सकते हो। तुम्हारी सम्पत्ति अब भी तुम्हारी ही है।' नरेश ने आश्वासन दिया।

'तब मैं उससे धर्म करूँगा।' सेनाध्यक्ष शान्त हुआ। उसने आचार्य के चरण पकड़ लिये- 'भगवन् ! आप.........'

'तुम किसलिए धर्म करोगे?' आचार्य ने पूछा। 'तुम देखते ही हो कि धर्म के संकल्पमात्र ने तुम्हें तुम्हारी समस्त सम्पत्ति दिला दी है; किंतु दान, व्रत, यज्ञादि समस्त धर्म-कार्य संकल्पपूर्वक ही होते हैं।'

'अक्षय सम्पत्ति की प्राप्ति के लिए मैं धर्म करूँगा।' सेनाध्यक्ष का निश्चय दो क्षण में स्थिर हो गया।

'समस्त पृथ्वी का स्वर्ण और रत्नराशि तुम्हें मिल जाय- कोई उपयोग है उसका तुम्हारे लिए?' आचार्य के नेत्र उसके मुख पर स्थिर हो गये।

'नहीं है !' सेनाध्यक्ष को निर्णय करने में कुछ क्षण लगे। 'किंतु तब धर्म का प्रयोजन क्या है?'

'धर्म का प्रयोजन है मोक्ष ! मोक्ष ही प्राणी का परम पुरुषार्थ है।' आचार्य स्वर निर्णायक एवं स्थिर था।

'धर्म से मोक्ष?' बेताल भट्ट चौके।

'धर्म का परम प्रयोजन है अन्त:करण की शुद्धि। आचार्य ने उनकी ओर देखा। 'अन्त:करण शुद्ध होने पर ही ज्ञान अथवा भगवत्प्रेम का उदय होता है।'

राजकवि ने अपने कोमल मधुर स्वर में श्रीमद्भागवत का एक श्लोक उच्चारित किया-

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेनकथासु यः।
नोत्पादयेद्यदि रतिं श्रम एवं हि केवलम्।।

(१.२.८)

'धर्म से जो सुयश मिलता है?' कोशल-नरेश ने पूछ लिया।

'अज्ञजन सत्कार्य के परम प्रेरक को न देखकर देह की प्रशंसा करते हैं और उस प्रशंसा पर लुब्ध भी अज्ञ ही होते हैं।' सम्राट् ने नरेश की ओर सस्नेह देखकर कहा।'

'भगवन्' लगता था कि आज कुछ ऐसा मुहूर्त ही आ गया था कि किसी की चर्चा पूर्ण होने का अवकाश नहीं मिलता था। यह चर्चा चल ही रही थी कि चरणाद्रि के राजकवि ने कुछ आतुरतापूर्वक प्रवेश किया। लेकिन वे सम्बोधन के साथ ही ठिठक गये। उन्हें इसकी कोई सम्भावना नहीं थी कि आचार्य के समीप स्वयं सम्राट् विक्रमादित्य उपस्थित होंगे और वह भी अपने मन्त्री बेताल भट्ट के साथ। केवल कोशल नरेश के आने का समाचार उन्हें मार्ग में मिला था।

'वत्स ! इतनी व्याकुलता किसलिए?' आचार्य ने पूछा।

'श्रीचरणों ने हमें एक के आतिथ्य का सौभाग्य दिया था।' दो क्षण में राजकवि स्वस्थ हो गये और उपालम्भ के स्वर में बोले। 'अब उन्होंने हमें इस सौभाग्य से वञ्चित कर दिया है। वे न तो निवास स्वीकार करने को प्रस्तुत हैं और न आहार ही। हमारी कोई सेवा लेना उन्होंने स्वीकार नहीं किया। वे तो उपोषित रहना चाहते हैं वाराणसी में भी अनिश्चित काल तक।'

'इसका अर्थ है कि वह अब माता अन्नपूर्णा को व्यथित करेगा।' आचार्य के स्वर में खेद आया। 'माता-के अङ्क में कहीं शिशु उपोषित रहा है? अन्नपूर्णा काशी में किसी को क्षुधातुर देख सकती हैं?'

'कौन हैं वे महाभाग?' शकारि ने सहज जिज्ञासा की।

'कोशल का सेनाध्यक्ष था वह।' आचार्य ने बतलाया। 'अब तो विश्वनाथ का आश्रित है। हम उसे देखेंगे।'

आचार्य के साथ सभी उठ खड़े हुए।

× × ×

'मैं क्षत्रिय हूँ। दान स्वीकार करना मेरा धर्म नहीं है। तीर्थ में मैं किसी का कोई दान-कोई सेवा ग्रहण करूँ, यह आज्ञा आप मुझे नहीं देंगे।' सेनाध्यक्ष ने आचार्य के साथ सम्राट् को, राजकवि को, बेताल भट्ट को प्रणाम किया; किन्तु कोशल नरेश की ऐसी उपेक्षा कर दी, जैसे वहाँ हों ही नहीं। उसका आग्रह अनुचित भी कौन कहता? वह कह रहा था- 'मेरे अपराध से ही मेरा सर्वस्व छीना गया। आज मैं कंगाल हूँ और अब किसी की सेवा नहीं करना चाहता। जो औढरदानी है- उसी से मुझे अर्थ लेना है।'

'उससे तुम्हें अर्थ लेना है?' आचार्य ने रोका। 'इतने अज्ञ हो तुम कि उस मोक्षदाता से मिट्टी के डले लेने को मचल रहे हो?'

काम (एन्द्रिय भोगों) का प्रयोजन

कामस्य नेन्द्रियप्रीतिर्लाभो जीवेत यावता।

श्रीमद्भा०१.२.१०

'वरं ब्रूहि !' उस दिन उस नीरव रात्रि में पता नहीं क्यों उसकी निद्रा टूट गयी। वैसे वह इतनी गाढ़ निद्रा सोता है कि सिर पर ढोल बजे तो कदाचित् नींद टूटे। पूरा कक्ष प्रकाशित था और एक देवता उसके समीप खड़े थे। देवता इसलिए कि प्रकाश उनके शरीर से ही निकल रहा था- जैसे किसी धुएँ के समान प्रकाशित पदार्थ के द्वारा उनकी देह का निर्माण हो। साथ ही वे उसे वरदान माँगने को कह रहे थे- वरदान माँगने को या तो कोई देवता कहेगा या ऋषि। वे ऋषि नहीं हो सकते, क्योंकि ऋषियों के जटा-जूट होते होंगे और वे इतने रत्नभरण धारण क्यों करने लगे।

'धन्यवाद !' वह भी अद्भुत अक्खड़ है- ऐसा कि आपको ऐसे अक्खड़ जीवन में कम मिले होंगे। शय्या पर उठकर बैठ गया था वह; किंतु उसने उठकर खड़े होने, देवता की वन्दना-अभ्यर्थना करने का कोई उपक्रम नहीं किया। भय भला क्या लगना था- जो वरदान माँगने को कह रहा था, उससे भय की तो कोई बात भी नहीं। वैसे भी उसे भय लगता होता तो सर्वथा एकाकी पर्वत पर अन्य गृहों से दूर वह आवास स्वीकार नही करता।

'मैंने तो आपको बुलाया नहीं था। आपसे कभी कोई प्रार्थना मैंने भूल से भी नहीं की होंगी।' देवता खड़े थे और अपने शयन के आसन पर बैठे-बैठे ही वह उनसे कहे जा रहा था। साथ ही ऊपर नीचे और नीचे से ऊपर तक देवता को देख रहा था बार-बार; उसने जो पढ़ा-सुना है, उसमें से कोई लक्षण मिल जाये तो देवता को वह पहचान ले। देवता के चरण भूमि का स्पर्श नहीं कर रहे थे- इसके अतिरिक्त और कोई लक्षण उसे ऐसा नहीं मिला, जिससे वह उनका नाम जान सकता। अतः बोला- 'आपको स्वीकार हो तो आसन ग्रहण कर लें और मैं जल पिला दे सकता हूँ।

काम (एन्द्रिय भोगों) का प्रयोजन

कामस्य नेन्द्रियप्रीतिर्लाभो जीवेत यावता।

श्रीमद्भा०१.२.१०

'वरं ब्रूहि !' उस दिन उस नीरव रात्रि में पता नहीं क्यों उसकी निद्रा टूट गयी। वैसे वह इतनी गाढ़ निद्रा सोता है कि सिर पर ढोल बजे तो कदाचित् नींद टूटे। पूरा कक्ष प्रकाशित था और एक देवता उसके समीप खड़े थे। देवता इसलिए कि प्रकाश उनके शरीर से ही निकल रहा था- जैसे किसी धुएँ के समान प्रकाशित पदार्थ के द्वारा उनकी देह का निर्माण हो। साथ ही वे उसे वरदान माँगने को कह रहे थे- वरदान माँगने को या तो कोई देवता कहेगा या ऋषि। वे ऋषि नहीं हो सकते, क्योंकि ऋषियों के जटा-जूट होते होंगे और वे इतने रत्नभरण धारण क्यों करने लगे।

'धन्यवाद !' वह भी अद्भुत अक्खड़ है- ऐसा कि आपको ऐसे अक्खड़ जीवन में कम मिले होंगे। शय्या पर उठकर बैठ गया था वह; किंतु उसने उठकर खड़े होने, देवता की वन्दना-अभ्यर्थना करने का कोई उपक्रम नहीं किया। भय भला क्या लगना था- जो वरदान माँगने को कह रहा था, उससे भय की तो कोई बात भी नहीं। वैसे भी उसे भय लगता होता तो सर्वथा एकाकी पर्वत पर अन्य गृहों से दूर वह आवास स्वीकार नही करता।

'मैंने तो आपको बुलाया नहीं था। आपसे कभी कोई प्रार्थना मैंने भूल से भी नहीं की होंगी।' देवता खड़े थे और अपने शयन के आसन पर बैठे-बैठे ही वह उनसे कहे जा रहा था। साथ ही ऊपर नीचे और नीचे से ऊपर तक देवता को देख रहा था बार-बार; उसने जो पढ़ा-सुना है, उसमें से कोई लक्षण मिल जाये तो देवता को वह पहचान ले। देवता के चरण भूमि का स्पर्श नहीं कर रहे थे- इसके अतिरिक्त और कोई लक्षण उसे ऐसा नहीं मिला, जिससे वह उनका नाम जान सकता। अतः बोला- 'आपको स्वीकार हो तो आसन ग्रहण कर लें और मैं जल पिला दे सकता हूँ।

देवता कोई पार्थिव वस्तु ग्रहण नहीं कर सकता- उसे सूँघ नहीं सकता। उसने देवता को जल पिलाने की बात कही थी। देवता प्यासा होता तो उसके लोटे में भरे जल को बिना स्पर्श किये घ्राण-ग्राह्य बना ले सकता था।

'वरं ब्रूहि !' देवता को पता नहीं क्यों वरदान देने की धुन चढ़ी थी और वह चाहता था कि वरदान देकर झटपट चला जाय; किंतु जिसे वरदान लेना था, उसे कोई शीघ्रता या तत्परता उसमें नहीं जान पड़ती थी।

× × ×

'वह कौन है?' आप अवश्य जानना चाहते होंगे; किंतु नाम-धाम-काम कोई पूछे तो उसे झल्लाहट होती है। कहता है-'व्यक्ति का क्या परिचय? कल उत्पन्न हुआ, परसो मर जायगा। मिट्टी के डले को एक आकार मिल गया-इस खिलौने का भी कोई परिचय हुआ करता है?'

'तुमने साधुवेष क्यों ग्रहण नहीं किया?' एक महात्मा ने उससे एक बार पूछा थ। पूछना उचित था; क्योंकि जिसके कुल-परिवार में कोई नहीं, जिसकी कहीं कोई झोपड़ी तक नहीं, वह क्यों अपने को गृहस्थ कहता है?' वह धोती, कमीज में क्यों रहता है? समाज की वर्तमान परिपाटी को देखते उसे ऐसे ढ़ंग से क्यों रहना चाहिए?

'मैं क्यों साधुवेष ग्रहण करता? क्या प्रयोजन था इसका?' उसने प्रश्न के उत्तर में प्रश्न कर लिया था। कहा न कि वह अद्‌भुत अक्खड़ है। कहने लगा- 'सहज प्राप्त क्यों है?' यह प्रश्न अनुचित है। 'उसमें परिवर्तन क्यों किया जाय?' प्रश्न यह ठीक है।'

'दूसरे साधुवेष किसी प्रयोजन से ग्रहण करते हैं?' महात्मा ने पूछा।

'दूसरों की बात मैं कैसे कह सकता हूँ।' वह बोला। 'वैसे साधुवेष-ग्रहण के चार प्रयोजन मेरी समझ में आते हैं। उत्तम प्रयोजन-संसार से वैराग्य हो गया हो और कुटुम्ब-परिवार का बन्धन अन्तर्मुख होने में बाधा दे रहा हो। मध्यम प्रयोजन-आसक्ति कहीं हो नहीं और साधन-भजन करने में पूरा समय लगाना हो। शरीर-निर्वाह के लिए अप्रयास भिक्षा मिल जाया करे। निकृष्ट प्रयोजन-योग्यता हो या न हो, किंतु दूसरों से सम्मान पाने, पैर पुजवाने की इच्छा प्रबल हो। अधमतम प्रयोजन-सम्मान सम्पत्ति, भोग भरपूर चाहिए; किंतु कुछ उद्योग करने की इच्छा-शक्ति न हो।'

जिसके कुटुम्ब-परिवार, घर-द्वार, कोई है ही नहीं, उसके लिए बन्धन से छुटकारे का प्रश्न नहीं उठता था। शरीर-निर्वाह के लिए उसे जितना कम श्रम करना पड़ता है, जितनी स्वच्छन्दता उसके श्रम में हैं, उतना तो भिक्षाजीवी को भी करना ही

पड़ता है, सम्मान उसे सहज प्राप्त है और संग्रह की सनक उसे है नहीं। वह कहता है- 'मैं प्रायः अस्थिर रहता हूँ। एक तौलिया भी अधिक रख लूँ तो उसे ढोते फिरना होगा। बात त्याग की नहीं, समझदारी की है। जितने से ठीक-ठीक जीवन-निर्वाह हो जाता है- सुख से, सुविधा से, सामाजिक शिष्टता को रखते हो जाता है, उतना रखता हूँ। अधिक-को ढोते फिरने की मूर्खता नहीं कर सकता।'

अब किसके मुख में दो हाथ की जिह्वा है कि उससे कहेगा- 'बिना साधुवेष लिये ज्ञान नहीं होता या भगवत्प्राप्ति नहीं होती।

'भाई मेरे! ज्ञान या भगवद्दर्शन मनुष्य को होता है, कपड़े को नहीं, - यह उसकी बात ठीक नहीं है; ऐसा तो न कोई शास्त्र कहता है और न किसी संत ने कभी कहा है।'

'भोगे रोग भयं'- अधिक जिह्वा-लोलुप बनोगे तो पेट खराब हो जायगा और सामान्य रसास्वाद के सुख से भी वञ्चित कर दिये जाओगे!

अधिक काम बढ़ेगा तो वह शक्ति प्रकृति छीन लेगी। स्नायु-दौर्बल्य, हृदय-दौर्बल्य एवं और पता नहीं कितने कष्टसाध्य-असाध्य रोगों की भीड़ खड़ी है कि तुम इस ओर बढ़ो और वे बलात् तुम्हारी देह को अपना आवास बना लें।

'भोग जीवन के लिए हैं, जीवन या देह भोग के लिए नहीं है।' यह या ऐसी बातें हम-आप सबने पढ़ी-सुनी है। इसको जीवन में किसने कितना अपनाया है, यह भिन्न बात है। किंतु यह सत्य तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि जिसने जितना अधिक इन्हें अपनाया है, उतना स्वस्थ एवं सुखी है वह। जिसने जितनी इनकी उपेक्षा की है, वह उतना रोगी-दुखी है।

उसका अपना ढंग है। कहता है - 'अनावश्यक संग्रह करके उसकी चिन्ता करते रहना और उसे ढोते फिरना मूर्खता है। मैं अपने आपको स्वयं मूर्ख नहीं बना सकता। इससे भी बड़ी मूर्खता है किसी इन्द्रिय के पीछे इतना पड़ना कि उसकी शक्ति- उसकी उपयोगिता ही नष्ट हो जाय। एक समय जीभ के बहकावे में जो आया- दूसरे समय के उपवास से ही उसका छुटकारा हो जाय तो बहुत कुशल हुई। अन्यथा पेट-दर्द, सिरदर्द आदि पता नहीं क्या-क्या उपहार सिर पड़ने वाले हो।'

इन्द्रियाँ शैतान की पुत्रियाँ हैं। इनके बहकावे में आये और यही रोगों का नरक तैयार।' उसका अपना विवेचन है। 'इन्द्रियों की तृप्ति तो कभी होने की नहीं, यह वे कहते हैं जो इनका स्वभाव बिगाड़ देते हैं। अन्यथा इन्द्रियों का काम तो इसको - अपने विषय को व्यक्त करना मात्र है। जीवन के लिए जितना उपयोगी है- उतना रस-पदार्थ-भोग सेवन समझदारी है।'

× × ×

'वरं ब्रूहि!' अब ऐसे व्यक्ति को वरदान देने देवता आ गये हैं। क्यों आ गये हैं, यह बात तो वे ही जानते होंगे। देवताओं को भी सम्भव है कि ऐसा कुछ व्यसन होता हो।

'आप क्या दे सकते हैं?' उसने देवता की ओर ऐसे ढ़ंग से देखा कि उस दृष्टि में जिज्ञासा का भाव तो सर्वथा नहीं था।

'धन-रत्न, बल-यश, पद-प्रभुत्व, सिद्धियाँ!' देवता के स्वर में गम्भीरता के स्थान पर उल्लास अधिक था। जैसे वरदान उसे न मिलकर स्वयं देवता को मिलनेवाला हो-'एवं स्वर्ग से सम्बन्धित गन्धर्वादि लोकों में जो प्राप्य है, वह भी।'

'अच्छा, तो तुम मुझे मूर्ख बनाने आये हो?' वह खुलकर हँसा। अच्छा हुआ; क्योंकि सम्भावना इसकी भी थी कि वह क्रुद्ध हो जाता और देवता को झिड़क देता। किंतु देवता को 'आप' के स्थान पर वह 'तुम' तो कहने ही लगा था।

'ऐसा तो नहीं है।' देवता भी चौका। उस बेचारे देवता को भी ऐसा व्यक्ति कभी मिला नहीं होगा। उसने बड़े गम्भीर भाव से कहा- 'प्रतिभा, कला, विद्या का वरदान भी चाहो तो माँग सकते हो।'

'अनावश्यक पदार्थ और पैसा जैसे भार है, वैसे ही विद्या-प्रतिभा भी भार ही हैं।' उसने देवता की ओर ऐसे देखा, जैसे किसी को मित्र को समझा रहा हो- 'तुम देख रहे हो कि ऐसी कोई आवश्यकता जीवन के लिए नहीं है, जो मुझे उपलब्ध नहीं है। जीवन के लिए जो पदार्थ, जो धन, जितनी बुद्धि-विद्या आवश्यक है, मेरे पास वह है। मुझे इससे अधिक का लोभ नहीं है।'

सिद्धियाँ........' देवता ने कहना चाहा।

'बको मत!' बेचारे देवता को डाँट दिया गया। 'मैं मनुष्य हूँ। पक्षी आकाश में उड़ते हैं और मछली जल में डूबी रहती है। चींटी नन्हीं है और हाथी भारी। तुम्हारी ऐसी कौन-सी सिद्धि है, जो किसी पशु-पक्षी अथवा कृमि में सहज नही है? मनुष्य के मन में तुम प्रकारन्तर से पशु-पक्षी या कीट के गुण का लोभ उत्पन्न करना चाहते हो!

'मनुष्य को भी पद-प्रतिष्ठा की स्पृहा होती है।' देवता पता नहीं क्यों डाँट खाकर भी रुष्ट नहीं हुआ था। वह सम्भवतः असफल होकर जाने को उद्यत नहीं था। उसने कहा- 'आपके समीप सामग्री थोड़ी ही है। शरीर सदा स्वस्थ ही रहे, इसका आश्वासन नहीं है। आपको इस ओर से मैं निश्चिन्त कर दे सकता हूँ।'

आश्चर्य की बात यह है कि डाँटे जाने के पश्चात् देवता ने उसे 'तुम' के स्थान पर 'आप कहना प्रारम्भ कर दिया था; किंतु इस ओर से उसने ध्यान नहीं दिया। वह कह रहा था- 'तुम देवता हो; अतः तुम्हें जानना चाहिये कि मेरे लिए मेरे स्वास्थ्य और मेरे

संग्रह का क्या अर्थ है। मेरे शरीर की शक्ति, मेरी बुद्धि, मेरी विद्या कितनी अल्प है- यह तुमसे अज्ञात नहीं होना चाहिए। इतना होने पर भी मेरी निश्चिन्तता, मेरी सुव्यवस्था तुम देख सकते हो।'

'किंतु यह सब तो इस समय है।' देवता ने बड़े संकोच से कहा। 'भाग्य अब तक आप पर सानुकूल रहा है।'

'किसका भाग्य सानुकूल रहा है?' उसने व्यंग्यपूर्वक पूछा। 'परिवार, परिच्छद, पाथेय, एवं अध्ययन का उच्छेद सानुकूल प्रारब्ध ही किया करता है?'

देवता को भी नहीं सूझ रहा था कि वह इसका क्या उत्तर दे। वह मौन रह गया। दो क्षण रुककर उसने कहा- 'तुम देवता सही, तुम्हारी दिव्य दृष्टि की भी सीमा है। तुम उस नटखट को नहीं देख सकते, यह तुम्हारा दोष तो नहीं है। तुम जानते हो?'

कोटि-कोटि विश्वों के वैभव की अधिदेवी-
इन्दिरा बद्धकर दूर खड़ी चरणों से
चाहती है क्षुद्रतम सेवा का सम्मान!
थर-थर काँपते हैं चरण महाकाल के-
जिसके भ्रू भङ्गसे, कन्हाई वह मेरा है!
तुम दोगे मुझको वरदान?

'देव!' जैसे कोई बड़ी भूल हो गयी हो- देवता इस प्रकार केवल एक शब्द बोल सका और क्योंकि वह देवता था, उसे वहीं अदृश्य होने में कहाँ क्षण लगना था।

'स्वप्न भी कैसे-कैसे आते हैं!' वह सबेरे कह रहा था। जब उसे ही स्मरण नहीं कि रात्रि में वह सचमुच उठकर बैठा था या उसने स्वप्न ही देखा था, तब ठीक बात क्या है, कैसे कही जा सकती है।

'ठीक बात इसमें इतनी अवश्य है' वह कहता है- 'समस्त भोग जीवन के लिए हैं- मनुष्य को यह तथ्य ठीक समझ में आ जाय तो उसे न इन्द्रियाँ मूर्ख बना सकती थीं और न कोई देवता। मनुष्य जब इस सत्य को छोड़कर इन्द्रियों को तृप्त करने के लोभ में पड़ता है, उसे केवल मूर्ख ही नहीं बनना पड़ता है और कष्टो की परम्परा में जकड़ा जाकर विवश हो जाना पड़ता है।'

❑❑

जीवन का प्रयोजन

'जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा नार्थो यश्चेह कर्मभिः।।'

श्रीमद्भ० १.२.१०

'अमर वस्तुतः अमर है क्या!' ऋषि-पुत्र शुक्लवीति के अन्तर में अचानक प्रश्न उठा। प्रश्न अचानक ही उठा करते हैं और वे धन्य हैं, जिनके अन्तर में प्रश्न उठते हैं; क्योंकि प्रश्नोत्थान विवेक के प्रबोध का लक्षण हैं। प्रश्न या तो पूर्ण पुरुष-आप्तकाम महापुरुष के मन में नहीं उठते या पामर के मन में।

'शक्र की कितनी आयु है?' ऋषि-पुत्र अल्पवयस्क सही, जन्म से इतने शुद्धान्तःकरण थे कि अर्थ-काम-सम्बन्धी प्रश्न उन्होंने शैशव में नहीं पूछे। लौकिक वस्तुओं के सम्बन्ध में उन्हें कोई कुतूहल नहीं था। उपनयन के पश्चात् पिता ने उन्हें महर्षि जैमिनि के समीप अध्ययन के लिए भेज दिया था। अब तो उन्होंने पूर्व-मीमांसा के उन आचार्य से कर्म का रहस्य समझना प्रारम्भ कर दिया था। वेदों की मन्त्र संहिताएँ उन्हें सरस्वर कण्ठस्थ हो गयी थीं। अपने गुरुदेव के अतिरिक्त वे किससे प्रश्न का समाधान कराने जाते।

'एक महायुग अर्थात् एक चतुर्युगी का परिमाण तुम जानते हो।' महर्षि ने अभी प्रश्नों को गम्भीर भाव में लिया नहीं था। उन्होंने सामान्य उत्तर दिया- 'एक कल्प में सहस्र महायुग होते हैं। और उसमें चौदह मन्वन्तर व्यतीत होते हैं। एक मन्वन्तर का एक इन्द्र होता है।'

'इसका अर्थ कि अमराधिप भी वस्तुतः अमर नहीं हैं। देवता भला कैसे अमर हो सकते हैं। शुक्लवीति के स्वर में क्लान्ति थी।

'वत्स! अमरत्व का अर्थ दीर्घायुमात्र है।' महर्षि ने अब शिष्य की ओर ध्यान दिया। 'काल का अतिक्रमण कोई व्यक्तित्व नहीं कर सकता। जगतस्त्रष्टा की आयु ही जब दो परार्ध है, उनकी सृष्टि का कोई प्राणी नित्य अमर कैसे हो सकता है? देवत्व कर्म प्राप्य है और कर्मका वेग जिसका भी निर्माण करेगा - शाश्वत नहीं होगा वह, कर्म का वेग समाप्त होने पर उस कर्म से जो निर्मित हुआ, उसका विशीर्ण हो जाना

सहज स्वाभाविक है। इसीलिए कर्म ही गुरु है। कर्म ही महान् है। कर्म ही ब्रह्माण्ड की उत्पति-स्थिति का हेतु है।'

कर्ममीमांसा के महाचार्य सम्भवतः और कुछ कहते; किन्तु उन्होंने देखा कि उनका शिष्य इस समय कुछ अधिक सुनने की स्थिति में नहीं है। वह अन्तर्मुख न भी हो गया हो, उसके नेत्र यज्ञीय कुण्ड से उठते सुरक्षित धर्म-पर स्थिर हो गये हैं। जैसे वह धूम्र की कुण्डिलयों में अपने प्रश्न का उत्तर ढूँढ़ रहा हो।

शान्त-अतर्क्य-आनन्द से पूर्ण शान्ति से परिपूत तपोवन ! स्वच्छ गोमयोपलिप्त भूमि है दूर तक। मध्य में एक विशाल यज्ञमण्डप है और उससे थोड़ा हटकर कुछ पर्णशालाएँ हैं। एक पर्याप्त विशद पर्णकुटी है उनमें। सम्भवतः वह महर्षि का आवास है।

प्रातःकालीन हवन समाप्त करके छात्र कुश, समिधाएँ, फलादि संग्रह करने जा चुके हैं। दो-तीन, जो आश्रम में हैं भी, वे आश्रम-धेनुओं की सेवा में लगे हैं अथवा नीवार-परिशोधन का कार्य कर रहे हैं। यज्ञशाला में वेदिकाओंपर इस समय कोई सामग्री नहीं है। अवश्य ही क्रमबद्ध मृगचर्म आस्तृत है और कुश-प्रकीर्ण है लगभग पूरा यज्ञमण्डप। आश्रम में मृग, धेनु, वृषभों के साथ वृक्षों-के नीचे एक सिंह-युगल भी आ बैठा है और उसके तीनों शावक मृग-शिशुओं के साथ क्रीड़ा कर रहे हैं।

यज्ञमण्डप में दो-तीन बछड़े एवं एक-दो मृग-शावक आ गये हैं। वे क्रीड़ापूर्वक आस्तीर्ण कुशों को सूँघते हैं, मुख में लेते हैं और स्वछन्द फुदकते हैं। इस समय उन्हें स्नेह से रोकने वाला भी कोई नहीं है। वे जानते हैं कि शुक्लवीति तो उन्हें तब भी नहीं रोकेगा, जब वे उसकी जटाएँ मुख में लेकर तृण के समान खींचने का यत्न करेंगे। वह तो केवल देख लेगा उनकी ओर और बहुत हुआ तो हँस देगा।

महर्षि-द्वितीय अग्नि के समान यज्ञीय कुण्ड के समीप वेदिका पर आस्तीर्ण मृगचर्म पर पद्मासनासीन तेजोमय वपु महर्षि जो आश्रम के कुलपति हैं। पशु ही नहीं, नन्हें पशु शावक भी समझते हैं कि महर्षि पिता हैं, श्रद्धेय हैं। उनके समीप पहुँचकर कोई बछड़ा भी चपलता नहीं करता। उनके चरणों को सूँघ लेने मात्र की धृष्टता-इससे अधिक अविनय किसी मृग-शिशु ने कभी नहीं किया। केवल शशक, गिलहरी जैसे कुछ पशु हैं जो यदा-कदा महर्षि की गोद में आ बैठते हैं।

शुक्लवीति इधर अधिक अन्तर्मुख रहने लगा है। महर्षि ने ही आज्ञा दी है कि वह आश्रम सेवा में योग देने से विरत रहे। उसे अपनी अन्तर्मुखता को महत्व देना चाहिए। आज वह गुरुदेव के चरणों के समीप आ बैठा है। नित्य-हवन के पश्चात्, किन्तु इस समय तो उसकी दृष्टि हवन-कुण्ड में उठे धूम्र की कुण्डियों पर स्थिर है।

'आहुतिरूप कर्म का वेग धूम्र की कुण्डियाँ उठाता है। ये धूम्र कुण्डियाँ कुछ

आकृति बनाती हैं। वह अपने आप कुछ कह चला है। धूम्र की आकृतियों में स्थिरता क्या है? कर्म का वेग कितनी स्थिरता देगा?' अमरत्व भी धूम्राकृति धूसर-मरण-परिवेष्टित ही है।

× × ×

'देखने-सुनने, छूने-सूँघने और चखने में मेरी कोई रूचि नहीं है।' ऋषि-पुत्र शुक्लवीति विषयी नहीं थे। पामर तो उस युग में मानव-कुल में उत्पन्न ही नहीं होते थे। उन्हें दानव-राक्षसकुल में ही उत्पन्न होना पड़ता था। उस दिन जब महर्षि जैमिनि यज्ञशाला से उठ गये, स्वयं देवराज इन्द्र प्रकट हुए। उन महाध्वर्यू के सम्मुख आने में शतक्रतु को भी लज्जा का बोध होता था। ध्यानस्थप्राय उन शुक्लवीति से देवराज ने प्रस्ताव किया कि वे सशरीर कुछ दिन अमरावती में रहे। प्रत्यक्ष स्वर्ग का अनुभव करके तब कोई निर्णय करे; किन्तु उन्हें उत्तर मिला- 'स्वर्ग में क्या कोई और विशेषता उपलब्ध होगी?'

देवराज जैसे प्रकट हुए थे, अदृश्य हो गये। स्वर्ग में भोगातिशय भले कल्पनातीत हो, है एन्द्रियक भोग ही । जिसे एन्द्रियक भोग में कोई अभिरूचि ही न हो, उसे स्वर्ग ले जाकर अमरपुर को साधनाश्रम तो उन्हें बनाना नहीं था।

'तुम्हें महर्षि पतञ्जलि का आश्रय लेना चाहिए।' कर्ममीमांसा के प्रणेता महर्षि जैमिनि ने कुछ सोचकर ही शिष्य को अपने गुरु भगवान् व्यास के यहाँ नहीं भेजा होगा। सम्भवत: वे उसके लिए योग की साधना पहले आवश्यक मानते होंगे।

'तुम्हें योग ही तो करना है!' गुरुदेव की आज्ञा स्वीकार करके शुक्लवीति ने हिमालय की ओर प्रस्थान किया था। मार्ग में उसे मिल गये लक्षयोग के आचार्य महाकात्यायन। उन्होंने प्रेरणा दी- 'थोड़े समय यहाँ निवास करो। सामान्य श्रम से भी समाधि सिद्ध हो सकती है। अष्टाङ्गयोग की श्रम-साध्य साधना आवश्यक नहीं है।'

शुक्लीति को वैसे भी चातुर्मास्य करना था। यात्रा अवरुद्ध ही होती है तो इस अवरोधक का उपयोग क्यों न कर लिया जाय। हिमालय का शैवालिक अञ्चल वह अपनी सौम्य सुरम्यता में अद्वितीय था। उसे यहाँ उटजके स्थान पर पर्वतीय गुहा मिल गयी आवास के लिए।

'नाद-स्वर ही तो है वह।' शुक्लवीतिको अनहद-नाद में भी कोई महत्त्व नहीं जान पड़ा। उसे कहाँ सहस्रार का वैभव या 'धुरधाम' का चमत्कार चकित कर सकता था। वह कह रहा था- 'नाद अन्तर में श्रवण गोचर हो गया या बाह्य जगत में, इन्द्रिय का ही विषय है। वीणा, वंशी, शंख या मेघगर्जन-श्रोत्रन्द्रिय-प्रत्यक्ष ही होता है। वह

इन्द्रियगोलक के माध्यम से हो अथवा गोलक के माध्यम के बिना हो। वह विषय है, अतः कर्म-साध्य है। और कर्मसाध्य है तो नश्वर है। कर्म का नाम कोई साधन दे ले, क्या अन्तर पड़ता है। कर्म-साध्य तथ्य अविनाशी हो नहीं सकता।'

आचार्य महाकात्यायन आरम्भ में बहुत उत्साहित हुए। शुक्लवीति उत्थित-जाग्रत् कुण्डलिनी-साधक मिला था उन्हें मणिपूर-अनाहत चक्रों का वेध प्रारम्भ में ही हो गया। मेरुदण्ड में महास्फोट नाद, कम्प एवं गति का अनुभव सहज बात थी। आज्ञा चक्र अर्थात् त्रिपुटी का भंग, विन्दुवेघ बङ्कनाल, भ्रमरगुहा, आदि का अतिक्रमण करके कुण्डलिनी ने सहस्रार के महाह्रद में स्नान किया और अमृत-निर्झर से उठकर वह दिव्यालोक पीठ पर आसीन हो गयी। नित्य धाम की प्राप्ति-उस दिन आचार्य ने सोल्लास से कहा' और तभी शुक्लवीति ने उन्हें निराश कर दिया।

'नित्यधाम कैसे हो सकताहै वह?' उस प्रबुद्ध प्रज्ञ को कोई कल्पित मानसिक अवस्था संतुष्ट करके अपने में उलझाने में असमर्थ थी। 'किसी नाद के अश्रवण, किसी रूप के अदर्शन के कारण जीव बन्धन में नहीं पड़ा है। जीव का बन्धन, उसके सुख-दुःख का कारण है राग-द्वेष एवं देहासक्ति। इनकी निवृत्ति हुए बिना जन्म-मरण से जीव छूट गया- किसी भी मानसिक अनुभव को लेकर ऐसा मान लेना तो प्रत्यवाय होगा। यह तो स्वयं को धोखा देना है।'

खेचरी- जो अनहद-श्रवण से भी संतुष्ट नहीं हुआ, उसे अस्पर्शयोग, गन्धयोग, ज्योतिदर्शन अथवा शाम्भवी मुद्रा की सिद्धि से अमृतास्वादन में संतुष्टि प्राप्त हो जाएगी, इसकी आशा आचार्य महाकात्यायन नहीं कर सकते थे। उन्होंने चातुर्मास्य के अन्त में उसे सस्नेह विदा किया।

यम और नियम ऋषि-कुमार के लिए स्वभावसिद्ध आचरण होते हैं। जो आहवनीय अग्नि के समीप बैठकर अहर्निश अग्नि-सेवा कर चुका हो, आसन-सिद्धि की बात उससे कोई क्या करेगा? धारणा और ध्यान का आलम्बन भले परिवर्तित किया जाय, अनहदोत्थान पर्यन्त ध्यान सिद्ध तो वह था ही।

देवराज इन्द्र जिसे सशरीर स्वर्ग ले जाने पधार चुके हों, उस तपस्वी कुमार को न हिमालय का शीत बाधा देता था आर न किन्नर प्रदेश का संगीत-सौन्दर्य आकृष्ट करने में समर्थ था। हरित उपत्यकाएँ और शूभ्र हिमश्रृंग केवल अन्तर्मुख होने की सात्त्विक प्रेरणामात्र देते थे उसे। जनपद में जाने से सहज अरूचि थी और उस युग में तपस्वी का आतिथ्य करके तो अधिदेवता भी अपने को कृतकृत्य मानते थे। दिनचर्या की पूर्ति के लिए कन्द, फल की प्राप्ति जैसे कठिन नहीं हुई, शुद्ध समिधाएँ भी उपलब्ध होती रहीं।

शुक्लवीति को हिमालय के कुल-क्षेत्र से भी ऊपर (व्यास नदी के उद्‌गम से आगे) श्रीशुकदेव जी के स्थान पर पहुँचकर कहीं महर्षि पतञ्जलि के वर्तमान स्थल का पता लगा। आहवनीय अग्नि के लिये ही वे उन परमयोगाचार्य की मानव-अगम्य गुहा-द्वार पर उपस्थित हुए थे।

'सिद्धकामो भव!' अधिकार की उपस्थिति सर्वज्ञ गुरु को अज्ञात नहीं थी। समाधि से उसी समय महर्षि उठे थे। अपने पदों में प्रणिपात करते शुक्लवीति को उन्होंने उठा लिया। उसी दिन एक गुहा इस नवीन योगी की साधनस्थली बन गयी।

× × ×

'भगवन्! समाधि कालावच्छिन्न अवस्था नहीं है क्या?' अनेक मास के अनन्तर शुक्लवीति अपनी गुहा से महर्षि के चरणों में प्रणाम करने आये थे। उनका मुख तेजोद्दीप्त हो रहा था। सुदीर्घ लोचनों में अब तक ध्यानस्थ होने की अरूणिमा थी। अभिवादन के पश्चात् उन्होंने अञ्जलि बाँधकर प्रश्न किया- 'यह भी प्रयत्नसाध्य स्थिति है। प्रयत्न कितना भी विशुद्ध निर्बीज हो चुका हो, कर्म ही है।'

'कर्मसाध्य स्थिति अविनश्वर नहीं होती। महर्षि ने स्वयं वह बात कही जो शुक्लवीति कहना चाहते थे। 'इसी से समाधि से व्युत्थान होता है।'

'जीव अविनाशी है। शाश्वत है। निरपवाद अमर है। काल उसे परिछिन्न नहीं करता।' शुक्लवीति ने जिज्ञासा की। 'तब जीव को अपने सहज स्वरूप की नित्य प्राप्ति क्यों सम्भव नहीं है? क्यों उसके समस्त प्रयत्न कालपरिछिन्न-मृत्यु के ग्रास होकर रह जाते हैं!'

सविकल्प-निर्विकल्प, सबीज-निर्बीज समाधियों की अवस्थाओं को पार करता जो परम सिद्ध योगीहो चुका है, उसका यह प्रश्न सामान्य व्यक्ति की समझ में न आवे, यह स्वाभाविक है। महर्षि पतञ्जलि ने भी दो क्षण नेत्र बंद कर लिये। उन्होंने गम्भीर स्वर में कहा- 'प्रत्येक साधन अधिकारी विशेष के लिए होता है। महर्षि जैमिनि की सेवा ने-धर्माचरण ने तुम्हारे अन्तःकरण को शुद्ध कर दिया और यहाँ आकर तुम चित्त के विक्षेप से मुक्त हो गये। व्यक्तित्व की परिशुद्धि की यह सीमा है। प्रकृति और प्राकृत प्रपञ्च से पृथक् काल से अपरिच्छिन्न चेतन सत्ता-जीवन का अनुभव और उस अपने द्रष्टा स्वरूप में अवस्थिति तुम प्राप्त कर चुके।'

'यह अवस्थिति बनी नहीं रहती प्रभु!' शुक्लवीति के स्वर में वेदना थी। 'जीवन का यही परम प्राप्य है?'

'कर्म से प्राप्त होने वाली कोई स्थिति, कोई भोग, कोई अवस्था अविनाशी नहीं है। महर्षि ने शान्त स्वर में समझाया। 'जो अविनाशी है, उसका प्राप्य विनाशी नहीं हो सकता। अत: जीवन का परम प्रयोजन किसी भी कर्म प्राप्य भोग अथवा स्थिति की उपलब्धि नहीं है।'

तब शुक्वीति ने यह शब्द मुख में नहीं कहे। उसके नेत्रों में ही यह प्रश्न साकार हुआ।

'वत्स! प्रत्येक की अपनी सीमा है। शरीर और अन्त:करण असीम शक्ति एवं संस्कारमुक्त नहीं हुआ करते।' महर्षि ने सस्नेह समझाया उसे। 'तुम्हें भगवान् श्रीकृष्ण-द्वैपायन के श्रीचरणों का आश्रय लेना चाहिए। वे यहाँ से दूर नहीं हैं।'

× × ×

आपने यदि हिमालय का मानचित्र देखा हो- प्रसिद्ध तीर्थस्थलों में वास्तविक दूरी अधिक नहीं है। उत्तुँग हिम-शिखरों के कारण साधारण यात्री को बहुत घूमकर यात्रा करनी पड़ती है; किन्तु योगसिद्ध पुरुषों के लिए तो ये शृंग-शिखर बाधक नहीं बना करते। कुलक्षेत्र में इलावर्त-को दाहिने छोड़ते, यमुनोद्‌गम की प्रदक्षिणा करके, उसी दिन शुक्रवीति ने भगवती भागीरथी के उद्‌गम में स्नान किया। दूसरे दिन दिव्य कैलाश को दक्षिण करते वे अलकनन्दा में मिलने वाली उदीची सरस्वती के तट पर शय्याप्रास में भगवान् व्यास के आश्रम में पहुँच गये थे।

'तुम कौन हो- यह जान लेना ही पर्याप्त नहीं है वत्स!' भगवान् व्यास ने समझाया उस दिन। 'यह दृश्य जगत् क्या है? यह जिसे तुम नश्वर, दु:खद कहते हो, यह कहाँ से आया? तुम स्वयं इस जगत् में क्यों आये? यह जिज्ञासा की पूर्ति में ही तुम्हारे जीवन का प्रयोजन पूर्ण होता है।'

'यह नाशवान जगत्' चौंका शुक्लवीति। इसके सम्बन्ध में उसे अब तक जिज्ञासा क्यों नहीं हुई? वह क्यों अपने आप में इतना लीन रहा कि इस दृश्य पर ध्यान ही नहीं दे सका।

'प्रश्न नहीं; क्योंकि शब्द की गति वहाँ नहीं है।' भगवान् व्यास ने उसे बोलने नहीं दिया। 'तुम विशुद्ध चित्त हो। मल-विक्षेप-विनष्ट हो चुके हैं। तुम जानते हो कि ज्ञान प्रकाशस्वरूप और नित्य है। जिज्ञासा का जो प्राप्य है, वह शाश्वत है। जीवन का परम प्रयोजन इसीलिए जिज्ञासा है। तुम जिज्ञासा करो- मनन करो! जिसे तुम्हें जानना है, श्रुति कहती है- 'तत्त्वमसि।'

मित्रता

'केवल एक प्रार्थना आप स्वीकार करें!' युवक ने कप्तान से लगभग गिड़गिड़ाकर कहा– 'मैं जहाज पर रहूँगा। शर्माको आप नौका पर ले लें।'

'कप्तान?' शर्मा ने बड़े दृढ़ स्वर में कहा– 'चिट्ठियोंने जो निर्णय किया है, उसे बदलने का अधिकार आपको भी नहीं है। शीघ्रता कीजिए। देर करने से नौका भी जहाज के साथ जायगी।'

जहाज का पेंदा फट चुका था। बड़ा भयंकर तूफान आया था समुद्र में। जहाज को नियन्त्रण में रख पाना अशक्य हो गया और निश्चित मार्ग से भटकने का फल जो हो सकता था हुआ। किसी समुद्र में डूबे पर्वत से (मूँगे का पर्वत भी हो सकता है) जहाज टकरा गया। पेंदे के मार्ग-से समुद्र का पानी शीघ्रता से भरता जा रहा था। बचने की कोई आशा नहीं थी।

बेतार के यन्त्र ने समाचार भेज दिये चारों ओर; किंतु इतनी शीघ्र सहायता पहुँच सके, यह तो अशक्य है। कोई भी अच्छा बंदरगाह पास नहीं। रक्षा-नौकाएँ उतारी गयीं। वृद्ध, बालक एवं महिलायें उन पर बैठा दी गयीं। अन्त में केवल एक नौका रही। उस पर केवल पंद्रह व्यक्ति बैठ सकते थे।'कौन बैठें? किसे मरने को छोड़ दिया जाय?' कप्तान ने चिट्ठियाँ डलवायी और जो पंद्रह नाम पहले निकले, उन्हें नौका में बैठाना निश्चित हो गया।

बड़े विचित्र होते हैं ये भारतीय। एक ओर प्राणों के लाले पड़े हैं और यह शंकरदत्त जी हैं कि अड़े हैं– मैं नौका पर नहीं जाऊँगा। मेरे स्थान पर नन्दलाल शर्मा जायेंगे।'

'शंकर! बचपन मत करो।चिट्ठी तुम्हारे नाम निकली है।' नन्दलाल कोई बात सुनना नहीं चाहते। 'जाकर नौका पर बैठो।'

'कोई चलो, पर चलो!' कप्तान को इससे मतलब नहीं कि कौन चलेगा। उसे शीघ्रता है– 'मैं और प्रतीक्षा नही कर सकता।'

'आप नौका खोल दे?' शंकरदत ने दृढ़ स्वर में कहा- 'हम दोनां साथ मरेंगे।'

'मि० शर्मा! आप भी पधारें।' कप्तान इस मित्रता से इतना प्रभावित हुआ कि उसने नौका में एक व्यक्ति का अधिक भार होने पर कोई भय हो सकता है, इस बात की उपेक्षा कर दी। 'हम सोलह व्यक्ति लेंगें नौका में।'

लेकिन नौका में बैठ जाने से ही प्राण रक्षा हो जाय, ऐसी आशा किसी को नहीं थी। तूफान- वह तूफान जिसमें जहाज पथ-भ्रष्ट होकर फट गया था, शान्त नहीं हुआ था। उस तूफान में रक्षा-नौकाओं की रक्षा का ही कितना भरोसा?

जिसकी आशङ्का थी, वही हुआ। रक्षा-नौका लहरों-के प्रवाह में बह चली- बहती गयी और लहर के थपेड़े से, शार्क या अन्य किसी जलजंतु के आघात से- पता नहीं कैसे सहसा टुकड़े-टुकड़े हो गयी। अभागे यात्री- सागर-की उत्ताल तरंगें और ऊपर खुला आकाश- कोई उनका क्रन्दन सुनने वाला भी वहाँ नहीं था।

समाचारपत्र में दूसरे दिन उस जहाज के डूबने का समाचार छपा। एक भारतीय जहाज उस समय समुद्र में कहीं पास ही था। उसने बेतार के यन्त्र पर सहायता की पुकार सुनकर दौड़ लगायी। समाचारपत्र तथा देश के शासकों एवं संस्थाओं ने भारतीय जहाज के कर्मचारियों के साहस को धन्यवाद दिया था। भयंकर तूफान के चलते उस भारतीय जहाज ने डूबते जहाज तथा रक्षा-नौकाओं-पर बैठे प्रायः सभी यात्रियों को बचा लिया था। केवल एक रक्षा-नौका नहीं मिल सकी। उसके कुछ यात्री, जिनमें डूबने वाले जहाज का कप्तान भी था, समुद्र में टूटे तख्तों के सहारे तैरते हुए उठाये गये थे। एक जहाज दुर्घटना में डूब जाय और पाँच-सात प्राण-हानि हो; यह कोई गिनने-जैसी हानि नहीं थी।

× × ×

'हम कहाँ हैं!' खुरदरी काली चट्टान पर कोई उसका सिर गोद में लिये बैठा था। प्रचण्ड धूप ने पत्थर को गरम कर दिया था। कितनी देर मूर्च्छित रहा वह, पता नहीं। नेत्र खोलने पर एक बार उसने इधर-उधर देखना चाहा। समुद्र के किनारे ही पड़ा था वह और उसका मस्तक अपने मित्र की गोद में था।

'तुम उठ सकते हो?' नन्दलाल ने सिर पर हाथ फेरते हुए कहा- 'तनिक प्रयत्न करो। थोड़ी दूर खिसकने से हम छाया में पहुँच जायँगे।

उठने की उसने चेष्टा की और वह ओ ओ करके वमन करने लगा। समुद्र का जो पानी पेट में चला गया था, उसका निकल जाना अच्छा ही हुआ। नौका डूबने पर दोनों

भाग्य से एक ही तख्ते को पकड़ सके थे। उसके बाद क्या हुआ, यह किसी को पता नहीं। लहरों के थपेड़ों ने श्वास लेना असम्भवप्राय कर दिया। मूर्च्छा आ गयी उन्हें।

नन्दलाल शर्मा कुछ पहले जागे। मूर्च्छासे ही नहीं, महामृत्यु से जगने-जैसा लगा उन्हें। लहरों ने किनारे चट्टान पर लाकर पटक दिया था। अङ्ग-अङ्ग जैसे टूट गया था। शरीर के कितने स्थान फटकर घाव बन गये हैं, यह जानने-समझने की शक्ति नहीं थीं। मस्तक दर्द से फटा जा रहा था। और पेट में जैसे ज्वालामुखी जाग गया हो। मिचली आयी और सबसे पहले मुख में अँगुली डालकर वमन की क्रिया को उन्होंने सहायता दी।

'शंकर कहाँ है?' पेट में गया समुद्र का जल निकलते ही पीड़ा इतनी कम हुई कि मस्तक हिलाकर इधर-उधर देखा जा सके। उनका मित्र उनसे तीन-चार हाथ पर चित पड़ा था। उसके शरीर के घावों से निकलकर रक्त उस काली शिला पर जहाँ-तहाँ जम गया था।

समुद्र का ज्वार उतर गया था। तूफान प्राय: शान्त हो गया था। नन्दलाल शर्मा को अपनी पीड़ा भूल गयी, वे पेट के बल धीरे-धीरे खिसकने लगे। वह चार हाथ की दूरी चार योजन-जैसी बन गयी थी। शरीर तवे की भाँति ज्वर से जल रहा था और ऊपर धूप में असह्य तेजी थी। किसी प्रकार खिसकते हुए वे मित्र के पास पहुँचे। शरीर छूते ही यह आश्वासन मिल गया- जीवन है।

'हम कहाँ है?' शंकरदत ने उठने का प्रयत्न किया और फिर लुढ़क गया। दोनों की दशा लगभग एक-जैसी थी।

'कहाँ है, यह कौन जाने; किंतु यहाँ से कुछ गज पर वृक्ष है। तुम साहस करो!' नन्दलाल जी समझते थे कि चाहे जो हो, वृक्षों तक खिसक ही चलना चाहिए। यहाँ पड़े रहने से तो मृत्यु निश्चित है। पीने योग्य पानी कहीं आस-पास है या नहीं, पता नहीं और यहाँ धूप तथा ज्वर के कारण कण्ठ सूख रहा है।

'पानी?' शंकरदत्त ने माँग नहीं की। उसने केवल जानना चाहा कि आस-पास कहीं जल है या नहीं?

'तुम छाया तक खिसक चलो तो मैं जल की खोज करने का प्रयत्न करूँ।' नन्दलाल शर्मा ने उठने में सहायता दी। वैसे स्वयं उनके लिए उठना और खिसकना अत्यन्त कष्टदायक हो रहा था; किन्तु वे नहीं चाहते थे कि शंकरदत्त को यह अनुभव हो कि उन्हेंभी कुछ पीड़ा है।

'तुम्हें कहाँ चोट लगी हैं!' बड़ा तीव्र ज्वर है तुम्हें।' शंकरदत्त ने अब नन्दलाल का

हाथ पकड़ा और उनकी ओर देखना प्रारम्भ किया। उठने का प्रयत्न करने के बदले वह उनके मुख की ओर एकटक देखने लगा। उसके नेत्रों से धारा चलने लगी।

'मुझे कुछ नहीं हुआ।' नन्दलाल जी ने उसके नेत्र पोंछ दिये। 'तुम रोओ मत! जो आपत्ति आ पड़ी है, उसे साहस तथा धैर्य से ही टाला जा सकता है। उठो तो सही!'

दोनों ही इस योग्य नहीं थे कि उठकर खड़े हो जाते। बैठकर एक दूसरे के सहारे खिसकते, रुकते किसी प्रकार वृक्ष की छाया में पहुँचना था उन्हें।

× × ×

'भगवान् ही सबके रक्षक है। वे दयामय हमारी भी रक्षा करेंगे!' वृक्ष की छाया में पहुँचकर दोनों प्रायः लुढ़क गये!' नेत्र खुले नहीं थे। नन्दलाल शर्मा नेत्र बंद किये-किये ही मित्र को आश्वासन दे रहे थे।

'हे बजरंग बली!' शंकरदत्त श्रीहनुमान् जी के उपासक हैं। वे अपने आराध्य का इस संकट में न स्मरण करें तो कब स्मरण करेंगे।

सहसा एक धमाका हुआ। दोनों चौंककर बैठ गये। दोनों के मध्य वृक्ष के ऊपर से एक बंदर गिर पड़ा था। वह कूदा नहीं था, वह गिर ही पड़ा था और थर-थर काँप रहा था। अपने सब अङ्ग उसने समेट लिये थे और सिर दोनों घुटनों में दबा रक्खा था।

'शेर आ रहा है।' सोचने-समझने का समय नहीं था। पचास गज से भी कम दूरी रह गयी थी। वृक्षों के बीच से निकलकर वनराज चड़मड़ करता बड़ी धीर गति से बढ़ा आ रहा था। बंदर शेर के भय से ही काँप रहा था और शेर के भय से ही वृक्ष से लुढक भी पड़ा था वह।

'शरणागत है यह।' शंकरदत्त को निश्चय करने में दो क्षण भी नहीं लगे। वह बंदर को अपने पेट के नीचे दबाकर उसके ऊपर झुक गया।

'मरना ही है तो हम तीनों साथ मरेंगे।' नन्दलाल शर्मा अपने मित्र को नीचे करके उसके ऊपर झुक गया।

'क्या करते हैं आप?' लेकिन शंकरदत्त को हिलने का समय मिला न बोलने का। एक हाथ से नन्दलाल जी ने उसका मुख बंद कर दिया। शेर पास आ गया था।

शेर सचमुच वन का राजा है। काली धारियों से सजा उसका पीला वर्ण, उसकी गम्भीर चाल और सबसे बढ़कर उसका गौरवपूर्ण स्वभाव। वह न गीदड़ जैसा ओछा है, न चीते-जैसा धूर्त। उस वनराज के सम्बन्ध में कोई नहीं कह सकता कि कब वह क्रोध करेगा, कब कृपा और कब क्षमा कर देगा।

शेर पास आया। दो क्षण रुका रहा। कुतूहल से देखता रहा टीले के समान एक दूसरे पर पड़े तीनों प्राणियों को। कदाचित् सोचा होगा – 'यह कौन-सा पशु है? अपने वन में ऐसा गोलमटोल पशु तो मैंने देखा नहीं। कैसी गन्ध आती है इससे? बंदर की और बंदर से विचित्र भी। मैं मारूँगा इसे? वन का राजा मैं इस बिना पैर के कछुए के समान पड़े रहने वाले पशुओं को मारुँ। क्या हुआ। जो यह खूब बड़ा कछुआ है' कोई प्राणी अपरिचित आहार सहसा मुख में नहीं डालता। शेर किसी विवशता से मनुष्य-भक्षी न बन जाय, तब तक मनुष्य पर चोट नहीं करता और उस वन में कभी मनुष्य आया होगा- संदेह ही है।

शेर जैसे आया था, वैसे ही दूसरी ओर चला जा रहा था। जब वह ओझल हो गया, नन्दलाल शर्मा उठकर बैठ गया। शंकरदत्त ने भी बंदर के ऊपर से अपने को अलग किया। बंदर कई क्षण वैसे ही सिकुड़ा बैठा रहा। इसके बाद जब उसने नेत्र खोले- पहले दो पैरों पर खड़े होकर इधर-उधर देखना प्रारम्भ किया और फिर उन दोनों मनुष्यों को देखता और कई प्रकार के संकेत करता रहा। सम्भवतः वह कृतज्ञता प्रकट कर रहा था। सहसा वहाँ से एक ओर भागने लगा और वृक्षों की डालियों पर कूदता वन में चला गया।

'पास ही कहीं जल होना चाहिये।' नन्दलाल शर्मा ठीक कह रहे थे। 'शेर पानी पीने गया हो सकता है या फिर पानी पीकर लौटता होगा।'

'समुद्र के किनारे कहीं मीठा पानी होगा, यह तो कठिन ही है।' शंकरदत्त ने इधर-उधर देखना प्रारम्भ किया। छाया की शीतलता ने बहुत कुछ कष्ट कम कर दिया था। अकस्मात् जो भय आया था, उसकी शरीर पर अनुकूल प्रतिक्रिया हुई थी। बहुत पसीना आया और ज्वर उतर गया।

'महावीरजी हमारी रक्षा करने आये थे?' शंकरदत ने फिर गद्गद कण्ठ से कहा।

'लगा है, हमारे लिए उन्होंने एक नवीन मित्र भेज दिया है।' नन्दलाल जी ने देख लिया था कि वह बंदर लौट रहा है। वृक्षों पर से चढ़ना-उतरना बड़ा कठिन हो रहा है उसके लिए। किसी प्रकार दो बड़े-बड़े कच्चे नारियल मुख और एक हाथ के सहारे पकड़े चला आ रहा है उन्हीं की ओर।

× × ×

'शंकर! तुम भारतीय हो और एक भारतीय के लिए क्या यह उचित आचार है?' कई दिनों देखते रहने के बाद नन्दलालजी ने अपने मित्र को समझाने का निश्चय

किया। आज वे उसे एकान्त में ले आये हैं इसीलिए।

'मैं मनुष्य हूँ शर्मा ! मनुष्य के संयम की एक सीमा है।' शंकरदत्त ने मस्तक झुका रक्खा था।

'तुम भारत लौटने को उत्सुक नहीं हो? या तुम उसे भारत ले जाने को प्रस्तुत हो?' नन्दलाल ने सीधा प्रश्न किया।

'मेरी स्त्री, मेरे बच्चे और मेरा हृदय भारत में ही है।' जन्मभूमि के स्मरण से ही शंकरदत्त के नेत्र भर आये। 'हम वहाँ इस जीवन में पहुँच सकेंगे या नहीं, कौन जानता है।'

'तुम उसे साथ ले चलने का साहस करोगे यदि चलने का अवसर आवे?' नन्दलाल जी ने फिर पूछा।

'उसे ले चलना छिः !' शंकरदत्त ने मुख बनाया। 'यह कैसी बात सोचते हो तुम? यह कैसे सम्भव है? आवश्यकता भी क्या है इसकी?'

'कोई आवश्यकता नहीं है?' बड़ा तीक्ष्ण व्यंग था। 'वह एक वन्य कन्या है। कुरूपा है। असभ्य जाति की है। तुम्हें इसी से यह अधिकार है कि उसको चाहे जैसे ठगो !'

'इसमें ठगने की क्या बात है?' शंकरदत्त ने सिर उठाया– 'उसकी जाति में कुछ पातिव्रत नहीं चलता। उसे कोई असुविधा नहीं होती है।'

'तुमने बता दिया है।' स्वर कठोर हो गया– 'न बताया हो तो मैं उसके पिता को बता दूँ कि तुम विवाहित हो और भारत लौटने को उत्सुक भी।'

वह सुनते ही पागल हो जायगा !' शंकरदत्त चौक पड़ा। उसके मित्र के मन में यह बात आयी कैसे? 'तुम चाहते हो कि वह क्रूर जंगली मेरी बोटियाँ कुत्तों को खिला दें?'

'यह कुछ बुरा नहीं होगा।' नन्दलाल जी पर कोई प्रभाव न पड़ा। 'एक भारतीय का इतना पतन हो जाय कि वह झूठ बोलने लगे, भोले वन्य लोगों को धोखा देकर उनकी कुमारियों से अपनी कुत्सित वासना पूरी करना चाहे, इससे अच्छा है कि वह मार डाला जाय।'

दोनों ही भाग्य से जहाँ पहुँच गये थे, वह कोई वन्य भूमि थी। ऊँचे वृक्ष, घनी लताएँ और सभी प्रकार के वन–पशु। यह तो उन्हें बहुत पीछे पता लगा कि वे अफ्रीका महाद्वीप पर हैं। भूलते–भटकते एक गाँव में पहुँच गये थे वे। चारों ओर ऊँची लकड़ियों का सुदृढ़ घेरा बनाकर बीच में जंगल काटकर स्वच्छ भूमि निकाल ली है यहाँ के लोगों ने। कुछ झोपड़ियाँ है उस भूमि के मध्य। केले लगे हैं आस–पास और कुछ खेत भी हैं। सामान्य जंगली जातियाँ आखेटजीवी होती हैं और यह गाँव इसमें

अपवाद नहीं है। केवल इतनी बात है कि अफ्रीका के घोर वनों में रहने वाली जातियों के समान यहाँ के लोग नरभक्षी या मानव-शत्रु नहीं हैं।

समुद्र का तट दूर-दूर तक जहाज के ठहरने के योग्य नहीं। कहने को यह गाँव ब्रिटिश-उपनिवेश का भाग है; किंतु इतनी दूर है उपनिवेश की मुख्य बस्तियों से कि गाँव के बड़े-बूढ़ों को ही स्मरण है कि गाँव में एक बार तीन शिकारी साहब कुछ हब्शी मजदूरों के साथ आये थे। जब नन्दलाल शर्मा और शंकरदत्त जी ग्राम में पहुँचे उनका स्वागत-सत्कार हुआ। ग्राम के लोगों ने समझा 'ये दोनों साहब ही हैं। 'कपड़े पहननेवाला उनके लिए साहब होगा या साहब का कृपापात्र है। वे तो कमर में छाल की लँगोटी लगाते हैं। स्त्रियाँ खजूर के पत्तों का बना घांघरा पहनती हैं।

कोलतार-जैसे काला शरीर, मोटे-मोटे ओठ, पीले-गंदे दाँत-उनकी भाषा का एक शब्द शंकरदत नहीं जानता था। पण्डित नन्दलाल जी शर्मा विद्या-व्यसनी हैं। यात्रा से पहले ही उन्होंने मूक-संवाद (केवल ओठ हिलाकर बातचीत) बड़े परिश्रम से सीखी। प्राय: सभी जंगली जातियाँ बातचीत की यह पद्धति जानती हैं। अफ्रीका में यह नित्य की बात है कि दो ऐसी जाति के हब्शी परस्पर मिलें जो एक-दूसरे की भाषा नहीं जानते। मूक-संवाद की पद्धति को उस महाद्वीप की सार्वभौम भाषा माननी चाहिए। इस भाषा के कारण ग्राम के निवासियों से परिचय कर लेने में नन्दलाल जी को कठिनाई नहीं पड़ी। शंकरदत्त ने भी अपने मित्र से यह भाषा कुछ गिने दिनों में ही सीख ली।

अर्धनग्न लड़कियाँ और युवतियाँ – भले वे अत्यन्त कुरुप सही, किंतु मनुष्य के भीतर जब वासना जगती है.....। शंकरदत्त को उनके मध्य में ही रात-दिन रहना था। पता नहीं क्यों, उनमें-से कई इस गोरे दीखने वाले युवक से बहुत आकर्षित हो गयी थी। शंकरदत्त ने भीएक से अधिक घनिष्ठता बढ़ा ली और बात इस सीमा तक पहुँच गयी कि उसके सावधान मित्र को उसे अकेले ले जाकर समझाना आवश्यक जान पड़ा।

'तुम मित्र हो?' दो क्षण तो शंकरदत्त स्तब्ध खड़ा रहा।

'तुम श्री हनुमानजी के उपासक हो?' नन्दलाल जी ने उत्तर दिये बिना कहा- 'तुम्हें लज्जा नहीं आती?'

'मैं क्या करूँ? तुम मुझे क्षमा कर दो।' स्वर में बहुत थोड़ी ग्लानि थी।

'देखा शंकर! मैं परिहास नहीं कर रहा हूँ। तुम जानते हों कि मैं झूठ नहीं बोला करता।' नन्दलाल जी का स्वर बड़ा गम्भीर बन गया- 'तुम यह भी जानते हो कि तुम पर थोड़ी भी विपत्ति हो तो मुझे उसे मिटाने-के लिए मर-मिटने में भी प्रसन्नता होगी।

लेकिन मेरा मित्र कदाचारी हो जाय, धूर्त एवं कपटी बने और मरने के बाद जन्म-जन्म तक नरकों में सड़े, इसकी अपेक्षा मैं पसंद करूँगा कि वह मार डाला जाय। उसके देह का मोह मुझे रोक नहीं सकेगा।'

× × ×

'शर्मा मेरे सच्चे मित्र है। सच्चा प्रेम करना आता है उन्हें।' शंकरदत्त अब गद्गद कण्ठ से अपने मित्र का गुणगान करता है- 'वे न होते तो मैं डूब चुका था-महासागर से कहीं भयंकर पाप अगाध दलदल में डूब ही गया था मैं।

समुद्र के किनारे सूखी लकड़ियों के ढ़ेर करना और उनमें अग्नि लगा देना- शर्मा जी ने यह नियम बना रक्खा था। उनका परिश्रम सफल हुआ। उधर से निकलने वाले एक जहाज ने धुआँ देख लिया। कुतूहलवश ही किनारे आया था वह जहाज; किन्तु उसके कप्तान को भी कम प्रसन्नता नहीं हुई दो भारतीय नागरिकों का इस प्रकार उद्धार करने में।

नन्दलाल शर्मा और शंकरदत्त - अब ये दो मित्र ही नहीं हैं उनका मित्रमण्डल तीन का हो गया है। उसमें एक बंदर भी है जो अफ्रीका से उनके साथ ही आया है और अब नन्दलाल जी के बगीचे में ऊधम करने की पूरी स्वतन्त्रता पा गया है।

सदाचार

'आचार प्रभवो धर्मो धर्मस्य प्रभुरच्युतः।'

'देव! वत्सराजकी प्रजा चिन्तित है। स्वयं मुझे भी आश्रय की अपेक्षा है।' नरेश ने राज्यगुरु अनन्तशंकर आचार्य के चरणों में प्रणाम करके प्रार्थना की- "आपकी असीम कृपा एवं अकल्पनीय प्रतिभा ने राज्य को अब तक निश्चिन्त रक्खा।'

'कोई अमरनहीं है' यह बात मैं समझता हूँ। स्वयं तुमसे इस सम्बन्ध में विचार करना था मुझे।' आचार्य ने स्नेहपूर्वक कहा 'जराजीर्ण इस कलेवर को कालार्पण करने का समय समीप आ गया है, यह मैं प्रत्यक्ष देख रहा हूँ। तुम इतना करो कि राजोद्यान में देश के विद्वान् ब्राह्मणों का सत्कार करने की घोषणा कर दो। आगे क्या करना है मैं स्वयं देख लूँगा।

'जैसी आज्ञा!' नरेश को आश्वासन प्राप्त हुआ। वे राजसदन लौट गये। उसी दिन चर भेज दिये गये देश के विभिन्न नगरोंमें वत्स नरेश की 'विद्वत-सत्कार-घोषणा' का प्रचार करने के लिए।

वत्सराज के राज्य गुरु अनन्त शंकर आचार्य नैष्ठिक ब्रह्मचारी हैं।अपने कुल में वे अकेले बच रहे हैं। उद्भट विद्वान्, प्रोज्ज्वल प्रतिभाशाली, अतिशय नियम-निष्ठ तपस्वी तथा स्वभावसिद्ध भगवद्भक्त। ऐसा राज्यगुरु प्राप्त करके वत्सराज्य स्वयं समृद्ध ही नहीं हुआ, देश में सम्मानित भी हुआ। दूरस्थ दशों के नरेशों का तथा ऋषिकल्प विद्वानोंका आतिथ्य-सौभाग्य प्राप्त होता रहा दीर्घकाल तक; क्योंकि आचार्य के दर्शन तथा संसर्ग-लाभ की आकांक्षा प्रबल आकर्षण था, सभी के लिए। लेकिन आचार्य की शतवार्षिकी मनायी जा चुकी है। वे तपोधन दृढ़काय, सबल स्वस्थ हैं यह तो ठीक; किंतु ऐसे महापुरुष रोग-शय्या पर तो शरीर छोड़ा नहीं करते। भगवान् काल जब चाहेंगे, देह से अनासक्त आचार्य सहज उसी प्रकार देहदान उन्हें कर देगे, जैसे कण्ठ की पुष्पमाला का प्रसाद प्रसन्न भाव से नरेश को दे देते हैं। अब उनके उपरान्त वत्सराज का राज्य-गुरुपद किस महानुभाव से कृतार्थ हो, यह यदि आचार्य ही आदेश दे जायँ तो सबकी चिन्ता मिटे।

'विद्वत्सत्कार!' वत्सराज की घोषणा कुतूहल एवं उत्साह दोनों को देने वाली थी। कोई यज्ञ, कोई सत्र, कोई तथ्य-निर्णायिका विद्वत्परिषद्-ऐसा कुछ नहीं। अब तक के नरपतिगण ऐसे ही किसी अवसर पर देश-देश के विद्वानों को आमन्त्रित किया करते थे। लेकिन वत्सनरेश की घोषणा में ऐसा कुछ नहीं है।

'पूरा नवीन संवत्सर वत्सराज्य विद्वत्सत्कार वर्ष के रूप में मनायेगा। आप अपनी सुविधानुसार पधारें। जब तक आप रहना चाहेंगे, हम सेवा करके अपने को कृतार्थ मानेंगे। हमारी देश के समस्त विद्वान्, तपस्वी, विप्रवर्ग से अत्यन्त विनम्र प्रार्थना है कि वे इस संवत्सर में पधारकर कुछ काल हमें अपने सत्कार का सौभाग्य प्रदान करने की कृपा अवश्य करें।' घोषणा तो यही है। इसमें कहीं किसी प्रयोजन का संकेत नहीं। कोई एक निश्चित अवधि में सब लोग जब एकत्र नहीं होते हैं तो यज्ञ, सत्र अथवा परिषद के अकस्मात् आयोजन की भी सम्भावना नहीं रह जाती।

'कैसा है यह विद्वतसत्कार का समारम्भ?' यह प्रश्न सभी विद्वानों के मन में उठना था। प्रश्न उठा तो कुतूहल जागा और उस कुतूहल ने प्रेरणा दी यात्रा करने की। वत्स नरेश ने विद्वानों की यात्रा के लिए यथासम्भव सब सुविधाएँ मार्ग में कर दी थीं। सभी आर्य नरेशों से उन्होंने प्रार्थना की थीं विद्वानों की यात्रा में सुविधा देने की। यह प्रार्थना न भी की गयी होती- ऐसा भाग्यहीन हिंदू नरपति कौन होगा जो विद्वान् ब्राह्मण के राज्य में आने पर उसकी सेवा का सौभाग्य छोड़ दे।

'आचार्य अनन्तशंकर भगवती वीणापाणि के वरद पुत्र है।' अनेक स्थानों पर विद्वानों ने वत्सराज्य की इस आह्वान-घोषणा पर विचार करने के लिए स्थानीय गोष्ठियाँ संयोजित कर लीं। उन गोष्ठियों में प्रायः एक-जैसी बातें कही गयीं- 'वे क्या चाहते हैं, कल्पना कर लेना सरल नहीं है; किंतु इस प्रकार उनके सत्संग का सुअवसर उपलब्ध हुआ, यह हम सबका सौभाग्य!'

'आचार्य वृद्ध हो गये हैं। उनके कुल में और कोई तो है नहीं।' अनेक स्थानों में यह अनुमान भी किया गया- 'उन्हें अपना उत्तराधिकारी भी तो राज्य को देना है। अब वे इस विषय पर विचार करने की अवस्था प्राप्त कर चुके है। तपस्वी, विद्वान, ब्राह्मणों में से ही तो उन्हें अपना अधिकारी चुनना है।'

प्रायः विद्वन्मण्डली ही आयी वत्सराज्य में। एक स्थान के विद्वानों ने एक साथ यात्रा करने में सुविधा देखी। मार्ग में पड़ने वाले स्थानों के विद्वान् ब्राह्मण यदि पहले प्रस्थान नहीं कर गये थे तो वे साथ हो गये। वत्सराज्य में एकाकी अतिथि कम ही पहुँचे थे।

आचार्य के आह्वान का प्रयोजन प्रायः लोगों ने अनुमान कर लिया था, इससे आगन्तुकों की संख्या बढ़ गयी थी; किंतु इससे आचार्य ने कोई असुविधा अनुभव नहीं

की। वे तो केवल इससे बचना चाहते थे कि आशा देकर प्रतिस्पर्धा के भाव से आये ब्राह्मणों को निराश लौटाने का निष्ठुर कार्य न करना पड़े।

× × ×

राज्योद्यान सत्कार-शिविर बन गया था, नगर के बाहर रम्य स्थलों पर सुन्दर आवास बना दिये गये थे तृण-पर्णादि से। आगत-अतिथि उन आवासों में सम्पूर्ण सुविधा प्राप्त करके भी स्वच्छन्दतापूर्वक स्वरूचि के अनुसार व्यवहार करते रहें, ऐसा प्रबन्ध अत्यन्त सावधानी से किया गया था। आचार्य स्वयं राज्योद्यान में आ बसे थे और विद्वानों को उनके समीप आने में कोई रूकावट नहीं थी। राज्योद्यान में ही वस्त्र, धेनु आदि देकर स्वदेश लौटने के इच्छुक विद्वानों का सत्कार करने की व्यवस्था थी।

वत्सराज्य की राजधानी उत्सव-अनुष्ठानमयी हो उठी। अर्चा, तप, यज्ञ, कीर्तन, वेदपाठ, शास्त्र-चर्चा-विद्वान् ब्राह्मणों के यहाँ तो यही होना था। जल, पुष्प, दर्भ, समेत, फल तथा यज्ञ एवं अर्चन की सामग्रियाँ सबके लिए अत्यन्त सुलभ कर रक्खी थी नरेश ने। नागरिक जनों को लगा, उनके समस्त पुण्य साक्षात् फलोन्मुख हो उठे हैं इस समय।

विद्वद्वर्ग आचार्य के समीप उपस्थित होता था। परस्पर भी उनकी गोष्ठियाँ होती थीं। इन दिनों केवल आचार्य के अपने अन्तेवासी ब्रह्मचारी परस्पर मिल नहीं पाते थे। आचार्य ने उनमेंसे प्रत्येक को आगतों के सेवा-सत्कार में नियुक्त कर दिया था और इस पुनीत पर्व पर इतना उत्तम कार्य प्राप्तकर वे भी उत्साहपूर्वक लगे थे।

बड़ा सात्त्विक समारोह! अत्यन्त सरल सत्संगका सुअवसर! वत्स नरेश की श्रद्धा धन्य है। श्लाघ्य है उसकी निष्काम श्रद्धा, विद्वानों ने आचार्य के आयोजन की भूरि-भूरि प्रशंसा कीं। जिनको जब जाने की आवश्यकता प्रतीत हुई, समुचित सत्कार एवं दान से सम्मानित करके लौटने की पूरी सुविधा नरेश ने नम्रता तथा कृतज्ञता प्रकट करते हुए प्रदान की। किसी को संकेत भी नहीं प्राप्त हुआ कि इस आयोजन का कोई प्रयोजन भी था। अपने अनुमान विद्वानों को अकारण प्रतीत हुए।

वेद, वेदाङ्ग, धर्मशास्त्र, कर्मकाण्ड, न्याय, सांख्य, वेदान्त, व्याकरण, साहित्य आदि के प्रकाण्ड पण्डित पधारे थे। अद्भुत प्रतिभाशाली, अकल्पनीय, अनुष्ठानधनी, स्वभावसिद्ध तापस तथा योगसिद्ध साधक भी आये थे। विद्वानों की मण्डलियाँ आती रहीं और विदा होती रहीं।

'देव!' नरेश को अपने आचार्य में अगाध श्रद्धा थी। वे केवल आज्ञा का अनुमान कर रहे थे- 'अकथनीय पाण्डित्य पाया इन्होंने।' नरेश किसी की विद्या से प्रभावित हुए आते तो प्रार्थना कर लेते थे।

'राजन् ! किसने क्या पढ़ा है, क्या जानता है, इसका अधिक मूल्य नहीं है।' आचार्य तटस्थ स्वर में कह देते –

'वह स्वयं क्या है, महत्त्व की बात यह है।'

'लोकपूजित तपोधन पधारे आज !' नरेश समुत्सुक सूचना देते।

'काय-क्लेश केवल प्रकृति के राज्य में पुरस्कार पाता है।' आचार्य अद्‌भुत हैं। उन पर जैसे कोई सूचना प्रभाव ही नहीं डालती। वे व्याख्या करने लगते हैं- 'जनार्दन की संतुष्टि भिन्न वस्तु है और जो उसका सम्पादन न कर सके, जनता के मार्ग-दर्शन का दायित्व उठा लेने की शक्ति उसमें नहीं हो सकती।'

'साधना ने जिन्हें सिद्धि-समुदाय का स्वामी बना दिया है, ऐसे महापुरुष की सेवा का सौभाग्य मिला मुझे आज।' नरपति का हर्ष अनुचित नहीं था।

'सिद्धि साधना की सफलता का नहीं, उसके बाधित हो जाने की परिचायिका है।' आचार्य उपदेश करने लग जाते हैं- 'जननायक को उससे सावधान रहना चाहिए; क्योंकि वह सामान्य नियमों का उल्लंङ्घन करके भी न्यायालय की परिधि में नहीं आया करता। कायिक आसक्ति या यश-इच्छा ने ही उसे सिद्धि के स्वीकार करने को विवश किया है। कामना वहाँ निर्बीज नहीं हुई। अत्यन्त उर्बर खाद है सिद्धि इस बीज के लिए। अतः वह बीज कैसा कितना बड़ा वृक्ष बनेगा, कहा नहीं जा सकता। उससे असावधान रहोगे तो अपना अहित कर ले सकते हो श्रद्धा के आवेश में।

× × ×

'देव! आज अन्तिम विद्वन्मण्डल भी विदा हो गया।' नरेश के स्वर में अत्यन्त व्यथा थी। वर्ष समाप्त हो गया। आगत विद्वान् जा चुके। उनका सत्सङ्ग उनकी सेवा का महत्पुण्य - यह सब तो ठीक, किंतु उनका इस आयोजन का उद्देश्य जब आज भी अपूर्ण है, तब वह कब कैसे पूर्ण होगा?'

व्यथित होने की आवश्यकता नहीं है राजन्! यह वसुन्धरा कभी वन्ध्या नहीं होती।' आचार्य ने आश्वस्त करते हुए कहा- 'अपने इस सम्पूर्ण देश का नाम सृष्टिकर्त्ता-ने अजनाभवर्ष अकारण नहीं रक्खा है। भारतवर्ष इसका नाम तो भगवान ऋषभदेव के पुत्र भरत के नाम पर बहुत पीछे पड़ा। व्यष्टि में - अपने देह में समस्त उद्‌भावनाओं का केन्द्र है। नाभिचक्र और समष्टि में सृष्टिकर्त्ता के सर्वतोमुखी ज्ञान का उद्‌भावक यह अजनाभवर्ष। लेकिन अन्वेषण अनिवार्य होता है अतिशय मूल्यवान् रत्न की प्राप्ति के लिए। अधिकारी का अन्वेषण अपने स्थान पर बैठे-बैठे कर लेने की आशा करना मेरे लिए भी उचित नहीं था। यात्रा करूँगा मैं तुम्हारे साथ।'

बहुत कम लोगों को साथ ले जाना था। अन्वेषण-यात्रा भी इसे कहना कठिन था। आचार्य ने उस आदेश देने वाली रात्रि को शयन नहीं किया था। वे पूरी रात्रि ध्यानस्थ रहे थे और प्रातः जब यात्रा के लिए प्रस्तुत होकर नरेश पधारे, आचार्य नित्यकर्म सम्पूर्ण कर चुके थे। रथ पर बैठते ही उन्होंने वत्सराज्य के ही एक सीमा-स्थितग्राम में चलने का आदेश दे दिया।

'मेरा अहोभाग्य!' एक साधारण झोपड़ी के सम्मुख जब ये रथ आकर खड़े हुए, ग्राम के प्रायः सब नर-नारी एकत्र हो गये। उस झोपड़ी का स्वामी तो हर्ष से उन्मत्तप्राय हो उठा, 'मुझ कंगाल के यहाँ आज श्रीहरि स्वयं पधारे!'

नरेश कहीं किसी स्थान पर आते, कोई आश्चर्यजनक बात नहीं थी। अपनी प्रजा का निरीक्षण करने नरेश को समय-समय पर आना ही चाहिए; किंतु आचार्य पधारें- सम्पूर्ण ग्रामजनों को लगता था कि आज उनके यहाँ श्रीबैकुण्ठनाथ ही आ गये हैं।

'आज याचक होकर तुम्हारे यहाँ वत्सनरेश पधारे हैं देवता!' आचार्य ने देखा कि वह झोपड़ी का स्वामी कृशकाय गौरवर्ण गृहस्थ तो नरेश की ओर ध्यान हीं नहीं देता है। तो स्वयं बोलें- 'मैं तो नरेश की प्रार्थना का अनुमोदन करने आ गया हूँ।'

'राजन्! क्या सेवा करे यह निर्धण ब्राह्मण आपकी?' उस अत्यन्त सरल ग्रामीण ने अब नरेश की ओर देखा। अभी तक तो वह आचार्य की वन्दना-अर्चना में यह भी भूल गया था कि उसके यहाँ आचार्य के साथ कोई और भी आये हैं।

'राजन्! सदाचार के सम्यक् पालन में अभयदेव शर्मा-की समता करने योग्य मैं किसी को नहीं पाता।' आचार्य गम्भीर स्वर में कह रहे थे- 'प्रबल प्रलोभन इन्हें विचलित नहीं कर सके, यह आप भी जानते हैं। प्रकृति के प्रकोप तथा शरीर का असहयोग भी इन्हें अस्थिर नहीं कर पाता। सदाचार धर्म का दृढ़मूल है और जहाँ धर्म सम्यक् पूर्ण है, जनार्दन स्वतः सुप्रसन्न हैं। अभयदेव ने अपने सदाचार तथा दीनजनों की सेवा से उस सर्वेश को संतुष्ट किया है। शास्त्र का मर्म ऐसे सत्पात्र में अप्रकाशित नहीं रहता। पुस्तकीय पाण्डित्य की अपेक्षा यहाँ नहीं होती। आप अपने भावी राज्यगुरू की चरण-वन्दना करें।'

'आज आप अपने देश को, अपने नरेश को और इस वृद्ध अनन्तशंकर को निराश नहीं करसकते।' आचार्य ने उस ब्राह्मण को बोलने ही नहीं दिया- 'यह दायित्व आप सम्भाल सकते हैं ऐसी आस्था मुझमें है और आप जानते ही हैं कि अनन्तशंकर अपना आग्रह सरलता से छोड़ा नहीं करता। आप आज ही राजधानी चलना स्वीकार करेंगे तो यह बूढ़ा अतिथि आपके यहाँआहार ग्रहण करेगा।'

अभयदेव शर्मा के लिए यह प्रार्थना स्वीकार करने के अतिरिक्त मार्ग भी क्या रहा था।

❑❑

सेवा

'यहाँ कोई धर्मात्मा है?' इस युग मे बड़ा अटपटा प्रश्न है यह, किन्तु ये बाबाजी लोग कहाँ सीधे ढंग से बात करना जानते हैं। इनकी रहनी टेढ़ी, इनका वेश अटपटा, इनकी वाणी अटपटी और इनका आराध्य टेढ़ी टाँग वाला। भला यह भीकोई बात हुई कि कोई भरी भीड़ से पूछने लगे कि 'उसमें कोई भला आदमी है?'

अकाल पड़ा है। पिछले वर्ष इन्द्रदेव ने इतनी अधिक कृपा की कि भूमि में पड़ा बीज उगकर भी सड़ गया। अतिवृष्टि किसी प्रकार झेल ली गयी, किंतु इस वर्ष तो मेघों के देवता भूल ही गये हैं कि इस ओर भी उनकी सेना आनी चाहिए। इस प्रदेश में भी प्राणी रहते हैं और उन्हें भी जल ही जीवन देता है। आषाढ़ निकल गया। तब तक आशा थी; किंतु अब तो श्रावण भी सूखा ही समाप्त होने जा रहा है।

घरों में अन्न नहीं है। खेत और चरागाहों में तृण नहीं है। सरोवर सूख चुके हैं। कूपों में कीचड़ मिला पानी प्यास बुझाने के लिए रह गया है। कितने दिन वह भी काम चला सकेगा? ऐसी अवस्था में पशु कितने मरे, कौन गिने। जिसे जहाँ सूझा, वह उधर निकल गया परिवार लेकर। पूरा प्रदेश उजड़ने लगा है। वृक्षों के पत्ते और छाल जब आदमी का आहार बनने लगें, विपत्ति कितनी बड़ी है, कोई भी समझ सकता है। सरकारी सहायता आयी है। कुछ संस्थाएँ भी सेवा के क्षेत्र में उतरी है; किंतु तप्त तवे पर कुछ शीतल बूँदे पड़कर अधिक उष्णता ही तो उत्पन्न करती हैं।

यज्ञ अनुष्ठान तो हुए ही, अनेक लोकप्रचलित टोटके भी हुए; किंतु गगन के नेत्रों में अश्रु उतरे नहीं। देवता रुष्ट हुए सो तुष्ट होने का नाम ही नहीं लेते। ऐसे समय में सबसे भारी विपत्ति आती है भिक्षुकों पर। वे बेचारे बहुत पहिले भाग गये। किंतु कुछ अक्खड़ होते हैं। हनुमत्-टीले के बाबा बजरंगदास ऐसे ही अक्खड़ हैं। उनकी कुटिया तो आजकल क्षुधातों के लिए कल्पवृक्ष बन गयी है। मध्याह्न में पवन-पुत्र को नैवेद्य अर्पित करके सदा की भाँति अब भी बाबा जी उच्चस्वर से 'भण्डार में भगवत्प्रसाद की

सीताराम!' घोषित करते हैं और उस समय जो कोई भोजन के लिए आ जाय, उसे अपने-आप पंगत में बैठने का अधिकार है। इन दिनों प्रतिदिन दो-ढाई सौ व्यक्ति भोजन करते हैं।

पता नहीं कहाँ से आता है इतना अन्न इन जटाधारी के पास। पूछने पर एक दिन कहने लगे- 'यह टेढ़ी टाँगवाला गदाधारी देवता किसलिए यहाँ खड़ा है। भूमि में अन्न नहीं होगा तो देश का प्रशासक भूखों मरेगा; किन्तु हनुमन्तलाल के लाड़िलों के लिए आकाश को अन्न की वर्षा करनी होगी।'

ऐसे अडिग अक्खड़ अवधूत ने जब आसपास सबको सूचना भेजकर कुटिया पर बुलवाया, बड़ी आशा हो गयी थी ग्राम के श्रद्धाप्राण लोगों को। अवश्य बाबाजी! इस दैवी विपत्ति का कोई उपाय पा चुके हैं। किंतु जब सायंकाल श्रीहनुमानजी के सम्मुख आसपास के आठ गाँवों के लोग एकत्र हो गये तो बाबाजी पूछते हैं- 'यहाँ कोई धर्मात्मा है?'

कोई और धर्मात्मा हो या न हो, बाबा जी तो हैं। अब देवता के सम्मुख झूठ भी कोई कैसे बोले। धोती के भीतर सभी नंगे। किससे कुछ ऊँचा-नीचा नहीं होता है। किंतु बाबाजी तो एक-एक की ओर देखने लगे हैं। चुपचाप नेत्र नीचे कर लेने के अतिरिक्त किसी के पास और क्या उपाय है।

'श्रीमारूति प्रभु का आदेश है कि यहाँ इस प्रदेश में जो एकाकी धर्मात्मा है, उसका आश्रय लिया जाय।' बाबाजी कह रहे थे- 'केवल वही इस अकाल को टाल सकता है। उसके असम्मानके कारण यह विपत्ति आयी है। देवता भी धर्म का आश्रय लेने वाले का अपमान करके कुशलपूर्वक नहीं रह सकते हैं।'

'कौन हैं वे?' सबके हृदय सोचने लगे हैं। कोई भी तो ध्यान में नहीं आ रहा है। कोई साधु आसपास अब इन महाराज को छोड़कर रहे नहीं। जो दो-तीन कुटिया बनाकर रहते भी थे, तीर्थयात्रा करने चले गये हैं। कोई ब्राह्मण, कोई विद्वान्, कोई अहीर, काछी आदि भगत- लेकिन इनमें-से किसी का अपमान होने की बात तो सुनी नहीं गयी। ऐसे व्यक्तियों के प्रति तो ग्राम के लोगों की सहज श्रद्धा है। अब इस अकाल के समय में किसी को कुछ देने से किसी से मना कर दिया तो हो सकता है; किंतु क्या विवश मनुष्य का यह ऐसा अपराध है कि उस पर इतना भयंकर देवकोप पूरे प्रदेश को भोगना पड़े?

'श्रीहनुमान्‌जी ने कहा है कि उसका पता लगाना होग।' बाबाजी को स्वप्न में आदेश हुआ है, यह वे बता गये। उन्होंने यह भी कह दिया कि इससे अधिक

स्पष्टीकरण की आशा अब करना नहीं चाहिए। देवताओं को परोक्ष-कथन ही प्रिय है। 'आप सब प्रयत्न करें। मैं भी कल प्रात: काल से पता लगाने में लगूँगा।'

× × ×

'तुमने कैसे सीखा इस अद्‌भुत उपासना को?' बाबा बजरंगदास आज इस हरिजन बस्ती के एक कोने पर बनी झोपड़ी के द्वार पर आ गये हैं। श्रीपवन कुमार ने जिनका संकेत किया, वे धर्मात्मा कौन हैं, यह पता लगाने की धुन है उन्हें। जो आस्तिक नहीं है, भगवान् में जिसकी आस्था नहीं है, वह तो धर्मात्मा हो नहीं सकता। गाँवों में बसने वाले लोग एक-दूसरे से अच्छी प्रकार परिचित होते हैं। बाबा बजरंगदास प्राय: आसपास के ग्रामीणों को व्यक्तिगत रूप से जानते हैं। उनमें जहाँ भी कुछ आशा की जा सकती थी, सबके समीप वे हो आये हैं। आज अचानक उन्हें स्मरण आया कि द्विजाति तथा दूसरे लोगों से मिलने की धुन में उन्होंने हरिजन-बस्तियों की ओर ध्यान ही नहीं दिया है। स्मरण आते ही वे चल पड़े थे इस झोपडी की ओर।

पूरी चमारटोली की झोपड़ियाँ सटकर बनी हैं; किंतु यह झोपड़ी सबसे थोड़ी दूर है। केवल नाम ही इस झोपड़ी के स्वामी का अलगू नहीं है, वह दूसरें से सब बातों में कुछ भिन्न है। गाँवों की हरिजन-बस्तियों में आजकल दो भगत हैं। वे भूमि पर सोते हैं। अपने हाथ से बना भोजन और अपने हाथ से खींचा जल काम में लेते हैं। किंतु बाबा बजरंगदास उन्हें जानते हैं। वैसे भी वे लोग प्राय: प्रतिदिन हनुमत्-टीले पर पहुँचते हैं। लेकिन अलगू सबसे भिन्न है। उसे अपने लंगड़े बछड़े से ही अवकाश नहीं कि कहीं आये-जाये। उसका स्मरण आते ही बाबाजी चौंके थे।

सुनते हैं कि बेटे का ब्याह करके अलगू का बाप मरा था, किंतु स्त्री टिकी नहीं। वह कहीं और चली गयी। अलगू तबसे अकेला है। जूते बनाकर पेट पाल लेता रहा है वह; किंतु अब यह धंधा भी चल नहीं रहा। अपनी झोपड़ी में वह अकेला हैं, यदि उसके लँगड़े बछड़े को आप उसका साथी न गिने। अब वह लकड़ियाँ चुनता है, उपले लाता है और कुछ न मिले तो शीशम के पत्ते, झरबेरी, बेल, उदुम्बर के पके फलों से अपना काम चला लेता है।

एक गाय थी अलगू के; किंतु अति वृष्टि में वह भी ठंड से अकड़कर चल बसी। गाय के बछड़े का एक पैर बचपन में ही टूट गया, दौड़ते समय किसी दरार में पड़कर। किसी काम आ सके, ऐसा वह रहा नहीं; किंतु अलगू तो उसे देवता मानता है।पहिले वह गाय की पूजा करता था, तब कुछ समझ में आने की बात भी थी। गौ

माता है। विद्वान पण्डित लोग भी गाय को हाथ जोड़ते हैं। गाय की पूजा करते भी लोगों को देखा गया है। किंतु लँगड़े बछड़े की पूजा करने लगा। कहता है-'गाय देवी माता हैं तो उनका बेटा देवता कैसे नहीं है !'

आजकल फूल कहीं मिलते नहीं। अलगू आम, नीम या शीशम के पत्तों की माला ही बछड़े को पहिना देता है। वह उसके चारों खुर धोकर पीता है। बछड़े को दण्डवत् प्रणाम करता है। बछड़े के छोड़े घास-पत्तों में से कुछ-न-कुछ पत्ते खा लिया करता है। रात में बछड़े के पास ही भूमि पर सोता है। बछड़ा गोबर करें या मूत्र- तुरंत स्वच्छ करेगा। अपने गमछे से बछड़े को पोंछता रहेगा। बछड़ा हुंकार करें तो दोनों हाथ जोड़कर उसके सामने सिर झुकाएगा।

लोग अलगू का परिहास करते हैं। बाबा बजरंगदास ने उसकी बातें सुनी हैं। बहुत लोग उसे 'बछड़ा भगत' कहकर चिढ़ाते हैं। इस वर्ष कुओं का जल घटने लगा, किंतु अलगू की कुइयाँ में पानी आज भी नहीं घटा है। हरिजन बस्ती में सरकारी कुआँ दो वर्ष पहिले बना है। उससे पहिले हरिजन गाँव के बाहर के कुएँ से पानी लाते थे। पानी लाने गया था अलगू उस कुएँ पर तो गाँव के ठाकुरों के खेत में पानी जा रहा था उस कुएँ से। अलगू ने मोट का पानी न लेकर कुएँ से खींचना चाहा तो ठाकुर ने कुछ कहा-सुना। लौटकर अलगू यह कच्ची कुइयाँ खोदने में लग गया था। सात दिन में इस कुइयाँ में पानी आ गया था और हरिजनों के लिये पक्का कुआँ बनने तक यह कुइयाँ हरिजनों की पूरी बस्ती को जल पिलाती थी। अब थोड़ी-सी भूमि घेर रक्खी है अलगू ने। दूसरा कोई होता तो उसमें चार बेल लगाता कुम्हड़े, तोरई की; किंतु अलगू उसमें कभी ज्वार बोता है, कभी अरहर, कभी सन और कुछ न हो तो घास। अपने बछड़े का पेट भरने को छोड़कर उसे दूसरी चिन्ता ही नहीं रहती। इस अकाल में भी उसका घेरा घास से हरा है। सबेरे-शाम वह पानी खींच-खींचकर थक जाता है उस घेरे को गीला रखने के लिए।

आज बाबा बजरंगदास को अचानक स्मरण आया है कि अलगू धर्मात्मा है। वह कहाँ कोई नौकरी व्यापार करता है कि उसे कुछ काला-सफेद करने को विवश होना पड़े। अचानक ही कल रात बाबा बजरंग-दास ने एक पोथी उल्टते हुए पढ़ा- 'वृषभ धर्म का रूप है।' उन्हें स्मरण हो आया कि पिछले वर्ष जो भागवती पण्डित आश्रम पर कथा बाँचने आये थे, उन्होंने भी कुछ ऐसा ही कहा था कि 'राजा परीक्षित को बैल के रूप में धर्म के दर्शन हुए। उस बैल के तीन पैर टूटे हुए थे।' अलगू का बछड़ा भी तो लँगड़ा है। उसके तीन पैर नहीं टूटे हैं तो क्या हुआ, वह पूरा धर्म नहीं सही, धर्म का रूप तो है। अलगू उस बछड़े की पूजा करता है। तब कहीं हनुमान्जी का संकेत।

अलगू तो हक्का-बक्का रह गया कि उसकी झोपड़ी के द्वार पर ये बाबाजी आये हैं। उसके पास तो उन्हें आसन देने योग्य कुछ भी नहीं है। दूर पृथ्वी पर सिर रखकर वह काँपता हुआ खड़ा हो गया है। बाबाजी की दृष्टि अलगू के बछड़े पर है। अब यह दो वर्ष का बछड़ा बैल लगता है। गले में पत्तों की माला, मस्तक पर सफेद मिट्टी का टीका और पास में गुग्गुल की धूप जल रही है। अलगू अपनी पूजा से ही उठकर आया है। बाबाजी ने फिर पूछा- 'यह तुम्हें किसने बताया कि बछड़े की पूजा किया करो?'

मुझ चमार को भला, कौन बतायेगा'- अलगू उसी प्रकार दीन स्वर में बोला। 'बाप गाय की पूजा करता था। मैं भी बचपन से वही करने लगा। एक बार काशीजी गया था। दशाश्वमेधघाट की सीढ़ियों पर एक नंगे सन्त रहते थे। कोयले की भाँति वे काले थे और उनकी आँखे लाल-लाल थीं। उन्होंने सीढ़ियों पर ही एक काला बछड़ा लोहे की जंजीर में बाँध रखा था। बछड़े के गले में फूलों की माला मैंने देखी थी। कोई बाबाजी को पूड़ी, मिठाई या फल देता था तो बछड़े के आगे रख देते थे। बछड़ा खा लेता तो उसमें से बचा-खुचा स्वयं खा लेते। बछड़ा सूँघकर छोड़ देता था तो फेंक देते थे।'

'ओह, तो उन महात्मा ने तुम्हें यह बताया है। तुम उनके शिष्य हो।' बाबा बजरंगदास ने श्रद्धापूर्वक कहा।

'वे तो मौन रहते थे। मुझ-जैसे पापी चमार को भला, वे चेला क्यों बनाते।' अलगू सहज भाव से बोला। 'मैं तो दूर से उनके सामने मत्था टेककर चला आया था। मेरी गौ माता मर गयी तो मुझे उन महात्मा की याद आ गयी। मैं गौ माता के बछड़े की सेवा करने लगा। एक बार एक पण्डित जी ने बताया था कथा में कि कलियुग में सेवा ही बड़ा धर्म है। मुझ नीच जाति से आप-जैसे महात्मा या कोई ब्राह्मण तो सेवा करायेंगे नहीं, गौ माता के बेटे की सेवा करता हूँ।

'भाई अलगू, मैं तो साधु हूँ और तुम्हारे दरवाजे पर आया हूँ।' बाबा बजरंगदास ने विनय के स्वर में कहा। 'तुमसे भिक्षा माँगता हूँ। साधु को नहीं करोगे तो पाप होगा। तुमको कभी ठाकुर ने गालियाँ दी थीं, उनको क्षमा कर दो।'

'इसमें क्षमा की बात क्या है। चमार को तो बड़े लोग गाली देते ही हैं।' अलगू बड़ी दीनतापूर्वक बोला।' 'महाराज, ठाकुर-ब्राह्मणोंकी गाली तो हमारे लिए आशीर्वाद है। आप कहाँ की कितनी पुरानी बात उठा लाये हैं। मैं तो उसी दिन भूल गया उस बात को।'

'तुम भूल गये; किंतु तुम्हारे ये धर्मदेवता नहीं भूले हैं। यह अकाल इस प्रदेश पर इनके कोप से आया है।' बाबा जी ने हाथ जोड़ दिये। 'मैं तुमसे क्षमा माँगने, प्रार्थना करने आया हूँ कि लोगों पर, यहाँ के पशु-पक्षी, आदि सभी प्राणियों पर दया करो। तुम

इनसे प्रार्थना करोगे तो अवश्य वर्षा होगी।'

'महाराज! मेरे प्रार्थना करने से वर्षा हो जाय, लोगों की विपत्ति मिटे तो मैं क्यों प्रार्थना नहीं करूँगा। मैं ही क्या कम विपत्ति में हूँ वर्षा न होने से?' अलगू ने भूमि पर सिर रखा। किंतु आप मुझे अपराधी मत बनाओं। मुझे आप आशीर्वाद दो।'

बाबा बजरंगदास के विदा होते ही अलगू अपने लँगड़े बछड़े के पैरों के पास हाथ जोड़कर बैठ गया- 'देवता! तुम वर्षा करा सकते हो! वर्षा कराओ देवता! पानी बरसने दो। सबकी विपत्ति दूर होने दो। वह आँखें बन्द किये बोलता जाता था। उसे पता भी नहीं था कि वायु का वेग कब बढ़ा। कब आकाश भूरे घने मेघों से ढ़क गया। उसने तो चौंककर तब बछड़े के सम्मुख मस्तक रखा, जब मेघ-गर्जना के साथ झड़ी की बूँदों ने द्वार से आकर उसकी पीठ भिगो दी।

❑❑

सहानुभूति

'जेना कहाँ है!' प्रात:काल जलपान की मेज पर छोटी पुत्री को न देखकर गृहपति ने साधारण भाव से ही पूछा।

'जेन! अरी जेना! कहाँ है तू?' माता ने वहीं से पुकारा और जब कहीं से कोई उत्तर नहीं मिला, अपनी अत्यन्त चञ्चला कन्या को वे ढूँढ़ने उठीं। वह कहीं तितलियों के पीछे फुदकती होगी अथवा खेत में खरगोश के पीछे भाग रही होगी।

'जेना बड़ी सड़कपर जा रही थी।' अचानक इस दम्पत्ति का पुत्र वहाँ आ गया– 'फूलों की डलिया थी उसके हाथ में। मैंने दूर से पुकारा तो केवल हाथ हिला दिया उसने।'

'वह कहीं आज फिर अपोलो के यहाँ तो नहीं चली गयी? भारी-भरकम शरीर वाली गृहस्वामिनी के मस्तक पर पसीनें की बूँदे आ गयीं। वे लौटीं कक्ष की ओर और दूर से ही बोलीं–'तुम्हारी लाड़ली जैना आज फिर उस जादूगरनी के यहाँ चली गयी। और उसे सिर चढ़ाओ।'

'कहाँ गयी जेना?' गृहपति ऐसे चौककर उठे, जैसे उन्हें बिच्छू ने डंक मार दिया हो।

'वह तो कबकी पहुँच गयी होगी।' उनके बड़े पुत्र का स्वर भी शिथिल हो गया। परिस्थितिकी गम्भीरता अब उसकी समझ में आ गयी थी। उसने अनुभव किया कि वह स्वयं कम दोषी नहीं है। जब उसने अपने प्रात:कालीन भ्रमण से लौटते समय अपनी छोटी बहिन को जाते देखा, तब उसे लौटा लाने का यत्न उसने क्यों नहीं किया; किंतु उसे पता क्या था कि वह नन्ही लड़की कहाँ जा रही हैं।

'हे भगवान्!' गृहपति धम से गिर गये आराम कुर्सी पर और दोनों हाथों से सिर पकड़ लिया उन्होंने।

'अब क्या होगा!' गृहस्वामिनी की आँखें स्थिर हो गयी थीं। वे अपने पति के कंधों पर दोनों हाथ रखकर कुर्सी के पीछे ही खड़ी रह गयी।

अभी कल ही उनकी जेना उस जादूगनी के यहाँ गयी थी। कितने रुष्ट हुए थे उपासना-गृह के प्रधान पुजारी। किंतु कल की बात आज तो नहीं हो सकती। 'योग किप्पूर' का पवित्र दिन वर्ष में कोई बार-बार तो आता नहीं। अब आज जब यह समाचार सबको मिलेगा- समाज के लोगों का जो रोष इस परिवार पर उतरेगा, वह तो है ही; यहोबा का क्रोध, पता नहीं, कौन-सी विपत्ति ढाहेगा।

वह दस वर्ष की गोल मुख-सुनहले, केश, भूरी भोली आँखों वाली गोलमटोल गुड़िया-जैसी चञ्चल बालिका जैना। वह बच्ची अभी कुछ समझती ही नहीं। कल भी वह अपोलों के यहाँ चली गयी थी इसी प्रकार बिना किसी से कुछ कहे।

'बेचारी बुढ़िया बहुत बीमार है। उससे उठा बैठा भी नहीं जाता। उसे कोई पानी देने वाला भी नहीं।' कल सीधे उपासना-मन्दिर में बाहर से दौड़ी-दौड़ी जेना आयी। प्रार्थना का प्रमुख पर्व, भीड़ से भरा उपासना-गृह और उस भीड़ में सीधे प्रधान पुजारी के पास जाकर उनका लबादा पकड़कर कहने लगी-'मैंने उसके लिए यहोबा से प्रार्थना की है। आप भी उसके लिए प्रार्थना करें।

'तू किसकी बात कर रही है?' प्रधान पुजारी ने स्नेहपूर्वक जेना के कपोल थपथपाकर पूछा था।

'वह जो नगर के बाहर थूहरों के घेरे में सफेद बालों वाली बुढ़िया रहती है।' जेना ने बालसुलभ सरलता से कहा।' 'वह जानवरों की भीड़ जुटा रखने वाली पोपले मुख की बुढ़िया अपोलो बीमार है।'

'तू उसके यहाँ गयी थी!' प्रधान पुजारी चौककर दूर हट गये 'तूने मुझे भी छूकर अपवित्र किया।'

'वह अच्छी बुढ़िया है! बीमार है इन दिनों। उसे पानी देना था।' जेना के नेत्रों में सरलतामात्र थी।

'यह बच्ची है। मैं क्षमा चाहता हूँ इसकी ओर से।' जेना के पिता प्रधान पुजारी के सम्मुख आ गये थे। पश्चात्ताप से उनका स्वर भर आया था। पुत्री को खींचकर पीछे कर दिया था उन्होंने।

'अच्छी बात!' प्रधान पुजारी के मुख पर से रोष की रेखाएँ मिटी नहीं थीं; किन्तु कल 'योगकिप्पूर'का (अपराध-क्षमापन का) पवित्र दिन था। मनुष्य यदि मनुष्य के अपराध क्षमा नहीं करेगा तो यहोबा (परमात्मा) से अपने अपराध की क्षमा पाने की आशा वह कैसे कर सकता है। बड़े-से-बड़ा अपराधी इस पवित्र दिन क्षमा माँगे तो उसे क्षमा करना ही पड़ता है। उसके अपराध की फिर चर्चा या चिन्तन कोई नहीं करता। ऐसे पवित्र दिन नन्हीं जेना के अपराध की क्षमा उसके पिता ने माँगी तो प्रधान

पुजारी क्षमा-दान के लिए स्वत: विवश था।

'पर उस जादूगरनी को क्षमा नहीं मिलेगी।' प्रधान पुजारी ने अपनी झुंझलाहट दूसरे रूप में प्रकट की।'उसकी ओर से कोई क्षमा-प्रार्थना करेगा तो उसे भी क्षमा नहीं किया जायगा।'

भला, उसकी ओर से कोई क्षमा-प्रार्थना करेगा भी क्यों? कौन नहीं जानता कि वह यहोबा की अपराधिनी है। ईश्वर को मानती ही नहीं। अपनी युवावस्था की यरुशलम की वह कुख्यात गणिका अब वृद्धावस्था में जादूगरनी बन गयी है। उसने शेर, चीते, रीछ, सर्प, पता नहीं क्या-क्या पाल रक्खे हैं। सुना तो यह भी जाता है कि शैतान भी उसके वश में है। चोर, डाकू, बदमाश, उचक्के, आदि सब देश तथा समाज के शत्रु उसके यहाँ आश्रय पाते हैं। उसे अपनी झोपड़ी के साथ कब का फूँक दिया गया होता; किन्तु किसी का साहस ही उधर जाने का नहीं होता, वह जादूगरनी जो ठहरी, क्या पता उसने अपने शत्रुओं को ही कुत्ता, गधा, रीछ बनाकर अपने यहाँ पाल रक्खा हो।

किंतु तथ्य यह है कि नगर के इतने निकट रहने पर भी वृद्धा अपोलों के सम्बन्ध में कोई ठीक-ठीक कुछ नहीं जानता। भाँति-भाँति की बातें उसके सम्बन्ध में कही-सुनी जाती हैं। परंतु कोई उसके थूहरों के घेरे के समीप भीतर झाँकने का भी जाने का साहस नहीं कर पाता। वह एक आतङ्क है नगर के लोगों के लिए।

ऐसा भयावह स्थान पर जेना पता नहीं कैसे चली गयी। वह कब से जाती है, यह भी किसे पता है। पहली बार कल पता लगा; किंतु कल था 'योगकिप्पूर' का पवित्र दिन। अब आज क्या होगा? वह तो आज फिर वहाँ पहुँच गयी है।

× × ×

'जेना को त्याग देना होगा।' उपासना-गृह के प्रधान पुजारी ने सांयकालीन प्रार्थना के पश्चात् नगरजनों की उपस्थिति में जेना के पिता को अपना निर्णय सुना दिया। बड़ा उदास स्वर था उनका। अपने निर्णय के लिए वे स्वयं बहुत क्षुब्ध-विवश जान पड़ते थे। 'उसके जादू के प्रभाव में यह सम्पूर्ण रूप से आ चुकी है।देश समाज तथा यहोबा के शत्रु को क्षमा नहीं किया जा सकता। इसे घर में रखना हो तो आपको भी नगर त्याग करना पड़ेगा। इसके साथ आपको न समाज में सम्मिलित रहने की अनुमति दी जा सकती है और न नगर में रहने की।'

'मुझे क्षमा करें ! इस प्रकार शैतान का बल बढ़ा रहे हैं आप।' एक युवक अब तक की परम्परा के सर्वथा विरुद्ध उठ खड़ा हुआ। नन्हीं जेना के भोले मुख को देखकर उसे

सहानुभूति हो आयी थी। यद्यपि प्रधान पुरोहित का प्रतिवाद करना अपने-आप में बड़ा अपराध था, फिर भी उसका अन्तर इस समय विद्रोह कर उठा था। 'वह बुढ़िया बीमार है। आज या कुछ काल में मर-खप जायगी; किंतु जेना को हम बहिष्कृत कर देंगे और यह उसका आश्रय ले लेगी तो बुढ़िया अपना जादू इसे सिखाकर मरेगी। यरुशलम के सिर से विपत्ति के बादल, जो शीघ्र टल सकते हैं, यहीं जमकर रह जायँगे।'

'यदि श्रीमिडहोम (जेना के पिता) सपरिवार उसके यहाँ चले गये?' युवक की बात का प्रभाव सभी उपस्थित लोगों पर पड़ा था। सब इस आशङ्का से ही काँप उठे थे कि यह सुन्दर बच्ची भी जादूगरनी बन सकती है और अनेक वर्षों तक उन सबसे गिन-गिनकर बदला लेती रह सकती है एक अन्य तरुण ने उठकर इस आशङ्का को अत्यधिक बढ़ा दिया-'यह निर्णय तो विपत्ति को बहुत बढ़ानेवाला है। इससे समाज का सर्वनाश सम्भव है। शैतान के बल को बढ़ानेवाला कोई निर्णय नहीं होना चाहिए।'

'यहोबा!' प्रधान पुजारी ने आकाश की ओर दृष्टि उठायी- 'मुझे प्रकाश दो, प्रभु!'

'यहोबा! यहोबा!' प्रधान पुजारी प्रार्थना प्रारम्भ भी नहीं कर सके थे कि एक गड़रिया दौड़ता-हाँफता भीड़ में घुसता चला आया। नंगे पैर, फटा मैला पायजामा, फटी कमीज, तिनकों और धूलिसे भरे सिर तथा दाढ़ी के केश। उसके शरीर तथा वस्त्रों से पसीने के साथ भेड़ों की देह से निकलने वाली दुर्गन्ध आ रही थी। किंतु उसका ध्यान न अपनी ओर था और न उपासना-गृह में उपस्थित भीड़ की ओर। वह सीधा प्रधान पुजारी के सम्मुख आया और झुककर उसके चोगे का छोर चूमते हुये बोला- 'कोह सुलेमान का तपस्वी उतर आया है। वह यरुशलम की ओर आ रहा है। मेरे बेटे ने उसे आते देखा है। वह आज से चार दिन दूर के चरागाह से कल रात भागता, घोड़ा दौड़ाता कल घर आया। मैं तुरंत आपको सूचित करने घोड़े पर बैठ गया था।'

'कोह सुलेमान के तपस्वी आ रहे हैं नगर की ओर!' वहाँ उपस्थित नागरिकों में कानाफूसी होने लगी। सबके लिए यह उत्साह-वर्धक समाचार था। इतने बड़े तपस्वी के स्वागत-समारोह की रूपरेखा भी सोचना लोगों ने प्रारम्भ कर दिया।

'अभी जेना के अपराध का विचार स्थगितकर दिया जाय।' प्रधान पुजारी ने घोषणा की। 'वह अभी अपने परिवार में रहे। वे महान् तपस्वी आ रहे हैं। हम उनसे ही प्रार्थना करेंगे कि इस विषय में हमें क्या करना चाहिए, यह आदेश दें।'

× × ×

'ये तपस्वी कहाँ जा रहे हैं?' यरूशलम के नागरिकों को तथा वहाँके उपासना-गृह के पुजारियों को भी इस बात से कोई आश्चर्य नहीं हुआ था कि तपस्वी ने तब

मस्तक नहीं उठाया, जब नगर से बाहर पर्याप्त दूर आकर उन लोगों ने स्वागत किया। तपस्वी ने किसी की ओर नेत्र उठा कर नहीं देखा। जयघोष, वन्दना तथा अन्य स्वागत की क्रियाओं पर उसने किंचित् भी ध्यान नहीं दिया। जैसे वह कुछ नहीं सुनता, कुछ नहीं देखता और उसके सम्मुख यह मनुष्यों की भीड़ है ही नहीं, इस प्रकार चलता रहा। इससे कोई चकित नहीं हुआ; किंतु तब लोग चौंके जब तपस्वी बुढ़िया जादूगरनी के थूहरों वाले घेरे की ओर मुड़ा।

कोह सुलेमान का यह तपस्वी – सुना जाता है कि वर्षों से यह इसी प्रकार मौन है। किसी की ओर देखता नहीं। किसी से कोई संकेत नहीं करता। गड़रिये जो दूध और पनीर उसके पास रख जाते हैं, उसमें-से बहुत थोड़ा खाता है। शेष कुत्ते चट कर जायँ या कौवे, उसे पता तक नहीं लगता। किसी ने उसे हँसते-रोते या बोलते नहीं देखा। एक लाबादा-वही या वैसा ही लाबादा उसकी देह पर होता है, जैसे आज। सर्दी पड़े या गरमी, आकाश से पानी गिरे या बर्फ, वह अपनी चट्टान पर चुप-चाप लबादा ओढ़े बैठा रहता है। आज पता नहीं कितने वर्षों के बाद उतरा है वह पहाड़ से।

थूहरों के घेरे के समीप आकर सब ठिठक गये। एक अज्ञात भय से प्रायः सबके शरीर में रोमांच हो आया-पता नहीं वहाँ भीतर क्या है? वहाँ जाने पर किसके साथ क्या बीते? प्रधान पुजारी तथा उसके कुछ शिष्यों के साथ नगर के थोड़े ही लोगों ने तपस्वी के पीछे घेरे में जाने का साहस किया। उन्हें यह देखकर आश्चर्य हुआ कि वहाँ चौकाने वाली कोई बात यदि है तो केवल एक बहुत बूढ़ा रीछ है, जो घेरे के एक कोने में इस प्रकार पड़ा है, मानो बीमार हो। दो गधे, तीन कुत्ते, एक बकरा-बस, ऐसे ही दो-तीन और छोटे पशु वहाँ थे। साधारण साग-सब्जी की खेती भी कुछ क्यारियों में थी; किंतु पशुओं को चरने की छुट्टी जान पड़ती थी। थोड़े-से-फूलों के जंगली पौधे इधर-उधर उगे थे।

तपस्वी के पीछे द्वार पर पहुँचते ही प्रधान पुजारी ने देखा कि भीतर खाट पर बुढ़िया पड़ी है। आज भी जेना यहाँ आ गयी है और कुछ पिला रही है इस रोगिणी जादूगरनी को। कहीं भी तो उसका झोला (जो जादूगरनी के पास होना ही चाहिए) नहीं दीखता। प्रधान पुजारी कुटिया में चारों ओर दृष्टि दौड़ा गया। उसे वहाँ खोपड़ियाँ, बंदर के सूखे पंजे, रीछ का सिर-पता नहीं क्या-क्या देखने की आशा थी;किंतु कुटिया में तो केवल दो-चार बर्तन, एक घड़ा और एक चूल्हा भर दीखा उसे।

आप मुझ पर कृपा करें! मैं दूर से आया हूँ! तपस्वी के स्वर ने प्रधान पुजारी को चौंकाया। तपस्वी तो बीमार बुढ़िया के कदमों पर सिर रगड़कर रो रहा है- 'मैं पूरी आधी शती से आराधना में लगा हूँ; इसके प्रमाण मेरे ये केश हैं! अब तक मेरी आराधना अस्वीकार ही हुई है।'

छोटी जेना एक ओर डरकर खड़ी हो गयी थी। पुजारी द्वार पर ही ठिठककर रुक गया था। उसके साथ आने वाले कुटिया से बाहर ही रह गये थे; क्योंकि पुजारी-के खड़े रह जाने से द्वार रूक गया था। तपस्वी अपनी जटाओं से बुढ़ियाँ के पैर पोंछ रहा था; क्योंकि वे पैर उसी के आँसू से गीले हो गये थे। वह बहुत वर्षों के बाद आज बोल रहा था – 'मुझे अकस्मात् यहोबा की वाणी सुनायी पड़ी। वाणी ने आदेश दिया कि मैं आपके दर्शन करूँ और आपसे मार्गदर्शन प्राप्त करूँ। मुझ पर आप कृपा करें।

'मैं नहीं जानती कि परमात्मा कैसा है और कैसे उसे प्रसन्न किया जाता है। मैं तो पापजीविनी वेश्या थी। बुढ़ापा आया तो मेरा व्यापार बन्द हो गया। अनाथ होकर यहाँ झोपड़ी में आ गयी।' वृद्धा धीरे-धीरे रूक-रुक कर बोल रही थी। 'बचपन से इतना जानती हूँ कि दुखी प्राणी सहानुभूति का पात्र होता है। युवावस्था में जो धन कमाया था, वह सब दुखियों की सेवा में लग गया। अब भी मैं यह देख नहीं पाती हूँ कि मेरे यहाँ आनेवाला कौन है- कैसा है। आहत, असहाय, रोगी, मनुष्य हो या पशु- मैं सहानुभूति के अतिरिक्त उसे दे भी क्या सकती हूँ। किंतु सच पूछिये तो सहानुभूति की देवी है यह नन्हीं बच्ची। इसकी सहानुभूति ने मुझे भी सहारा दिया है। दुखी प्राणियों से सहानुभूति-मैं इतना ही जानती हूँ।

× × ×

तपस्वी तत्काल लौट गया। वृद्धा ने उसी दिन शरीर छोड़ दिया; किंतु जेना देवी मान ली गयी उस समय में, ऐसा सुना गया है।

सादगी

उनके शरीर में बहुत अधिक फुंसियाँ थीं। उनमें जलन रहती थी। खुजली होती थी। प्रायः आँव पड़ती थी। भूख लगती नहीं थी। सिर में दर्द होना साधारण बात थी। दूसरे भी अनेक रोग थे। वे बहुत सम्पन्न थे। समाज में प्रतिष्ठा थी। अच्छे समझदार तथा उच्च शिक्षा प्राप्त थे। भव्य शरीर मिला था उन्हें अपने शुभ कर्मों के फलस्वरूप; किंतु रोगों ने उन्हें युवावस्था में ही जर्जर बना दिया था।

'भाई साहब!' वे मुझे इसी प्रकार पुकारते थे। सजातीय होने तथा आयु में छोटे होने से उन्होंने इसे अपना अधिकार मान लिया था कि मुझे बड़ा भाई मानकर खुला व्यवहार करें। बहुत दुःखी होकर आज वे आये थे– 'अब तो शरीर छोड़ देने को जी करता है।'

उन्होंने डाक्टर–वैद्यों की बहुत चिकित्सा कर ली थी। अनेक बड़े नगर में घूम आये थे। खूब इंजेक्शन लगे थे और चूर्ण, गोलियाँ, अवलेह कितना खाया था, कुछ ठिकाना नहीं था। तैल, मरहम आदि भी भरपूर मला गया था। औषधि के बिना भी मनुष्य दो–चार दिन जी सकता है, यह सोचना ही कठिन था उनके लिए। उनका कहना था– 'मैं तो दवा खाते ही पैदा हुआ। दवा मुँह में पहले गयी, माता का दूध पीछे मिला।'

मैं चिकित्सा–व्यवसायी नहीं हूँ। किसी भी चिकित्सा पद्धति का अच्छा जानकार भी नहीं हूँ। आयुर्वेद, होम्योपैथी तथा प्राकृतिक चिकित्सा–पद्धति से थोड़ा–थोड़ा परिचय है और कोई पीड़ित हो तो उसका उपचार करना अच्छा लगता है। इसलिए किसी चिकित्सा–पद्धति में मेरा आग्रह तथा आस्था नहीं है। रोग कर्म भोग है। कर्म फल का भोग होने पर मिटते हैं और अशुभ कर्म के फलोदय काल आने पर होते हैं। चिकित्सा भी एक प्रकार का प्रायश्चित्त है अशुभ कर्म का। अतएव जो रोगी सामने आया है, उसका कष्ट निवारण जैसे भी शीघ्र एवं सरलतापूर्वक सम्भव हो, वही पद्धति ठीक। विभिन्न व्यक्तियों के लिए विभिन्न पद्धतियाँ उपयुक्त हो सकती है, ऐसी मेरी धारणा है।

गर्मी की ऋतु थी; किन्तु वे सुसभ्य व्यक्ति हैं। समाज में सुंसंस्कृत एवं सम्मानित माने जाते हैं। अंग्रेजी शिक्षा तथा वेश उन्हें प्रिय है। मेरे पास वे कोट-पतलून के पूरे वेश में ही आये थे। मैंने उन्हें जब देखा, इसी वेश में देखा है।

'देखो महेश, तुम अच्छे हो सकते हो! तुम्हें केवल कुछ महीने अपने-आपको मेरे निर्देश के अनुसार चलाने को प्रस्तुत करना पड़ेगा।' मैंने उनसे कहा- 'निराश होने की कोई बात नहीं।'

'मैं अभी-इसी क्षण से प्रस्तुत हूँ।' उनके स्वर में मुझे दृढ़ता तथा सच्चाई की झलक मिली।

'ठीक है। इसी क्षण से श्रीगणेश करो!' मैंने उनसे कहा- 'देखो यह आश्रम है। यहाँ संकोच करने की आवश्यकता नहीं। यह कोट, कमीज, पतलून उतार डालो। जाँघिया और गंजी बहुत हैं इस मौसम में इस स्थान पर।'

मैं केवल धोती पहने खुले शरीर बैठा था, अतः उनको मेरी बात मानने में कठिनाई नहीं हुई। मैंने उनसे कहा- 'यह तुम्हारी चिकित्सा का पहला पाठ है। इन वस्त्रों को घर जाकर विदा कर दो। खादी की धोती-कुर्ता पहिनकर तुम अपने सभ्य परिचितों में मजे से जा सकते हो।'

× × ×

'आज तुम्हारा पेट भरा नहीं होगा।' आश्रम में भोजन की घंटी बजी तो महेश ने भी हम सबके साथ ही भोजन किया था। गेहूँ-चने के मिले आटे की रूखी रोटियाँ, मोटे चावल का भात, बिना छौंक की दाल और बिना मिर्च-मसाले का उबला हुआ लौकी का शाक। आश्रम के चौके में घी जाता ही नहीं। जो व्यक्ति खूब घी-मसाले से भरपूर चटपटा भोजन करता आया है, अचार चटनी, तीन-चार शाक, कोई मीठी वस्तु जिसके प्रतिदिन के भोजन के अनिवार्य अङ्ग है, उसकी तृप्ति आश्रम से कैसे हो सकती थी।

'भाई साहब! आज मेरा पेट खूब भरा है।' महेश ने अपने उत्तर से मुझे प्रसन्न किया- 'मुझे तो यह भोजन बहुत प्रिय लगा है।'

'यह तुम्हारी चिकित्सा का दूसरा पाठ है- सादगी का दूसरा पाठ। तुम्हारे घर के भोजनालय में अब यह आदर्श रखकर भोजन बनेगा!'

'लेकिन घर में और लोग भी है।' महेश ने आपत्ति की- 'बाहर के अतिथि भी आया ही करते हैं।'

'इस भ्रम को मन से निकाल दो कि मिर्च-मसाला, अचार-चटनी तथा मिठाई के बिना भोजन रूचिकर नहीं होता। तुम्हारे-जैसी ही रूचि दूसरों को भी है और तुम देखते ही हो कि यह भोजन तुम्हें प्रिय लगा है।' मैंने समझाया- 'मक्खन और घी अपने यहाँ चलने दो; किंतु कम कर दो। खटाई-मिच जो चाहें, उन्हें देने की व्यवस्था रक्खो। मेवे तथा फल बढ़ा दो भोजन में। फलतः किसी को तुम्हें दरिद्र या कृपण कहने का अवकाश नहीं रहेगा। तुम इसी अयश से तो घबरा रहे हो।'

'मुझे बाहर मित्रों के यहाँ जाना पड़ता है।' महेश ने यह कठिनाई ठीक ही सूचित की।

'जहाँ तक सम्भव हों, ऐसी गोष्ठियों से बचो!' मध्यम मार्ग ही निकालना आवश्यक था- 'अवसर आने पर चाय, काफी तथा शीतल पेय कम-से-कम लो। जहाँ तक सम्भव हो, नहीं लो तो अच्छा। भोजन ही करना पड़े तो थोड़ा खाकर, मिर्च-मसाले के पदार्थ छोड़कर, कुछ भूखे पेट उठने में हानि नहीं है। पेट को उस समय या पीछे भी फल खाकर भर ले सकते हो।'

'मैं प्रयत्न करूँगा!' विदा होते समय महेश केवल इतना कह गये थे। उनके स्वर में उत्साह नहीं था। मैंने उन्हें कोई औषधि नहीं बतलायी थी। जो व्यक्ति देश के सुयोग्य चिकित्सकों का उपचार कर चुका हो, उसे औषधि बतलाने की भूल करने से मैं प्रायः बचता हूँ; क्योंकि ऐसी अवस्था में दोष कहीं ऐसे स्थान पर होता है, जहाँ चिकित्सा सिद्धान्त सामान्यतः संकेत नहीं करते।

'भाई साहब!' महेश मुझे केवल दो महीने बाद मिले उसके और बहुत प्रसन्न दिखाई पड़े। उनके शरीर पर इस बार हिमश्वेत धोती-कुर्ता था तथा पैरों में चप्पल। उल्लासपूर्वक उन्होंने बतलाया- 'आपकी सादगी के दोनों पाठ मेरे लिए बहुत लाभदायक सिद्ध हुए हैं। क्या आप अगला पाठ देना आज ठीक समझते हैं?'

उन्हें भूख लगने लगी थी। आँव पड़ना बंद हो गया था। शरीर अभी पूर्णतः रोगरहित नहीं हुआ था; किंतु आशा हो गयी थी कि स्वास्थ्य प्राप्त हो जायगा। बड़े उल्लास पूर्वक उन्होंने कहा- 'मैंने पिछले पूरे एक महीने से कोई औषधि नहीं खायी है। अब विश्वास हुआ है कि मैं औषधि-सेवन के बिना भी जीवित रह सकता हूँ।'

'अब भी बहुत कुछ करना शेष है।' मैंने उनसे कहा- 'मैं मानता हूँ कि भोजन तथा वस्त्र की सादगी ही सम्पूर्ण सादगी नहीं है। आडम्बरपूर्ण वाणी का भी त्याग होना चाहिए। साथ ही व्यवहार में भी सहजता-सरलता होनी चाहिए। मानसिक स्वास्थ्य उत्तम रहे बिना शारीरिक स्वास्थ्य उत्तम नहीं रह सकता और मानसिक स्वास्थ्य उत्तम

रहे, इसके लिए व्यवहार तथा वाणी में सादगी अपेक्षित है।'

'आपका यह तीसरा पाठ बहुत कठिन है।' वे हँस कर बोले- 'लेकिन यह अन्तिम पाठ है न?'

वे ऐसी भाषा बोलते हैं, जैसी भाषा साहित्यिक निबन्धों में लिखी जाती है। शुद्ध हिंदी का आग्रह उन्हें नहीं है। अरबी, फारसी, अंग्रेजी के शब्दों की भरमार रहती है। संस्कृत शब्दों के साथ; किंतु बोलने की शैली, स्वरों के उच्चारण, अङ्ग तथा हाथ-पैर का संचालन सब अद्‌भुत एवं नाटकीय। उनके व्यवहार में भी लखनऊ के पुराने नवाबों का आडम्बर झलका करता है। अतः अपना पूरा स्वभाव बदलना उन्हें कठिन लगता ही था।

'केवल एक पाठ' और मैंने भी हँसकर ही कहा- 'लेकिन उसके लिए इस बार आपको मेरे साथ ब्रज की यात्रा करनी है।'

× × ×

एक दो-मंजिल का छोटा मकान था वह, जिसमें हम लोगों ने प्रवेश किया। वृन्दावन से एक साधु को मैं अपने साथ ले आया था; क्योंकि वे ब्रज के स्थलों से परिचित थे। महेश भी इस बार ब्रजयात्रा में मेरे साथ थे।

एक दुर्बल देह, श्यामवर्ण, श्वेतकेश, वृद्ध चटाई पर बैठे मिले उस मकान के ऊपर के कमरे में। मस्तक तथा दाढ़ी के केश सम्भव- पंद्रह दिन के बढ़े थे। शरीर पर बगलबंदी और कटि में एक वस्त्रखण्ड। वस्त्र स्वच्छ थे; किंतु मटमैले लगते थे। घर पर हाथ से धुले कपड़ों में जितनी सफेदी हो सकती है, उतनी उनमें थीं। कमरे में चारों ओर पुस्तकें फैली हुई थीं।

'नीचे नारायणजी थे?' मेरे साथ के साधु ने पूछा।

'हाँ, उसे बिलायत जाना है। इसलिए मैंने छः महीने के लिए अपने पास बुला लिया है।' उन्होंने बताया- 'वहाँ के कृत्रिम तथा विलासी जीवन में सुरक्षित रह सके, इतना अभ्यास यहाँ छः महीने रहने पर उसे हो जायेगा।'

विशेष पूछने पर पता चला कि नारायण उनके पुत्र का नाम है। इस वर्ष एक विश्वविद्यालय में विज्ञान से एम. ए. करने में उन्होंने सर्वोच्चता के अङ्क प्राप्त किये है। देश की सरकार ने विशेष प्रशिक्षण के लिए इंगलैड भेजना स्वीकार किया है उन्हें और सरकार के व्यय पर उन्हें जाना है। सपत्नीक वे जायेंगे। अतः यहाँ पिता के पास सत्पनीक संयम तथा सादगी का प्रशिक्षण प्राप्त करने आये हैं।

घुटा सिर, बड़ी-सी चुटिया, घुटनों से ऊपर तक ही कटि वस्त्र, मटमैली बगलबंदी- इस वेश में एक स्वस्थ सबल युवक हमें इस भवन में प्रवेश करते ही मिला था। वही उसी समय एक बड़े टोकरे भर घास छीलकर लाया था और कुट्टी काटने की तैयारी में था। मैं चौक गया, जब मुझे बताया गया कि वही युवक नारायण जी थे। साथ ही यह भी पता लगा कि नारायणजी की पत्नी नीचे चक्की चला रही है।

हम लोग देर तक बैठे रहे। चलने से पहले ही पूछा गया- 'भोजन करेंगे आप लोग?'

'भोजन तो नहीं करेंगे।' उन साधु ने कहा- 'किंतु बुआजी के हाथ की रोटी का एक-एक टुकड़ा प्रसाद स्वरूप अवश्य लेंगे।'

उन पण्डित जी के साथ उनकी वृद्धा बहिन भी रहती हैं। उन वृद्धा को ही साधु ने 'बुआ जी' कहा था। हम लोगों को एक-एक रोटी और थोड़ी-थोड़ी दाल (यदि उसे दाल कहा जा सके) दी गई। गेहूँ, चना, जौ, चावल के कण, दाल के कण आदि पता नहीं कितने अन्नों के मिश्रित आटे की वह रोटी थी और दाल- उस चार-पाँच व्यक्तियों के परिवार के लिए ढाई तोले दाल बनाई जाती थी। दाल में पानी ही था गरम-गरम, किंतु उसमें हल्दी, नमक के अतिरिक्त हर्र, आँवला, पीपल के टुकड़े तथा कुछ शाक के टुकड़े भी डाले गये थे।

'भाई साहब! भोजन इतना स्वादिष्ट भी हो सकता है, यह बात आज ही समझ में आई है।' महेश ने मेरे पास खिसककर धीरे से फुसफुसाते हुए कहा।

'किंतु तुम और रोटी नहीं पा सकते।' महेश को मैंने मना किया; किंतु स्वयं मेरी इच्छा थी कि यहाँ भरपेट भोजन करने की बात साधु ने अस्वीकार करके ठीक नहीं किया। लेकिन इस तपस्वी ब्राह्मण-परिवार को भूखे भी तो नहीं रखना था। क्या पता कि उनके घर और आटा होगा भी या नहीं, क्योंकि जिस घर में प्रत्येक सदस्य को तीन लाख नाम-जप प्रतिदिन दैनिक कार्य करते हुए भी करना ही पड़ता है, उस घर में अधिक आटा पीस लेने का अवकाश कैसे मिल सकता होगा। आटा तो घर के सदस्यों का पीसा ही काम में वहाँ आता है।

'मन में संसार से वैराग्य कैसे हो?' भोजन के पश्चात् चलते-चलते साधु ने अकस्मात् पण्डित जी से पूछ लिया।

'मेरे एक सम्बन्धी को मिठाई बहुत प्रिय लगती थी। उन्हें मधुमेह हो गया।' पण्डितजी ने बताया- 'चिकित्सकों ने समझा दिया कि मीठी वस्तु का सर्वथा त्याग किये बिना रोग नहीं जायगा। रोग बना रहा तो फोड़े निकलने प्रारंभ होंगे। बहुत कष्ट होगा। उनकी चीनी ही नहीं, आलू-चावल आदि भी छूट गए। संसार के विषय दुःख देगे- यह ठीक समझ में आ जाय तो वैराग्य अपने-आप हो जायगा। ! ऐसा न हो, तब

तक विवेक-विचार तथा प्रार्थना का ही सहारा है।'

'प्रार्थना कैसे की जाय?' महेश ने पूछा।

'भगवान पराये तो हैं नहीं कि उनसे कुछ कहने के लिए नियम-पालन करना पड़े।' पण्डित जी ने समझाया – 'वे अपने हैं। जैसे आप अपने लोगों से कुछ कहते हैं, उनसे कह लीजिए और जिह्वा को नाम-जप में लगाये रहिए।'

'भाई साहब! आज सत्युग के एक ऋषि-परिवार का दर्शन आपने करा दिया।' प्रणाम करके उस भवन से बाहर आते ही भरे स्वर में महेश बोले- सादगी का यह आदर्श धन्य है; किंतु भाई साहब! इस लक्ष्य को आदर्श मानकर केवल प्रयत्न कर सकूँ तो भी जीवन को धन्य मानूँगा। इसे अपना लेने की कल्पना भी अभी तो कठिन ही लगती है।'

❑❑

सरलता

माता-पिता ने उसका नाम तो बुधिराम रक्खा था; क्योंकि उसका जन्म बुध के दिन हुआ था; किंतु सृष्टिकर्ता-ने उसे बुद्धि देने की कृपा नहीं की। आस-पास के लोग उसे बुद्धू कहकर पुकारते थे और वह भी इसी शब्द को अपना नाम समझता था। अपने इस नाम के सर्वथा अनुरूप ही वह था। कुशल यह थी कि गड़रिये के घर में जन्म हुआ था। भेड़ें चराने का काम करना था अपने जीवन में उसे। भेड़ कितना नासमझ पशु है, यह तो आप जानते ही हैं।

मुझसे एक बार एक पशु-पालन-विद्या के जानकार ने कहा- 'किसी क्षेत्र की घास गायें चर चुकी हों तो उसमें घोड़े तथा खच्चर अपना भेट भर ले सकते हैं। घोड़ों के चरने योग्य घास न रह जाय तो भेड़ें वहाँ चरकर तृप्त होंगी। भेड़ भी न चर सकती हों, तब वहाँ बत्तख पक्षी चर सकते हैं।'

गाँव के बाहर दूर तक ऊसर भूमि थी। ऊसर के मध्य में तो नहीं; किंतु कुछ एक ओर हटकर ग्रामकालिका का पक्का चबूतरा था और एक नीम का वृक्ष था। बुद्धू की भेड़ों का वह ऊसर मुख्य चरागाह था। गर्मियों में जब गधे उस पर चरने को कुछ नहीं पाते थे। भेड़े इधर-उधर मुँह चलाती ही रहती थीं।

'मैंया! मैं एक झपकी ले लूँ। तुम तबतक मेरी भेड़ें ताके रहना।' बुद्धू ग्रामकालिका को 'कालीमाई' कहता था और जब उसकी अपनी माँ यदा-कदा उसकी भेड़ें संभाल लेती है, उसे घर भेज देती है तो यह चौरेवाली माँ थोड़ी देर उसकी भेड़ें क्यों नहीं संभाल सकती? वह सीधा-सा गँड़रियाँ अपनी सरल भाषा में अपनी बात कहकर वहीं चौरे से नीचे नीम की छाया में अपना मैला गमछा बिछाकर लेट जाया करता था। उसकी लाठी बगल में पड़ी होती, लोटा-डोरी समीप रक्खे होते और वह डेढ़-दो घंटे मजे में खर्राटा लेता पड़ा रहता। उनके शरीर पर चींटियाँ घूमती हैं या दूसरे कीड़े, इसका उसे कुछ पता नहीं होता। निद्रा प्राय: तब टूटती, जब वृक्ष की छाया दूसरी ओर हट जाती और उसके मुख पर धूप आ जाती। गमछा फटकारकर धूलि झाड़ दी,

लाठी तथा लोटा-डोर उठा ली और भेड़ों को सँभालने में लग गया।

कालीमाई बुद्धू की भेड़ सँभाल लें। गङ्गामाई में वह डुबकी लगा लेता है, जब भेड़ चराते गङ्गा के समीप पहुँच जाय। पीपल के नीचे जो शंकरबाबा की पिण्डी रक्खी है, वे केवल इतने काम आते हैं कि उसके सामने से निकलते समय उनको हाथ जोड़कर मस्तक झुका लिया जाय। इस प्रकार के और भी अनेक देव बाबा हैं, जैसे 'डीहबाबा' (ग्रामदेवता), 'सतीमाई' जैसी कुछ 'माई' भी है। किसी का चौरा है, किसी का टीला है, किसी का निवास किसी वृक्ष पर ही है। बुद्धू ने इनमें से किसी को देखा नहीं है, किंतु किसी के भी होने में उसे कोई संदेह नहीं है। वह सबको हाथ जोड़कर सिर झुकाता है समीप से निकलते समय, और इनमें-से किसी को कोई काम बताने में उसे संकोच भी नहीं होता। कोई भेड़ खो गयी हैं तो ब्रह्मबाबा उसे ढूँढ़ने में सहायता कर दें, कोई आँधी में भटक गयी है तो सतीमाई उसे बचाये रक्खें, कुएँ-नाले में गिरने न दें। ऐसी छोटी-मोटी प्रार्थनाएँ वह करता ही रहता है और उसे किसी से शिकायत नहीं है कि किसी ने कभी उसकी कोई प्रार्थना अनसुनी कर दी।

× × ×

'अबे ओ बुद्ध के बच्चे!' गाँव के ठाकुरसाहब क्रोध में भरे आये हैं उसके पास। इस समय वे कुछ भी कह सकते हैं।

'मालिक! मैं बुद्धू हूँ। मेरे बाप का नाम तो मँगलू है।' बुद्धू हाथ जोड़कर ऐसे सहजभाव से कह देता है, जैसे ठाकुर साहब ने उसे पहचाना नहीं हो। वह कहता ही जाता है- 'मेरा तो विवाह ही नहीं हुआ मालिक! मेरे बच्चा कहाँ से आयेगा।'

'कल तू मेरे खेत में भेड़ें क्यों नहीं लाया?' ठाकुरसाहब ने डाँटकर पूछा। वे जानते हैं कि बुद्धू से सिरपच्ची करना व्यर्थ है। वह गाली को भी कम ही गाली समझ पाता है। लेकिन आषाढ़ लग गया है। धान का बीज डालने वाले खेत में भेड़ें न बैठायी गयीं तो केवल खाद के बलपर धान का रोपा इतना नहीं बढ़ेगा कि गहरे खेत में लगाया जा सके। कल सवेरे इसीलिए अपने-आप बुद्धू के पास आये थे और कह गये थे कि वह शाम से चार-पाँच दिन उनके खेत में भेड़े बैठावे।'

'मालिक! मैं क्या कर सकता हूँ। बुद्धू असहायकी भाँति हाथ जोड़े सामने खड़ा कह रहा था- 'तिवारी पण्डित आये और भेड़ों को अपने खेत में हाँक ले गये। अब सात दिन का तो बन्धन हो गया उनके यहाँ।'

'आज शाम को मैं हाँक ले जाऊँगा। बन्धन तेरा मेरे यहाँ पहले का है। मैंने कहा है तुझे।' ठाकुर को बहुत क्रोध आया। तिवारी से उनकी कुछ कसमकस चलती है। वैसे

भी जब उन्होंने कह रक्खा था, तिवारी क्यों भेड़ें हाँक ले गये ! इस समय यह न्याय की बात सुनने-समझने को उनका मन प्रस्तुत नहीं था कि केवल कहने से बात पक्की नहीं होती। गँडरियों को कुछ पैसे, गुड़-सीधा भी भेंड़ बैठाने के लिए पहले देना पड़ता है। ठाकुर ने तो कुछ दिया नहीं था और तिवारी ने जब दे दिया है, उनका काम पूरा होने से पहले गँड़रिया दूसरे के खेत में भेड़ें कैसे ले जा सकता है?

'मुझे चार जूता मार लो मालिक ! बुद्धू ने मस्तक झुका दिया। वह नहीं चाहता है कि ठाकुर तथा तिवारी परस्पर लड़े, लाठियाँ चलें और फिर कचहरी दौड़ें लोग।

'तुझसे क्या मतलब है?' ठाकुर ने दहाड़ ली- 'तिवारी को मैं देख लूँगा।' इधर गँड़रिये कम हैं। कुल चार-पाँच झुंड भेड़ों के हैं आस-पास के कई गाँवों के बीच में। आषाढ़ लगने से पहले ही उनके लिए किसान दौड़-धूप करने लगते हैं।

'मालिक ! आप भले मेरे हाथ-पैर तोड़ डालो।' बुद्धू तो इस प्रकार खड़ा हो गया है, जैसे ठाकुर सचमुच उसके हाथ-पैर तोड़ने ही वाला हो- लेकिन मेरी भेड़ों के लिए लड़ाई होगी तो मैं दिन में ही चार गाँव दूर भेंड़ हाँक ले जाऊँगा। अभी बादल का नाम तो कहीं दीखता नहीं। आठवें दिन सबेरे ही गुड़-सीधा दे देना। बन्धन हो जायगा तो कोई भेड़ हाँकने की हिम्मत नहीं करेगा।'

'अच्छी बात !' ठाकुर ने समझ लिया कि भूल उनसे हुई है। लेकिन इस गँडरिये को इतने सस्ते वे छोड़ देने वाले नहीं थे। चलते-चलते उन्होंने दो हाथ धर नहीं दिया तो केवल इसीलिए कि अपने खेत में भेड़े बैठाना आवश्यक था; किंतु धमकी देते गये- 'इस बार थानेदार-को बड़ा भेंड़ा देना पड़ेगा, तब पता लगेगा तुझे कि ठाकुर संग्राम सिंह से गुड़-सीधा अगाऊ कैसे मिलता है।'

× × ×

सरकार ! मुझे कुछ कह लीजिए; पर मेरे इस भेड़े को मत ले जाइये। मेरा झुंड सूना हो जायगा।' आज बुद्धू बहुत व्याकुल हो गया था। उसको समझ में ही नहीं आता था कि क्या करें वह। उसने कभी किसी को देव-पूजा में बलि देने के लिए भी अपना कोई भेड़ा नहीं बेचा था, और यह भूरा तो उसके झुंड की शोभा है। सफेद रंग का ऐंठी हुई सींगोवाला खूब तगड़ा भेड़ा है। बुद्धू को बहुत प्यारा है वह। अपने हाथ से घास तोड़कर वह इसे खिलाता, सहलाता तथा अपने साथ दौड़ाता है। आज थाने का सिपाही जुम्मन खाँ उसी भेड़े को चौकीदार से उठवाकर लेने आ गया है। बुद्धू गिड़गिड़ा रहा है- 'सरकार आपके बाल-बच्चे होंगे। कोई उनके गले पर छुरी फेरने लगे........?'

'चुप...........।' तड़ से थप्पड़ मारते हुए जुम्मन खाँ ने एक भद्दी गाली दी-

'बहुत उछल-कूद करेगा तो ले जाकर बंद कर दूँगा। भेड़ा न हुआ कोई अजीज हो गया। बाल-बच्चे का नाम लेता है यह........।' फिर गाली दी सिपाही ने।

'आप मुझे बंद कर दीजिये। जेल भेज दीजिये; किंतु इसे छोड़ दीजिये।' बुद्धू रोने लगा था। भेड़ा चिल्ला रहा था। बड़े ही व्याकुल नेत्रों से अपने पालक की ओर देख रहा था। सिपाही और चौकीदार ने अकस्मात् भेड़ों के झुंड में घुसकर उसे पकड़ लिया था। अब उसके दोनों ओर की टाँगें एक-एक हाथ में पकड़कर चौकीदार ने उसे कन्धे पर धर लिया था। आगे क्या होता है, जैसे भेड़े को इसका अनुमान हो गया था। वह शरीर तो हिला नहीं सकता था, पकड़ कड़ी थी, छटपटाने का भी अवसर नहीं था, केवल सिर इधर-उधर हिलाता था चिल्लाता था। उसके प्रत्येक शब्द से जैसे बुद्धू का हृदय फटा जाता था।

'इसे छोड़ दूँ!' सिपाही जुम्मन खाँ क्रूरतापूर्वक हँसा- 'कल थाने की जाँच करने जो सुपरिण्टेण्डेण्ट साहब आ रहे हैं, उन्हें क्या परोसा जायगा, मेरा सिर या तेरा?'

बुद्धू रोता-गिड़गिड़ाता कुछ दूर साथ गया; किंतु सिपाही ने उसे पीटकर, धमकाकर लौटने को विवश कर दिया। रोता-कलपता वह लौट रहा था। तभी उसकी दृष्टि नीम के पेड़ तले बने ग्रामकालिका के पक्के चबूतरे पर गयी। एक बार वह चीखा- 'कालीमाई!'

किंतु उस चबूतरे की ओर बढ़ते बुद्धू के पैर अपने आप रुक गये। वह अपने ओठों में ही बुदबुदाया - 'बेचारी माई क्या करेगी। वह थाना-पुलिस से कैसे सलटेगी?' अनपढ़ सरल गँड़रिया- उसकी अपनी माँ भी तो पुलिस के नाम से काँपती है। थाने के दरोगा के हाथ-पैर जोड़कर घर की एक बकरी को कांजी-हाउस से छुड़ाना था तो उसका बाप गया था। बुद्धू को यह भी पता नहीं कि काँजी हाउस और थाने में अन्तर है और उसका बाप काँजी हाउस के मुंशी के पास ही गया था।

'यह काम शंकर बाबा कर दे सकते हैं!' अपने स्वर्गीय पिता की याद आते ही बुद्धू को पीपल के पेड़ के नीचे पिण्डी के रूप में बैठे शंकरजी की याद आ गयी और फिर तो वह दौड़ पड़ा। वहाँ उसने पिण्डी के पास पीपल की जड़ पर अपना सिर प्रायः पटक ही दिया- 'बाबा, मेरे भेड़े को बचा लो। थानेदार को मनाकर उसे छुड़ा लाओ! सिपाही मेरी बात सुनता नहीं है। अवश्य ठाकुर ने सिपाही को भड़का दिया होगा। तुम इतनी दया करो बाबा!'

भगवान् शंकर को भी ऐसा भोला, इतना सरल प्रार्थना करने वाला काहे को कभी मिला होगा। इतना अद्भुत काम भी उन्हें काहे को किसी ने कभी बताया होगा। गँवार गँडरिये के आँसू टपाटप उनकी लिङ्गमूर्ति पर गिर रहे थे। इतनी निष्कपट सहज सरल अर्चा की उपेक्षाभी वे आशुतोष कैसे कर सकते थे।

बुद्धू रोता रहा, गिड़गिड़ाता रहा और तब अकस्मात् उसे ध्यान आया कि अपनी

भेड़ों की खोज-खबर उसने देर से नहीं ली है। 'उसे ला दो बाबा !' फिर उसने कहा और लाठी उठाकर भेड़ों का झुड़ जहाँ छोड़ आया था उधर चल पड़ा।

× × ×

'मैंने उस गँडरिये को पीपल के नीचे शंकरजी की मूर्ति पर आँसू टपकाते और गिड़गिड़ाकर रोते देखा है। वह पता नहीं क्या 'थानेदार' कह रहा था- वैद्यजी ने दारोगा साहब की नाड़ी देखी और गम्भीर होकर बोले- 'दुखी पुकार दीनदयाल के कान बहुत शीघ्र सुन लेते हैं। आपने उसे तंग तो नहीं किया है?'

'उसका एक भेड़ा आज पकड़ मँगाया था।' दारोगा चौका- 'अभी वापस भिजवाता हूँ। क्या पता था कि वह ऐसा चमत्कारी भगत है।

थानेदार ने सिपाही जुम्मन खाँ को बुलाने को कहा तो सूचना मिली-'उसे जूढ़ी चढ़ी है। पाँच-सात कम्बल ओढ़े काँप रहा है। कुछ बकने-झकने लगा है।'

'वह चौकीदार कहाँ है, जो भेड़ा लाया था?' थानेदार अब बुरी तरह घबरा गया था।उसकी घबराहट तब और बढ़ गयी, जब पता लगा कि चौकीदार तो भेड़ा किसी प्रकार पहुँचा गया है, उसको रास्ते में ही ज्वर आ गया था। इधर दशा यह थी कि थानेदार के इकलौते पुत्र की अवस्था बिगड़ती जा रही थी। उसे हैजा हो चुका था।

'मेरी दवा यहाँ कुछ नहीं कर सकती।' वैद्यजी पुराने ढ़ंग के श्रद्धालु मनुष्य हैं। उन्होंने दो टूक उत्तर दे दिया- 'देवकोप के बीच मैं नहीं पड़ूँगा। आप किसी और को बुलाइये।

भेड़ा इस बार एक सिपाही के कंधों पर लादा गया और दारोगा जी स्वयं उसे लौटाने चले। किंतु जब घोड़े से उतरकर उन्होंने 'भगतजी' कहकर बुद्धू के पैर पकड़ लिए तो वह बेचारा घबरा गया। उससे एक शब्द भी बोला नहीं गया।

'मेरे बच्चे को बचा लीजिये !' थानेदार हाथ जोड़े प्रार्थना कर रहा था और बुदधू गिड़गिड़ा रहा था- 'मैं कोई जड़ी-बूटी नहीं जानता। वैद्यबाबा को बुलाइये।'

'वैद्यबाबा जवाब दे गये !' थानेदार ने कहा-'उसे आप ही बचा सकते हैं।'

'मैं तो कुछ नहीं जानता !' अचानक बुद्धू को स्मरण आया कि शायद शंकर बाबा दवा-दारू जानते हैं। वह उठ खड़ा हुआ- 'आप थाने चलो। मैं बाबा से विनती करता हूँ।'

'बाबा, तुम्हें दवा-दारु आती है क्या? बेचारे थानेदार का लड़का बीमार है। एक ही बेटा है उसके। उसे कोई जड़ी दे दो !' बुद्धू पीपल के नीचे बैठा प्रार्थना कर रहा था, अतः थानेदार को लौटने पर अपना पुत्र रोगहीन मिला तो आश्चर्य की क्या बात है?

❑❑

व्यवहार का आदर्श

'आप मुझे क्षमा करें ! मैं आगे से सावधान रहूँगा।' रामसिंह ने दोनों हाथ जोड़े। वैसे उनकी कोई भूल नहीं थी। गाय रात में रस्सी तुड़ाकर भाग गयी और थोड़ा-सा खेत चर गयी। वह क्या जाने कि कौन-सा खेत किसका है। पशु कभी रस्सी तोड़ ही नहीं सकेगा, ऐसी व्यवस्था किसान कैसे कर सकता है।

'अपने पशु सम्हालकर रखना चाहिए।' गाँव का सबसे झगड़ालू आदमी है कल्पनाथ। उसके मुँह में आता है वह बके जा रहा है। रामसिंह उसकी क्षतिपूर्ति करना चाहते हैं, इसमें भी उसे अपना अपमान जान पड़ता है।

'देखो भैया ! मैं हाथ जोड़ता हूँ, पैर पड़ता हूँ, इस समय तो चले जाओ।' रामसिंह ने सशंक भाव से पीछे देखा- 'लल्लन घर पर ही है और कहीं वह बाहर आ गया.......।'

'क्या कर लेगा वह और क्या कर लोगे तुम.........।' कल्पनाथ गरज उठा; किंतु बोलते-बोलते ही रूक गया।

'कौन है रे? भैया को तू-तड़ाक करने आया है तू?' केवल लँगोट लगाये लल्लन घर के भीतर से दौड़ता आ रहा था। उसके नेत्र लाल हो रहे थे, मुख तमक रहा था। आते ही कल्पनाथ को उसने अपने हाथों पर सिर से ऊपर उठा लिया।

'लल्लन !' रामसिंह ने पकड़ा छोटे भाई का हाथ और नेत्र कड़े किये।

'अच्छा अभी तो तुझे छोड़ देता हूँ।' लल्लन ने धीरे से कल्पनाथ को नीचे खड़ा कर दिया- 'चुपचाप चले जाओ ! तुमने भैया को अटपटी बातें कहीं हैं, याद रखना !'

'लल्लन ! चल भीतर।' रामसिंह ने हाथ पकड़ा और डाँटते हुए खींचा घर की ओर। कल्पनाथ कुछ भुनभुनाता हुआ खिसक गया था। 'तुझे यहाँ भेजा किसने?'

'मैं दूध पीने बैठा था।' उसने कहा- 'तुम्हारे भैया से कोई झगड़ रहा है।' लल्लन के नेत्र अभी भी अंगार हो रहे थे। वह पीछे मुख घुमाकर बार-बार देख रहा था। उसके रहते कोई उसके भैया को आधी बात कह दे ! 'देखूँगा मैं इसे।'

'किसे देखेगा? कल्पनाथ को कुछ कहा तो अच्छा नहीं होगा।' रामसिंह ने डाँटा- 'इतना बड़ा हो गया और बचपन जाता नहीं। दूध का ग्लास फेंक आया है, एक आदमी अपने अड़ोसी-पड़ोसी से हिलमिलकर न रहे, दो खरीखोटी भी सह न सके तो आदमी काहेका। सबसे लड़ते रहना कोई आदमी का काम है।'

× × ×

दो भाई हैं- सगे भाई नहीं, सौतेले भाई हैं रामसिंह और लल्लन सिंह; किंतु लोग इन्हें राम-लक्ष्मण की जोड़ी कहते हैं। रामसिंह तब असंतुष्ट होते हैं जब लल्लन उनसे पहिले रात को उठकर खेत पर चला जाता है या गायों का गोबर उठा डालता है सबेरे जब वे खेत पर गये होते हैं। 'जब तुझे ही सम्हालना है तो ले सम्हाल। मैं तीर्थ करने जाता हूँ।'

'भैया !' लल्लन बड़े भाई के सामने भीगी बिल्ली बना रहता है। गाँव का सबसे बलिष्ठ युवक, अखाड़े के युवकों का उस्ताद लल्लनसिंह, किंतु बड़े भाई के सामने वह जैसे छोटा बच्चा है।

'किसने कहा था, तुझे यह सब करने को?' रामसिंह के लिए लल्लन जैसे बहुत छोटा बालक है। अभी उसके खेलने-खाने के दिन हैं। वह दूध पिये और अखाड़े की शोभा बढ़ावे- 'मैं मर तो नहीं गया। मर जाऊँगा तो सम्हालना खेत-खलिहान।'

'भैया।' रो पड़ता है लल्लनसिंह बच्चों के समान फूट-फूटकर। अपने स्नेमय भैया के मुख से कोई अशुभ बात निकले 'रो मत !' भैया द्रवित हो उठते हैं- 'तुझे इन खटपटों में पड़ने की आवश्यकता नहीं है। अखाड़े पर जाने में देख देर हो गयी।'

राम सिंह को प्रायः यह कहते सुना जाता है- 'मरते समय पिताजी ने कहा था 'बेटा ! लल्लन के अब तुम्हीं पिता हो !'

बात दोनों भाइयों तक ही नहीं है। घर के भीतर का सौहार्द भी अदभूत है। लल्लन की स्त्री 'जीजी !जीजी !' की रट लगाये रहती है दिनभर। लल्लन के लिए घर में 'भाभी' को छोड़कर जैसे कोई है ही नहीं। उसके भोजन, कपड़े, दूध-भाभी को उसकी इतनी चिन्ता रहती है जैसे माता को छोटे बच्चे की रहती हो।

'क्यों री ! बहुत बलवान् हो गयी है तू? इतनी रात ठहरे उठ पड़ी, बीमार होना है क्या?' भाभी भी तभी रूष्ट होती हैं जब लल्लन की स्त्री उनसे पहिले उठकर आटा पीसने बैठ जाती है, बर्तन मल लेती है या घर में झाडू लगा डालती है।

'नींद खुल गयी थी, देखा यही कर लूँ !' लल्लन की स्त्री सेवा का कुछ न कुछ भाग झपट ही लेती है और उसके लिए 'जीजी' की डाँट भी सह लेती है। वह कह भी

देती है– 'तुम दिनभर काम करते–करते थक जाया करो और मैं बैठी देखती रहूँ– यह मुझसे तो नहीं होता।'

'अब तो यह नानी की भाँति बोलने लगी है।' रामसिंह की स्त्री रूष्ट होकर भी नहीं हो पाती। उनकी समझ से उनकी देवरानी अभी निरी बच्ची है। उन्हेंडर लगा रहता है कि चक्की चलाने या भरा घड़ा उठाने से उसे 'कुछ' हो जायगा। लेकिन जब वे रूष्ट होती हैं– बहुत रूष्ट होना चाहती हैं तो वह धब् से उनकी गोद में ही आ बैठती है और कहने लगी है– 'जीजी ! ले थप्पड़ मार दें।' ऐसी बच्ची पर कोई रूष्ट हो कैसे सकता है?

× × ×

'लल्लन ने धोबी को पूरा एक बोझ दे दिया चने का। खेत कट रहा है, वहाँ केवल खड़े रहने का काम है। रामसिंह के लिए ऐसे कामों को देखने–करने का पात्र लल्लन ही है। जहाँ थोड़ा भी श्रम पड़ता हो, वे स्वयं वहाँ जाना चाहते हैं। आज उनसे गाँव के एक पड़ौसी ने बड़ी हितैषिता दिखायी– 'इस प्रकार लुटाना अच्छा नहीं। लल्लन अभी समझता नहीं।'

'लल्लन ! तू कंजूस हो गया है?' सन्ध्या समय रामसिंह ने छोटे भाई को हँसते हुए उलाहना दिया– 'ये बेचारे नाई–धोबी–लुहार–ये वर्ष भर सेवा करे हैं। इन्हें हम देते क्या हैं? फसल पर ही इनकी आशा रहती है। खेत–खलिहान के समय भी इन्हें न दिया जाय तो इनके बाल–बच्चे कहाँ जायँगे। इसको कम–से–कम इतना तोदेना चाहिए कि इनका जी न दुखे। धोबी, नाई जो आवे उससे कह दिया कर कि वह जितना एक बार में ले जा सके, बाँध ले।'

लेकिन भैया का यह स्नेह दूसरे ही दिन दूसरे रूप में प्रकट हुआ। वे खेत से लौटे तो किसी ने कुछ कह दिया मार्ग में। बात साधारण–सी थी, लल्लन ने तनिक हँसी की थी पानी भरने वाली कहाँरिन से। कहने वाले ने भी विनोद में ही कहा था; किन्तु भैया ने चारे का भार द्वार पर फेंका और वैसे ही चल पड़े अखाड़े की ओर।

लल्लन अखाड़े में जोर करा चुका था। वह बैठ गया था एक ओर। कई युवक उसके कंधे, हाथ और पैर मल रहे थे। पूरा शरीर धूलि एवं पसीने से लथपथ हो रहा था।

'अब तेरे पंख जमने लगे हैं !' भैया तमतमाये आये औरउन्होंने तड़ातड़ पाँच–सात थप्पड़ धर दिये लल्लन के मुख पर। वहाँ खड़े युवक देखते रह गये। कोई दूसरा होता तो...........लेकिन भैया का कोई क्या कर सकता था। लल्लन ने चूँ नहीं की। उसे हाथ पकड़कर भैया घसीटते हुए घर ले चले– 'गाँव की बहू–बेटियों पर तू अब आवाजें कसने लगा है। घर चल तो दिखाता हूँ।'

'तुमने मारा है?' घर पहुँचने पर तो भाभी दौड़ आयी आगे। उन्होंने रामसिंह का हाथ झटक दिया- 'अपने छोटे भाई पर हाथ उठाते लज्जा नहीं आयी तुम्हें?' पति पर वे पहिली बार असन्तुष्ट हुई थीं।

'इससे पूछ कि क्या कर आया है यह।' रामसिंह ने भाई का हाथ छोड़ दिया था। उनका रोष ठण्डा पड़ने लगा था।

'ऐसा क्या अनर्थ किया होगा!' भाभी ने स्नेहपूर्वक पुचकारा- 'तुम भीतर चलो। ये अब सठिया गये हैं।'

'भैया! तुम मुझे खूब पीटो।' सहसा भाभी का हाथ छुड़ा लल्लन ने भैया के पैरों पर गिर पड़ा। वह फूट-फूटकर रो रहा था- 'भैया! मुझे पीटो चाहे जितना, किंतु मुझसे रूठो मत। अब मुझसे ऐसी भूल नहीं होगी।'

'अच्छा उठ!' भैया ने उठा लिया छोटे भाई को। वे उसका मुख पोंछ रहे थे अपने गमछे से – 'भगवान् ने बल दिया हो तो झुककर चलना चाहिए। सदाचार को कठोरता से निभाना चाहिए। औरों से तुम्हें अधिक सावधान और संयमी रहना है, यह भूलो मत।'

× × ×

'आप नहीं सम्हालें तो मेरी लज्जा नहीं रहेगी।' कल्पनाथ गाँव में सबसे झगडालू है। कोई नहीं जिसे उसकी खटपट न हुई हो। मिलकर चलना उसने सीखा नहीं। कोई उसके हितैषी नहीं। अब उसकी कन्या का विवाह है। बारात आने वाली है; किंतु उसे सहयोग नहीं मिल रहा है। वह सीधे रामसिंह के यहाँ आया और उनके पैरों की ओर झुका।

'तुम यह क्या करते हो?' रामसिंह ने उसे पैर छूने से रोक लिया। 'तुम्हारी पुत्री मेरी पुत्री नहीं है क्या? घर चलों, मैं अभी आ रहा हूँ।'

पूरी व्यवस्था का भार उठा लिया रामसिंह ने। लल्लन और उसके अखाड़े के युवक दिन-रात करके दौड़ धूप कर रहे थे। इतनी उतम व्यवस्था - परंतु जहाँ व्यवस्था करने वाले के प्राण एकाकार हो रहे हों, वहाँ त्रुटि सम्भव कैसे है।

'डाकू! डाकू आये हैं!' विघ्न भी किस बुरे मुहूर्त में आते हैं। कल्पनाथ के आँगन में पूरा ग्राम एकत्र था। कन्या के पाणि-ग्रहण का उपक्रम हो चुका था और किसी बच्चे ने दौड़ते-हाँफते आकर समाचार दिया - 'गाँव के सबसे सम्पन्न व्यापारी का घर डाकुओं ने घेर लिया है।'

'उस बेचारे के घर पर कोई नहीं। वे दोनों भाई रोगी हैं और घर के भीतर दोनों की स्त्रियाँ हैं, कन्या है। नौकर तो आ गये हैं यहाँ विवाह में!' लोगों में बेचैनी और

फुसफुसाहट प्रारंभ हुई। पर डाकुओं के सामने जाने का साहस कौन दिखावे।

'लल्लन! तुम आगे जाओ और डाकुओं को रोको।' रामसिंह ने इधर-उधर देखकर छोटे भाई को मण्डप में देख लिया- 'विवाह कार्य चलता रहेगा। फेरे पड़े और मैं भी आया।'

लल्लन निकला शीघ्रतापूर्वक और उसे जाते देख कई युवक उसके साथ हो गये। लाठियाँ सम्हालीं सबने और डाकुआं को जा ललकारा।

'मरना न हो तो वहीं खड़े रहो।' डाकुओं ने भी सामना कर लिया। उनकी संख्या पर्याप्त अधिक थी। केवल लँगोट लगाये, पूरे शरीर में तेल पोते, हाथों में लाठियाँ, बल्लम, गँड़ासे लिये वे भी मार्ग रोककर खड़े हो गये थे।

'पत्थर चलाना है।' लल्लन को ठीक समय उपाय सूझ गया। युवकों ने ईंट, मिट्टी के डले, खपरैल- जो हाथ में आया फेंकना प्रारंभ किया। परंतु डाकुओं का दल विचलित नहीं हुआ। वे केवल आड़ में हो गये। उनके जो साथी घर के भीतर घुस चुके थे, वे अपना काम कर रहे थे। बाहर वालों को तो केवल इन लोगों को रोके रखना था।'

'भैया!' पता नहीं कितनी देर बीती, भैया, दिखायी पड़े लल्लन को। वे दौड़ते आये थे और सीधे लाठी उठाये डाकुओं के समीप पहुँच गये थे। एक डाकू की लाठी पड़ी उन पर-पता नहीं उन पर या उनकी लाठी पर; किंतु लल्लन के साथ का एक युवक चिल्ला उठा- 'भैया को लाठी लगी।'

'भैया को लाठी लगी!' लल्लन के नेत्रों में रक्त उतर आया। वह लाठी उठाये टूट पड़ा। टूट पड़े उसके साथ-साथ के युवक और जब कोई प्राणों का मोह छोड़कर आगे बढ़ता है- सौ को भी वह अकेला भारी पड़ता है।

डाकुओं-में-से कुछ गिरे, कुछ भागे। गाँव के और बारात के लोग भी आ गये थे। जो डाकू पकड़े गये, प्रायः बुरी तरह वे घायल थे। लेकिन लल्लन को पकड़ना सबसे कठिन था। वह अंधाधुन्ध लाठियाँ चलाये जा रहा था। जब उसे रोक लिया गया, भूमि पर गिर पड़ा वह।

'भैया।' लल्लन के मुख में एक ही शब्द था। उसके सिर से रक्त चल रहा था। भुजाओं और कंधों पर लाठियाँ लगी थीं। एक भुजा पर भाले ने बड़ा-सा घाव कर दिया था।

'लल्लन!' भैया उसका मस्तक गोद में लिये वहीं भूमि पर बैठे थे। उन्हें आज अपने छोटे भाई पर गर्व था- 'तुमने मेरा स्नेह सफल कर दिया।'

लल्लन के लिए उपचार की चिन्ता करने वाला तो आज पूरा गाँव हो गया था। स्त्रियाँ कह ही थीं- पराये की आग में भाई को ठेल देने वाला भाई धन्य है! रामसिंह ने आज गाँव की लाज बचा ली।'

❑❑

समाज की सेवा

[1]

'वे विद्यापीठ के स्नातक हैं विद्यापीठ की शिक्षा की सफलता ही है समाज-सेवा में। देश-सेवा की प्रबल प्रेरणा ने ही इस संस्था की नींव रक्खी और देश के स्वाधीनता-संग्राम में इसके शिक्षकों एवं छात्रों ने कितना बलिदान किया, यह तो देश भली प्रकार जानता ही है। वे उस गौरवमयी संस्था के स्नातक हैं। देश-सेवा उनका स्वभावगत गुण होना ही चाहिए।

दुबला-पतला साँवला शरीर, हँसता-सा गोल मुख, घुंघराले सँवारे केश, नेत्रों पर चश्मा, कलाई में बँधी घड़ी, पैरों में चप्पल-दूध-सी उजली सफेद खादी तो समाज सेवक का पवित्र वस्त्र है। आप उन्हें एक बार देख लें तो सहज ही भूल नहीं सकते। बड़ा मिलनसार स्वभाव है। बड़ी विलक्षण प्रतिभा है। वक्तृत्व-शक्ति की तो पूछिये ही मत। जिससे वक्ता बनने की योग्यता नहीं होगी, वह समाज की सेवा कैसे करेगा। वे तो साधारण बातचीत में भी चुटकियाँ लेते, उपदेश देते, व्याख्यान-से ही देते चलते हैं।

बलिदान-देश के लिए बलिदान की पुकार गूँजती थी उनके कानों में। आज नहीं गूँजती सो मैं नहीं कहता; किंतु उस समय युग ही दूसरा था। लाठी, गोली, जेल-विदेशी सरकार अपनी पूरी शक्ति से दमन पर उतर आयी थी। देश ने चुनौती स्वीकार कर ली थी। वे उस समय एक पूरे जिले के आन्दोलन का नेतृत्व कर रहे थे। पूरे तीन बार उन्हें जेल जाना पड़ा। कोई ऐसी कठिनाई नहीं, जिसे उन्होंने न उठाया हो।

आज की बात अब दूसरी है। आज वे चाहते तो किसी उच्च पद पर होते। मित्रों ने उनसे चुनाव में खड़े होने का आग्रह भी किया था और सफलता तो निश्चित ही थी। वे प्रारम्भ से विचित्र स्वभाव के रहे हैं। मित्रों को उन्होंने दो टूक उत्तर दे दिया- 'मैं शासक नहीं, सेवक रहा हूँ। सेवक ही रहना चाहता हूँ।

'वहाँ पर अधिक सेवा कर सकेंगे।' यह तर्क भी आया था। इसकी उपयोगिता

और महत्ता वे न समझते हों, ऐसा नहीं है, किंतु उनका निश्चय कभी ढीला नहीं पड़ा करता।उनका दृष्टिकोण भी महत्त्वपूर्ण है– 'जनता को अधिकारियों से भी अधिक उस सेवक की अपेक्षा है जो उसके बीच रहकर उसकी सेवा करे।'

जनता के बीच रहकर जनता की सेवा यहाँ से वहाँ दौरा करने और व्याख्यान देने को ही तो जन–सेवा कहा जाता है। समाज की सेवा का दूसरा क्या रूप हो सकता है? यह रूप आवश्यक नहीं है, महत्त्वपूर्ण नहीं है, यह कहेगा भी कौन।

'जनता को, देश को आज नेता नहीं, अच्छे नागरिक चाहिए।' उन्होंने स्वयं भी अपने सम्मान्य नेता की इस पुकार को कई बार दुहराया है। आज ही क्यों उनके मन में यह आ रहा है– 'तू भी तो नेता है?'

'आप लोग सेवक हैं या नेता?' एक ने एक दिन पूछा था उनसे। 'यह सेवक का वेश है?' आप क्या सोचते हैं कि व्याख्यान देते घूमने से समाज की सेवा हो जाती है?'

हमारी सेवा साधारण घरेलू सेवक से दूसरे प्रकार की है?' उस दिन उन्होंने हँसकर उत्तर दे दिया था– 'हम स्वच्छता, सावधानी, अनुशासन, विद्या का प्रचार करते हैं। स्वयं हम इन्हें न रक्खें तो लोग सीखेंगे कैसे। हम जनता के विचारों को जाग्रत एवं परिमार्जित करते हैं। ठीक दिशा दिखाना और उधर चलने की प्रेरणा देना हमारा काम है। यही हमारी सेवा है। जन–जागरण से अधिक महत्त्व की समाज–सेवा और क्या होगी?'

कोई उनसे बहस करके कहाँ पार पा सकता है। लोगों को अटपटे तर्कों का उत्तर देना तो उनकी सेवा का एक मुख्य अङ्ग ही है। लेकिन बूढ़े महात्माजी ने जो आत्मनिरीक्षण, आत्मशोधन की प्रबल प्रेरणा दी थी– किसी दूसरे ने उसे कितना ग्रहण किया, यह कहना तो कठिन है; किंतु उन्होंने उसे बड़ी गम्भीरता से ग्रहण किया था। वह प्रेरणा ही उन्हें राजनीतिक क्षेत्र में ले आयी थी, यह कहना कुछ असंगत नहीं होगा। समाज सेवा को उन्होंने एक साधन माना था आत्मशुद्धि का। वे देश–सेवा–जनता–जनार्दन की सेवा करने आये थे। वह आत्मशोधन की प्रेरणा उनके भीतर कभी मन्द भले पड़ी हो, प्रसुप्त नहीं हुई और आज पता नहीं क्यों वह जग पड़ी है।

'व्याख्यान देने से ही समाज का कल्याण हो जायेगा?' यही समाज–सेवा है?' एक दिन ऐसे प्रश्नों का वे हँसकर उत्तर देते थे। आज जब कोई प्रश्नकर्ता नहीं है, आज जब सर्वत्र उनके स्वागत में भीड़ जयध्वनि करती, मालाएँ सजाये खड़ी रहती है, यह प्रश्न उनके मन में प्रबल क्यों होता जा रहा है? उनके भीतर बैठकर कौन उनसे इतने तीखे स्वर में बार–बार पूछता है, इसका कोई भी समाधान वे कर नहीं पाते।

'हम स्वच्छता, सावधानी, अनुशासन का प्रचार करते हैं। हम स्वयं इन्हें न रक्खें तो लोग सीखेंगे कैसे।' आज उनका यह स्वयं का उत्तर जैसे उनके मस्तिष्क में धधककर जल उठा है।

'कितनों ने हमारे व्याख्यानों से स्वच्छता की शिक्षा ली? कितनों ने सावधानी सीखी? कितनों ने अनुशासन का पालन करना अपनाया?' निराशा से सिर झुक गया उनका।

'स्वयंसेवक मेरे-जैसे बाल रखते हैं। मेरे समान नंगे सिर रहते हैं। यही चप्पल पहनते हैं। यह घड़ी न सही-घड़ी बाँधते हैं।' उन्होंने कभी इस बात पर गर्व किया था। कि लोग रहन-सहन में उनका अनुकरण करने लगे है। उनके-जैसी धोती पहिनना, वैस ही कुरता बनवाना, कुर्ते के ऊपर का बटन उन्हीं के समान खुला रखना- अब तो ग्रामों के साधारण लोग भी कुछ बातों में उनका अनुकरण करते हैं।

'उनमें अनेक त्रुटियाँ है। वे बोलने मैं कुछ गर्दन एक ओर झुकाकर बोलते हैं, चलने में हाथ अधिक हिलाते हैं। हाथ धोने में..........रहने दीजिये त्रुटियों की बात। त्रुटियाँ किसमें नहीं होती; किंतु यह है क्या? उनकी त्रुटियाँ इतनी व्यापक क्यों होती जा रही हैं? लोग त्रुटियों में उनकी ठीक-ठीक क्यों नकल करते हैं?

'मैं क्या कर रहा हूँ? मुझसे समाज की कौन-सी सेवा हो रही है?' वे सिर पकड़कर बैठ गये हैं। आज 'उनके उपदेशों, व्याख्यानों का क्या प्रभाव? उन्होंने समाज को दोष-अपने ही दोष तो बाँटे। लोगों ने उनके दोष-ही-दोष लिये !'

व्यापक-व्यापक होते जा रहे हैं उनके दोष। जैसे सम्पूर्ण दिशाएँ, पूरा आकाश मैला घिनौना होता जा रहा है उनके दोषों से। उन्होंने नेत्रों पर हाथ रख लिये। कोई वज्र-कर्कश स्वर में पूछ रहा है उनसे - 'तू समाज का सेवक हैं? समाज की सेवा की है तूने? यही है तेरी समाज-सेवा?

क्या उत्तर है उनके पास। उनके नेत्र आज इस एकान्त में टपाटप बूँद गिराते जारहे हैं।

× × ×

[2]

वह भी विद्यापीठ का स्नातक है। बूढ़े महात्माजी की वाणी पर उसकी निष्ठा विद्यापीठ में प्रवेश करने से बहुत पहले से रही है। महात्माजी की अहिंसा और आत्मशोधन की प्रेरणा ने उसे भी बहुत आकर्षित किया। आत्मशुद्धि की धुन उसकी बहुत पुरानी है।

दुबला-पतला कुछ ललाई लिये गेहुँआ गोरा शरीर, गम्भीर गोल मुख, घुटा सिर, बड़ी सी चुटिया, नंगे बिवाई भरे पैर, खादी का मटमैला कुर्ता, खूब मोटी कुछ मैली धोती- उसे विद्यापीठ में उसके सहपाठी, सदा चिढ़ाते रहे हैं। अर्थशास्त्र और राजनीति के बदले वह दर्शनशास्त्र और संस्कृत का छात्र था। चमड़े की चप्पल के स्थान पर लकड़ी की चट्टियाँ पहनता था। उसकी चुटिया और जनेऊ का बड़ा उपहास हुआ। लेकिन बड़ा गम्भीर है वह। बहुत कम हँसता है। जब धीरे से तनिक-सा हँसता है- जैसे मोती बिखरे पड़े हों। उसकी गम्भीरता ऐसी है कि उसका उपहास करके उपहास करने वाला ही संकुचित हो उठता है। वह पूरे विद्यापीठ-जीवन में वैसा-का-वैसा ही रहा आया था। उसकी एक मण्डली बन गयी थी धीरे-धीरे। यह उसी की गम्भीरता का प्रभाव था कि विद्यापीठ में भी कुछ दिन कुछ छात्र बड़ी चुटिया रखने और संध्या करने लगे थे।

समाज की सेवा आत्मशुद्धि का साधन है, यह बात उसे कुछ ठीक-ठीक जमी नहीं। लेकिन महात्माजी ने देश-सेवा, समाज-सेवा की प्रेरणा दी, वह प्रेरणा उसके हृदय में भी बस गयी थी। लेकिन वह वक्ता नहीं है। वह तो साधारण बातचीत में भी शब्दों को इतना तौल-तौलकर मुख से निकालता है, जैसे कोई बहुत बड़ी सम्पत्ति व्यय कर रहा हो। दस शब्द का चार में चल सके तो वह साढ़े चार शब्द बोलने वाला नहीं है। जो वक्ता नहीं, वह भला नेता कैसे होगा। और जो नेता नहीं, पुलिस उसके पीछे कभी क्यों पड़ेगी। देश के इतने महान् संघर्ष में भी उसकी बात किसी ने नहीं पूछी। वह जेल नहीं गया, उसे किसी ने एक धक्का तक नहीं दिया। आज जब चारों ओर धूम है, आज भी उसे कोई पूछने वाला नहीं। वह कभी नेता तो था ही नहीं।

विद्यापीठ से वह अपने घर चला आया। घर पर खेती के काम में जुट गया। वह कुट्टी काटता है, घास छीलता है, खेत में खाद अपने सिर पर उठाकर ले जाता है। विद्यापीठ का स्नातक है वह, यह तो जानने वाले जानते हैं। एक उद्योगी किसान है, वह, यह देखते ही समझा जा सकता है।

दोपहर-विश्राम के समय वह चर्खा चलाता है। घर में उसने चर्खे लाकर रख दिये हैं। अपने खेत में उसने थोड़ी रूई बोना प्रारम्भ कर लिया है। रूई में अच्छी आमदनी है। घर में चर्खे चले तो बाजार से कपड़े नहीं लेने पड़ते। पड़ोसियों ने यह झटपट अनुभव कर लिया है। उसके गाँव के किसान अब रूई बोने लगे हैं। उसे अब तक एक घंटे रोज उन लोगों को चर्खा चलाना सिखाना पड़ता है, जो उसके पास बड़े आग्रह से सीखने आते हैं।

कभी-कभी वह आस-पास की गलियाँ झाड़ देता है। गाँव में लोग पता नहीं क्यों

उसका सम्मान करने लगे हैं। सम्भवतः इसलिए कि नित्य सायंकाल वह पीपल के नीचे बैठकर लोगों को रामायण सुनाता है। लोगों को कहता है- 'तुम अपने आप पढ़ो तो कितना आनन्द आये। यह तो रामजी की कथा है।' बड़े-बूढे भी अब उससे क, ख पढ़ते हैं। भोजन के बाद रात्रि में उसकी पाठशाला लगती है। अब लोग इधर-उधर कूड़ा डालते डरने लगे हैं- 'पाँडे जी यहाँ कूड़ा देखेंगे तो झाडू लेकर जुट पड़ेंगे' उसका पूरा गाँव सदा स्वच्छ रहता है।

वह सवेरे एक मील जाकर गङ्गा-स्नान करता है। संध्या करता है, गीता का पाठ करता है। गाँव के युवक और बालक तो क्या, तरुण और वृद्ध भी इस प्रयत्न में रहते हैं कि पाँड़े जी कहीं स्नान करने पहले न निकल जायँ। 'देखा-देखी पाप देखा-देखी पुण्य' सो गाँव में तो जैसे अब सभी गङ्गा -स्नान, संध्या, पूजा करने वाले हो गये हैं। जो गीता-पाठ नहीं कर सकते वे रामायण या हनुमान चालीसा ही लेकर शंकरजी को सुना आते हैं। स्त्रियों की चर्चा मत कीजिये, उनमें तो पहले से सृष्टिकर्त्ता ने श्रद्धा बाँटते समय बड़ा भाग दे रक्खा है। अब तो गाँव के हलवाहे तक पहले स्नान करके सूर्य भगवान् को एक लोटा जल चढ़ाते हैं और तब मुँह में दाना डालते हैं।

जहाँ चार बर्तन होते हैं, वहाँ खनकते भी हैं। गाँव में झगड़े भी होते हैं। कचहरी की बात बहुत दूर चली गयी।

पाँड़े जी के पास भी बहुत कम झगड़े आते हैं। बहुत से झगड़ों का निपटारा तो इतने में हो जाता है- 'चल, पाँड़े जी के पास चलता हूँ।'

'भैया रहने दो ! अब पाँड़े जी के यहाँ ले जाकर क्यों लज्जित करते हो। तुम्ही जो कहो सो कर दूँ।

क्यों पाँड़े जी का गाँव में इतना भय, इतना सम्मान, इतनी पूछ है, पाँडे जी भी नहीं जानते। वे न नेता हैं न वक्ता। वे तो बोलने में भी शब्द की कृपणता करते हैं। उन्हें अपने घर के काम, अपनी पूजा-पाठ से अवकाश ही नहीं कि समाज की सेवा करें। यह रामायण सुनाना, लोगों को दो अक्षर पढ़ा देना, किसी के झगड़े निपटा देना- यह तो मनुष्य का कर्त्तव्य है। मनुष्य अपने पड़ोसी-की सहायता नहीं करेगा तो क्या पशु आयेगा उसकी सहायता करने?

× × ×

[3]

'कितने स्वयं सेवक हैं आपके यहाँ?' उन्होंने पूछा आज इधर आने पर उन्हें

अपने विद्यापीठ के सहपाठी का स्मरण हो आया था। वे मिलने चले आये थे। यह गाँव, यहाँ की स्वच्छता, यहाँ के लोगों की तत्परता देखकर वे चकित रह गये थे। पूरा गाँव उनके स्वागत में जैसे खड़ा था। लेकिन वे यह जानते हैं कि उनके आने का किसी को पता नहीं था। उनका आना सहसा हुआ है। उनके स्वागत के लिए यहाँ कोई तैयारी हुई हो, ऐसा सम्भव नहीं है।

'हम सभी स्वयंसेवक ही हैं।' पाँड़े जी ने छोटा-सा उत्तर दिया। 'मेरा मतलब ऐसे स्वयंसेवकों से हैं, जो बराबर यहीं रहते हों। आश्रम का काम करते हों।' उन्होंने फिर पूछा।

'ऐसा तो यहाँ कोई नहीं है।' पाँडे जी इतना कहकर चुप हो जाने वाले थे; किंतु उन्होंने देखा उनकी बात इस प्रकार समझी नहीं जा सकेगी। उन्होंने स्पष्ट किया- 'यह आश्रम नहीं है, यह तो एक सज्जन ने अपना खाली मकान पूरे गाँव को दे दिया है। अब आस-पास के गाँव के लोग भी चर्खा चलाना सीखने आने लगे हैं। कुछ लोग पढ़ने भी आते हैं। यहाँ यह सुविधा है कि चर्खे रख दिये हैं। हममें से किसी को अवकाश मिलता है यहीं आकर बैठता है। अपना सूत भी कातता है, सीखने वालों को सिखाता भी है। वैसे तो यह हमारी रात्रि पाठशाला, पंचायत, अतिथिशाला और जो भी अपने-अपने घर का काम करते हैं और घड़ी-दो घड़ी यहाँ भी आकर बैठते हैं। गाँव का काम तो एक-दूसरे की सहायता से सदा ही चलता आया है।'

'कोई स्वयंसेवक नहीं, कोई नेता नहीं।' एक बार उन्होंने चारों ओर देखा। अपने मन में ही वे कह रहे थे- 'बापू की बात का मर्म तो पाँड़े ने समझा, लगता है। इतना स्वच्छ, इतना अनुशासित, इतना व्यवस्थित ग्राम तो मैं अब तक दूसरा नहीं देख सका हूँ।'

'यहाँ के लोग आपकी ही नकल करते हैं? थोड़ी देर पीछे उन्होंने बात चलते हुए पूछ लिया था। वैसे उनका मन कहता था- 'पाँड़े की नकल पूरा देश करने लग जाये तो बापू का स्वप्न आज ही सत्य हो जाये।'

'नहीं तो!' पाँड़े ने सिर हिला दिया। 'अच्छे काम लोग समझकर करें, यह कुछ नकल नहीं है। मेरी नकल भी कुछ होती है; पर बहुत थोड़ी। एकाध लोग ही मेरी भाँति-घुटे-सिर रहते हैं। दो-चार ही मेरी भाँति गुमसुम बने रहते हैं।'

पाँड़े क्या उत्तर देते हैं इसके बदले उनका ध्यान लोगों की ओर अधिक था। उनके नेत्र चारों ओर घूम रहे थे। जहाँ पहुँचना, वहाँ की अधिक-से-अधिक परिस्थिति को समझ लेने के वे पुरानी अभ्यासी हैं। उनके नेत्रों को छोटी-छोटी बातों के निरीक्षण का अभ्यास है। लेकिन यहाँ उन्हें आश्चर्य हो रहा है- कोई पाँडे की त्रुटियों की नकल

करता उन्हें नहीं लगता। पाँडे चलने में आगे झुककर चलते हैं, उनके कुर्ते की दो-एक बटन टूटी ही रहती है, बोलते समय वे प्राय: अपने बांये हाथ की अँगुलियाँ समेटकर मुट्ठी बना लेते हैं। लेकिन दूसरों में उन्हें तो कोई नहीं दीखता, जिसमें ये बातें आयी हों। लोग पांड़े को कितना सम्मान देते हैं, यह तो वे देख रहे हैं; परंतु उनकी त्रुटियाँ व्यापक नहीं हुई, इसका कारण? यह कारण उनकी समझ में नहीं आ रहा है।'

'यहाँ और कुछ भी देखने योग्य है?' गाँव तो पांड़े ने उन्हें दिखा ही दिया है। दो दिन यहाँ रहने की उनकी इच्छा है। दिनभर कोई बैठे-बैठे ऊब जाये और घूमना-फिरना चाहे, यह बहुत स्वाभाविक है।

'एक मन्दिर है; किंतु दर्शन करने का आप में उत्साह नहीं होगा, यह जानता हूँ। गाँव का साधारण-सा मंदिर है।' पाँडे जी ने कुछ सोचकर कहा- 'थोड़ी दूर गङ्गा-किनारे एक अच्छे संत की कुटी है।'

'संध्या-समय टहलना भी हो जायगा गङ्गा-किनारे और संत के दर्शन भी।' एक समाजसेवी विख्यात पुरुष में साधु के दर्शन की इच्छा होगी, यह पाँड़े को अद्भुत लगा। गाँव वालों को इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं जान पड़ी। वे ऐसे वातावरण में रहते हैं कि वहाँ साधु के दर्शन की इच्छा न होना ही आश्चर्य की बात मानी जाती है।

× × ×

[4]

'वह गैया का गोबर उठा तो लाओ ! एक अंजली तो होगा ही।' भारत के साधु ऐसे बेढंगे होते हैं कि बात मत पूछिये। न जान न पहिचान, एक दूध-सी उजली खादी पहिने कोई भला आदमी दर्शन करने आया तो उसे प्रणाम करके बैठते-बैठते गोबर उठा लाने की आज्ञा दे दी गयी !

'आप बैठिये !' पाँडे ने उन्हें रोका और स्वयं उठने लगे। 'उन्हें ही जाने दो भाई ! वह तो गाय का पवित्र गोबर है !' साधु महाराज ने पांड़े को रोक दिया।

'हमें स्वच्छता करने और कूड़ा उठाने का अभ्यास है।' वे हँसकर उठे। इतने ग्रामीण लोगों के सामने साधु की बात न मानना उचित नहीं जान पड़ा। गाय का गीला गोबर था। कुर्ते को ऊपर चढ़ाकर किसी प्रकार उठा लिया उन्होंने उसे। हाथ की अंजली कपड़े से दूर किये, बहुत सम्हलते हुए चले आये किसी प्रकार। भले उन्होंने ग्रामों की सफाई में थोड़ा-बहुत भाग लिया हो, भले टोकरी भरते और उठाते समय के उनके चित्र समाचारपत्रों ने छापे हों; किंतु उनकी एक-एक अङ्गभंगी कह रही थी-

'कितना गंदा कितना उलझनभरा काम है यह।'

'यहीं रख दो ! साधु ने कह दिया। उन्होंने गोबर गिरा दिया; किंतु उनकी हथेलियाँ भर गयीं। वे हाथ धोना चाहते थे। इसी समय दूसरी आज्ञा मिली-'वह पुस्तक उठा लाओ और तनिक पोंछ दो उसे।'

'मैं हाथ धो लूँ।' उन्होंने देख लिया था कि पाँडेजी कुएँ से पानी ले आ रहे हैं।

'हाथ पीछे धो।' साधु ने कहा- 'पहले पुस्तक साफ करके दे दो।'

'महाराज ! पुस्तक में गोबर लग जायगा। वह एकदम गंदा हो जायगा।' उन्हें लगा कि साधु बूटी छानते होंगे।

'एक छोटी-सी पुस्तक उठाने और स्वच्छ करने में तो तुम पहले अपने हाथ की ओर देखते हो और इतने बड़े समाज के दोष कोदूर करने चलते हो, समाजसेवा में लगते हो तो अपनी ओर देखते ही नहीं हो।' साधु ने गम्भीरता से कहा- 'तुम्हारे हाथ में गोबर लगा है तो जिन-जिन पुस्तकों को तुम छूओगे, वे मैली होती जायँगी। तुम्हारे भीतर बुराई हो तो तुम समाज में अपना क्षेत्र जितना बढ़ाओगे, उसमें उतनी ही बुराई फैलाते चलोगे।'

वे उस दिन साधु के पास से गाँव में आये और गाँव से भी लौट आये हैं; किंतु उनके कानों में साधु के शब्द अब गूँजते हैं- 'पहले अपने दोष दूर करो, तब समाज के दोष दूर करने चलो। जो निर्दोष नहीं, वह समाज-सेवा करने जाकर समाज का अहित ही करेगा। समाज में अपनी बुराइयाँ बाँटेगा।

मित्र कहते हैं- 'उन्होंने अपना मान खो दिया। लेकिन अब उनसे व्याख्यान नहीं दिये जाते। अब तो वे अपने भीतर देखने में लगे हैं आजकल। वे समाज की सेवा में अभी ही ठीक लग पाये है' यह बात क्या ठीक नहीं है?

जीवित मानव

मैं पहले की बात कह रहा हूँ- बहुत पहले की। उस समय की जब संसार में आज-जैसे दो पैर के कीड़ों की भर-मार नहीं थी। जब ये मशीनों के लौह-दानव दुर्बल शरीरों पर रक्तपान कर गर्व-गर्जन नहीं करते थे। जब बाह्य चाकचिक्य में अन्तर के नरक को अन्तर्हित किये प्रासादपूर्ण नगर धरा का भार नहीं बढ़ाते थे। जब स्वार्थ एवं विलास के पैरों के नीचे मानवता कुचली नहीं गयी थीं।

मैं उस स्वर्णिम पूर्व की बात कहता हूँ, जब हरित-भरित शस्यश्यामला पृथ्वीदेवी पुष्पित-फलित विटपों एवं लताकुंजों से परिपूर्ण थी। जब जहाँ-तहाँ कल-कल करती सरिता या झरनों के समीप फूस अथवा मृत्तिका की कुटीरें ही मानव के लिए पर्याप्त थीं। आप चाहें तो उन्हें ग्राम कह सकते हैं। उनमें रहते थे मानव-जंगल के फल-मूल और कहीं-कहीं जंगली पशुओं के मांस पर निर्भर रहने वाले मानव। पशु-पालन उन्होंने सीख लिया था और यत्र-तत्र हाथ से पृथ्वी खोदकर बीज डालने की प्रथा भी प्रारंभ हो गयी थी। ऐसे ही एक ग्राम की मैं बात कह रहा हूँ।

वह एक ग्राम था। एक नीलम-जैसे जल को लिये छोटी-सी नदी एक ओर बहती थी। वर्षा-ऋतु के अतिरिक्त उसमें बराबर कटिपर्यन्त जल प्रवाहित होता था। एक ओर थोड़ी भूमि खोद ली गयी थी और उसमें कुछ हरे-हरे पौधे उग चुके थे। खूब बड़ा एक घेरा बनाया गया था, पाले हुए पशुओं को रखने के लिए। इन सबके चारों ओर कँटीले वृक्षोंकी डालियों, पत्थरों और लकड़ी-से एक परिखा बनायी गयी थी। यह थी ग्राम की किलेबंदी। जिनमें वन-पशु अचानक आकर पशुओं एवं बच्चों को हानि न पहुँचावें।

झोंपड़े थे कुल गिने हुए एक दर्जन और वे भी इस प्रकार बने थे जिसमें बीच का बड़ा झोपड़ा उनके द्वारा घिरा हुआ था। बीच का झोंपड़ा था ग्राम के चौधरी का। प्रत्येक झोंपड़े में चमड़े, रस्सियाँ, बल्कल, बाँस और नारियल के बर्तन, धनुष-बाण से भरे तूणीर, कुल्हाड़ी, कुदाल और भाले- इसी प्रकार की सामग्री रक्खी थी। छोटे बच्चे

नदी-तीर पर या पशुओं के साथ क्रीड़ा करते रहते थे। पुरुष वन में फल एकत्र करने और आखेट का कार्य करते थे। स्त्रियाँ ग्राम के भीतर की स्वच्छता, पशुओं की देखभाल तथा गृहकार्य कर लेती थीं। साथ ही वे ग्राम की रक्षा भी करती थीं। पुरुषों की अनुपस्थिति में आये हुए रीछ, चीते आदि खूँखार पशु उनके हाथों से फेंके भालों से बचकर निकल जायँ, ऐसा कदाचित् ही हो सकता था।

[2]

शीत, धूप एवं वर्षा ने उसके शरीर को कुछ साँवला कर दिया था, नहीं तो वह गौर वर्ण का था। दाढ़ी और सिर के चाँदी-जैसे सफेद बढ़े हुए केशों ने उसके झुर्री पड़े मुख को और भी भव्य बना दिया था। यद्यपि माता धरित्री उसे क्रोड़ी में लेकर भगवान् भुवनभास्करकी पचास परिक्रमा पूरी कर चुकी थीं फिर भी उसके सुस्पष्ट भुजदण्ड अभी शिथिल नहीं हुए थे। उसकी गठीली मांस-पेशियाँ अभी भी उसे स्फूर्तिमान् बनाये थीं और अब भी वन के भयंकर जन्तु उसके धनुष की टङ्कारसे तथा ग्राम युवक उसकी कठोर मुखमुद्रा से काँप उठते थे।

अपने झोंपड़े के सामने बनाये चबूतरे पर, जिस पर वह प्रायः न्याय करने के लिए ही बैठता था, आज बहुत कठोर होकर बैठा था। नित्यप्रति से कहीं अधिक तथा असाधारण कठोर! ग्राम के सभी व्यक्ति उसकी आज्ञा से एकत्र किये गये थे- बिना कारण बतलाये। सब भील थे, सब चिन्तित थे। पता नहीं, आज चौधरी किस पर अप्रसन्न हैं। उनकी अप्रसन्नता का सीधा अर्थ था किसी-न-किसी को अपने प्यारे प्राण उस मनुष्य-भक्षी वृक्ष को भेंट करने होंगे। वहाँ एक ही दण्ड होता था- अपराधी ग्राम के बाहर लगे मांस-भक्षी वृक्ष पर बलात् फेंक दिया जाता उस असुर वृक्ष की डालियाँ पल मारते झुककर उसे कस लेतीं और काँटेदार पत्तों से वह ढ़क जाता फिर उसकी अस्थियाँ ही तब उज्ज्वल होकर गिरतीं, जब वह वृक्ष अपने पत्तों के काँटों से उस जीव के रक्त-मांस प्रभृति का अन्तिम बिन्दु तक शोषण कर चुका होता। उस वृक्ष के नीचे पड़ी अस्थियों के ढ़ेर को देखकर अच्छे-अच्छों का हृदय काँप उठता था। आज सभी ग्रामवासियों के मानस नेत्र उसी वृक्ष की वीभत्स यातना देखकर कुण्ठित हो रहे थे।

चौधरी ने एक बार सबकी ओर देखा। सबने मस्तक झुका लिये थे। 'ग्राम के सब लोग आ गये हैं', चौधरी यही देख रहा था। पास में पड़े धनुष को एक बार उसने उठाया, देखा और रख दिया। तरकस उठाया, उसमें से बाण निकाले, उनका परीक्षण किया और फिर सबको यथास्थान रख दिया। इसी प्रकार उसने भाले, चमड़े की रस्सी

और कुल्हाड़ी को भी देखा। ग्राम के लोग चुपचाप सब देख रहे थे। उनकी समझ में नहीं आ रहा था कि उनके सरदार को आज क्या हो गया है। सबसे अन्त में उसने उठाया अपने सामने रक्खा हुआ एक मरे हुए जंगली बाघ का ताजा निकाला होने के कारण रक्त से भीगा चमड़ा। बहुत-साधारण-सी बात थी। आज ही ग्राम के लड़कों ने इसे चौधरी को भेंट किया था। विशेषता थी तो इतनी ही कि कई लड़कों ने मिलकर, बिना किसी ऐसे हथियार के, जो बाघ के चमड़े को काटे या छेदे, बाघ को मार डाला था। इस प्रकार यह पहला आखेट था; इसी से वह चौधरी को भेंट किया गया था।

× × ×

[3]

'पशु भी इतना क्रूर नहीं होता।' चौधरी गम्भीर हो चला था। उसने मस्तक ऊपर उठाकर कहा, 'छिः तुम मनुष्य हो? इतनी नीचतापूर्वक एक पशु को मारकर तुम्हें मानवता के नाम पर कलङ्क लगाने का क्या अधिकार था? तुम लोगों-जैसे नृशंस क्यों पृथ्वी का भार बढ़ावें?' वह क्रोध से काँपने लगा था। हाथ की मुट्ठियाँ कठोर से कठोरतर होती जा रही थीं।

बात सबकी समझ में आ गयी। बाघ जिस रास्ते पानी पीने जाता था, उस रास्ते पर कटहल-जैसे गाढ़े दूधवाले एक जंगली वृक्ष के दूध को खूब चौड़े-चौड़े पत्तों पर अच्छी प्रकार लगाकर गाँव के लड़कों ने दूर तक बिछा दिया था। बाघ आया दूध लगे पत्ते उसके पंजों में चिपक गये। पंजे साफ करने के लिए उसने उसे मुख पर रगड़ा। इस प्रकार बार-बार करने से उसके दोनों नेत्र दूध लगे पत्तो से ढँक गये और पंजे भी पत्ते भर जाने से बेकार हो गये। झाड़ियों में छिपे लड़कों ने जब देखा कि बाघ पूरी तरह अँधा और पंजों से बेकार हो गया है तो डंडे लेकर निकल पड़े और उसे घेरकर उन्हीं डंडों से मार डाला। एक पशु को इतना असहाय बनाकर मारने पर वह चौधरी क्रुद्ध था।

'मुर्दो! जब कि तुम्हें उचित था कि बाघ असावधान या सोता होता तो उसे सावधान करते, तुमने उसे धोखा देकर मारा?' चौधरी गर्जन कर रहा था। 'मैं उस नीच-को जानना चाहता हूँ जिसके पापपूर्ण मस्तिष्क में यह बात पैदा हुई और जिसने अपने साथियों को पथ-भ्रष्ट किया। उसने लड़कों की ओर दृष्टि डाली।

सब निस्तब्ध थे। किसी ने मस्तक ऊपर नहीं उठाया। 'उसे पुरस्कार मिलेगा।' चौधरी ने तनिक मृदु स्वर में कहा, 'वह मेरा उत्तराधिकारी बनेगा जो उस अधम का नाम बतलावेगा।' लेकिन वे जंगली मानव इतने नीच नहीं थे। वे मानव थे औरउसी के

समकक्ष मानव, जो आज एक पशु की निर्दयी हत्या पर आपे से बाहर हो रहा था। फिर क्या, वे अपने में-से ही एक के प्रति विश्वासघात करतें?

'ओह! तुम लोग एक अपराधी को छिपाना चाहते हो?' अपनी विकट हँसी के साथ उस बुड्ढे ने धनुष उठाया। प्रत्यञ्चा चढ़ाकर उसने तरकस में से एक बाण उस पर रक्खा। 'यह घोर विष से बुझा है, इतना भयंकर बाण आज तक किसी ने नहीं बनाया या कोई बनाता है- सो मैं नहीं जानता। मैंने भी क्रूर और पापी शत्रु के लिए, जो अचानक आकर प्राणसंकट उपस्थित करे, उसी के लिए इसे बनाया था। आज मैं इसे चढ़ाता हूँ। जिसमें साहस हो सामने आवे या इन सब लड़कों को मैं इस विषैले बाण का लक्ष्य बनाऊँगा। तुम यदि इन्हें विष से मरते नहीं देखना चाहते तो बाँधो और उस पेड़ के पास ले चलो!'

'अपने ही बच्चों को बाँधना होगा! लेकिन किया क्या जाय? चौधरी ठीक मार्ग पर है। इतनी क्रूरता करने वाले जीवित रहने का अधिकार भी क्या रखते हैं?' सबने अपने अश्रु भरे मुख नीचे कर लिये।

'चलो बाँधो!' चौधरी ने कड़ककर कहा। सबके हाथों में रस्सियाँ आ गयीं और वे बच्चे उने सम्मुख स्वतः आकर खड़े हो गये।

× × ×

[4]

'आप लोग ठहरे!' चौधरी के घर में से निकलकर एक पंद्रह वर्ष का बालक दौड़ता हुआ आया और उसने अपनी घुँघराली अलकों को समेटकर कानों के पीछे डालते हुए गंभीरता से कहा। उसका एकहरा शरीर, गौर वर्ण, बड़े-बड़े नेत्र और सलोना हँसता मुख लोगों को प्रभावित किये बिना न रहा। फिर उसने चौधरी की ओर मुख फेरा, पिताजी! अपराध तो मेरा है।' उसकी वाणी में न कम्प था, न भय और न दैन्य ही। 'मैंने ही यह युक्ति सोची और कौतूहलवश साथियों को प्रेरित किया। उन्हें समझा कर पथभ्रष्ट तो मैंने किया है। निश्चय ही यह एक जघन्य कृत्य है, जो मैंने बालचापल्यवश कर डाला है। मैं इसके लिए बहुत दुखी हूँ और दण्ड के लिए प्रस्तुत भी! इन बेचारे निरपराधों को क्यों बाँध दिया जाय?'

'उत्कच। तुम?' चौधरी का मुँह फीका हो गया। एक बार वह हतप्रभ होकर चौका, वह दूसरे ही क्षण उसने अपने को सँभाल लिया। पूर्ववत् कठोर होकर उसने दुहराया 'तुमने यह घृणित काम किया है?'

'जी हाँ! मुझसे ही यह अपराध हो गया है।' उत्कच शान्त था।

'बाँधो इसे। पुत्र स्नेह को ठुकराकर चौधरी ने कहा।

'इसकी आवश्यता न होगी!' उत्कच ने लोगों को चौका दिया। 'मैं स्वयं ही उस वृक्ष पर जाकर कूद पड़ने-को तैयार हूँ।' वह उधर मुड़ पड़ा।

'इतना साहस! इतना धैर्य!' लोगों में कानाफूसी होने लगी।

'ऐसा नहीं हो सकता।' बच्चों के समूह ने एक-स्वर से कहा। उन्होंने उत्चक को पकड़कर रोक लिया था। 'भैया उत्कच ने उस बाघ को एक डंड़ा भी मारा नहीं था।' वे चौधरी से न्याय चाहते थे। 'केवल सलाह मात्र उन्होंने दिया था। अपराध तो हम लोगों ने किया है।'

इतने में स्त्रियों की भीड़ हो गयी। माताओं ने बच्चों को गोद में छिपा लिया और वे रोने-चिल्लाने लगीं।

चौधरी को यह सब सह्य नहीं था। उसने चिल्लाकर कहा, 'तब उत्कच के साथ इन सबको उस वृक्ष पर फेंक दो।'

× × ×

[5]

'ऐसा नहीं हो सकता।' एक ऊँचा तरुण सामने आया। 'मुझे इस धृष्टता के लिए आप क्षमा करें।' चौधरी चौंक पड़ा। जीवन में पहली बार उसे प्रत्युत्तर मिला था। उसने क्रोध से जलते हुए पूछा, 'ऐसा नहीं हो सकता?'

'जी हाँ, ऐसा नहीं हो सकता।' तरुण का स्वर नम्र किंतु दृढ़ था। 'इन भोले बच्चों ने जो कुछ भी किया है – बाल-स्वभाव के कारण अज्ञानवश ही किया है। इसके लिए इतना कठोर दण्ड नहीं होना चाहिए। यदि वे अपराधी हैं और उन्होंने एक पशु की निर्दय हत्या की है तो क्या साथ ही उन्होंने अभी-अभी असीम धैर्य और मैत्री का परिचय नहीं दिया है? क्या सहचरों के लिए इस प्रकार हँसते हुए अपने को न्यौछावर कर देने वाले इन होनहारों-को एक पशु के लिए मिटा दिया जा सकता है? कभी नहीं।'

'कभी नहीं!' उसके साथ ही ग्राम के दूसरे लोगों ने चिल्लाकर दुहराया।

'तो आप लोग विद्रोह करना चाहते हैं?' चौधरी कुछ धीमा पड़ चुका था।

'जी नहीं!' दूसरे कुछ कहें, इससे पूर्व ही उसी तरुण ने कहा, 'हम केवल बच्चों के अनोखे साहस और उत्कच के त्याग का पुरस्कार देना चाहते हैं। हम अपने अग्रणी से नम्रतापूर्वक प्रार्थना करना चाहते हैं कि इन्हें क्षमा किया जाय।'

'यदि मैं इसे स्वीकार न करूँ तो?' चौधरी का स्वर शान्त हो गया था।

'तो हमें असीम कष्ट होगा!' तरुण स्वर आर्द्र हो चला था। 'हम आपसे क्षमा चाहेंगे और अपने कर्तव्य का पालन करेंगे।'

'कर्तव्य कौन-सा?' चौधरी ने बीच में रोका।

'हम इन बच्चों को बीच में कर लेंगे। प्रिय उत्कच से अनुरोध करेंगे कि वह हमारा अग्रणी बने और आपके संरक्षण एवं कृपा से प्राप्त इन गृहों तथा पशुओं को छोड़कर कहीं दूसरे अनुकूल स्थान को ढूँढने जायँगे।' तरुण ने वाक्य पूरा किया।

'पर मेरा यह बाण'.......... चौधरी कुछ कहना चाहता था।

'वह धनुष से फिर त्रोण में पहुँच जायगा।' तरुण ने बीच में ही विश्वस्त स्वर में कहा। 'प्रतिरोधहीन हम-लोगों पर इस बाण को छोड़ने के लिए आपके हाथ बढ़ेंगे-इसे मैं नहीं स्वीकार कर सकता। हमारे अग्रणी का हृदय इतना कठोर है, इसे मैं मान नहीं सकता।'

'यह सब कुछ नहीं।' चौधरी ने धनुष-बाण फेंक दिया। 'जिन लोगों ने मुझे यह पद और अधिकार दिया है, उसे छीनने का भी अधिकार उनको है। यदि आप लोग मेरे रक्षण में नहीं रहना चाहते तो मैं स्वयं इस पद को छोड़ता हूँ। आप अपना चौधरी चुन लें।'

'और आप?' आश्चर्य से सब पुकार उठे।

'मैंने आज तक कहकर पलटना नहीं सीखा है।' चौधरी दृढ़ और शान्त स्वर में कह रहा था। 'आप लोग जिन्हें क्षमा करना चाहते हैं, मुझ अकेले को क्या अधिकार है कि मैं उन्हें दण्ड दूँ। इन बच्चों की धीरता भी उन्हें क्षमा कर देने को बाध्य करती है। पर-अपराध उत्कच का है और उत्कच मेरा पुत्र है, अतः पुत्र का अपराध पिता का ही हुआ। उस पशु की निर्दय हत्या-उसका तड़प-तड़पकर प्राण-त्याग उफ! मैं स्वयं इसका प्रायश्चित्त करूँगा।'

कोई कुछ कहें, इससे पूर्व ही चौधरी चबूतरे से कूदा और दौड़ पड़ा। लोग हक्के-बक्के रह गये। वह सीधा उधर जा रहा था, जिधर वह मांस-भक्षी वृक्ष था। लोग दौड़े सही, पर आज बूढ़े चौधरी के साथ दौड़ना सरल नहीं था। वह दौड़ता ही गया और उस वृक्ष पर जाकर कूद पडा। वृक्ष की पत्तों से भरी डालियाँ झुकीं और उन्होंने चौधरी को चारों ओर से छिपा लिया।

× × ×

[6]

चौधरी का शरीर रक्त से भीग गया था। काँटों से छिदे घावों से रक्त के फव्वारे से

निकल रहे थे। फिर भी चौधरी के मुख पर वेदना का नाम न था। उसने अपने लोगों तथा उत्कच से केवल एक वाक्य कहा, 'तुम लोग मानव हो, तुम्हें जीवित मानव रहना चाहिए। यदि तुम्हारे भीतर की मानवता मर जाय तो तुम जीते हुए भी मृत हो जाओगे।'

इसी समय वह मांस-भक्षी वृक्ष धड़ाम से गिर पड़ा। चौधरी के भागने पर एक तरुण ने चौधरी का वह धनुष और भयंकर विष बुझा बाण उठा लिया था। चौधरीको बचाने के लिए उसने वह बाण वृक्ष की जड़ में मारा था। उसी के विष से वृक्ष की डालियाँ मुरझा गयी थीं और चौधरी का काँटों से बिंधा शरीर उनके पंजे से छूट गया था। विष की गर्मी से पेड़ शुष्कप्राय होकर गिर पड़ा।

लोगों ने देखा- उनके बीच में चौधरी का वह शरीर चेष्टाहीन पड़ा है। यद्यपि चौधरी का शरीर अब निर्जीव था- फिर भी वह उन लोगों के लिए गौरवास्पद था, क्योंकि वह एक जीवित मानव का शरीर था।

❑❑

स्वस्थ मनुष्य

मनुष्य का – विशेषतः प्रतिभाशाली मनुष्य का मन कब जग जायगा, कोई कह नहीं सकता। जब एक बार किसी-की सुप्त चेतना जाग्रत् हो जाती है, विश्व के लिए वह विश्वस्रष्टा का अमर उपहार होती है। लेकिन कैसे जगे वह? हम आप नित्य चूल्हे पर चढ़े बर्तन में उठती भाप से उसके ढ़क्कन को हिलता देखते हैं, लेकिन वाष्प की शक्ति से चलने वाले आज के बड़े-बड़े यन्त्रों का आविष्कार तो वह कर सका जिसकी चेतना को उस हिलते ढ़क्कन ने झकझोर दिया। पेड़ से टूटा फल पृथ्वी पर ही गिरता है और मनुष्य इसे युगों से देखता आ रहा है, किंतु न्यूटन की चेतना को एक दिन एक साधारण फल ने वृक्ष से भूमि पर गिरकर प्रबुद्ध कर दिया था। आज भी एक सामान्य घटना ने डा० जान्स के चित्त को क्षुब्ध कर दिया है। घटना तो सदा ही क्षुद्र एवं सामान्य होती है; पर मानव की अन्तश्चेतना में जो अनन्त ज्ञान है, वह कभी-कभी अपने को व्यक्त करने का उसे मार्ग बना लेता है।

डा० डब्ल्यू सी० जान्स चिकित्सा शास्त्री हैं, चिकित्सक नहीं। चिकित्साशास्त्र उनके मनन-चिन्तन एवं अनुशीलन का विषय है। वे जब चिकित्सक बनते हैं- बहुधा बनते हैं, पर बनते हैं केवल अनुशीलन के लिए। उन्होंने डाक्टरी (एलोपैथी) का तो उच्च अध्ययन किया ही है, यूनानी चिकित्सा-पद्धति (हकीमी), होम्योपैथी, प्राकृतिक चिकित्सा-पद्धति तथा आयुर्वेद का भरपूर अनुशीलन किया है। वे यूरोप एवं अमेरिका के विभिन्न स्थानों में रहे हैं, अफ्रीका के जंगलों में भटके हैं तथा चीन और तिब्बत के दुर्गम स्थानों में भी अनेकों वर्ष व्यतीत कर चुके हैं। आयुर्वेद के अध्ययन तथा मानसिक चिकित्सा से सम्बन्ध रखने वाले योग के ज्ञान को पूर्ण करने के विचार से वे भारत आये हैं। यहाँ अनेक सुप्रसिद्ध चिकित्सकों से उन्होंने परिचय कर लिया है। धुन के पक्के, चाहे श्रम करने एवं कष्ट सहने को उद्यत, सदा हँसमुख, विनम्र इन सत्तर वर्ष के वृद्ध पुरुष का उत्साह किसी युवक को लज्जित कर सकता है। इनकी मधुर वाणी एवं विपुल ज्ञान मित्रता प्राप्त करने में असफल होना जानता ही

नहीं। ऐसे सुशील व्यक्ति ने यदि अनेक एकान्तप्रिय विरक्त साधुओं की कृपा प्राप्त कर ली है, तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है?

आज डा० जान्स पहली बार अपने कमरे में इधर-से उधर उद्विग्न-से घूम रहे हैं। उनका झबरा 'पीटर' भी आज हैरान है। उसके स्वामी कठिन-से-कठिन समय में स्वस्थ एवं स्थिर रहने वाले हैं; आज क्या हो गया है, उन्हें? वह कूँ-कूँ करता पास गया, सामने भूमि पर लेटा, गोद में पहुँचने के लिए उछला-बेचारा मूक प्राणी और क्या कर सकता है। आज उसे पुचकारा नहीं गया, स्नेहभरी थपकी नहीं मिली। उसके स्वामी मस्तक झुकाये इधर-से-उधर चक्कर काट रहे हैं। कभी-कभी मस्तक पर गर्दन के पास दाहिना हाथ रगड़ लेते हैं। उनके उजले घुँघराले बाल तनिक हिल जाते हैं और बस! सामने लेटने पर भी पीटर की ओर उन्होंने नहीं देखा। वे उसे बचाकर आगे बढ़ गये। बेचारे कुत्ते ने बहुत प्रयत्न किया उन्हें प्रसन्न करने का और अन्त में हारकर वह एक ओर भूमि में ही बैठकर सूनी दृष्टि से देखने लगा अपने स्वामी को। अब उसमें भी उछलकर कोच पर बैठने का उत्साह नहीं रह गया था।

बात कुछ नहीं है। आज प्रातःकाल एक नवयुवक डॉक्टर मित्र जान्स से मिलने आये थे। उन्होंने बताया 'कल कुछ भारतीय लोगों के साथ एक अंग्रेज सज्जन दोपहर में मोटर से कहीं घूमने गये थे। रास्ते में सबको प्यास लगी। आसपास पानी पीने का कोई व्यवस्थित प्रबन्ध न देखकर लोगों ने मोटर रोकी और सड़क के किनारे एक पान की छोटी दुकान से सोड़ा की बोतलें लेकर गले को गीला किया। उन अंग्रेज सज्जन ने भी दूसरा उपाय न देखकर एक बोतल सोडा पी लिया। ये पानवाले वैसे भी गन्दे रहते हैं और नगर के बाहर सड़क के किनारे की दुकानों पर तो पूछना ही क्या।वे कुछ प्रामाणिक कम्पनियों का सोड़ा तो रखते नहीं। बेचारे को रास्ते मेंही हैजा हो गया। घर लौटने पर चिकित्सा का बहुत प्रयत्न हुआ है; किंतु वे चल बसे। अच्छे सबल स्वस्थ युवक थे वे।' सुनाने वाले के लिए और हम आपके लिए भी यह एक सामान्य घटना है। ऐसा तो प्रायः होता है। इसमें सोचने की कुछ बात ही नहीं। लेकिन डा० जान्स की प्रसुप्त चेतना आज इस नन्हें से समाचार से जाग उठी है। डाक्टर उद्विग्न हो गये हैं।

'एक ही दुकान से एक ही सोड़ा सबने पिया था, केवल अंग्रेज क्यों मरा? यूरोपियन लोग स्वास्थ्य एवं स्वच्छता के नियमों का बहुत सावधानीसे पालन करते हैं और वे ही अधिक शीघ्र अस्वस्थ होते है।' डॉक्टर का मन अनेक बातें सोच रहा है- 'ये भारतीय मजदूर जहाँ चाहे वहाँ लेटते हैं, चाहे जिस दूकान से खाते हैं, चाहे जहाँ पानी पीते हैं। अफ्रीका के जङ्गली लोगों की बात और ये कलकत्ते के गन्दे मुहल्ले को

साफ करने वो भङ्गी – ये भङ्गी गन्दगी साफ करते हैं, सभी प्रकार के लोगों का जूँठा खा लेते हैं और स्वस्थ रहते हैं। इनका शरीर बलवान् रहता है।'

डॉक्टर जान्स मानते हैं कि शरीर में रोगाणुओं के प्रवेश करने पर उन्हें नष्ट करनेवाला प्रतिविष स्वतः बनता है। जो गंदगी में ही रहते हैं, उनके शरीर में उसे सहने की शक्ति आ जाती है। उनका शरीर विषों को पचा लेता है। लेकिन आज डॉक्टर का इससे सन्तोष नहीं। 'स्वास्थ्य क्या है? उज्ज्वल वस्त्र पर एक छोटा-सा धब्बा भी दूर से दिखता है। निर्मल शरीर थोड़ा-सा विकार भी सह नहीं पाता; किंतु शरीर तो वस्त्र नहीं है। तब किसी थोड़े भी विजातीय द्रव्यों को न सह पानेवाला छुईमुई-सा स्वास्थ्य और प्रतिविषों से भरा चाहे जैसे गंदगी और रोगाणुओं को पचा जाने वाला स्वास्थ्य? डॉक्टर को कोई तर्क सन्तोष नहीं दे पाता है। वे घूम रहे हैं इधर-से-उधर और बार-बार उनके मुख से बहुत धीरे से अपने-आपसे पूछता-सा शब्द निकलता है – 'स्वास्थ्य क्या है?'

× × ×

'शरीर में किसी रोग के कीटाणु न हों, कोई विजातीय द्रव्य न हो, रक्ताभिसरण ठीक हो, श्वासप्रणाली, स्नायु एवं ग्रंथिमण्डल आदि शरीर के विभिन्न अवयव ठीक काम करें, यह स्वास्थ्य का पूरा लक्षण है।' यूरोपीय विज्ञान के इस मत में किसी को कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। लेकिन डाक्टर जान्स ने वह बड़ी-सी सुन्दर लाल जिल्द की पुस्तक झुँझलाकर बन्द कर दी।

समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते।।

आयुर्वेद के ग्रन्थ को उलटते हुए डाक्टर रुक गये। 'कफ पित्त, वात- ये तीनों दोष समान रहें, पाचन क्रिया ठीक हो, रक्त -भेद-मांसादि धातुओं में कोई विकार न हो, उनका ठीक परिपाक होता रहे और मलाभिसरण उपयुक्त रूप में हो- यह एलोपैथी की परिभाषा ही है। जो बहुत पहले कुछ भिन्न ढ़ंग से कही गयी थी।' डॉक्टर की चिन्ताधारा आगे अटकी- 'चित्त, इन्द्रियाँ और मन प्रसन्न रहें?' उन्होंने ग्रन्थ बन्द करके रख दिया और मेज पर बायें हाथ की कुहनी टेककर हथेली पर सिर रखकर नेत्र बन्द कर लिये।'

'चित्त निर्मल, इन्द्रियाँ निर्मल, मन निर्मल?' डाक्टर जानते हैं कि संस्कृत के इस 'प्रसन्न' का अर्थ 'खुश' नहीं- 'निर्मल' होता है। अब चिकित्सा शास्त्र मनोविज्ञान के क्षेत्र में यहाँ प्रवेश कर चुका था। विचारों का प्रभाव शरीर पर पड़ता है, यह बात प्रत्येक

चिकित्सक जानता है, किंतु चित एवं मन की निर्मलता का जो अर्थ है, उस भारतीय अर्थ को जानते हुए डाक्टर जान्स यह कैसे मान लें कि यहाँ आयर्वेद केवल मनोविज्ञान की बात करता है। और 'प्रसन्न' का अर्थ चित्त में कोई चिन्ता, मन में उद्विग्नता तथा इन्द्रियों में कोई क्लेश का न होना ही है। उन्हें स्पष्ट लगता है कि आयुर्वेद यहाँ अध्यात्मशास्त्र बन गया है और वह चित्त को कामादि विकारों से रहित, इन्द्रियों को अपने भोगों की लोलुपता से निरपेक्ष और मन को स्थिर पाना चाहता है। 'स्वास्थ्य के लिए अध्यात्म की यह आवश्यकता?' यूरोपीय विज्ञान ने तो कभी यह आवश्यकता अनुभव की नहीं। स्वास्थ्य का उद्देश्य ही है- 'भोगक्षमता' और यहाँ स्वास्थ्य के लिए भोगवासना का अभाव ही अपेक्षित माना गया है।' डाक्टर की समस्या सुलझने के बदले उलझती जा रही है।

'कोई भारतीय साधु कदाचित् इसे ठीक समझा सकें। डाक्टर ने अपने वैद्य मित्रों से समझने का प्रयत्न कर लिया है। उन्हें लगता है कि अधिकांश लोगों ने कुछ शब्द रट लिये हैं। एक शब्द के बदले दूसरा शब्द, एक पहेली के बदले दूसरी पहेली, 'मघवा' के स्थान पर 'विदौजा' किंतु उन शब्दों का अर्थ जैसे स्वयं उनकी बुद्धि में नहीं है। जो स्वयं ही नहीं समझता, वह दूसरों को कैसे समझा सकता है। लेकिन भारतीय साधुओं की बात दूसरी है। कोई समय था जब डाक्टर जान्स भारत के ऋषियों की सर्वज्ञता- का भरपूर उपहास करते थे। 'भला कहीं कोई एक व्यक्ति सब कुछ जानने वाला हो सकता है?' अब बात बदल गयी है। अब वे प्रायः कहते हैं- 'भारतीय सचमुच जादूगरों का देश है और यहाँ का जादू न केवल बाहरी पदार्थों को उलट-फेर करता है, बौद्धिक एवं मानसिक ज्ञान में भी कल्पनातीत चमत्कार रखता है।' इन कुछ महीनों में डाक्टर जिन संतों के परिचय में आये हैं, उनकी प्रतिभा ने उन्हें चमत्कृत कर दिया है।

'एकेन विज्ञातेन सर्व विज्ञातं भवति'

श्रुति का तात्पर्य भले डाक्टर ने न समझा हो; पर वे अब यह समझ गये हैं कि इस अद्भूत भूमि पर जो निरपेक्ष साधु यत्र-तत्र मिलते हैं, उनके लिए कोई प्रश्न असाध्य नहीं है।

जब हम कहीं अपनी धारणा से सर्वथा विपरीत कुछ पाते हैं, हमारा अनुमान वहाँ अस्त-व्यस्त हो उठता है। डाक्टर ने कभी नहीं सोचा था कि मनुष्य इतना सहनशील तथा इतना निरपेक्ष हो सकता है समाज एवं समाज के भोगों से। 'व्यक्ति अपने-अपने में पूर्ण हैं' - यह बात उनका वैज्ञानिक मस्तिष्क किसी प्रकार सुलझा नहीं पाता। सौभाग्य से उनका परिचय गङ्गाकिनारे पड़े रहने वाले एक कौपीनधारीसे हो गया है

और अब डाक्टर कहते हैं 'ये भारतीय साधु बुद्धि के क्षेत्र में जादूगर हैं। सभी अटपटे प्रश्नों का उत्तर प्रश्न करने से पूर्व ही उनके पास तैयार रहता है।' आप इसे डाक्टर की श्रद्धा कहें या अतिश्योक्ति; किंतु सत्य यही है कि जो मस्तिष्क उस एक चिन्मय आलोक में आलोकित हो उठता है, उसके लिए ग्रन्थि या उलझन कहीं होती ही नहीं।

'जिसका चित्त, जिसकी इन्द्रियाँ और जिसका मन निर्मल हो वही बता सकता है कि इसकी निर्मलता का स्वास्थ्य से क्या सम्बन्ध है।' डाक्टर जान्स ने अन्त में पुस्तकों को समेटकर यथा स्थान लगा दिया। अव्यवस्था उन्हें पसंद नहीं है। वे स्वच्छ एवं व्यवस्थित व्यक्ति हैं। अपने घर में और मस्तिष्क में भी वे ऐसा ही रहना पसंद करते हैं। अपने बंगाली मित्र को फोन किया उन्होंने। यद्यपि मित्र को आश्चर्य हुआ कि आज दोपहर में डाक्टर क्यों गङ्गाकिनारे सन्त-दर्शन को उत्सुक हो गये हैं, परंतु वे साथ देने को प्रस्तुत हो गये।

डाक्टर जान्स ने कई भारतीय भाषाओं का अच्छा अभ्यास कर लिया है। वे हिंदी बहुत स्पष्ट बोलते हैं। लेकिन अनेक बार साधु-संतों के कुछ शब्दों को समझने मेंउन्हें सहायता की आवश्यकता होती है। जब डाक्टर के मित्र हरीशचन्द्र जी उनके यहाँ पहुँचे, डाक्टर चलने को प्रस्तुत उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे।

× × ×

'तूने मुझे क्या समझ रक्खा है? मैं तेरी सारी हड्डी-पसली तोड़ दूँगा।' आज नाथूराम बहुत अधिक क्रोध में है। वह एक मैले कपड़े पहने बूढ़े व्यक्ति पर लाल-पीला हो रहा है। नाथूराम खूब तगड़ा पहलवान है। आज अपने अखाड़े के समीप खड़ा वह इस प्रकार अपने-आप से बाहर हुआ जा रहा है। कुशल है कि उससे कुश्ती लड़ने का अभ्यास करनेवाले उसके शिष्य जा चुके हैं। यदि उन लड़कों-में-से कोई भी यहाँ होता तो बात बहुत बढ़ गयी होती।

'बेचारा बूढ़ा!' डाक्टर जान्स को दया आ गयी। उन्होंने अपने साथी से कहा- 'यदि एक भी थप्पड़ इस मोटे आदमी ने इसे मारी तो गिर ही पड़ेगा यह। हम क्या इसे बचा नहीं सकते?' मोटर अब आगे नहीं जा सकी थी। उसे कुछ गज पीछे छोड़कर डाक्टर महात्मा जी के पास जाने के लिए उतर पड़े थे। और पैदल चल रहे थे। एक बलवान व्यक्ति एक दुर्बल को कष्ट देने को उद्यत हो तो कोई भी सहृदय तटस्थ निरीक्षक कैसे रह सकता है?

'मैं इसे जानता हूँ।' इतना कहकर हरीशचन्द्र जी आगे बढ़े और स्वर को कोमल तथा सौहार्द्रपूर्ण बनाकर उन्होंने कहा- 'नाथू भाई! आज तुम यहाँ अकेले कैसे हो?'

'मेरा जाँघिया छूट गया था यहाँ। घर जाने पर बहुत पीछे याद आयी। लड़के अपने-अपने घर चले गये थे। यहाँ आकर देखता हूँ .....।' बूढ़े की ओर घूरते हुए उसने देखा।

'जाने भी दो!' हरीन्द्रचन्द्र ने देख लिया कि घटना-का पता लगाने की उत्सुकता ऐसे अवसरों पर अनर्थकारी होती है। विवरण में जाने से उत्तेजना को प्रोत्साहन मिलता है। उन्होंने तनिक हँसते हुए कहा- 'सिंह गीदड़ों से झगड़ा नहीं किया करते। ये डॉक्टर साहब उन अवधूत स्वामी के पास जाना चाहते हैं। तुम उस टीले तक चलकर उनका स्थान दिखा दोगे हमें?'

स्तुति किसे प्रसन्न नहीं करती। पहलवान को 'सिंह' कहा गया था। उसके गर्व ने उसके क्रोध को शिथिल कर दिया। एक पढ़े-लिखे बाबू और एक गोरे साहब उससे सहायता माँग रहे थे, अब भला वह एक दुर्बल बूढ़े से झगड़ता कैसे रह सकता था। झटपट वह समीप चला आया और मार्ग दिखाने को आगे बढ़ गया। अवश्य वह महात्मा जी के समीप तक ले जाता दोनो को; किंतु साहब ने उसे आग्रहपूर्वक लौटा दिया। वे अकेले ही महात्मा जी के पास जाना चाहते थे।

'ओह, तो आप मनोवैज्ञानिक भी है।' डाक्टर जान्स ने पहलवान के चले जाने पर अपने साथी की ओर मुसकराते हुए देखा। 'मैं जानता हूँ कि हमें किसी मार्गदर्शक की आवश्यकता नहीं थी।'

'यदि उस बूढ़े को यह मारता, आप इसे दण्ड देने का समर्थन करते या नहीं? हरीशचन्द्रजी ने दूसरा ही प्रश्न किया। डाक्टर जान्स से अपराध-विज्ञान पर उनकी अनेक बार बाते हुई हैं। डाक्टर का मत है कि अपराध का दण्ड देना एक नृशंस प्रथा है। अपराध एक प्रकार के मानसिक रोग का परिणाम है और इसलिए अपराध की चिकित्सा होनी चाहिए।' इसी मत को लक्ष्य करके यह प्रश्न किया गया था।

'आपने देखा ही है क्रोध के समय उसके नेत्र और मुख कैसे विकृत एवं लाल हो गये थे।' डाक्टर ने कहा- 'आप यह भी जानते हैं कि यदि क्रोध पर्याप्त अधिक हो तो ज्वर आ सकता है। इसका अर्थ है कि क्रोध का थोड़ा आना भी विकृति ही है।'

'लेकिन उसका आना रोका कैसे जाय?'

'कम-से-कम दण्ड देने से तो वह रूकता नहीं।' डाक्टर ने कहने को तो बात कह दी; किंतु उनके मन ने एक दूसरी ही चिन्तन-परम्परा प्रारंभ कर दी। वे अचानक फिर गंभीर हो गये। अब बातचीत करना उनके लिए शक्य नहीं रहा।

'क्रोध से ज्वर आ सकता है, भय से आ सकता है, काम से आ सकता है।' डाक्टर का चित्त अधंड़ से उछलते हुए सरोवर की भाँति हो रहा था। वे सोच रहे थे,

यह कहना ठीक नहीं; उनके भीतर स्मृतियों, घटनाओं और विचारों का तूफान चल रहा था।

'मन के सभी विकार शरीर में रोग पैदा कर सकते हैं स्वस्थ मन के बिना स्वस्थ शरीर पाया नहीं जा सकता। 'स्वस्थ मन?' शरीर के स्वास्थ्य के समान ही यह भी एक उलझा प्रश्न ही है।' मन वासना-रहित, विकार-रहित, सङ्कल्प-रहित भी हो सकता है। यह बात एक व्यावहारिक बुद्धि में क्या सरलता से आती है?

'आपकी मानसिक चिकित्सा कैसी होगी?' हरीशचंद्र जी ने पूछा। उनका तात्पर्य स्पष्ट था- यदि मनुष्य को किसी आपरेशन, इंजेक्शन या किसी भी उपाय से ऐसा बना दिया जाय कि वह कभी क्रोध न करे, कभी उसमें काम का उदय न हो, लोभ तथा मोह उसके मन से विदा हो जायँ, कैसा होगा वह मनुष्य? वह क्या सामाजिक प्राणी हो सकेगा? 'प्रकृति ने जो वासनाएँ दी हैं, वे क्या निरर्थक ही है? उनको निर्मूल कर देने पर जो कुछ बच रहेगा, वह क्या होगा? क्या ऐसा कर देना शक्य भी है?'

'हम भी अन्वेषक हैं और वह भी अंधकार भरे जङ्गल में बिना लक्ष्य के भटकने वाले।' डाक्टर के स्वर में व्यङ्ग या उत्साह नहीं, थकान थी। 'हमसे बहुत अच्छी प्रकार आप इसे जानते हैं। भारत-केवल भारत ही इसका उत्तर दे सकता है।'

एक दिन भारत ने विश्व को इसका उत्तर दिया था। आज भी उसी उत्तर के लिए ये सभ्यता के पुत्र भगवती भगीरथी के उज्ज्वल पुलिन पर बबूल की पतली छाया में केवल कौपीन लगाये पड़े रहने वाले दो मुट्ठी हड्डी केएक वीतराग के समीप उसी शाश्वत उत्तर की आशा से जा रहे थे। कोई तर्क या कोई भौतिक अन्वेषण उसे पा जो नहीं सकता।

× × ×

'डाक्टर! स्वास्थ्य किसे कहते हैं?' डाक्टर जान्स ने मस्तक झुका लिया। जो प्रश्न पूछने वे संत के पास आये थे, संत ने वही प्रश्न उनसे पूछा था। और एक डाक्टर से ऐसा प्रश्न न पूछा जाय तो पूछा किससे जाय।

दोनों प्रणाम करके रेत में ही बैठ गये थे। जहाँ आडम्बर नहीं होता, दूसरे को भी उसकी वहाँ आवश्यकता नहीं होती। अवधूत स्वामी तो अवधूत ठहरे, उनके पास आज पहली बार एक जल से भरी हँडिया दिखायी पड़ रही थी और उनका शरीर भी कुछ कृश लगता था।

'तीन दिनों से आँव पड़ रहा है और कुछ ज्वर भी है।' पूछने पर उन्होंने बताया।

डाक्टर शरीर-परीक्षण करने उठने लगे तो उन्होंने रोक दिया- 'तुम व्यग्र मत बनो। मुझे कुछ हुआ नहीं है। शरीर को अपना भोग-भोग लेने दो।' जब यह आशा ही नहीं कि औषधि दी जा सकेगी, तब केवल निदान के लिए परीक्षण के आग्रह से लाभ भी क्या।

'तुम क्या सोचते हो कि मैं अस्वस्थ हूँ?' संत ने पूछा- 'स्वास्थ्य तुम किसको कहते हो?'

मैं स्वयं आपके चरणों में यहीं पूछने आज आया।' डाक्टर ने थोड़े मेंअपनी समस्या उपस्थित कर दी।

'तुम चिकित्सा-शास्त्र के विद्वान हो, भला ये बातें मैं क्या जानूँ। संत हँस पड़े। 'मैं तो यह जानता हूँ कि शरीर वा शरीर के किसी अङ्ग तथा उसकी आवश्यकता का स्मरण न आवे तो शरीर को स्वस्थ समझना चाहिए।'

'और मन की आवश्यकता स्मरण न हो तो मन को स्वस्थ कहना होगा? डाक्टर ने पूछा। उनके मुख की भंगिमा से लगता था कि उन्हें कुछ प्रकाश मिला है।

'बात तो ऐसी ही है, पर उसे और सीधे ढंग से कहा जाय तो अच्छा।' संत ने परिभाषा के शब्दों में परिवर्तन किया- 'मन भूतकाल की उधेड़-बुन एवं भविष्य चिन्ता न करके वर्तमान में शान्त स्थिर रहे, यह मन का स्वास्थ्य है।'

'लेकिन अनेक बार शरीर के भीतर ऐसे रोग बढ़ते रहते हैं, जिनका रोगी को कुछ भी पता नहीं होता।' डाक्टर ने शंका की।

'तुम शरीर की बात छोड़ दो।' संत के उत्तर ने दोनों को चौंकाया। वे यदि शरीर की बात छोड़ दें तो फिर स्वास्थ्य-जैसी क्या वस्तु रह जायगी। अवधूत ने उनके भाव पर ध्यान नहीं दिया। वे कहते गये। - 'मेरा शरीर इस समय अस्वस्थ है, यह तुम देख रहे होा शरीर में जो विकार हैं, उनसे पीड़ा भी है। लेकिन मैं मन को वहाँ से हटा सकता हूँ और तब इस रोग और पीड़ा का कुछ अर्थ नहीं रह जाता।'

'पीड़ा की उपेक्षा करके मन को अन्यत्र लगा देना, यह एक चिकित्सा-पद्धति तो है।' डाक्टर ने जान-बूझकर नहीं कहा कि यह पद्धति सर्वसाधारण के लिए बहुत व्यवहारिक नहीं है।

'जो स्वास्थ्य के सभी नियमों का पालन करते हैं वे बहुत थोड़े से स्वास्थ्य के विपरीत स्थिति में रहते हैं, उनके शरीर को सब सहने का अभ्यास तो होता है; किंतु जब वे बीमार होते हैं, तब उनकी चिकित्सा दु:साध्य हो जाती है। एक के मन में रोग का भय लगा रहता है और उसके शरीर को अक्षम बनाता है। दूसरे का मन निश्चिन्त होता है; किंतु शरीर अनजान में ही विकृतियाँ एकत्र करता रहता है। दोनों की स्थिति का समन्वय किये

बिना तुम्हें स्वास्थ्य कैसे मिलेगा? संत ने इस बार पूरी व्याख्या कर दी।

'दोनों का समन्वय?' डाक्टर के लिए बात अभी पूरी स्पष्ट नहीं थी।

'वही जो आयुर्वेद कहता है। शरीर एवं मन दोनोंका स्वास्थ्य' संत ने गम्भीरता से देखा- 'तुम स्वयं भी तो मानते हो कि मनोविकारों के रहते मनुष्य पूरा स्वस्थ नहीं हो सकता।'

'लेकिन ऐसा क्या सम्भव है?'

'खूब सम्भव है, यदि मनुष्य भूत एवं भविष्य की उलझन में अपने को व्यक्त रखने का मूर्खतापूर्ण आग्रह छोड़ सके।' संत ने समझाया- 'सम्मुख उपस्थित कर्त्तव्य का पालन करने एवं उसी में पूर्ण मनोयोग करने से मनुष्य की वैयक्तिक एवं सामाजिक कोई हानि नहीं होती। उसके कार्य उत्तम ढंग से सम्पन्न होते हैं। उसका मन स्वस्थ रहता है। क्योंकि मन अस्वस्थ होता है कामना से और कामना का उद्भव भूतकाल की स्मृति तथा भविष्य के चिन्तन से होता है। मन के अस्वस्थ होने पर इन्द्रियाँ चञ्चल होती हैं और तब शरीर की चिन्ता प्रधान बन जाती है।'

'मन स्वस्थ रहे तो क्या शरीर स्वस्थ रहेगा? डाक्टर ने पूछा।

'मैं ऐसा कहाँ कहता हूँ। संत स्नेह भरे स्वर में कह रहे थे- 'तुम क्या पानी को विकृत होने से रोक सकते हो? शरीर तो पानी की भाँति पार्थिव है। वह प्रारब्ध का बुलबुला है। उसे अपने भोग भोगने होंगे और भोगने चाहिए। शरीर की बहुत चिन्ता ही अस्वास्थ्य है। मन स्वस्थ हो तो क्लेश नहीं होगा और इससे अधिक मनुष्य और क्या चाह सकता है?'

'हमारे ये चिकित्सा-शास्त्र के प्रयत्न?' डाक्टर का स्वर कहता था कि उनका समाधान हो चुका है। उन्हें अब इस प्रश्न के उत्तर की बहुत अपेक्षा नहीं। ये भी अन्य कर्त्तव्यों के समान एक कर्त्तव्य है। इनका लक्ष्य भी वही पूर्णता है- शरीर से निरपेक्षता! मनुष्य पूर्ण होने के लिए आया है और वही उसका स्वास्थ्य है।' दोनों ने संत के सामने मस्तक झुका दिया। डाक्टर जान्स ने जो समझा, मनुष्य उसे कब समझेगा। कौन कह सकता है।

❑❑

शरीर ही मनुष्य का गृह है

'तुम साधु क्यों नहीं हो जाते?' उनका स्नेह था मुझपर। वे सम्मान्य विद्वान थे। उनके नाम के साथ न्याय-सांख्य-वेदान्ततीर्थ लिखा जाता था। साधुओं का एक बड़ा समुदाय उनमें श्रद्धा रखता था। वे मण्डलेश्वर थे, क्योंकि महामण्डलेश्वर तो क्या, मण्डलेश्वर की उपाधि भी उस समय तक प्रचलित नहीं हुई थी। सरलता, सौम्यता, सादगी प्रभृति सद्‌गुण उनमें पर्याप्त थे।

'नारायण! कपड़े रँगने में क्या रखा है? इस चक्कर में तुम मत आना।' उनका भी मुझ पर स्नेह था। वे भी संन्यासी थे, किंतु मण्डलीश्वर नहीं थे। उन मण्डलीश्वर के मठ से कुछ दूर एक उजड़ा-सा उद्यान था, उसी उद्यान की खँडहर-प्रायः एक कुटिया उनका आवास थी। उनके नाम के साथ कोई उपाधि नहीं थी। वे वेदान्त के विद्वान् तो थे; किन्तु उनकी विशिष्टिता विद्वत्ता में नहीं थी। त्याग की मूर्ति थे वे। कुटिया में कुछ पुस्तकें, चटाई, कमण्डलु, कौपीन और टाट के टुकड़े - यही उनका समूचा संग्रह था।

ग्रीष्म में एक महीने गङ्गाकिनारे आ जाने का नियम-सा बन गया था। मण्डलीश्वर का मठ मुझे आश्रय देता था, भोजन देता था और विरक्त महापुरुष की संनिधि मेरी श्रद्धा को सुपुष्ट करती थी। दोनों मेरे आदरणीय थे, दोनों का वात्सल्य प्राप्त था मुझे।

'महाराज! अपने में मैं अभी साधु होने की योग्यता नहीं पाता!' मैं मण्डलीश्वर के वैभव की उपेक्षा करके भी उनकी विद्या, उनकी सादगी एवं सद्‌गुण तथा उनके स्नेह का सम्मान करता था। उनके सम्मुख मुझे बोलने में संकोच होता था। आज भी उनके प्रति मेरे मन में सम्मान हैं।

'आपकी कृपा है! मुझे अपने इन वस्त्रों में पूरा संतोष है।' महापुरुष के वात्साल्य ने मुझे कुछ धृष्ट बना दिया था। वे आनन्द की मूर्ति! उनके सम्मुख तो संकोच स्वयं नहीं आ पाता था। उनका स्मरण आज भी मेरी श्रद्धा को सम्बल देता है।

'आप साधु हैं, आपने इतना वैभव क्यों एकत्र किया? इस विशाल मठ से आपको प्रयोजन?' मेरी अल्पज्ञता ने मेरे मन में ये प्रश्न अनेक बार उठाये। किंतु मण्डलीश्वर

जी के सम्मुख इन्हें पूछने की धृष्टता मुझमें कभी नहीं आयी।

'आप साधु हैं, ऐसी अवस्था में साधुओं के यहाँ भिक्षा लेने क्यों जाते हैं?' उन वीतराग महात्मा से तो इससे भी अधिक धृष्टता की जा सकती थी, की जाती थी। वे खुलकर हँसते थे ऐसे प्रश्नों पर। वे एक दिन में एक ही बार भिक्षा ग्रहण करते थे और रात्रि-दिवस केवल दो बार जल पीते थे। भिक्षा वे संन्यासियों के मठों से ले आते थे। एक दिन एक मठ से मिली भिक्षा पर्याप्त होती थी।

'नारायण!' मेरे प्रश्न के उत्तर में उनका आनन्दहास्य उद्‌गत हुआ- 'इतने विशाल गृह जिन्होंने बना रखे हैं, उन्हें तुम गृहस्थ क्यों नहीं कहते?'

'मैं हँसी कर रहा था, नारायण!' वे प्राय: सबको नारायण कहते थे। 'जब साधु संग्रही हो जाय- भले वह संग्रह सेवार्थ हो, तब उससे भिक्षा लेने में कोई दोष नहीं रह जाता।'

× × ×

'मुझे, मेरे बच्चों को आश्रय चाहिए!' वे बहुत भटक चुके थे। किराये का मकान-कोई टूटा खँडहर तक नहीं मिल रहा था। किराया कहाँ से दिया जायगा, यह पीछे सोचने की बात थी। 'हम सबको आज दो दिन से दाना नहीं मिला है।'

'आप सब पहले भोजन कर लें! किसी को एक-दो समय भोजन करा देना उतना कठिन नहीं है, जितना कठिन है उसे आज के समय में आवास देना।

'मेरा पैतृक घर था, भूमि थी; किंतु दुर्भाग्य!' वे रो पड़े। असहाय, अनाश्रय एक परिवार रखने वाला सद्‌गृहस्थ क्या करे? उन्होंने बताया- 'दस वर्ष पूर्व कोसी ने वह सब ले लिया! इसी अनाथावस्था में मैंने स्थान छोड़ा। कोसी से दस मील दूर दूसरा घर बनाया। खेत लिये, गृहस्थी जमायी। आज से 3 वर्ष पूर्व कोसी वहाँ भी पहुँच गयी। उसने सब भूमि ले लिया। उसके पश्चात् मैं नैपाल में जा बसा था। कोसी दूर थी- वहाँ से बीस मील दूर; किंतु कोसी पिशाचिनी है। वह मेरे पीछे पड़ गयी है। इस बार उसने रात्रि में अचानक आक्रमण किया। किसी प्रकार प्राण बच सके हैं।'

कोसी- बिहार की प्रलयङ्करी नदी कोसी प्रतिवर्ष वर्षा में कितने ग्राम उजाड़ती है, कितने प्राणियों का बलिदान लेती है, कुछ ठिकाना है! उसकी बदलती धाराएँ- कब किस वर्ष वह किधर दस-बीस मील का धावा मार देगी, कौन कह सकता है।

मैं यहाँ सर्वथा अपरिचित हूँ। आप सबकी सद्भावना ही मेरी सहायिका है।' उन्हें, उनके बच्चों को, पत्नी को आश्रय चाहिए। रहने के लिए स्थान और करने के लिए काम। करने के लिए काम न होगा तो भोजन कहाँ से आयेगा?

'ये सद्गृहस्थ आश्रयहीन हो गये हैं!' मेरे एक श्रद्धेय ने उनकी व्यवस्था सम्हाल ली थी। एक सम्मानित सम्पन्न व्यक्ति से उन्होंने चर्चा चला दी थी और अन्त में आश्वासन मिल गया- 'कुछ-न-कुछ प्रबन्ध हो जायगा। एक कमरा है। अमुक गली के मकान में; अच्छा तो नहीं है, परंतु अभी उसी से काम चला लें।'

'अब ये गृहस्थ तो हुए!' मैंने अपने उन श्रद्धेय से सम्पन्न व्यक्ति के चले जाने पर हँसकर कहा।

'गृहस्थ तो ये हैं ही।' उनका उत्तर भी सहास्य मिला- 'गृहहीन हो जाने से गृहस्थ नहीं थे, ऐसी बात तो नहीं है।' एक श्लोकार्द्ध कह दिया उन्होंने-

'न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते।'

मुझे स्मरण आ रहा है- काशी में दशाश्वमेध घाट से ऊपर एक तिकोना पार्क है। उसकी एक ओर भिक्षुकों का समुदाय सदा पड़ा दीखता है। गङ्गा-स्नान करने जाते-आते लोगों की उदारता ही उनकी आजीविका है। वे भिक्षुक-वे प्रायः सब गृहस्थ हैं। वैसे उनके घर के नाम-पर कहीं एक चटाई भी नहीं टंगी है। वहीं सड़क के फुटपाथ पर उनका जन्म होता है, वहीं बढ़ते रहते हैं और वहीं मर जाते हैं। अवश्य वर्षा में उन्हें आस-पास किसी दुकान के छज्जे के नीचे भागना पडता है।

'इतने विशाल गृह जिन्होंने बना रखे हैं, वे गृहस्थ नहीं है?' मुझे वर्षों पूर्व सुना महापुरुष का वह परिहास स्मरण आ गया। मेरे मन ने कहा- 'नहीं, वे गृहस्थ नहीं है।' वे कराल कालिका कोसी के आखेट सद्गृहस्थ और काशी के फुटपाथ के भिक्षुक - कहाँ हैं इनके पास गृह? तब गृह होना गृहस्थ का लक्षण कैसे हो सकता है?'

'हाँ, मेरे ही कहाँ गृह है। मुझसे जब कोई पूछता है, प्रायः लोग पूछते हैं- 'आपका घर कहाँ है?' उन्हें क्या उत्तर दूँ? उन्हें कहाँ संतोष होता है इस उत्तर से- 'जब जहाँ रहूँ।' 'जन्मभूमि कहीं तो होगी?' मुझे इसमें अस्वीकृति कहाँ है; किंतु-घर अब वहाँ कोई घर तो रहा नहीं है। अवश्य ही अभी किसी अन्य ने वहाँ अपना घर नहीं बनाया है। कभी कोई घर यहाँ था, उस भूतपूर्व कच्चे घर का स्मरणदो एक-स्थानों पर फुट-दो फुट ऊँचे अब तक बची खँडहर की भित्तियाँ दिला सकती हैं। इसे घर तो नहीं कहा जा सकता?'

× × ×

'आप अपने को किस आश्रम में मानते हैं?' एक सुहृद् ने स्नेहपूर्वक पूछा।

'गृहस्थ!' मेरा उत्तर उन्हें अटपटा लगता है; किंतु मुझे उन महापुरुष की बात स्मरण है- 'नारायण! साधू बनने की आवश्यकता नहीं है।'

मेरे एक बाबा थे। मेरे पिताजी के चाचा लगते थे, इससे हम उन्हें बाबा कहते थे। पता नहीं यह कैसा सम्बन्ध था– मुझे अब स्मरण नहीं है। आयु में वे पिता जी से दस वर्ष छोटे थे। हमारे घर के ठीक सामने उनका घर था। अब तक उनकी आकृति मुझे याद है। वैसे अब उनके घर के स्थान पर कोई और आ बसा है।

सुदृढ शरीर, साँवला रंग, क्रोधी स्वभाव– अपने घर में बाबा अकेले थे। उनका विवाह हुआ नहीं था। पर्याप्त बड़ी अवस्था तक वे अपने विवाह के लिए उत्सुक रहे– विवाह हो नहीं सका। क्योंकि नहीं हो सका, मैं कैसे बता सकता हूँ। उनकी जब मृत्यु हुई, मैं चौदह–पंद्रह वर्ष से बड़ा नहीं था।

उनके दो बैल थे। बड़े कुशल माने जाते थे वे अपनी खेती के कार्य में। उनके क्रोधी स्वभाव के कारण उनके समीप मैं प्रायः नहीं जाता था।

'मेरे वे बाबा गृहस्थ थे– आपको कोई आपत्ति है इस बात में?' मैंने उन सुहृद को इतनी कथा सुनाकर पूछा।

'नहीं!' उन्होंने स्वीकार किया। 'भारत के ग्रामों में, ऐसे सैकड़ों–सहस्त्रों कहना चाहिए– लोग हैं जो अविवाहित हैं। फिर भी उन्हें गृहस्थ तो मानना ही पड़ेगा।'

'जो उपार्जन करके खाये, वह गृहस्थ और जो दानजीवी हो, वह साधु!' मैंने हँसते हुए परिभाषा कर दी– सच मानिये, यह सर्वथा परिहास है। इस अपूर्ण परिभाषा के आप पीछे पड़ेंगे तो चंदे पर चलने वाली अनेक संस्थाओं के संचालक तथा कार्यकर्त्ता साधु सिद्ध हो जायँगे। वैसे मेरे वे सुहृद इसी परिभाषा से संतुष्ट हो गये थे। मेरा पीछा छोड़ दिया उन्होंने– मुझ तो यही अभीष्ट था।

× × ×

'स्त्री को ही गृह बता दिया, जैसे उसका कोई व्यक्तित्व ही नहीं।' उस दिन चला गया था एक सुप्रख्यात साधु के समीप। एक उज्ज्वल वस्त्रधारी सज्जन बड़े आवेश में कह रहे थे– 'नारी का कोई महत्त्व ही नहीं माना गया। वह भी एक सुविधा की सामग्री बना दी गयी।'

'बात ऐसी नहीं है!' साधु सरलभाव से स्नेहपूर्वक समझा रहे थे। 'नारी का महत्त्व तो बहुत अधिक माना गया है। वह माता है– माता को कौन महत्त्व नहीं देगा? देहासक्ति को दृढ़ करने वाले साधन गृह कहे गये और इसी से ईंट–पत्थर की दीवारों का घेरा गृह कहा जाता है। उनका निर्माण देह की सुरक्षा के लिए होता है।'

'गृह का कोई विशेष अर्थ करते हैं आप?' मैंने पूछ लिया।

'मनुष्य-शरीर ही गृह है।' मुझे उत्तर मिला।

'तब मनुष्य-शरीर ही क्यों? मेरा प्रश्न बना रहा- 'पशु-पक्षी, देव-दानव, तृण-तरु, कीटादि समस्त शरीर क्यों नहीं?'

'उनमें जीव कर्म-संस्कार ग्रहण नहीं करता।' साधु-का स्पष्ट उत्तर था। 'वे तो मनुष्य देह की संतति हैं। यहीं के कर्म-संस्कारों की उनमें भोग-परम्परा प्राप्त होती है।'

'तब सभी मनुष्य गृहस्थ है।' इस बार उन सज्जन ने पूछा था। साधु-संन्यासी हैं, इस बात पर उनका प्रश्न व्यङ्ग करता लगता था।

'जब तक देहासक्ति का कोई अंश अवशिष्ट है, जीव देह में स्थित है। इस प्रकार जब तक देहासक्ति है, मनुष्य गृहस्थ है।' साधु ने व्यंग पर ध्यान दिये बिना समझाया। 'यह देहासक्ति पुरुष की नारी से, नारी की पुरुष से दृढ़ होती है- इसीलिए विवाह को गृहस्थाश्रम कह दिया गया। दीवारों के घेरे भी इसीलिए गृह हैं कि वे अपने अधिपति को अपने में आसक्त करके उसका देहाभिमान दृढ़ करते है।'

'मेरे बाबा गृहस्थ थे, बिना गृहिणी के होने पर भी। वे कोसी के आक्रमण से आक्रान्त सज्जन गृहस्थ थे, भले उनका कहीं कोई गृह न रह गया हो! गृहस्थ-देहासक्त!' मैंने साधु को सादर सिर झुकाया!'

कामना-पूर्ति से सुख की इच्छा ही दुःख है

'संसार में सबसे अधिक दुःखी पोप है!' श्रोता काँप उठते थे, लूथर की वाणी वज्र के समान सीधी और भयंकर चोट करती थी। उसके प्रत्येक शब्द पोप द्वारा प्रचारित पाखंड को छिन्न-भिन्न करने वाले हथौड़े बनकर गिरते थे- 'वह पैसे के लिए सारे समाज को धोखा दे रहा है; किंतु स्वयं वह समझता है कि परमात्मा को कोई धोखा नहीं दे सकता।'

'आपकी बात सच भी हो तो......।' एक श्रोता सभा में उठ खड़ा हुआ था।

'सच भी हो तो- क्या मतलब? सच ही है!' लूथर का घनघोष सुनायी पड़ा। पैसा देकर पापियों के पाप का क्षमापन-पत्र वह दिलाता है! पोप को पैसे देने से परमात्मा तुम्हारे पाप क्षमा कर देगा-तुम क्या इतने मूर्ख हो कि परमात्मा को घूसखोर मानो!'

'मैं दूसरी बात कह रहा था।' श्रोता अभी खड़ा ही था।' पोप महान् दुखी कैसे हैं। उनके पास क्या अभाव है? उन्हें कोई शारीरिक क्लेश भी तो नहीं है।'

'अच्छा!' लूथर खुलकर हँस पड़े- 'तुमने सुना नहीं, तुम्हारे पोप रात्रि में एक क्षण सो नहीं पाते। उन्होंने सैनिकों की संख्या दुगुनी कर दी है।'

'डाकुओं पर परमामा का क्रोध उतरे!' महिलाओं में से अनेकों ने एक साथ शाप दिया। 'वे पूज्य पादरियों को भी लूट लेते हैं और पोप को भी लूटने पर तुले हैं।'

'उनके पास भी पोप का पाप-क्षमापन पत्र है। उन्होंने जन-साधारण से कई गुने अधिक पैसे देकर उन्हें खरीदा है।' लूथर की चोट बड़ी भयङ्कर थी 'स्वयं पोप ने उस पत्र को मुद्राङ्कित किया है। उसमें लिखा है- 'प्रभु ने तुम्हारे सब पिछले पाप और वे पाप, जो तुम आगे करोगे, क्षमा कर दिये!'

'क्षमापन-पत्र में अवश्य यह लिखा होगा।' महिलाओं-के ही नही, दूसरे भावुक श्रोताओं के मुख भी लटक गये। 'उसमें लिखा तो यही होता है। पोप महान् उसे मुद्राङ्कित करते हैं।'

'अब वे डाकू कुछ भी करने के लिए स्वतंत्र हैं! वे पोप को लूट सकते हैं, उसकी

हत्या कर सकते हैं।' लूथर अग्नि-वर्षा करते जा रहे थे। 'वे मुझे और आप सबको मार सकते हैं। उन्हें कोई पाप नहीं होगा। उन्हें परमात्मा क्षमा कर देगा; क्योंकि पोप ने उन्हें क्षमापनपत्र दे दिया है। पोप तो परमात्मा को भी आज्ञा दे सकते हैं।'

'झूठी बात! बंद करो बकवास। ऐसा कभीनहीं हो सकता।' श्रोता उत्तेजित हो उठे थे 'सर्वशक्तिमान्' परमात्मा को कोई आज्ञा नहीं दे सकता।'

'सज्जनों! मैं आपके मत से सर्वथा सहमत हूँ।' लूथर-शब्दों के जादूगर लूथर मुस्कराते हुए कह रहे थे। 'सर्वशक्तिमान् परमात्मा को कोई आज्ञा नहीं दे सकता।' न पोप और न उनके अनुचर। इसीलिए क्षमापन-पत्र पाखण्ड है। उसे लेकर डाकू लूटने और हत्या करने के अपराध को छूट नहीं सकते और हमारे-आपके पाप क्षमा नहीं हो जाते।'

शान्ति-निस्तब्ध शान्ति व्याप्त हो गयी सभा में। सूई गिरे तो उसका शब्द सुन लिया जाय। संत लूथर के शब्दों के सत्य सीधे श्रोताओं के हृदय में उतर गये थे।

'पाखण्ड स्वयं पाप है।' लूथर आगे बोल रहे थे। 'मुझे पता नहीं कि निर्णय के दिन इस घोर पाप का प्रवर्तक कहाँ भेजा जायगा, उसे क्या दण्ड मिलेगा; किंतु दण्ड तो वह अभी भोग रहा है। रुपया कैसे आये, कहाँ से आये रुपया- इस चिन्ता से वह अशान्त है। चिन्ता ने उसे इतना दु:खी कर दिया है कि उसको निद्रा लाने के लिए अपने चिकित्सकों की सहायता लेनी पड़ती है। स्वयं उस पर परमात्मा का अभिशाप उतर पड़ा है।'

× × ×

'मार्टिन लूथर मार डालने योग्य है!' पादरियों का पूरा समुदाय विरोधी हो उठा है। 'वह पोप का विरोध करता है। उसे चौराहे पर खड़ा करके पत्थरों से मारते हुए टुकड़े-टुकड़े कर देना चाहिये।'

पूरे देश के पादरी शत्रु हो गये थे। पादरियों के संकेत-पर चलने वाली श्रद्धालु जनता भड़क उठी थी। समाज का उग्र एवं अवारा समुदाय सदा से धर्म-पुरोहितों के हाथ में रहा है। पादरी प्रोत्साहित कर रहे थे इस वर्ग को कि वे लूथर को पीड़ित करें। शासकों में भी समाज के धर्म-गुरुओं का आदेश अस्वीकार करने का साहस नहीं था। लूथर आज या कल बंदी बना लिये जायँगे- निश्चित जान पड़ने लगा।

'लूथर! तुम इतने प्रसन्न क्यों हो?' एक मित्र ने ऐसे कठिन समय में नित्य प्रफुल्ल लूथर से पूछा। 'तुम कैसे इतने सुखी रह पाते हो?'

'मुझे चाहिए क्या कि मैं चिन्ता करूँ?' खुलकर हँसना लूथर का अपना स्वभाव है। अपने उसी निर्मल स्वभाव से हँसते हुए वे कह रहे थे- 'चिन्ता ही दु:ख की जननी है। जो कुछ चाहेगा, वह दु:खी होगा। जितना चाहेगा पदार्थों को, उतना दु:ख पायेगा। मेरा पालक तो परमपिता परमात्मा है। वह दयामय है। मुझे जैसे चाहेगा, रखेगा। मुझे कुछ पाना है नहीं तो दु:ख कहाँ से साहस पायेगा मेरा स्पर्श करने का।'

'तुम कहते हो कि बाइबल का सर्वसाधारण की भाषाओं में अनुवाद होना चाहिए?' मित्र ने एक दूसरा ही प्रश्न किया।

'यदि हमारा विश्वास हो कि बाइबल परमात्मा का संदेश है, लूथर गंभीर हो गये- 'तो हमें उसे समझना चाहिए। वह हमारी भाषा में न होगा तो हम उसे समझेगे कैसे। लोग बाइबल के संदेश के अनुसार आचरण करें अथवा लोग बाइबल के वाक्यों को पढ़े, भले आचरण उसके विरुद्ध करें- इन दोनों में कौन-सी बात श्रेष्ठ है, यह भी क्या तुम्हें समझना होगा?'

'तुम्हें शैतान ने अपने सब तर्क सौंप दिये हैं।' मित्र हँस पड़ा। वह आक्षेप नहीं कर रहा था। पादरी समुदाय जो बात लूथर के सम्बन्ध में लोगों को सुनाता था उसी को उसने हँसी में कह दिया था।

'मनुष्य को बहका देना शैतान का स्वभाव है!' लूथर भी हँस पड़े। 'किंतु शैतान के तर्कों से देवदूत के तर्क दुर्बल नहीं हुआ करते। जब दोनों के सम्मुख तर्क करने का सुअवसर हो, विजयी तर्क देवदूत का होता है। एक बात और- शैतान अपने को परमात्मा का प्रतिनिधि बताकर लोगों को बहकाता है, उन्हें अपना अनुगामी बनने को कहता है और देवदूत किसी को अपने अनुगामी नहीं बनाते। वे सबको सदा सीधे परमात्मा के शरणापन्न होने की प्रेरणा देते हैं।'

'अच्छा, अब इन बातों को छोड़ों! मैं विशेष प्रयोजन से तुम्हारे पास आया हूँ।' मित्र ने गंभीरतापूर्वक कहना प्रारम्भ किया। 'हमारे देवदूत को शैतान नष्ट करने पर तुला है। तुम शीघ्र बन्दी बनाये जाने वाले हो। देश छोड़कर आज ही तुम्हें प्रस्थान कर देना है। यात्रा की व्यवस्था हम लोगों पर छोड़ दो।'

'परमात्मा जिसकी रक्षा करना चाहेगा, शैतान उसकी हानि करने में समर्थ नहीं हो सकेगा।' लूथर फिर हँस रहे थे। 'मेरे प्रति तुम लोगों का प्रेम ही तुम्हें भयभीत कर रहा है; किंतु मैं अपनी कर्म-भूमि छोड़कर अभी कहीं नहीं जाना चाहता।'

'तुमबंदी कर लिये जाओगे और वे तुम्हें मार डालेंगे!' मित्र के स्वर में कातर अनुरोध था। 'अब परमात्मा के लिए यहाँ से कुछ समय के लिये बाहर चले जाओ! हठ मत करो।'

'मृत्यु इतनी भयानक नहीं है कि उसके भय से कर्त्तव्य का त्याग किया जा सके।' लूथर अपने निश्चय पर स्थिर बने रहे। 'परमात्मा की इच्छा पूर्ण हो! क्या प्रभू ईसा ने हमें यह समझाया और स्वयं अपने आदर्श से सिखलाया नहीं है?'

× × ×

'यह पोप के पाप-क्षमापन को पाखण्ड कहता है।'

'यह पवित्र बाइबिल का सभी भाषाओं में अनुवाद करा देना चाहता है।'

'यह शैतान का समर्थक है! पादरियों का रोष पराकाष्ठा पर पहुँच चुका था। मार्टिन लूथर बन्दी बना लिये गये थे। पादरी माँग कर रहे थे- 'इसे प्राणदंड दिया जाय!'

लूथर के शिष्य और समर्थक भी यह आशा नहीं कर सकते थे कि उनको मुक्त कर दिया जायगा। उनकी बड़ी-से-बड़ी माँग इतनी थी- 'लूथर मारा न जाँय। उसे आजन्म कारावास दिया जाय।'

'तुम अपना अपराध स्वीकार करते हो?' पूछा गया लूथर से।

'मैंने कोई अपराध नहीं किया।' लूथर निर्भय स्थिर खड़े थे। 'सत्य को स्पष्ट करना कोई अपराध नहीं है।'

'तुम्हारे ये अपराध!' न्यायाधीश स्वयं नहीं समझ पा रहे थे कि सचमुच लूथर ने कोई अपराध किया भी है।

'पाप-क्षमापन-पत्र पाखण्ड है!' लूथर की गम्भीर वाणी गूँजी। 'यदि ऐसानहीं है तो क्या न्यायालय यह घोषणा करने को उद्यत है कि जिनके पास पाप-क्षमापन-पत्र है या जो उसे प्राप्त कर लेंगे, उन्हें कुछ भी करने की स्वतंत्रता होगी, उन्हे उनके किसी कार्य का दण्ड नहीं दिया जायगा?'

'ऐसा कैसे सम्भव है!' न्यायाधीश ने निकलने का मार्ग निकाला। 'परमात्मा से पाप क्षमा करा देने के लिए वे पत्र दिये जाते हैं।'

'परमपिता परमात्मा पहले से जिनके पाप क्षमा कर चुका' लूथर ने व्यंग किया- वे निष्पाप नहीं हुए, यह आप कहना चाहते हैं। आप उन्हें दण्ड देंगे जिन्हें प्रभु दण्डनीय नहीं मानता।'

न्यायालय तुम्हारे तर्क सुनने को प्रस्तुत नहीं है।' सत्ता का सहारा लेने के अतिरिक्त अत्याचार-दुर्बल शासन के पास ऐसी अवस्था में और क्या आश्रय हो सकता था।

'जानता हूँ।' लूथर ने एक तीक्ष्ण व्यंग और किया। 'न्यायालय तो परमपिता के संदेश समझा देने पर भी प्रतिबन्ध रखना चाहता है। वह नहीं चाहता कि लोग अपनी भाषा में उसे पाकर समझ लें और उसका आचरण करें; वह केवल इतनी अनुमति दे सकता है कि लोग उसके अक्षरों को रट लिया करें।'

'तुमने अपने अपराध स्वीकार कर लिये हैं!' न्यायाधीश विवश थे- कितनी विडम्बना थी वे न्याय करने के लिए स्वतन्त्र नहीं थे। उनकी नियुक्ति एक निश्चिन्त तन्त्र के अनुसार निर्णय करने के लिए थी। उन्होंने अपनी पूरी क्षमता घोषित की- 'यदि तुम क्षमा माँग लो तो छोड़ दिये जा सकते हो।'

'क्षमा! किसलिए?' लूथर हँस पड़े। 'एक निरपराध पाखण्ड का प्रसार करने वाले वर्ग से क्षमा माँग ले!'

'तब तुम्हें प्राणदण्ड दिया जाता है!' न्यायाधीश उठ गये निर्णय सुनाकर। वे निर्णय ही सुना सकते थे, किसी को प्राण दण्ड देना उनकी शक्ति में नहीं था। कम-से-कम लूथर को प्राण दण्ड तो वे और उनका शासनतन्त्र नहीं दे सकता था- दे नहीं सका। कारागार से लूथर निकल गये- कैसे निकल गये, एक रहस्य ही है।

× × ×

'पोप आपके शत्रु हो गये!' अनेकों शुभचिन्तकों ने समय समय पर लूथर को सूचना दी- आपको अधिक सावधान रहना चाहिए।'

अत्यन्त रोगाक्रान्त प्राणी चिड़चिड़ा हो जाता है। वह अपने चिकित्सकों को ही मारना चाहता है।' लूथर सच्चे दयार्द्र हृदय से कहते थे। 'दुखी प्राणी दया का पात्र है। उससे कैसा द्वेष और भय तो उससे क्या।'

'संत मार्टिन लूथर!' जनता ने सत्य के सम्मुख सिर झुका दिया था। श्रद्धावनत समाज ने लूथर के उपदेशों का आदर करना प्रारम्भ कर दिया था। उन समदर्शी के आदर्श व्यापक बनने लगे थे।

'परमात्मा की कृपा-प्राप्ति की कामना करो!' लूथर का प्रधान उपदेश था। 'यह प्रभुत्व और सम्पत्ति वहीं तक आदरणीय हैं, जहाँ तक चित्त उन्हें प्रभु का प्रसाद समझे और प्रभु की एवं दीनों की सेवा में उनका सद्व्यय होता रहे। अन्यथा वे शैतान के सहायक बन जाते हैं। वे 'अधिक पाओ' इस कामना को बढ़ा देती है। कामनाओं से सुख-प्राप्ति की अपेक्षा- यही तो दुःख है। इससे दयनीय कोई स्थिति नहीं कि मनुष्य स्वयं अपना दुख बढ़ाता जाय।'

❑❑

कर्तव्य की जड़ मत काटो

पेड़ काटि तैं पालउ सींचा।
मीन जिअन निति बारि उलीचा।।

'मैं तो सत्य, अहिंसा और सदाचार को मानता हूँ।' नवयुवकों में जो स्वाभाविक आवेश होता है, वह तब रोके नहीं रूकता, जब वे किसी विषय पर एक पक्ष लेकर विवाद करने लगते हैं। यद्यपि बातचीत तीन व्यक्तियों में ही हो रही थी और वे चलती हुई ट्रेन के डयोढ़े दर्जे में आमने-सामने लगभग घुटने-से-घुटने सटाये-से बैठे थे; किंतु वक्ता इस प्रकार बोल रहे थे, जैसे किसी बड़ी सभा में व्याख्यान दे रहे हों, या कम-से-कम इस पूरे डिब्बे के यात्रियों को उपदेश करने का भार उन पर आ पड़ा हो।

'धर्म और ईश्वर, परलोक और परमार्थ - ये तो आदियुग की भय जनित कल्पनाएँ हैं; जिन्हें पीछे अपना पेट भरने के लिए स्वार्थी लोगों ने बनाये रक्खा तथा पुष्ट और बलवान बनाया।' दूसरे ने पहले का समर्थन दुगुने उत्साह से करते हुए कहा- 'इनसे न व्यक्ति का कोई लाभ है और न समाज का। ये भोले लोगों को ठगने के साधन हैं।'

'सभी धूर्त एवं स्वार्थी हैं, ऐसा तो मैं नहीं कहता।' पहले ने अपने साथी की बात का प्रतिवाद किया। वह उदारता पूर्वक विचार करना चाहता है। अनुदार होना और दूसरों पर आक्षेप करना उसे पसंद नहीं है उसने अपने स्वर को भी कुछ गम्भीर और धीमा कर लिया- 'बहुत दिनों तक जो लोग धर्म-कर्म, पूजा-पाठ में लगे रहते हैं, उनमें भी ऐसे-ऐसे लोग मिलते हैं कि उनकी चर्चा न करना ही अच्छा। इसलिए मैं तो सत्य-सदाचार को ही सच्चा कर्त्तव्य मानता हूँ।'

'आज जिनके लिए कहा जाता है कि उन्होंने पीछे हाथ करके लम्बी रकमें बनायी हैं, जिन्हें आज झूठ बोलने में तनिक भी हिचक नहीं, क्या उनमें अनेक ऐसे नहीं हैं जो सच्चे त्यागी थे? क्या ऐसे लोग उनमें कम हैं, जो निःस्वार्थ भाव से देश पर सर्वस्व उत्सर्ग करने आये थे? सत्य, सदाचार, त्याग, जिनमें आदर्श रूप में कभी था, आज के

अवाञ्छनीय लोगों में क्या ऐसे पर्याप्त लोग नहीं हैं?' इस बार तीसरे साथी ने धीरे से सिर उठाकर अपनी बात सहज स्वर में कह दी। इस व्यक्ति को देखने से ही लगता है कि इसे बोलना कम और सुनना अधिक पसंद है।

'आप कहना क्या चाहते हैं?' दोनों व्यक्तियों ने अपने तीसरे साथी की ओर देखा। वे कुछ सम्हल गये थे और उन्हें यह स्मरण आ गया था कि अपने इस तीसरे साथी का वे सम्मान करते हैं। केवल तब-जब वे किसी विवाद के आवेश में होते हैं, उनका यह सम्मान भाव विस्मृत हो जाया करता है।

'क्या इन लोगों को पश्चात्ताप होता है? क्या बिना किसी बहारी दबाव के ये फिर वैसे ही सत्यवादी, त्याग, निःस्वार्थ-सेवा परायण बन सकते हैं?' तीसरे ने दोनों मित्रों के प्रश्न को जैसे सुना ही नहीं। उसने अपनी बात प्रश्नों में ही पूरी की।

'ये रँगे सियार- इन्हें भला कैसा पश्चात्ताप। ये बिना दबाव के तो दूर, किसी दबाव से भी अब ठिकाने पर नहीं आ सकते। समाज के लिए इनसे कुछ भी आशा करना दुराशा है। चाहे जैसे हो, इन्हें समाज के सिर पर से फेंकना ही होगा।' पहले ने रोषपूर्वक कहा। 'आक्षेप मत करो! असन्तुष्ट होने से कोई लाभ होने से रहा।' तीसरे ने स्वर को गम्भीर बना लिया था- 'सोचने की बात यह नहीं है कि इन्हें दूर कैसे किया जाये। सोचने की बात तो यह है कि ये सत्यवादी, सच्चे त्यागी आज इतने गिर कैसे गये? सत्य और त्याग के आचरण में त्रुटि कहाँ थी, जिससे वे टिक नहीं सके? इस समय हम लोग इसी विषय पर बातें कर हे हैं।' स्पष्ट था कि यदि तीसरा साथी बात को मूल प्रश्न पर न ले आता तो उसकी दिशा बदल चुकी थी। नवयुवकों की गोष्ठियों में जो विवाद होते हैं, वे प्रायः अनिश्चित दिशाओं में मुड़ते-बढ़ते चले जाते हैं और सदा ऐसे विवाद अनिर्णीत ही रहते हैं। आज का यह विवाद भी किसी निर्णय पर नहीं पहुँचकर समाप्त हुआ। यद्यपि तीसरे साथी ने इसे वैयक्तिक आलोचनाओं की दिशा में भ्रान्त होने से बचा लिया था; किन्तु अब उनके उतरने का स्टेशन पास आ गया था। विवाद को चलाने की अपेक्षा बिस्तरों को समेट कर बाँध देना अधिक आवश्यक जान पड़ा; क्योंकि गाड़ी की गति क्रमशः मन्द होने लगी थी।

× × ×

[2]

'यह सब क्या है?' यदि आप भी वहाँ जायँ तो आपके मन में भी यही प्रश्न उठेगा। अयोध्या के रेलेवे स्टेशन के थोड़ी ही दूर, जिस ओर रेलवे लाइन से

अयोध्यापुरी है, उसके दूसरी ओर मणिपर्वत है। चारों ओर वन हैं और उसमें छोटी-बड़ी खुली, बुर्जीनुमा मसजिदनुमा कब्रों की असम्बद्ध श्रेणियाँ हैं। जिधर जायँ जिधर देखें, बस पक्की कब्रें-कब्रें ही हैं।

'मनुष्य की दुरभिसन्धि को प्रकृति मिटा रही है।' आपको यह उत्तर अद्भुत लगेगा और वहाँ भी श्रोता को वक्ता का यह उत्तर अद्भुत ही लगा। वह आश्चर्य से वक्ता के मुख की ओर देखता रहा एक क्षण। लेकिन वक्ता अप्रत्याशित रूप में गम्भीर हो रहे थे। मनुष्य के दुराग्रह, अन्धपक्षपात, उत्पीड़न एवं ध्वंस के इस इतिहास को जो कोई भी जानता है, वह यहाँ आकर गम्भीर हुए बिना रह कैसे सकता है?

'प्रकृति मिटा रही है- मनुष्य के षड्यन्त्र को मिटाने में लगी है!' सच बात है- हम आप कोई हों; मन्दिर, मस्जिद, गिर्जाघर तथा समाधि एवं कब्रें हमारे लिए कितनी भी सम्मान्य एवं पवित्र हों; किंतु क्या कोई यह इच्छा कर सकता है कि मनुष्य के रहने एवं जीने की सम्पूर्ण भूमि मन्दिरों, मस्जिदों, कब्रों या समाधियों से ढ़क दी जाय? भारत के सर्वदर्शी ऋषियों ने तो इसीलिए शरीर को भस्म कर देने या जल में प्रवाहित करने की आज्ञा दी। समाधि बनाने की प्रथा हम में बाहर से आयी और कब्रों के अनुकरण पर आयी, यह कहने में भी हानि नहीं।'

'यह अयोध्या है। भारतीय संस्कृति एवं भारतीय समाज की - भारत की गौरव भूमि।' वे कहते जा रहे थे- एक वर्ग ने धर्मोन्माद में निश्चय कर लिया कि यहाँ एक लाख पक्की कब्रें बना दी जायँ, तब वह उसकी तीर्थभूमि होगी। कोई मरे कहीं, पर गाड़ा जाय अयोध्या में और कब्र पक्की ही बने। झूठी-सच्ची कब्रों से भूमि पाट दी गयी। जिधर जाइये कब्रें.....। और जब मनुष्य समष्टि जीवन के साथ इस प्रकार दुरभिसन्धि करता है, प्रकृति को उसका प्रतिकार करना ही पड़ता है।'

'ये चिह्न तो कुछ और ही बात कहते हैं।' एक पत्थर की ओर संकेत था, जो कहीं से टूटकर लुढ़क गया था। कल के सङ्घर्ष ने उसे जो रूप घिस-घिसाकर दे दिया था, उसमें भी यह किसी प्रकार लक्षित हो जाता था कि किसी समय उसमें एक सुन्दर मूर्ति अङ्कित थी। कोई मूर्ति इस समय इससे अधिक और कुछ नहीं कहा जा सकता।

'अब यह शीर्ष पैगम्बर कहा जाता है।' एक क्षण रुककर उन्होंने कहा- 'है यह सहस्रशीर्षा मन्दिर और इसमें ऐसे मन्दिर के अवशेष जान-बूझकर छोड़े गये थे। पराजित को निरंतर पराजय एवं अपमान का स्मरण दिलाने के लिए ये मनुष्य के उद्धत गर्व के प्रतीक हैं!' उन्होंने वाक्य के अन्त में 'मनुष्य' शब्द पर बल देकर व्यङ्ग पूर्वक उसका उच्चारण किया और यह ठीक ही है; क्योंकि दूसरों को इस प्रकार पीड़ित करते रहने की कुभावना क्या मनुष्य के योग्य है?

'तुम क्या सोचने लगे? प्रकृति के कुशल कर लग गये हैं। 'श्रोता को कुछ गंभीर होते देखकर वे तनिक हँस पड़े- 'पशुत्व का उत्तर पशुत्व नहीं है। मनुष्य जब मनुष्यता से गिर जाता है; वह अपनी ही सबसे अधिक हानि करता है। देखते क्या हो, क्या यह सब करने वालों को कुछ लाभ हुआ? उन्होंने अपने धर्म या समाज की कोई सेवा की इसके द्वारा? केवल विरोधी भाव जगे और जगते ही गये।'

सचमुच क्या लाभ हुआ उन्हें ? विरोधी भावों के संघर्ष ने उनके उद्देश्य विफल कर दिये और अब उनके ये स्मृतिचिह्न- इनकी ईंटें बिखर रही हैं, वृक्षों की जड़ें इन्हें तोड़ती जा ही हैं, दीवारे ढह रही हैं। किसी कब्र पर मीठी नीम ने आसन जमाया है और कहीं वट वृक्ष ने दीवालों का स्मारक तक निःशेष कर दिया है। बिखरी टूटी ईंटें, मुख फाड़े खँडहर - इन्हीं ईंट-पत्थरों के लिए मनुष्य मनुष्य का रक्त बहाता है! इनके पीछे- इस जड़ के पीछे वह चेतन को पीड़ित, अपमानित, लाञ्छित करने में अपने गर्व का अनुभव करता है!

'ये धर्म और ईश्वर, यह मन्दिर और मसजिद, यही समस्त अनर्थों की जड़ें हैं।' श्रोता उतेजित होकर बोलने लगा- 'मानवता की प्रगति के ये सदा से रोड़े रहे हैं। मनुष्य इनके भ्रम में उलझकर पशु ही नहीं, अनेक बार पिशाच बन जाता है।'

'और आप अब कहना चाहते हैं कि क्योंकि लोहे से तोपें और तलवारे बनतीं हैं, इसलिए विश्व का समस्त लोहा समुद्र में डुबा देना चाहिए?' वक्ता ने ध्यान से श्रोता की ओर देखा।

'लेकिन धर्म और ईश्वर ने हमें दिया क्या?' श्रोता- की उत्तेजना गयी नहीं थी।

'मानवता, जिसे आप कहते हैं, उसे टिकने का कुछ आधार भी मिला है आपको?' वक्ता ने प्रश्न किया-'जिसे आप प्रगति कहते हैं, जिसे जीवन का स्तर उठाना कहते हैं, वह पदार्थों की बहुलता-शारीरिक सुख-सुविधा की प्रचुता ही तो है? फिर इन भोगों को प्राप्त करने के लिए छीना झपटी, धोखा-धडी, मार-काट न हो या न की जाय जाय, ऐसा क्यों? जीवन-स्तर का ऊपर उठना, शारीरिक सुखों का एकत्र होना और मानवता-सत्य-सदाचारादि गुणों का समन्वय क्या?'

श्रोता बहुत दिनों से स्वयं इसी उलझन में है। यहाँ उसके हृदय में ग्रंथि है, प्रश्न वहीं आकर अटक गया। पता नहीं क्यों, विश्व के सारे प्रश्न वहीं जाकर अटकते हैं, जहाँ हमारे हृदय में कोई गाँठ - कोई अटक होती है। उत्सुकता और गंभीरता दोनों का यही संधिस्थल है; किंतु संसार संसार ही इसलिए है वह अनिर्णीत है। हमारे प्रश्न- जीवन के समस्त प्रश्न सदा से अनिर्णीत ही चले आ रहे हैं। उन पर सोचा ही नहीं गया। जो सोचता है, जो निर्णय करने पर उतर आता है, जो हृदय की खटक को सह नहीं

पाता, वह संसार चलाता है? जिसकी हृदय-ग्रन्थि खुल गयी, उसके लिए संसार कैसा। यह वन आसपास के रहनेवालों के लिए प्रातः सायं नित्य निवृत्त होने के काम आता है। वे दोनों अब पृथक् होने वाले थे; क्योंकि शरीर की आवश्यकता कहती थी कि बौद्धिक विवाद कुछ देर को स्थगित रक्खा जा सकता है।

× × ×

[3]

संतों का स्वभाव विचित्र होता है, उनकी रहनी विचित्र होती है और उनके उत्तर देने तथा बातचीत करने की पद्धति भी विचित्र होती है। सच्ची बात तो यह है कि संतों के हृदय धन हैं- उन्हें आप भगवान् कहें या और कुछ, वे स्वयं बड़े विचित्र हैं। न धरिणी के, न आकाश के, और धरित्री-आवास, दोनों एक साथ; सो उन रहस्यमय ने अपने इस परमप्रिय लोगों को, जिन्हें हम-आप संत कहते हैं, अपने-जैसा ही विचित्र बना डाला है।

अंग्रेजी पढ़े-लिखे, सजे-धजे, सुसभ्य, सुसंस्कृत बेचारे वे तीनों युवक अयोध्या आये थे। मुझमें साहस नहीं कि आज की नूतन सभ्यता पर गौरव करने वाले उन भले आदमियों को तीर्थयात्री बताकर उनका अपमान करूँ। वे तो यों ही घूमने निकले थे और अयोध्या एक पुराना नगर है, इसलिए वहाँ भी उतर पड़े थे। वैसे तो ये सुपठित लोग अपने किसी काम में आकाश के तारों से मन्त्रणा करते नहीं; किन्तु कभी-कभी तारें जब हठात मन्त्रणा करने पर उतर आते हैं......। पता नहीं आज राहु, केतु, शनि, मङ्गल में से कौन-सा क्रूर ग्रह टाँग अड़ाये बैठा था कि तीनों यात्रियों को एक विचित्र साधु मिल गया था। ऐसा साधु था वह, जिसने उनको देखकर- 'आइये, आइये' नहीं कहा, आसन नहीं दिया बैठने को और यह भी नहीं पूछा कि 'आप कहाँ से पधारे?' पूछना-ताछना तो दूर, उसने अपनी कंठी-माला भी ठीक नहीं की, रीढ़ सीधी करके बैठा तक नहीं। अजी, उसने तो आँख उठाकर देखने का कष्ट भी नहीं उठाया। तीनों बाबुओ ने हाथ जोड़कर बिना सिर झुकाये 'बाबाजी, जय सीताराम!' कहा तो उसने भी बिना सिर उठाये 'जय सीताराम!' कह लिया और फिर अपने काम में ऐसा जुट गया जैसे उसके पास तीन उजले कपड़ेवाले मनुष्य आये ही नहीं, जैसे तीन तितलियाँ या वृक्षों की टहनियाँ वहाँ आ गयीं। तीन कुत्ते के पिल्ले भी आते तो वह इससे अधिक उनकी ओर ध्यान देता।

'महात्मा जी ! आप क्या कर रहे हैं?' जब कोई हमारी ओर ध्यान न दे तो हमें ही उसकी ओर ध्यान देना पड़ता है। स्वामी रामतीर्थजी का कहना है कि जो माया की ओर पीठ करके चल देता है, माया उसके पीछे-पीछे चल पड़ती है। साधु नहीं बोलते तो फिर बाबुओं को बोलना ही ठहरा।

'अच्छा, अच्छा! आप लोग तो पढ़े-लिखे विद्वान् हैं, बड़े बुद्धिमान हैं! इस पेड़ को लगा तो दीजिये।' संत ने अब तीनों की ओर मुख उठाया और बड़े सरल भाव से कह दिया। कपड़े मैंले हो जायँगे, हाथों में मिट्टी लग जायगी, इच्छा बिल्कुल नहीं; किन्तु बैठना पड़ा किसी प्रकार सम्हल कर। ये साधु लोग सभ्यता तो जानते ही नहीं, किसी से कुछ कहते समय तनिक भी विचार नहीं करते लेकिन अनेक बार संकोचवश रूखा बनना अशक्य हो जाता है।

'इसमें तो जड़ है ही नहीं बाबा। यह लगेगा कैसे?' नीम के पेड़ की डाली कह लीजिये, उसे, था वह लगभग तीन-चार इंच मोटे नीम के छोटे पेड़ का ऊपरी भाग। खुर्पी लिये संत उसी को गाड़ने के प्रयत्न में थे। तीनों यात्री समीप-समीप बैठ गये थे। एक ने खुर्पी उठा ली थी और दूसरे ने उस तने को लिया था हाथों में।

'जड़ का क्या करना है? वह तो पृथ्वी के भीतर रहती है। उससे न छाया मिलती, न शाक के लिए फूल मिलते, न औषधि के लिए पत्ते या छाल मिलती है। उससे लकड़ी तो क्या दाँत खोदने को सीक या चिट्ठी चिपकाने को जरा-सा गोंद भी नहीं मिलता।' साधु ने बड़े भोलेपन से कहा- 'यह खूब हरा-भरा है। आप लोग इसे लगा दें। मैं इसमें खाद दूँगा, जल दूँगा, इसकी रक्षा करूगा।'

'इसकी जड़ कहाँ है?' यात्रियों में से एक ने पूछा।

'वहाँ!' साधु ने एक ओर संकेत किया। 'एक गाय आज तोड़ गयी इसे। अब जड़ में क्या रक्खा है। उसमें एक भी पत्ता नहीं।'

'हम उस जड़ के आस-पास थाला बना देते हैं। आप उसे सींचते रहेंगे तो उसमें पत्ते आ जायँगे, उससे खूब घना वृक्ष हो जायगा। आपकी कुटियाँ के पास छाया हो जायगी! उसी यात्री ने समझाया।'

'लेकिन जड़ से क्या करना है, यह देखो अभी हरा है। तनिक भी मुरझाया नहीं है।' साधु ने उसी तने की ओर बड़े स्नेह से देखा।

'अब इसमें कुछ नहीं है।' यात्री हँस पड़े। चाहे यह जितना भी हरा हो और चाहे आप इसे जितना खाद-पानी दें, यह बिना जड़ की डाली तो सूखकर रहेगी। बहुत हुआ तो दस-पाँच घँटे अधिक टिकेगी इसकी हरियाली। इस डाली को छोड़कर बाबा! आप तो जड़ को सींचिये।'

'हाँ भैया, जड़ को ही सींचूँगा।' साधु ने देखा उनकी ओर। लोग कहते हैं कि धर्म और ईश्वर से तो कुछ लाभ ही नहीं है। सत्य, सदाचार चाहिए मनुष्य में - बस! भला तुम्हीं कहो कि जब जड़ ही नहीं रहेगी तो ये डाल-पात कै दिन रहेंगे?'

× × ×

[4]

'साधु की बात समझ में आने योग्य है।' तीनों यात्री अपने डेरे की ओर लौट रहे थे। उनमें अपनी वही पुरानी उधेड़-बुन चल रही थी।

'धर्म और ईश्वर मानवता के आधार हैं? मेरी समझ में यह बात आती नहीं!' दो व्यक्ति मार्ग पर आगे-आगे जा रहे थे। उनके हाथों में जल से भरे लोटे थे। उनमें जो चर्चा हो रही थी, तीनो यात्रियों का ध्यान उस चर्चा की ओर गया। वे पैर बढ़ाकर उनके पीछे हो लिये। उनमें एक कह रहा था- 'सबसे अधिक झूठ बोला जाता है धर्म के नाम पर, सबसे अधिक छल चलता है ईश्वर के सहारे। धर्म और ईश्वर के कारण जितने झगड़े, जितने कलह, जितने युद्ध, जितना रक्तपात हुआ, उतना और किसी प्रश्न पर नहीं हुआ। मानवता के लिए तो धर्म और ईश्वर ही सबसे विरोधी भाव हैं।

'अरे हाँ, तुम इन्हें पहचानते हो?' उत्तर देने के स्थान पर आगे चलने वाले दूसरे व्यक्ति ने एक सज्जन की ओर संकेत किया।

खूब पहचानता हूँ। यहाँ का यह प्रसिद्ध लफंगा- अब सिर से पैर तक खादी पहनकर कैसा भला आदमी दीखता है।'

'खादी और लफंगा?' स्वर में कुछ हँसी आ गयी।

'इसमें हँसने की क्या बाता है? जो वेश अच्छा माना जायगा, बुरे लोग उसी को अपनाकर उसमें अपने को छिपाना और अपना स्वार्थ-साधन करना चाहेंगे।'

'फिर भी- तनिक रूककर कहा गया था- तो अब अच्छे आदमियों को तो खादी छोड़ देनी चाहिए।'

'आप तो अच्छाई की जड़ ही काट देना चाहते हैं।' वह झल्लाया 'जो भी वेश, जो भी काम, जो भी बात अच्छी होगी, जिसे भी अच्छे लोग अपनाएँगे, उसमें बुरे लोग अपनी बुराई छिपाना चाहेंगे। यदि इस प्रकार अच्छे लोग अच्छी बातों को छोड़ते जायँ तो अच्छाई की जड़ ही कट जायगी।'

'धर्म और ईश्वर ....!' लेकिन बात पूरी नहीं हो सकी। दो जटाधारी पास ही

झगड़ रहे थे। उन्होंने जलाने को रक्खी लकड़ियाँ उठा ली थीं एक दूसरे पर आघात करने के लिए। इस समय उनको रोकना आवश्यक हो गया था।

'सियाराम, सियाराम जपना चाहिए' एक का पक्ष था और 'सीताराम, सीताराम जपना चाहिए' यह दूसरे का। इसी बात पर वे दोनों साधु भिड़ गये थे। बड़ी कठिनाई से उन्हें धर-पकड़कर अलग किया जा सका। इस झमेले से अलग होने पर उन यात्रियों में से एक ने कहा- 'क्यों जी, सियाराम बड़े या सीताराम?'

'तुम भी ऐसे ही रहे!' दूसरा साथी हँसा- 'सियाराम या सीताराम का झगड़ा कहाँ था? झगड़ा तो था कि बात मेरी बड़ी या तेरी? अर्थात् मैं बड़ा या तू? नहीं तो, इन दोनों को न तो सियाराम से काम था और न सीताराम से प्रेम-परस्पर।'

'और यही सीधी बात तुम आज कई दिनसे नहीं समझ पा रहे हो!' बड़ी गम्भीरता से बोल रहे थे- 'कि धर्म और ईश्वर का नाम लेकर जिन लोगों ने रक्तपात किये, जिन्होंने अधर्म या दम्भ को अपनाया, उन्हें धर्म या ईश्वर से कुछ मतलब नहीं था। उनके झगड़े अहंकार के लिए थे। वे स्वार्थ के सेवक मात्र थे!'

'लेकिन इतने अनर्थों की जो आड़ है उसे रक्खा ही क्यों जाय?' अब बहस का उत्साह नहीं था बोलने वाले में। वह स्वयं समझता था कि अब वह दुराग्रह कर रहा है। परन्तु अपनी बात पूरी की उसने- 'मनुष्य, कर्तव्य का पालन करें सत्य-सदाचार को अपनावें........।'

'जी!' हँसते हुए दूसरे साथी ने कहा- 'और जड़ काट कर नीम का पेड़ लगावे?'

मानवता की पुकार

'हे ईश्वर!' उड्सन को एक प्रकार का उन्माद हो गया था। कोई स्वस्थ सबल पुरुष, कोई सुन्दर शिशु या सुन्दरी युवती देखते ही वह जहाँ का तहाँ खड़ा हो जाता था। दोनों हाथों से अपने नेत्र ढ़क लेता था और उसके पैर काँपने लगते थे। वह कुछ बड़बड़ाने लगता था। इस रोग का परिणाम यह हुआ था कि वह नगरों के भीड़ भरे मार्गों से भय खाने लगा था। उसे अपने एकान्त कमरे में बंदी रहना प्रिय था और यदि वहाँ से निकलना ही आवश्यक हो तो वह तब निकलना पसंद करता, जब उसे मार्ग में किसी के मिलने की सम्भावना न हो।

'मस्तिष्क को धक्का लगा है। मानसिक विकृति है। वह पागलपन धीरे-धीरे दूर होगा।' चिकित्सकों एवं मनोवैज्ञानिकों ने कोई अच्छी सहायता नहीं दी। उन्होंने केवल सम्मति दी। बेचारी लेडी उड्सन-उडसन तो अपनी पत्नी से भी घबराने लगा था। वह उसके सम्मुख भी नेत्र बन्द कर लेता था और काँपने लगता।

'ईश्वर के लिए भागो! भागो जल्दी! भूगर्भ-गृह में भाग जाओ।' प्रारम्भ में उडसन प्राय: चिल्ला पड़ा करता था। 'पिशाच आ रहे हैं।' वे पिशाच जो नापाम बमों से सारे संसार को भून देने पर तुले बैठे हैं।'

बेचारा उड्सन- उसे क्या पता कि नापाम बम तो बहुत पीछे छूट चुके। मनुष्य तो अब ऐसा पिशाच हो गया है कि उसने अणु बम से भी आगे बढ़कर हाइड्रोजन बम बना लिया है और उससे भी अधिक घातकतम अस्त्रों की शोध में लगा ही है। वह चाहता है कि दूर बैठा बटन दबा दे और एक भारी नगर, जिसे वह शत्रु-नगर मानता है,अपने समस्त भवनों, लक्ष-लक्ष मानव-प्राणियों, पशुओं एवं विपुल वस्तुओं के साथ आधे क्षण में इस प्रकार भसूसे भस्म हो जाय जैसे धुनी रुई की नन्हीं राशि पर प्रज्वलित अग्नि गिरी हो।

अणु एवं हाइड्रोजन बमों की उडसन ने बात सुनी है- सुनना था उसे; क्योंकि वह एक हवाई सैनिक था। बात कितनी भी भयानक सुनी जाय, वह परोक्ष रहने तक मन में

मूर्त नहीं होती। उसकी भयानकता का अनुमान हम लगा नहीं पाते। उड्सन को सौभाग्यवश हिरोशिमा या नागासाकी के भस्मावेष देखने का अवसर नहीं मिला था। यद्यपि वह उत्सुक बहुत था उन्हें देखने के लिए। यदि उसने उन्हें देख लिया होता- आज उसकी दशा और दयनीय होती।

'वे पिशाच! वे गिरा रहे हैं नापाम बम!' उड्सन अपनी दोनों आँखें बन्द करके काँपता हुआ चिल्ला उठता था- 'भगवान् के लिए भाग जाओ! वे तुम्हें भूनकर धर देंगे।'

डॉक्टरों ने ठीक कहा था। उसका उन्माद धीरे-धीरे घटने लगा है। अब वह चिल्लाता नहीं है। लेकिन लगता है कि अब भी वह उसी प्रकार बड़बड़ाता है। अन्तर इतना पड़ा है कि अब केवल उसके होंठ हिलते हैं। मनोवैज्ञानिक कहते हैं- 'यह अच्छे लक्षण हैं। उसका मस्तिष्क सावधान होने लगा है। उसमें इतनी समझ आ गयी है कि सबके सामने चिल्लाना बुरी बात है। इसी प्रकार सोचना जारी रहेगा तो वह शीघ्र समझ जायगा कि उसका भय अकारण है!'

क्या सचमुच उसका भय अकारण है? क्या मानव- ये मानवता के ठेकेदार शक्ति सम्पन्न राष्ट्रों के कर्णधार अपनी पैशाचिकता का परित्याग करने को प्रस्तुत हो गये हैं? क्या उन्होंने विश्व को भूनकर धर लेने की अपनी प्रलयङ्कर योजनाओं में कोई शिथिलता आने दी है?

× × ×

उड्सन कोरिया युद्ध में था। वह हवाई सैनिक ठहरा, अपने यान पर जमा बैठा था। उसका बमबाज यान आज दिन में उड़ान ले रहा था। एक, दो, तीन-उडसन को आदेश मिला और उसने बटन दबा दिया। यान के नीचे बँधे बम बन्धन से छूट गये। बड़ी शीघ्र गति से यान आगे बढ़ गया और पर्याप्त ऊपर उठ गया।

उड्सन को कुछ नहीं हुआ उस समय। उस समय तो उसे प्रसन्नता ही हुई। नीचे से धुआँ और लपटों का अंबार उठ रहा था। नापाम बमों ने अपने में भरी पेट्रोल की कीच नीचे बिखेर दी थी और उसमें आग लग चुकी थी। शत्रु जल रहा था- शुत्रु! वह शत्रु जिससे उड्सन को घृणा करना सिखलाया गया था। शत्रु जिसके सम्बन्ध में कहा गया था कि वह नरक के कीट से भी घृणित और शैतान से भी अधिक दुष्ट है!

आक्रमण सफल रहा। उड्सन का यान लौटा तो उसे समाचार मिला कि शत्रु पीछे हट गया है। अग्रगामी सैनिकों ने शत्रु की सीमा के भीतर एक चौकी पर अधिकार कर लिया है।

उड़सन का दुर्भाग्य! कितना अच्छा हुआ होता कि उसे उस दिन मित्रों से, सहयोगियों से, अफसरों से वह प्रशंसा न मिली होती। वह उसे महत्वपूर्ण चौकी को लक्ष्य बनाने में चूक गया होता। उसका यान गिर जाता और वह स्वयं जल गया होता। अपने यान में तो भी इतना क्लेश उसे न होता। परंतु यह सब होना नहीं था, नहीं हुआ।

उड़सन की प्रशंसा हो रही थी। अफसर उससे हाथ मिला रहे थे। शत्रु की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण चौकी आज उसने भस्म कर दी और अपनी सेना ने अवसर का लाभ उठाकर उस पर अधिकार कर लिया।

'आप मुझे उस चौकी को देखने की अनुमति देंगे? उड़सन का दुर्भाग्य उस दिन उससे भरपूर बदला लेने पर तुला था। क्या बिगड़ जाता यदि वह उत्साह अतिरेक में यह अनुमति न माँगता?

'अवश्य!' अफसर ने बाधा नहीं दी। 'यद्यपि अभी वहाँ खतरा है; किन्तु अपने एक अच्छे योद्धा का उत्साह हम तोड़ना नहीं चाहेंगे। हवाई जहाज वहाँ उतर नहीं सकेगा। तुम जीप से जा सकते हो।'

'हे भगवन्!' उड़सन को मार्ग में ही मूर्छा-सी आने लगी। उसके समीप से जो एम्बुलेन्स (चिकित्सा गाड़ियाँ) जा रही थीं, उनमें-से दारुण चीत्कारें उठ रही थीं। उनमें से जलते मांस की गन्ध आ ही थी- जलता मांस-तो क्या उसने मनुष्यों को भून दिया है?

जब जीप से उतरा वह, सामने ही एक शव पड़ा था। कोई आठ-दस वर्ष का बालक होगा। उसके शरीर के वस्त्रों का क्या पता लगना था, चमड़ा एवं मांस की परत तक जल गयी थी। उसका वर्ण काला, झुलसा, स्थान-स्थान से फटा और उसमें-से बाहर आया मांस.......... उडसन ने नेत्रों पर हाथ धर लिये।

कहाँ तक वह नेत्र बन्द किये रहता। कुछ स्त्रियाँ चीखती-चिल्लाती उसकी की ओर आ ही थीं। सैनिकों ने उन्हें थोड़ी दूर पर रोक दिया। कई गिर पड़ीं वहीं। वे उन्मत्त हो चुकी थीं। उन सबके सिर के केश जल गये थे। मुख ही नहीं, पूरा शरीर काला पड़ गया था। झुलस कर फट गया था स्थान-स्थान से। वे पागल विकराल दिगम्बर दौड़ती पिशाचिनें-सी प्रतीत हो रही थीं।

उड़सन बैठ गया वहीं पृथ्वी पर। उसको चक्कर आ रहा था। 'शत्रु-शत्रु।' कोई उसके सिर में चिल्ला रहा था- 'ये अबोध बच्चे, ये सुकुमार युवतियाँ, ये तुम्हारी शत्रु हैं! तुमने इन्हें भून डाला है! पिशाच कहीं के।'

उड़सन को स्वयं पता नहीं कि वह कब चिल्ला पड़ा था और क्या-क्या कहता जा रहा था। उसे वहाँ से कैसे लौटाया गया और कब युद्धस्थल से पीछे भेज दिया गया,

इसका भी उसे कुछ पता नहीं। उसका प्रभाव दूसरे सैनिकों पर प्रतिकूल पड़ने का भय था। स्वदेश लौटा दिया गया उसे और वहाँ चिकित्सों के प्रबल प्रयत्न से पूरे तीन महिने पश्चात् वह इस योग्य हुआ कि स्वयं अपना दैनिक जीवन चलाने लगा है।

'अभी सावधानी अपेक्षित है।' चिकित्सकों ने श्रीमती उड्सन को सम्मति दी है। 'इन्हें समाचार-पत्र एकदम न दिये जाँय। धीरे-धीरे मस्तिष्क के विशेष दोष भी दूर हो जायेंगे।'

× × ×

'शान्ति ! हमें शान्ति चाहिए! उड्सन जब शान्ति की बात कहता है, तब उसकी वाणी में एक अद्‌भुत उत्तेजना होती है। वह सैनिक रह चुका है और युद्ध की दारुण विभीषिका को उसने देखा है। वह कहता है- भगवान् के लिए अब युद्ध की बातें बंद कर दो। मनुष्य को पिशाच नहीं बनना है तो प्रत्येक मूल्य पर उसे युद्ध की भावना भगा देनी होगी।'

'भारत सदा से विश्व का पथदर्शक रहा है। वह अन्धकार में गिरते मानव का महान् उद्धारक है, संसार में बहुत-से लोग भारत की प्रशंसा करते हैं। सहस्रों नहीं, लाखों और करोड़ों कहें तो अत्युक्ति नहीं होगी, ऐसे मनुष्य हैं जो भारतीय शान्ति प्रियता से प्रेम करते हैं। किंतु उड्सन का प्रेम और ढंग का है। वह भारत का स्मरण करके भाव विह्वल हो उठता है। उसके हृदय का केवल एक स्नेहाधार है, उसकी आशा एक ही स्थान पर अटकी है, और वह है भारत। वह चर्चा चलते ही कहता है – 'केवल भारत हमें युद्ध के भय से बचा सकता है।'

'ओह ! कितनी अंधी है जनता ! इन युद्ध पिपासु पिशाचों को जेल में बंद क्यों नहीं कर दिया जाता !' उड्सन अब पागल नहीं है; किंतु वह अत्यधिक भावुक है। युद्ध ने उसके मस्तिष्क को दुर्बल कर दिया है। अपने और पराये राष्ट्र के नेता जब युद्ध की चर्चा करते हैं, शस्त्रास्त्र बढ़ाने के लिए कहीं कोई बजट आता है, उड्सन आग-बबूला हो उठता है- 'ये दुष्ट मनुष्य को मनुष्य का मित्र नहीं बनने देंगे। इन्हें तो गोली मार दी जानी चाहिए।'

'भारत सेना एकत्र कर रहा है हमारी सीमा पर। वह शस्त्रास्त्र ले रहा है अन्य देशों से !' इस प्रकार का प्रचार तो विदेशों में पाकिस्तान की ओर से चलता ही रहता है। कोई उडसन को चिढ़ाना चाहे तो ऐसे समाचार उसे सुना दे। वह उबल उठेगा- 'झूठ ! धूर्त कहीं के। इन्हें कोर्ट में खड़े करके कोड़े लगाने चाहिए। भारत कहीं किसी पर आक्रमण कर सका है?'

उड़सन की श्रद्धा अडिग हैं। आप उसे अर्धविक्षिप्त कह सकते हैं; किंतु वह है सीधा और अब भी उसमें सैनिक का अक्खड़पन है। उसका स्वप्न है – 'भारत का सत्य प्रयास सफल होगा। युद्ध के पिपासुओं को अन्ततः जनता अवश्य जेल में बंद कर देगी। मेरी राय में उन्हें एकदम मार देना चाहिए। विश्व के सब मनुष्य समान हैं। वे परस्पर भाई हैं। उनका एक राष्ट्र नहीं बनता, भारत की शुभ सम्मति मानकर वे परस्पर प्रेमपूर्वक तो रह ही सकते हैं।'

'विश्व के राष्ट्रों में बहुत वैभिन्य है। उनके आदर्श परस्पर विपरीत है। उनका प्रेमपूर्वक रह पाना शक्य नहीं है।' उड़सन से यह बात कह देना सरल नहीं है। अभी वह बहुत शीघ्र उत्तेजित हो जाता है। वह 'युद्ध अनिवार्य है' इस कल्पना को भी सह नहीं सकता।

'मेरा पड़ोसी निरामिषभोजी है और कुत्ते पालता है!' उड़सन को कुत्ते बहुत अप्रिय हैं तथा सैनिक जीवन व्यतीत कर लेने के कारण उसे आमिष अप्रिय नहीं है। वह जानता है कि उसका पड़ौसी उसका यह स्वभाव पसंद नहीं करता– 'हम क्या परस्पर सिर फोड़ लें। मैं शपथपूर्वक कह सकता हूँ कि प्रलय तक हम दोनों इसी प्रकार पड़ोसी रह सकते हैं और कभी नहीं लड़ेंगे।'

'आप दोनों बुद्धिमान् हैं! सुसंस्कृत हैं।' आप उड़सन को यही कह सकते हैं।

राष्ट्रों में मनुष्य ही तो हैं। भारत यही तो कहता है कि सब बुद्धिमान् सुसंस्कृत पड़ोसी के समान रहें।' उड़सन को बड़ा क्रोध है युद्ध की भावना बनाये रखने वाले कुछ लोगों पर – 'मुट्ठी भर मूर्ख अपने स्वार्थ के लिए पिशाच बन गये हैं। वे संसार को भून देना चाहते हैं। उन्हें पकड़कर बंद कर दो! बस!'

उन्हें ही पकड़कर बंद कर दिया जा सकता– बेचारा उड़सन! वह कहाँ समझ पाता है कि उन्हें पकड़ना कितना कठिन है। भय तो यह है कि उनका कोई चर किसी दिन उड़सन को ही कहीं पकड़कर बंद न कर दें पागलखाने या शत्रु का प्रचारक कहकर।

उडसन का बन्द हो जाना असम्भव नहीं है; किंतु क्या मानवता की वह पुकार बंद हो जायगी जो पागल उड़सन के अन्तर में अकस्मात् जाग उठी है? वह क्या अकेले उडसन का प्रलाप है? क्या वह आहत, भीत मानवता की करुण पुकार नहीं है? और यदि सचमुच वह मानवता की पुकार है तो–तो उसे क्या पिशाच कभी दबा सका है जो आज दबा लेगा।

मानवता–ईश्वर का विश्व को सर्वश्रेष्ठ वरदान मानवता और वह घृणा, द्वेष, बर्बर पैशाचितकता पर विजयिनी होकर रहेगी!

❑❑

भजन और भोजन

वृन्दावन गये थे हम लोग- मैं और मेरे एक मित्र। संयोग की बात है, हमने वहाँ पानी घाट पर ठहरना निश्चित किया! पानीघाट वृन्दावन का श्मशान; किंतु नगर के किसी दूसरे भाग से वह मुझे मनोहर लगा। श्मशान तो दूर है। यमुना का प्रवाह पर्याप्त दूर चला गया है। वर्षा में भले इस हरियाली के बीच श्मशान रहता हो, इस समय तो वह पौन मील आगे रेते में है। जलती चिता का धुआँ अवश्य दीख जाता है यहाँ से।

सघन वृक्षावली के मध्य जहाँ-तहाँ साधुओं की कुटियाँ-कुछ फूस की और कुछ ईंट-चूने की भी। जहाँ बाबाजी रहेंगे, ठाकुर-पूजा के लिए फूल-तुलसी भी लगी मिलेगी ही। इस मनोरम वातावरण में सामने का सुविस्तृत पुलिन और सुन्दर प्रतीत होता था। यही कारण था कि शहर से इतनी दूर हम यहाँ ठहरे।

हम जिन बाबाजी की कुटी पर ठहरे थे, वे अच्छे चिकित्सक माने जाते हैं। आयुर्वेद के विद्वान हैं। प्रायः उनके यहाँ खरल में दवा घुटती रहती है, जड़ियाँ कूटी जाती रहती हैं और पुटपाक का क्रम भी चलता ही है।

बाबाजी में मुझे एक गौरवमयी मानवता मिली और सबसे बड़ा आकर्षण यही था जो मुझे उन तक खींच लाया था। वे रोटी और औषध के उदार दाता थे। रोगी आते थे, उन्हें नाड़ी देखकर वे औषध दे देते थे- बिना मूल्य औषध। अमीर-गरीब, ब्राह्मण-हरिजन, हिंदू-मुसलमान का भेद बाबाजी रोगी में नहीं करते थे। उन्हें किसी की नाड़ी देखने में हिचक नहीं थी। यह दूसरी बात है कि वे बीमारों का देखना जब समाप्त कर चुकते, तब स्नान करे और तभी उनकी ठाकुर-पूजा होती।

बीमार को जो भी औषध आवश्यक है, वह कितनी मूल्यवान् है, यह वे सोचते तक नहीं थे। लेकिन मैं भूल रहा हूँ, औषध का एक मूल्य वे प्रायः लिया करते थे। जो शरीर से पुष्ट और श्रम करने योग्य ग्रामीण आते थे, उन्हें वे लगा दे थे दवा कूटने या घोटने में- घंटे-आध घटे उन्हें यह श्रमदान करना पड़ता था।

'रोगी आर्त है। वह धनी हो या दरिद्र, जब मेरे पास आता है, पीड़ित होता है उससे कुछ भी लेना मुझे मानवता का अपमान लगता है।' बाबा जी का नियम माना जाय तो

आज के सब चिकित्सक उपवास करने लगें; किंतु कोई औषध लेकर रुपया निकालता तो वे अप्रसन्न हो उठते। उसे खरी-खोटी सुनाते। रोग दूर हो जाने पर जिसकी जो इच्छा हो उनके यहाँ 'ठाकुर-सेवा' के लिए समर्पित कर आवे।

ठाकुर सेवा के लिए इस प्रकार इतना अवश्य आ जाता था कि उससे साधु-वेला चलती थी कुटिया पर और औषधनिर्माण भी चलता रहता था। किसी से बाबाजी ने कभी याचना की हो, ऐसा सुना नहीं गया।

औषध के समान ही प्रतिबन्धहीन वितरण था बाबा जी के यहाँ भोजन का। अवश्य उनके यहाँ दस-पाँच साधु टिके रहते थे और वे ही भोजन बनाते थे। साधुओं के टिक्कर ही बनते थे वहाँ; किंतु दोपहर में जब ठाकुर जी को भोग लगाया जा चुकता, दो-तीन साधू पूरे ऊँचे स्वर से पुकारे 'पंगत की सीताराम!' जिसकी इच्छा हो, वह उस समय वहाँ भोजन करने आ बैठे।

गृहस्थ भी आते थे। कभी कोई भिखारी भी आ जाता था। अवश्य ही पंगत से पृथक् ऐसे लोगों को बैठाना पड़ता था; किंतु भोजन में कोई वैषम्य नहीं होता था। अभ्यागत को सम्मानपूर्वक वे तृप्त करते थे।

'एक अधम प्राणी धाम में आकर पड़ गया है।' अपने सम्बन्ध में प्रायः वह कहते थे- 'द्वार पर आकर पड़ जाने की लाज बृजराजकुमार कर लेंगे, इतनी आशा है। साधन-भजन कहाँ होता है अपने से।'

'आप भजन किसे कहते हैं?' मैंने पूछा था।

'भजन है सेवा-तन-मन-सर्वस्व जब सेवा में समर्पित हो जाय, तब समझो कि भजन बना।'

यह श्रीविग्रह का पूजन, नाम-जप, कीर्तन-कथा?' मैं उनके पास ही बैठा था और इस समय कोई रोगी नहीं था उने सम्मुख, अतः उनसे कुछ जान लेने की इच्छा हो आयी थी।

'सत्स्वरूप भगवान् का सङ्ग ही सत्संग है न? प्रश्न के बदले प्रश्न कर दिया उन्होंने।

'लगता तो ऐसा ही है।' मुझे स्वीकार करना पड़ा।

'इसलिए कि यह उस वास्तविक सत्सङ्ग का साधन है। इससे वह प्राप्त होता या हो सकता है।'

'तब जो भजन का साधन है, उसे भजन कहना क्या ठीक नहीं है?' उन्होंने मेरी ओर देखा।

'ठीक तो है, किंतु.......।'

'किंतु-परंतु कुछ नहीं। मानव-स्वभाव है कि वह अपनी दुर्बलता स्वीकार नहीं करना चाहता। उसके लिए वह बहाने ढूँढ़ता है।' और उन्होंने एक श्लोक का भाव सुना

दिया अपने ढङ्ग से- 'यह विश्वरूप में वही लीलाविहारी तो सामने हैं। इनकी उपेक्षा-अवमानना करके मैं जो यह कुटिया में कुछ मिनट बैठ जाता हूँ- भजन की विडम्बना ही तो है, वहाँ मन पता नहीं कहाँ-कहाँ भटकता रहता है। अंगुलियाँ माला के दानों पर घूमें अथवा चंदन-तुलसी-पुष्प चढ़ावे श्रीविग्रह पर, इस जड़ देह की क्रिया को तुम भजन कहोगे?'

'तब यह भजन नही?' मैंने कुछ सशङ्क होकर पूछा।

'है तो सही!' वे तनिक हँसे - 'यह देह की क्रिया भी भजन है;क्योंकि भजन की यह विडम्बना भी भजन के कुछ-न-कुछ समीप ले ही जाती है।'

हमारी चर्चा अधूरी रह गयी; क्योंकि उसी समय 'पङ्गत की सीताराम' की पुकार एक साधु ने कर दी। मैं भी उनके साथ ही उठा; क्योंकि आज हम दोनों को यहीं भगवत्प्रसाद ग्रहण करना था।

साधुओं की पङ्गत के साथ ही हम लोग भी एक किनारे बैठे। दो लम्बी पंक्तियाँ और दोनों को मिलाती एक छोटी पंक्ति। जो दिशा रिक्त थी, उधर रसोई घर था। भोजन परोसा जा चुका था और हमने प्रारम्भ भी कर दिया था कि किसी ओर से एक बिल्ली कूदकर हम सबके बीच आ गयी।

बड़ी-सी मोटी बिंदीदार देशी बिल्ली थी, किंतु लगता था कि वह अवश्य पालतू होगी; क्योंकि उसे कोई भय नहीं लगा इतने मनुष्यों से। 'म्याऊँ-उसने आते ही अपनी माँग प्रारंभ कर दी। कभी एक ओर मुख करती औ कभी दूसरी ओर।

'हुँ' एक साधु ने बायाँ हाथ हिलाया और डाँटने का प्रयत्न किया।

'म्याउँ' बिल्ली तनिक उनके पास से पीछे हटी और अपनी माँग उसने दुहराना बंद नहीं किया।

साधुओं में कोई बिल्ली को भोजन करते समय छू सकता नहीं था और वैष्णवों की पंगत के बीच यह हिंसक प्राणी बैठा रहे, यह उन्हें सह्य नहीं था। कई साधु उस छोटे-से जीव को डराकर भगा देने की चेष्टा करने लगे; किंतु बिल्ली क्यों हटने लगी। उसके भी पेट है, उस पेट में भी भूख लगी है और जब भोजन सामने है, उसे क्यों नहीं मिलना चाहिए।

एक कठिनाई और थी। बिली कूदकर सबके बीच में आ तो गयी थी; किंतु उसे कोई कंकड़ या डंडा मारकर भगा दे तो पता नहीं वह किस ओर से भागे। कहीं कोई साधु उसकी भाग दौड़ में उससे छू गया तो पूरी पंगत भले भूखी न उठ जाय, वह तो भूखा उठ ही जायेगा।

साधु इधर-उधर देखते थे, बिल्ली को डाँटते थे और उसे भगा देने की युक्ति चाहते थे। मैं देख रहा था कि जिनकी यह कुटी है वे बार-बार कुछ संकेत कर रहे थे।

भोजन के समय वे मौन रहते हैं और उनके संकेत कोई समझ नहीं रहा था। अंततः उन्होंने जल से आचमन किया।

'एक पत्तल लगा लाओ।' आचमन करके उन्होंने परोसने वाले को आदेश दिया। पत्तल आयी और बिल्ली के सामने रख दी गयी।

'आप प्रसाद ग्रहण करें!' किसी ने आग्रह किया।

'आप करें- मैं तृप्त हो गया।' तनिक रुककर बोले- 'मैं बैठा हूँ- आवश्यकता होगी तो प्रसाद ले लूँगा?'

प्रसाद झूठा नहीं छोड़ा जाता।' एक ओर से यह शब्द आया।

'ऐसा तो नहीं है!' उन्होंने कहा- 'कुछ प्राणी सीथ अधिकारी होते हैं। उनको भी कभी-कभी समय मिलना चाहिए।'

बात यह थी कि वे रात-दिन में एक ही समय भोजन करते थे और मौन-भंग हो जाने के बाद अब भोजन करना उनके लिए नियम भंग था। कठिनाईसे कुछ ग्रास वे आज ग्रहण कर सके थे।लेकिन उन्होंने ढंग ऐसा बना लिया जैसे बिल्ली भोजन करके तृप्त हो जाये तो वे प्रारम्भ करेंगे। इसका फल यह हुआ कि दूसरे लोगों ने भोजन स्थगित नहीं किया।

सबके साथ ही वे उठे। अपना पत्तल स्वयं उन्होंने उठाया और जो कुत्ते कुछ दूर प्रतीक्षा कर रहे थे, उन्हें दिया। सबको ही उनके भूखे रहने का बहुत दुःख था। बिल्ली तो अपना पेट भर चुकी थी।

'आपने आज भोजन किया ही नहीं।' विश्राम के लिए जब वे लेटे, मैं उनके समीप जा बैठा।

'किंतु आज नटनागर ने कृपा की। आज उन्होंने मुझसे भजन कराया।' गद्‌गदकण्ठ से वे बोले 'उनकी कृपा के बिना भजन बनता कहाँ है।'

'कोई विशेष भजन से तात्पर्य है आपका?' मैं कुछ समझ नहीं सका था कि वे कहना क्या चाहते हैं।

'उस भूखी बिल्ली के रूप में मुझसे अन्न माँगने वही विश्वरूप नहीं आये थे, यह तुम कह सकते हो?' अब भी कण्ठ भरा था उनका - 'उन्होंने कृपा की- अन्यथा मुझमें भी उपेक्षा ही जाग्रत् होनी स्वाभाविक थी। भोजन तो प्रतिदिन करता हूँ। दूसरा भी जो कुछ करता हूँ- भोजन के लिए ही तो वह। भजन तो आज इतना-सा हुआ?'

उन्हें प्रणिपात कर लिया मैंने।

❑❑

स्वारथ साँच

'मैं ठहरा स्वार्थी मनुष्य और उसमें भी व्यापारी। मुझे कोई मूर्ख बना ठग ले, इसे मैं सहन नहीं कर सकता।' भगवान् ही जानें कि वे स्वार्थी हैं तो परमार्थी कौन होगा। उनके जैसा निःस्पृह, सेवापरायण मुझे तो देखने में ही नहीं आया।

'गोरा वर्ण, लम्बा-दुबला देह। लम्बा ही मुख और सरल भोले नेत्र। शरीर पर एक बगलबंदी, लगभग घुटनों तक की धोती। जेब में लौंग-इलायची भरे रहते हैं। स्वयं उनके लिए न लौंग का उपयोग है, न इलायची का। जो भी परिचित मिलेगा, बड़ी नम्रता से प्रणाम करेंगे और तब उनके हाथ अपनी जेब में जायगा। आपका छुटकारा नहीं है उनकी लौंग-इलायची लिये बिना।

सिर के भाग में केश नहीं रहे हैं। जो हैं, श्वेत हो चुके हैं, शरीर पर झुर्रिया पड़ चुकी हैं। गले में तुलसी की कण्ठी और हाथ में जपकी झोली लिये यह वृद्ध जहाँ भी मिलेगा, जब भी मिलेगा, नम्रता की मूर्ति। उन्हें देखकर मुझे स्मरण आ जाता है-

तृणादपि सुनीचेन तरोरिव सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः।।

वार्धक्य है ही रोगों के प्राबल्य की अवस्था। उनका शरीर भी अनेक व्याधियों से ग्रस्त रहता है; किंतु कभी तो अपने रोग की, अपनी पीड़ा की चर्चा उन्होंने की हो। तन से और धन से भी वे अभावग्रस्त, रोग-पीड़ित जनों की सेवा में ही जुटे मिले मुझे। आज इसके यहाँ और कल उसके यहाँ- उनके कहीं भी जाने का एक ही प्रयोजन है - उसकी कोई सेवा करनी होगी।

'कभी इस भले आदमी को क्रोध भीआता है?' मैंने एक परिचित से पूछ लिया था। हँसी में।

'वे तो परम संत हैं। उनको क्रोध भला कैसे आ सकता है?' बड़ी श्रद्धा के साथ ये शब्द कहे गये। किंतु साधु-वेशधारी होंगे, इस संदेह में आप न पड़ें। वे गृहस्थ हैं और गृहस्थवेश में ही रहते हैं। वैसे अब रहते हैं एकाकी। पत्नी का परलोकवास बहुत पहले

हो चुका और पुत्र कहीं दूर के नगर में कोई काम करता है।

भजन, सेवा और तीर्थवास – उनके अब इतने ही काम हैं और उनसे कुछ कहिये उनकी प्रशंसा में तो कहंगे- 'मैं स्वार्थी हूँ। बनिया ठहरा। मुझे मूर्ख बनाकर कोई ठग ले, यह मैं सहन नहीं कर सकता।'

'रघुनाथ जी की लीला! बड़े लीलामय हैं वे।' यह एक दूसरा वाक्य है जो उनके मुख से मैंने कई बार सुना है। जब भी किसी के किसी दोष की चर्चा आप उनके सम्मुख करेंगे, व इस वाक्य को दुहरा देंगे और उनके होंठ तथा झोली के भीतर अँगुलियाँ अधिक शीघ्रता से चलने लगेंगी।

उन्हें कष्ट होता है, उद्वेग होता है जब उनकी प्रशंसा की जाती है अथवा उनका सम्मान करने का कोई प्रयत्न करता है। उस समय ऐसा लगा है कि उनके नेत्र भर आये हैं। लेकिन आप उनका तिरस्कार करें तो उनके कान पर जूँ नहीं रेंगती। उन्हें सेवा का कोई काम बता दें तो उनका मुख खिल उठता है।

'बच्चा क्या करता है आजकल?' मैंने एक बार पूछा था उनसे। मुझ पर उनका इतना स्नेह है कि मैं उनके शरीर तथा पुत्र का समाचार यदा-कदा पूछ लेता हूँ।

'मूर्खता करता है। बनिये का बेटा होकर मूर्ख निकला।' उनके मुख से पहली बार झुँझलाहट के-से शब्द सुने थे मैंने। उन्होंने मेरे सम्मुख किसी की निन्दा की हो, यह पहला अवसर था। अतः मुझे कुतूहल हुआ। उनकी कुटिया पर गया था मिलने। जमकर बैठ गया। बात क्या है, यह जान लेना मुझे महत्त्व की बात लगी।

'क्या रक्खा है। रामजी की लीला है। वे जिसे जैसा नाच नचायें।' वे सम्हल गये थे और पूछने पर टाल देना चाहते थे मुझे; किंतु यह खेद क्यों जागा, मुझे यह जानना ही था।

'वह आजकल करता क्या है?' प्रश्न पर मैंने बल दिया। 'रहता कहाँ है?'

'व्यापार करता है। रुपये इकट्ठे करने के चक्कर में पड़ा है।' उन्होंने मुझे सङ्कोचपूर्वक थोड़े में बता दिया कि लड़का कहाँ रहता है, क्या करता है।

'कोई बुराई तो करता नहीं!' मैंने कहा- 'युवक है, उपार्जन करता है और उपार्जन ईमानदारी से करता है।'

'रघुनाथजी जिससे जो करायें, ठीक ही है!' वे अब अपने चित्त में सावधान थे। सम्भवतः लड़के की निन्दा मुख से निकल गयी, इसका भी खेद था उन्हें।

'आप उसे मूर्ख क्यों कहते हैं?' मैंने हठपूर्वक पूछा।

'जो अपना स्वार्थ भी न समझे, वह मूर्ख ही तो है।' उन्होंने आग्रह करने पर बताया- 'क्या बनेगा रुपयों से? बैंक में बहुत धन एकत्र हो गया तो उससे लाभ? इतना धन

उसके पास अब है कि वह सादा जीवन व्यतीत करते हुए निश्चिन्त भजन करता रहे।'

लड़के की पत्नी का भी देहान्त हो चुका है। वह फिर विवाह करेगा या नहीं, मुझे पता नहीं है; किंतु पिता की इसमें सम्मति नहीं है। उन्होंने उसे साल-दो साल साथ रक्खा था। वह भी प्रतिदिन सवा लाख नामजप करता था उन दिनों। उसे भी बगलबन्दी और घुटनों तक धोती पहिने, हाथ में जप झोली लिये, घुटे सिर मैंने देखा है।

त्याग और तप का यह जीवन सबके वश का नहीं हुआ करता। उस युवक से साधक-जीवन निभा नहीं, तो उसे दोष नहीं दिया जा सका। वह अब व्यवसाय करने लगा है। तनिक सुख-सुविधा, थोड़े अच्छे वस्त्र-भोजन की उसकी आकाङ्क्षा अस्वाभाविक तो नहीं है।

पिता कहते हैं कि वह मूर्ख हो गया है। वह मूर्ख है तो बुद्धिमान् समाज में कितने हैं आज? लेकिन अब इनसे कुछ पूछना व्यर्थ है। उन्होंने इतना भी बता दिया, यही कम नहीं है। उनसे विदा लेकर मैं उस दिन चला आया।

× × ×

'आप यह पद-संग्रह कितने में ले आये?' मैं उनकी कुटिया पर यह सुनकर गया था कि आजकल रुग्ण हैं। किंतु वे उलटे मेरे सत्कार में व्यस्त हो गये। एक पुस्तक पड़ी थी आसन के समीप और नयी लगी वह मुझे। मैंने भी उनकी एक प्रति अभी चार-छः दिन पहले खरीदी हैं।

'आप इस बार ठगे गये।' उन्होंने छपा मूल्य दिया था। यहाँ बहुत-से दुकानदारों ने स्वयं पद-संग्रह छपवाये हैं। पुस्तक पर मूल्य अधिक छपवा रक्खा है। प्रायः ठीक मूल्य पूछने पर छपे मूल्य से कम में वे पुस्तक देते हैं।

'मैं कहाँ ठगा गया?' मेरे ठीक मूल्य बतलाने पर वे बोले- 'ठगा गया वह बेचारा! रघुनाथ जी की लीला!'

मैं चौंका। सचमुच ठगा कौन गया? जिसे पुस्तक के चार आने मूल्य अधिक देने पड़े वह या वह जिसने चार आने में अपनी ईमानदारी, सत्य, विश्वसनीयता बेच दी वह?

'चार आने के लिए मैं झिकझिक करता तो ठगा जाता।' उन्होंने दूसरा सूत्र सुनाया- 'मेरी शान्ति और समय जाता उस चार आने में, जिस समय में दो-चार भगवन्नाम तो लिया ही जा सकता है।'

'सचमुच आप पक्के व्यापारी है!' मैंने उन्हें मस्तक झुकाया तो वे पैर पकड़ने लगे।

'प्रशंसा से क्या मिल जाता है मनुष्य को? निन्दा से उसका क्या बिगड़ जाता है?' उस दिन वे तनिक खुलकर बोल रहे थे- 'वह प्रशंसा के पीछे जब पागल होता है, निन्दा से व्यथित होता है तो अहंकार उसे ठग लेता है। वह केवल अपने को मूर्ख बनाता है।'

'ओह! सचमुच अहंकार मूर्ख ही तो बनाता है ऐसे सब अवसरों पर हमें।' मैं सोच रहा था जीवन का कितना श्रम और समय इस मूर्खता के पीछे मेरा नष्ट हुआ तथा हो रहा है।

'जीवन की आवश्यकताएँ अधिक नहीं है।' वे कहते जा रहे थे- 'पेट की क्षुधा थोड़े में निवृत्त हो जाती है। थोड़े में शरीर की रक्षा हो जाती है। मनुष्य को उसकी जीभ ठगती है। और मूर्खता ठगती है। वस्त्रादि के साज-शृङ्गार पर- फैशन पर होने वाला व्यय मूर्खता ही है। आपने कुर्ता पहिना या कोट-कमीज, यह पूरे नगर में कोई ध्यान नहीं देता। आपका सजना केवल अपने मन के मिथ्याभिमान का संतोष है। मन ठगता है आपको कि लोग क्या कहेंगे!'

मैंने उनसे आज पूछा था कि 'आप अपने को स्वार्थी क्यों कहते हैं?'

'मैं अपने स्वार्थ पर दृष्टि रखता हूँ।' उन्होंने बताया था- 'बनिया हूँ मैं। कोई मुझे ठग ले, यह मुझे सहन नहीं होता। मेरा मन, मेरा अहंकार ही मुझे ठग सकता है। यह न ठगे तो दूसरा कौन ठगेगा? आप सब तो श्री रघुनाथजी के स्वरूप है। आप तो सदा इस दीन पर अनुग्रह ही करते हैं।'

उनके शब्दों में कहीं भी कृत्रिमता नहीं थी। उनका स्वर, उनके भरे-भरे नेत्र कह रहे थे कि ये शब्द उनके हृदय से निकल रहे हैं।

'पूरा संसार ही तब मूर्ख है!'

मैंने उन्हें उलाहना नहीं दिया था। उलहाना देने की धृष्टता भी नहीं कर सकता था उस समय। वैसे मैं उनसे परिहास कर लेता हूँ; किंतु उस दिन वातावरण इतना गंभीर बन गया था मैं इतना अभिभूत था कि परिहास या व्यङ्ग की कल्पना भी मन का स्पर्श नहीं करती। मैं सोचने लगा था और उस चिन्तन में ये शब्द- अपने-आप ही मुख से निकल गये थे।

'आश्चर्य की क्या बात है।' बिना संकुचित हुए वे स्थिर स्वरों में बोले- 'यह संसार ही अज्ञान-चालित है। ज्ञान संसार का निवर्तक है, प्रवर्तक तो है नहीं। रघुनाथ जी की लीला ही ऐसी है।'

'यह दौड़-धूप, यह व्यग्रता-व्यस्तता, यह अशान्ति पूर्ण संघर्ष- सब मूर्खता है!'

मैं अपने चित्त में सोचने लगा था- 'सचमुच यदि हम सोचने लगें कि इसका क्या उपयोग? इससे क्या लाभ या क्या हानि? हमारे उद्योगों में, हमारे क्षोभों में भी कितना सार्थक निकलेंगे?'

'जीव का स्वार्थ बिना सोचे-समझे श्रम करते रहने में तो नहीं है?' वे कहने लगे- 'पदार्थों की राशि वह एकत्र भी कर ले, सबका कोई वास्तविक उपयोग है उसके लिए? उसे सोचना चाहिए ही कि उसका सचमुच स्वार्थ किसमे हैं।'

'तो आप इस अर्थ में स्वार्थी हैं!' मैं हँस पड़ा और वे संकुचित हो गये; किंतु बात तो उनकी ही सच्ची है। सच्चा स्वार्थ तो परमात्मा में ठीक-ठीक लग जाने में ही जीव का है और यह स्वार्थ उन्होंने साधा है। अपने पुत्र को वे मूर्ख कहें, यह अधिकार है उन्हें।

❑❑

निरभिमानता

'एक तो अमेरिकन और दूसरे गेरुआ कपड़े, हमारा आकर्षण सहज उनकी ओर हो गया। अब भी वे बहुत टूटी-फूटी हिंदी बोल सकते थे। हमारे 'नमो नारायण' का उत्तर जिस प्रकार हाथ जोड़कर, सिर झुकाकर उन्होंने दिया था, उससे हमें और भी आश्चर्य हुआ था। कदाचित् यह विशेषता उनके विदेशी होने की थी; क्योंकि नम्रता वैष्णव साधुओं में तो मिलती है, किंतु किसी संन्यासी में अपरिचित्तों के प्रति नम्रता!

'हम आपका परिचय जानना चाहते हैं?' बातचीत उनकी सुविधा के लिये अंग्रेजी में ही चल रही थी। 'मैं अमेरिका से यहाँ आया- इस पवित्र भारतभूमि में जहाँ शताब्दियों पूर्व अनुभव कर लिया गया था कि मनुष्य का सबसे बड़ा द्वेष अहङ्कार है और उससे छुटकारा पाये बिना मनुष्य की मनुष्यता पूर्ण नहीं होगी।'

'आप क्या करते थे अमेरिका में?' हम सब वृक्ष के नीचे घास पर ही बैठ गये थे; क्योंकि हमें इस गोरे संन्यासी की बात में रूचि हो आयी थी और खड़े-खड़े कब तक बातचीत चलती।

'मैं वहाँ एक सुप्रसिद्ध वयोवृद्ध वैज्ञानिक का सहकारी था।' उन्होंने संकोचपूर्वक कहा- 'मैं प्रार्थना करूँगा कि आप मेरा या उन वैज्ञानिक का नाम जानने का आग्रह न करें।'

'मुझसे आपको प्रेरणा मिलेगी?' वे और संकुचित हो गये- 'भारतीय के रक्त में आध्यात्मिकता सम्मिलित है। यहाँ की मिट्टी में आध्यात्मिक भावनाओं का अपार स्रोत है और जिसने गङ्गा का जल पिया है, उसे दूसरा कोई क्या प्रेरणा देगा।'

'आपकी श्रद्धा स्पृहा करने योग्यहै।' वे विदेशी हैं, अतः उनके वर्तमान वेश को देखते यह श्रद्धा स्वाभाविक है; किंतु हमें तो उनके संन्यास के कारण जानने की उत्कण्ठा थी, जो इस श्रद्धा का प्रेरक है। अतः राममनोहर ने पूछा- 'आपने अपना शोध कार्य क्यों छोड़ दिया? यह वेश लेने का विचार मन में कैसे आया?'

'अपने अहङ्कार की चट्टान से टकरा गया मैं। हमने समझा था कि किसी अमेरिका प्रवासी भारतीय संन्यासी के प्रवचन अथवा अमेरिका में वेदान्त प्रचार करने वाली किसी भारतीय द्वारा स्थापित संस्था के सम्पर्क का उन पर प्रभाव पड़ा होगा; किंतु हमारी सम्भावना के सर्वथा विपरीत उत्तर मिला- 'मैं अपने गर्व में जितना सहायक था, उन सम्मान्य का तिरस्कार कर बैठा एक दिन।'

'भोले बच्चे! केवल इतना कहा उन्होंने और मुस्करा उठे; किंतु......' अब उनका कण्ठ भर आया था और नेत्र टपकने लगे थे। बड़ी कठिनाई से हमें पता लगा कि उन्होंने उत्साहतिरेक में उन सम्मान्य वैज्ञानिक को किसी नवीन प्रयोग का प्रतिपादन करते समय कह दिया था- 'बुड्ढ़ों की बुद्धि भी घिस जाती है।'

'मैं कितना सम्मान करता हूँ उनका, आप नहीं जानते।' आज भी पश्चात्ताप में वे व्याकुल हो रहे थे।

× × ×

यह अहङ्कार क्या है? मैं प्रयोगशाला में रूक नहीं सका था। घर आकर अपने पढ़ने के कमरे में कुर्सी पर गिर पड़ा।' उन्होंने अपने चिन्तन की शैली समझायी।

इस मनुष्य-शरीर में अरबों कीटाणु हैं। प्रत्येक के कार्य पृथक् हैं। अपने-आप में उनमें प्रत्येक एक स्वतन्त्र इकाई है। उनका पृथक्-पृथक् 'मैं' है। उन सबको यदि छोड़ दें तो उनसे पृथक् न मन बचता, न बुद्धि बचती और न अहङ्कार बचता। उन असंख्य कीटाणुओं के विशेष प्रकार के संधीभाव का नाम ही यह शरीर है और इसके भीतर 'अहं' करने वाला भी है।

सिर की ग्रन्थि विशेष से यदि एक तोला रस निकाल दिया जाय, संसार के बड़े-से-बड़े विद्वान् की सब विद्या विस्मृत हो जायेगी। मस्तिष्क की स्नायु विशेष पर एक चोट पड़ जाय- बुद्धि का पता भी नहीं रह जायेगा।

हमने भी ये बातें पढ़ी हैं यदा-कदा। वे वैज्ञानिक हैं, अतः इनके विषय में वे अधिक जानते हैं, उनका चित्त विज्ञान की इस भाषा में सोचने का अभ्यस्त है।

'कीटाणु-तुच्छ कीटाणुओं से भिन्न कोई नहीं पूरे देह को 'अहं' कहने वाला। वे ठीक कह रहे थे या नहीं, इस बात का मुझे पता नहीं है। मैं कहाँ वैज्ञानिक हूँ- 'कीटाणुओं का यह समूह और उसमें अपनी बुद्धि का इतना उन्माद!'

किंतु अहङ्कार तथ्य की अपेक्षा करता कहाँ है। बुद्धि और विद्या के गर्व की बात छोड़ भी दे तो शरीर के बल का, धन का, यश का, समर्थकों की बहुलता का गर्व क्या

कम होता है? जब कि तथ्य यह है कि शरीर में केवल मल बल बना बैठा है। एक अच्छे बलवान् को तनिक कड़ा जुलाब देकर देख लीजिये। धन, यश, समर्थक – ये तो शरीर के अंश भी नहीं है। इन्हें नष्ट होते या रूख बदलते दो क्षण लगता है; किंतु इनका अभिमान-अभिमान अन्धा जो होता है। वह तथ्य देख भी कैसे सकता है। मैं साहस नहीं कर सका दुबारा उन सम्मान्य के सम्मुख जाने का।' उन्होंने कहा– 'लज्जा और ग्लानि के कारण किसी के सम्मुख जाने का साहस मुझमें नहीं रहा था।'

वे अतिशय भावुक हैं, यह बात आप कह सकते हैं। किंतु भावुकता दुर्गुण नहीं है। इस भावुकता ने ही उनके हृदय को उद्‌बुद्ध किया। भावुकता ने ही उन्हें अपने छोटे से दोष के प्रति भी सावधान किया।

'जहाँ रोग को ठीक रोग समझा गया है, उसकी चिकित्सा पाने की आशा वहीं की जा सकती है।' उन्होंने बताया – 'भौतिकता को लक्ष्य मानने वाले देश में तो अभिमान कोई बुराई नहीं माना जाता। वहाँ तो उसे पोषण दिया जा रहा है। उसे प्रोत्साहन देना हमारी सभ्यता का मुख्य अङ्ग है।'

भारत आने का निर्णय इसी आधार पर उन्हांने किया था। कुछ थोड़ा समय लगा यात्रा की तैयारी करने में। कुछ अध्ययन भी आवश्यक था। उस देश का, जहाँ जाना था वे केवल महीने-पंद्रह दिनों में लौट जाने वाले भ्रमण शील यात्री तो नहीं थे।

× × ×

'मेरे चमड़े का रंग मेरे लिए एक बाधा है।' उन्होंने ठीक कहा था। उनकी ओर यहाँ के लोगों का आकर्षण शीघ्र होगा, यह स्वाभाविक है। 'अतः मैं कहीं दूर पर्वतीय प्रदेश में जाकर रहना चाहता हूँ।'

'अभिमान यहाँ के लोगों में भी कम कहाँ है?' राम-मनोहर ने कहा।

'यह तो मनुष्य की सामान्य दुर्बलता है। इसमें देश-विशेष का नाम लेना व्यर्थ होगा।' उन्होंने कहा– 'किंतु इस महान् देश में बहुत पहले यह अनुभव कर लिया गया कि यह एक भयङ्कर दुर्बलता है। अतः यहाँ ढूँढ़ने पर उसकी चिकित्सा मिल जाती हैं।'

'आपको मिल गयी?' राममनोहर ने पूछ ही लिया।

'आपको नहीं मिली है, यह कहना चाहते हैं?' उन्होंने इस बार दृष्टि उठायी। अब तक वे सिर झुकाये भूमि की ओर देखते हुए ही बातें कर थे – 'प्रत्येक भातीय को तो वह माता के दूध के साथ मिल जाती है। यह दूसरी बात कि वह उसका उपयोग कब करेगा। कभी करेगा भी या नहीं।'

'आपकी बात मैं समझ नहीं सका।' केवल राम-मनोहर न समझा हो और हम सब समझ गये हों, ऐसी बात नहीं थी।

'शरीर नश्वर है। मिट्टी का पुतला है। इसका मोह करना झूठा है। इस पर अभिमान करना अज्ञान है।' उन्होंने कहा- 'भारतीय बच्चे को माता की गोद में ही यह सिखा दिया जाता है। आपके देश का अपठित ग्रामीण भी यह जानता है। जैसा शरीर, वैसी बुद्धि, धन, यश आदि।'

बात उनकी ठीक थी। भारत का प्रायः प्रत्येक जन इन बातों को सुनता है और कहता भी है; किंतु कितने लोग हैं जो गम्भीरता से तथ्य को सोचते समझते हैं?

'विचार के अभाव में अभिमान उत्पन्न है।' वे संन्यास की दीक्षा ले चुके हैं। जो कोई भी उनके गुरु हों, अवश्य उन्होंने विवेक का महत्त्व उन्हें बताया होगा। संन्यास ज्ञान का मार्ग है। 'विवेक के प्रकाश में अभिमान को पैर रखने के लिए भूमि ही कहीं नहीं है।'

एक वैज्ञानिक के लिए विवेक का मार्ग उपयुक्त ही था। वह स्वभाव से तर्कशील, प्रयोग के द्वारा प्रत्यक्ष करके आस्था करने वाला, उसके लिए दार्शनिक बनना उपासक बनने की अपेक्षा कही सरल है।

'विवेक ही एकमात्र औषधि है अभिमान की।' उस समय गोरे अमेकिन संन्यासी ने चलते-चलते कहा था।

'एकमात्र औषधि, मुझे उसकी बात ठीक लगती है। अपनी क्षुद्रता एवं भगवान् की महत्ता का विवेक हो या देह, इन्द्रियाँ, भोग आदि की सार हीनता अथवा संसार के मिथ्या तत्व का विवेक- अभिमान को तो विवेक ही दूर करेगा।

अभिमान-एक अन्ध भावना ही तो। विचार दृढ़ हो तो यह अन्धकार दूर हो जाय।

राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई

'तू बनाकर भी व्यर्थ करता है। अपने ही निर्माण को कुचल देने में तुझे आनन्द आता है?' वह कभी फूट-फूटकर रोता है और कभी 'हा, हा' करके हँसता है। कोई नहीं जानता कि वह कौन है। पता नहीं कैसे वह यहाँ आया। गाँव के लोग जब एक सबेरे सोकर उठे, उन्होंने देखा कि उनके गाँव की गलियों में कहीं से एक नया व्यक्ति आ गया है। गौर वर्ण, लम्बी आँखें, ऊँची-नुकीली नासिका, उन्नत ललाट, इकहरा शरीर-सम्भवतः किसी उच्च कुल का है, सम्भवतः सुपठित है। सम्भवतः इसलिए कि केवल अनुमान ही किया जा सकता है। उसके वस्त्र फटे और मैले होकर भी बताते हैं, वे कभी स्वच्छ थे, सुन्दर थे, मूल्यवान् थे। उसके केश उलझे होकर भी कहते हैं, वे कभी सुलझे और सुसज्जित थे, सुगन्धित तैल से सिंचित होते थे। उसकी भावभङ्गिमा, उसकी चाल-ढाल, उसकी दृष्टि कहती है, वह कभी सम्मान पाता था, सत्कृत होता था। लेकिन वह कुछ बोलता नहीं किसी से। कुछ पूछने पर प्रश्न-कर्ता के मुख की ओर घूरने लगता है और फिर या तो ठहाका मारकर हँसने लगता है, या फूट-फूटकर रोने लगता है। बेचारा पागल है।

गाँव के दयालु लोग- वे लोग उसे स्नेह पूर्वक रूखी-सूखी रोटियाँ खिला देते हैं। उसे यदा-कदा एकाध वस्त्र मिल जाते हैं। जाड़े के दिन हैं। रात्रि में वह किसी-न-किसी के अलाव के पास ढुलक पड़ता है।

बड़ा रमणीक गाँव है। नहर का पानी सींचता है यहाँ के खेतों को और खेतों में गेहूँ-चना नहीं होता। यहाँ के खेत तो खेत नहीं, बगीचे हैं। जहाँ तक दृष्टि जाय पाटल के पौधे लहरा रहे हैं। गुलाब की खेती होती है यहाँ! इत्र बनने के लिए यहाँ से गुलाब के फूल अन्यत्र जाते हैं। जब पुष्प का समय होता हैं- मीलों तक खिले पाटल-पुष्पों से मण्डित धरित्री की शोभा-जो यहाँ आया नहीं, वह यहाँ के उस सौन्दर्य का अनुमान तक नहीं कर सकता।

मोगरा, चमेली और दूसरे पुष्पों के भी पौधे जहाँ-तहाँ हैं। जल ही जगत् का

जीवन है। जहाँ जल की पर्याप्त सुविधा है, जीवन अपने अनेक रूपों में प्रस्फुटित, पल्लवित, प्रफुल्लित होगा ही। छोटे-छोटे उपवन हैं। सघन तरु हैं; किंतु यह सब तो विनोद है, विलास है उस भूमि का, वहाँ के निवासियों का। वहाँ का जीवन तो है पाटल और उसका साम्राज्य है वहाँ।

जाड़े के दिन, कठोर शीत, सम्पूर्ण प्रकृति ही तो इन शिशिर में ठिठुर जाती है। गुलाब के पौधों में कलियाँ तो आजकल भी आती हैं; किंतु इस मीलों लंबी-चौड़ी हरीतिमा में अपनी सुरभि प्रसारित कर सके, अपने सौन्दर्य से लोक-लोचनों को आह्लाद दान दे पाये, अपने पराग में भ्रमरों की मूँछें पीताभ बनाकर मुसकरा सके- कदाचित् किसी एकाध कलिका को ही यह सौभाग्य मिलता है। कोई ही कलिका पुष्प बन पाती है। कठोर शीत-बेचारी कलियों का बाहरी पर्दा झुलस जाता है। उसकी पाटलद्युति कालिमा से कलुष हो जाती है। जैसे शीत के भय से कलिका सिकुड़ी-ठिठुरी पड़ी रह जाती है और जब जीवन विकसित न हो पाये- सूख ही तो जायगा वह।

'देवता ! तू देवता है न? इसे सार्थक कर दे तब।' उस पागल को एक ही सनक है, वह गुलाब की सर्दी से ठिठुरी-मुर्झायी ढेर-सी कलियाँ तोड़ लेता है और शङ्करजी की पिण्डी पर चढ़ा आता है। तोड़ता है और चढ़ाता है, दिन में कितनी बार? कोई संख्या नहीं। कोई क्रम नहीं। वह पागल जो ठहरा।

यह तो पाटल की भूमि है। इस शिशिर में भी प्रफुल्लित सौ-दौ-सौ पुष्प यहाँ नहीं मिलेंगे, ऐसी तो कोई बात नहीं है। लेकिन वह पागल है न। उसकी दृष्टि जैसे पुष्पों को देखती ही नहीं। वह तो कलियाँ तोड़ता है, चुन-चुनकर मुरझायी, सूखी-सी कलियाँ और फिर उन्हें देवता पर चढ़ा आता है।

'अपने ही निर्माणको कुचल देने मे तुझे आनन्द आता है?' कभी-कभी वह किसी बड़ी-सी कली को तोड़ लेता है। गुलाबी पँखुड़ियाँ शीत से सूखकर पीताभ हो गयी होती हैं, कुछ कालिमा आ गयी होती है, कली अपने ही उस अवगुण्ठन में दृढ़ता से आबद्ध हो गयी होती है और वह उसे इस प्रकार देखता है, जैसे कोई गूढ़ रहस्य ढूँढ़ता हो।

'सौन्दर्य, सौरभ, सौकुर्माय का यह निर्माण और फिर उसे आबद्ध करके व्यर्थ बना देना।' अनेक बार वह आकाश की ओर बड़ी कठोर भङ्गी से देखता है। अनेक बार अट्टहास करता है और अनेक बार फूट-फूटकर रोता है।

× × ×

बड़ी-बड़ी आशाएँ हैं भगवतीप्रसाद जी को अपने पुत्र जगदीश से। जगदीश उनका एकमात्र पुत्र है। पिता का सम्पूर्ण स्नेह पाया है। सृष्टिकर्त्ता का भी उसे स्नेह

मिला है। सुन्दर सुगठित देह है, जन्मजात प्रतिभा है और सम्पन्न घर मिला है। अनेक बार उसे देखकर उसके पिता मन-ही-मन कह उठते है-

'शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते।'

ब्राह्मण का यह पवित्र कुल और भगवती प्रसाद जी को तो भगवान् शङ्कर की भक्ति पैतृक सम्पत्ति के रूप में प्राप्त हुई है। जगदीश शैशव में ही मातृहीन हो गया यह ठीक है, किंतु पिता ने उसे कभी माता के अभाव का अनुभव नहीं होने दिया। पुत्र का लालन-पालन और शिक्षा-एक अच्छे सम्पन्न जमींदार के एकमात्र पुत्र के उपयुक्त ही जगदीश को यह सब प्राप्त हुआ।

बचपन में जगदीश भस्म का त्रिपुण्ड लगाकर भगवान् शङ्कर को मस्तक झुकाता था, जल-पुष्पादि चढ़ाकर - उस गौर-सुन्दर शिशु की शोभा देखने ही योग्य होती थी और अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करके, ग्रेजुएट होकर भी वह वैसा ही आस्तिक, वैसा ही सुशील, वैसा ही विनम्र है। वह दोनों समय संध्या करता है, बड़ी-सी चोटी रखता है, भस्म का त्रिपुण्ड लगाता है। जमींदार का पुत्र होकर, उच्च शिक्षा पाकर भी ग्राम के गँवार गंदे लोगों से हिलमिल जाने में, उनसे दादा, चाचा कहकर बात करने में, उनकी सेवा-सहायता करने में उसे कभी हिचक नहीं होती।

गाँव के लोग भगवतीप्रसाद जी को देवता कहते हैं। उनकी कोठी गाँव के पीड़ितों का, रोगी का, आश्रय है। कोठी की दरियाँ, बड़े बर्तन, गैस आदि सामग्री तो जैसे सार्वजनिक सामग्री है। किसी के यहाँ कथा-कीर्त्तन, ब्याह या दूसरा कोई उत्सव हो तो वह उन सामग्रियों का बड़ी सरलता से उपयोग करता है। लेकिन जगदीश भैया तो गाँव के लोगों के आत्मीय हैं। अपने घर के हैं। वे कब किसके घर पहुँचकर बीमार की खोज-खबर लेंगे। किसी के दर्द करते मस्तक पर औषधि मलेंगे, किसके रोते बालक की मुट्ठी में पैसे धर देगे- इसकी कहाँ तक कोई गणना कर सकता है। वे तो दया, सहानुभूति, सेवा और आत्मीयता की मूर्ति ही हैं।

जगदीश प्रतिभाशाली है। शिक्षा के समय वह कक्षा में सदा प्रथम रहा है। परीक्षा में विश्वविद्यालय में प्रथम रहा है। सरकार ने उसे पुरस्कृत किया है। पिता नहीं चाहते कि वह शिक्षा के लिए विदेश जाय और विदेश जाने की उसकी अपनी भी रूचि नहीं है। उसके घर कमी किस बात की है कि वह नौकरी करेगा।

जगदीश महत्त्वाकांक्षी है। उसकी महत्त्वाकांक्षा उचित है। वह प्रतिभा सम्पन्न है। कालेज के व्याख्यानों में वह सदा प्रशंसित होता रहा है। उसकी कविताएँ पत्र-पत्रिकाओं में आदर पूर्वक छापी जाती हैं। वह यशस्वी होना चाहता है और कोई कारण नहीं है कि उसे यश न मिले। बिहार-प्रान्त की एक सुप्रसिद्ध पत्रिका के संचालकों ने उसे आमन्त्रित किया है पत्रिका का सम्पादन करने के लिए पिता ने अनुमति दे दी है।

वह जायेगा- परसों यात्रा करेगा चला तो वह दस दिन पहले जाता; किंतु एक महाकाव्य लिखने में लगा था वह। पिछले वर्ष से उसके महाकाव्य के अनेक अंश पत्रिका में छप चुके हैं। जिसने भी उसे सुना है, भूरि-भूरि प्रशंसा की है। आज अपना महाकाव्य जगदीश ने पूरा कर दिया है।

भगवती प्रसाद जी को अपने पुत्र से बहुत आशाएँ हैं। उनका पुत्र यशस्वी होगा। उनके कुल का गौरव बढ़ायेगा। जगदीश को अपने महाकाव्य से बहुत आशाएँ हैं। चार दिन बाद वह एक श्रेष्ठ पत्रिका का सम्पादक होगा, उसका महाकाव्य छपेगा, उस महाकाव्य पर मङ्गलाप्रसाद परितोषिक मिलेगा। जगदीश हिंदी-संसार में सबसे कम अवस्था का सबसे अधिक प्रख्यात पुरुष होगा।

भगवती प्रसाद जी की आशाएँ, ग्राम के लोगों की आशाएँ, जगदीश की आशाएँ- स्त्रष्टा ने सबको सुयोग दिया; किंतु स्त्रष्टा सुयोग देकर सफल ही होने देगा, यह कहाँ निश्चित रहता है। बलिया सदा से बाढ़-पीड़ित क्षेत्र है और गङ्गाजी की वह बाढ़-ऐसी भयङ्कर बाढ़ की तो कोई कभी कल्पना ही नहीं कर सकता था। इस प्रकार अचानक बाढ़ आया करती है। कहते हैं कहीं कोई पर्वत टूटकर गिर गया था। गङ्गाजी का या उनकी किसी सहायक धारा का- अब स्मरण नहीं, प्रवाह रुक गया था। जब धारा के वेग से गिरे पर्वत का बाँध टूटा, किनारे के नगर एवं ग्रामों में प्रलय आ गयी।

कितने ग्राम बहे, कितने मनुष्य या पशु मरे, कितनी हानि हुई, यह कोई कैसे अनुमान करें। सरकारी कर्मचारी इधर-उधर दौड़-धूप कर रहे थे। जहाँ गाँव थे, समुद्र के समान वहाँ जल लहरा रहा था। उस प्रखर धारा में सर्वत्र एक बार घूम आना भी सरकारी नौकाओं के लिए शक्य नहीं था। जो गये, वे तो गये ही। जो बच गये थे, उनको बचाये रहने की चिन्ता कम बड़ी नहीं थी। स्थान, अन्न, वस्त्र, औषधि-सहस्र लोगों के लिए दो-चार दिनों में इनका प्रबन्ध कर लेना क्या कुछ हँसी-खेल है।

भगवतीप्रसाद जी, जगदीश, उनका ग्राम- सरकारी कागजों में यह लिख दिया गया है कि गङ्गा की बाढ़ ने उस किनारे के ग्राम को पूरा ही बहा दिया। अब तो वहाँ गङ्गाजी ने अपना नवीन प्रवाह बना लिया है। क्या हुआ ग्राम का, ग्राम के लोगों का, भगवतीप्रसाद जी का, जगदीश का-कौन जानता है। उस बाढ़ के प्रलय-प्रवाह में व्यक्तियों की खोज क्या रह सकती थी?

× × ×

जगदीश उस बाढ़ के प्रबल प्रवाह में भी बच गया। प्रारब्ध प्रबल था, किसी झोंपड़ी का बहता छप्पर हाथ आ गया था। बहुत दूर जाकर उसे मल्लाहों ने निकाल

लिया। दुर्बलता, अनाहार, ज्वर, शोक-बेचारा जगदीश पागल हो गया। वह कहाँ-कहाँ किस प्रकार भटकता यहाँ पहुँचा है, यह उसे भी स्मरण नहीं है।

खूब बड़ा-सा सुन्दर सुरङ्ग पुष्प खिला था। इस शिशिर में इतना बड़ा सुरङ्ग पुष्प जगदीश कभी पुष्पों की ओर ध्यान नहीं देता, आज भी नहीं देता; किंतु इस लम्बे-चौड़े खेत में वह एकाकी पुष्प और इतना बड़ा गाँव में आजकल नगर से एक युवक आया है। लंबे, घुँघराले बालों में सुगन्धित तेल लगाये वह प्रायः घूमता रहता है। उसका वेश, उसके वस्त्र, उसकी चाल- कोई कवि होगा। पता नहीं क्यों पागल जगदीश जब उसे देखता है - घूर-घूरकर देखता ही रहता है और फिर ठठाकर हँसता है। वह युवक भी घूमने आया है। वह उस पुष्प के पास खड़ा है, बड़े स्नेह से पुष्प को इस प्रकार देखना ही जगदीश की दृष्टि पुष्प की ओर खींच सका हो।

जगदीश उस युवक को देखता है और उस पुष्प को देखता है। वह आज कलियाँ तोड़ना भूल गया है। युवक पुष्प को देख रहा है। इधर खड़े होकर कुछ गुनगुनाकर वह पुष्प को देख रहा है। कितना सौन्दर्य-प्रेमी है यह। कितना स्नेह है इसका पुष्प से। पागल जगदीश उसे चुपचाप देख रहा है।

युवक ने अपनी सुकोमल पतली अँगुली से फूल की टहनी हिला दी। पुष्प झूम उठा। युवक देखता रहा। अब उसने पुष्प की पंखुड़ियाँ धीरे से स्पर्श कीं। दो क्षण, और युवक ने पुष्प को तोड़ लिया। तोड़कर नेत्रों से लगाया, कपोलों पर फिराया और पुष्प को लिये चल पड़ा। चल पड़ा उसके पीछे-पीछ पागल जगदीश भी।

युवक ने पुष्प को अपने कोट के जेब में रक्खा, फिर निकाला, फिर रक्खा, बार-बार सूँघा, बार-बार घुमाया और यह क्या? वह पुष्प को एक-एक पंखड़ी नोचता भूमि पर गिराता चला जा रहा है। अपने गुनगुनाने में मस्त चला जा रहा है। पुष्प के प्रति उसका कुछ स्नेह भी था, यह उसे स्मरण भी नहीं। पागल जगदीश चीख पड़ा और भागा-भागा वह उल्टे पैर और सीधे उस शङ्करजी की पिण्डी के पास पहुँचा, जहाँ उसने आज सबेरेसे अञ्जलि भर-भरकर मुर्झायी कलियाँ चढ़ायी हैं।

'देवता! तू देवता है। तू ठीक करता है। ये कलियाँ धन्य हैं। ये सफल हैं। ये पुष्प बनतीं तो इन्हें भी कोई तोड़कर बिखेर देता। इनकी पँखड़ियाँ भी कोई पैरों से कुचल देता।' पागल जगदीश के नेत्रों से आँसू की धाराएँ गिर रही हैं। वह अपने अश्रु से भगवान् शङ्कर का अभिषेक कर रहा है। 'जगत् का प्यार जिस पर प्रलुब्ध होता है, उसे कुचल देता है, नष्ट कर देता है। जगत् कृतघ्न है। वह जिसे चाहता है, उसे चूस लेता है।'

जगदीश एक-एक कली को उठाता था, सिर से लगाता था और फिर भगवान् शङ्कर की मूर्ति पर चढ़ा देता था। वह पागल है, उसके जो मन में आती है, करता है। वह कहता जा रहा है- 'लेकिन देवता! तब तू सौन्दर्य सौरभ सौकुमार्य देता क्यों हैं?

अपने आप में वह आबद्ध होकर कुचल उठे– उसमें घुटता रहे, ऐसा तू क्यों करता है?'

'इसलिए कि मैं अन्तर में हूँ। अन्तर में स्थित मुझे ही अर्पित होकर जीवन सार्थक होता है, अनन्त होता है, धन्य होता है' जब कोई भी एकान्तनिष्ठा से विश्व के अधिदेवता को सम्बोधित करता है, वह पागल है या सचेत, इसका प्रश्न नहीं रह जाता, वह चिद्धन उसे अपने चैतन्य के अनन्त प्रवाह से निश्चय ही आप्लुत कर देता है। उसे– उस सर्वव्यापी को कोई हृदय की वाणी से सम्बोधित करे और उत्तर न मिले, यह तो कभी हुआ नहीं, हो सकता भी नहीं। जगदीश का अन्तर्यामी आज उसके लिए जाग गया है। वैसे तो वह नित्य जागरूक है। लेकिन आज वह जगदीश को उत्तर देने लगा है।

'जो अपनी प्रतिभा, अपने सद्गुण, अपने ऐश्वर्य से जगत् को तुष्ट करना चाहता है, वह बहिर्मुख होता है। जगत् से उसे दो क्षण का स्नेह, कृत्रिम-सुयश एवं सौहार्द मिलता है। वह नष्ट हो जाता है। जगत् उसे चूस लेता है, नष्ट कर देता है।' जगदीश आज अपने अन्तर्यामी की दिव्य वाणी सुन रहा है। 'मैं जिस पर कृपा करता हूँ, उसे अन्तर्मुख बनाता हूँ। उसे जगत् के प्रलुब्ध नेत्रों से बचाता हूँ। उसका सौरभ, उसके सद्गुण, उसके भाव अपने अन्तर में स्थित मुझे समर्पित होते हैं। वह आनन्दमय हो जाता है। वह शाश्वत जीवन की गोद में अनन्त क्रीड़ा करता है।'

'राम कीन्ह चाहिहिं सोइ होई।' पागल जगदीश-लेकिन उसका नाम यहाँ कोई नहीं जानता। यहाँ तो वह केवल पागल कहा जाता है। अब वह रोते नहीं देखा जाता। वह रामायण की एक अर्धाली का आधा गुनगुनाया करता है और प्रायः हँसता रहता है। खूब खुलकर हँसता है वह।

'तुम क्या गाते हो?' कोई भी उस पागल से चाहे जब पूछ ले, उसका एक ही उत्तर है – 'अरे रोना धोना मत! घबराना भी मत! राम जो करते हैं बड़ा अच्छा करे हैं। वे हम सबका सदा मङ्गल ही करते हैं, भला!'

गाँव के बाहर जो हनुमान् जी का मन्दिर है, उस पर एक संत आये थे। रमते राम सन्त आये और गये। उनका क्या कोई नाम, ग्राम जान पाता है? लेकिन वे कह गये– 'यह पागल नहीं है। यह तो बहुत उच्च स्थिति का संत है' गाँव के भोले लोग– वे अब पागल जगदीश की यथा सम्भव सेवा करते हैं। उसे महात्मा मानते हैं। वह महात्मा है? लेकिन वह महात्मा न हो तो महात्मा होगा कौन? एक युवक जो सम्पादक बनने जा रहा था, कवि बन चुका था– संत हो गया। बनाने वाले के हाथ समर्थ हैं, वह किसे कब क्या बना देगा............

❑❑

तेन त्येक्तेन भुञ्जीथाः

'मुझे खेद है कि मैं आपका मुकदमा नहीं ले सकता!' बड़ी शान्ति से एडवोकेट मिश्र ने कहा और सामने मेज पर रक्खी फाइल को रखने वाले की ओर खिसका दिया।

'आप एक बार कागज देख लें!' अनुनय की गयी और साथ ही जेब से नोट निकाले गये- 'आपकी फीस मैं अभी दूँगा। मुझे आप पर विश्वास है, इसलिए मैं सीधा आपके पास आया और आप मेरे पुराने वकील हैं।

'आपकी बात ठीक है। मैं आपको पत्र दे देता हूँ। आप ठक्कर के यहाँ चले जाइये। वे अच्छे वकील हैं और मेरे मित्र हैं। आपसे उचित पारिश्रमिक ही लेंगे।' मिश्र जी ने कलम उठायी- 'आप जानते ही हैं कि मैं अपनी आवश्यकता पूरी हो, महीने में उतने ही मुकदमे लेता हूँ। इस महीने के पहिले सप्ताह में ही वह पूरी हो गयी।'

अद्‌भुत व्यक्ति हैं ये मिश्र जी भी। संसार में सभी प्रकार के मनुष्य हैं। उन्हीं में इनकी भी एक अलग खोपड़ी है। नहीं तो, कोई वकील घर आयी फीस लौटाता है? किंतु मिश्र हैं कि एक सीमा अपने उपार्जन की इन्होंने बना ली है। उतना मिल गया तो फिर उस महीने नया मुकदमा हाथ में नहीं लेंगे। पुरानों में भी चाहेंगे कि कम दौड़-धूप करनी पड़े। वैसे भी झूठे पक्ष का समर्थ करने खड़े नहीं होंगे। चलते मुकदमे को कई बार बीच में छोड़ दिया; क्योंकि पता लगा कि जो कुछ बताया गया, वह ठीक नहीं था।

मिश्र जी प्रतिभाशाली हैं और सच्चाई का पक्ष लेते हैं। फीस अनेक बार नहीं भी लेते, यदि व्यक्ति अधिक संकट में हुआ और धनहीन हुआ। फलतः न्यायालय में उनका सम्मान है। न्यायाधीश उनकी बात को महत्त्व देते हैं। लोग उत्सुक रहते हैं कि मिश्र जी उनका मुकदमा देखें।

'आप न्यायालय प्रतिदिन आते ही हैं। बिना फीस वाले मुकदमें भी देखते हैं। फिर रुपये काटते हैं आपको? जो आपको ही मुकदमा देना चाहते है, उन्हें आप क्यों निराश करते हैं, जबकि आपके पास समय होता है।' उस दिन शाम को ठक्कर ने ही पूछा था मिश्रजी के वे मित्र हैं और मिश्रजी प्रायः उनके पास मुकदमे भेज दिया करते हैं।

'न्यायालय तो मैं जाता हूँ सीखने!' मिश्र जी की यह बात आपको स्वीकार करनी होगी। 'वकील के लिए आवश्यक है कि वह अध्ययन करता रहे तथा जटिल मुकदमों की पैरवी-बहस देखता रहे। पेट के लिए तो परिश्रम ही करना पड़ता है। जो असमर्थ हैं, उनकी थोड़ी सहायता अवकाश के क्षणों में कर देना कोई बुराई तो है नहीं। किंतु मैं मानता हूँ कि आवश्यकता से अधिक धनोपार्जन सचमुच काट लेता है।

धन काट लेता है?' ठक्कर गम्भीर हो गये- 'यह आपकी बात समझ में नहीं आयी।'

रुपये भी किसी को काटते होंगे, मिश्रजी की यह बात आपकी समझ में आती है क्या? मैं इसी से उन्हें अद्भुत खोपड़ी कहता हूँ।

'वे शरीर को कुत्ते की भाँति या चाकू के समान तो नहीं काटते; किंतु' - मिश्र जी गम्भीर ही बने रहे- 'वे स्वास्थ्य, आचरण, समय, संयम अथवा नम्रता को अवश्य काट लेते हैं और मैं इनकी क्षति शारीरिक क्षति से अधिक मानता हूँ।'

'अब आप पहेली मत समझाइये।' ठक्कर ने हँसते हुए कहा। लेकिन बात समझने योग्य है, यह उन्हें प्रतीत हो गया था। इसलिए अपनी कुर्सी पर वे अधिक स्थिर होकर बैठ गये।

'उपयोग से अधिक धन होगा तो उपभोग अधिक करने की सूझेगी।' मिश्रजी ने बताया- ' विलासिता बढ़ेगी। आलस्य बढ़ेगा। कहीं मन सावधान न रहा तो संयम, सदाचार पर विपत्ति आयेगी। यह न भी हो तो भी प्रमाद में समय जायगा और भोग में रोग तो रक्खे ही रहते हैं।'

'कुछ संतान के लिए संग्रह करो और शेष लोकोपकार में लगा दो। दान भी तो धर्म ही है।' ठक्कर ने साधारण स्वर में ही कहा; क्योंकि मिश्र जी ने यह बात सोची ही नहीं होगी, यह आशा कोई कैसे कर सकता है?

'संतानें अपना प्रारब्ध लेकर आती है और उन्हें वह अपना प्रारब्ध भोगना ही पड़ता है। पैतृक सम्पत्ति पाकर कितने युवक सुपथ पर रह पाते हैं यह आप जानते हैं।' मिश्र जी ने कहा- 'समर्थ होने तक मैं संतति का पालन-रक्षण और शिक्षण कर्त्तव्य मानता हूँ; किंतु उनके लिए धन-संचय मोह के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।'

लोकोपकार - दान ?' ठक्कर ने जिज्ञासा की।

'अधर्म से धर्म नहीं होता और लोभ अधर्म ही है। मिश्र जी कह रहे थे-'जितना उपलब्ध है, उसी की सीमा में धर्म करना तो मनुष्य का कर्त्तव्य है; किंतु अधिक संग्रह करके दान लोकोपकार केवल अभिमान है। यशेच्छा अथवा अहंकार की यह प्रेरणा है। अन्यथा लोकों का - जिन्होंने निर्माण किया, उन विश्वम्भर के रहते मनुष्य क्या

लोकोपकार करेगा? उन सर्वेश्वर को किसी की दया अथवा सहायता की क्या अपेक्षा है?'

× × ×

भाई ठक्कर! सुना कि तुम्हारे यहाँ चोरी हो गयी रात को!' मिश्र जी ने न्यायालय के पुस्तकालय में ठक्कर के समीप बैठते हुए पूछा– 'मैं यदि कुछ सहायता कर सकूँ, संकोच मत करो सूचित करने में।'

'कोई बड़ी हानि नहीं हुई हैं' – ठक्कर ने हँसकर परिस्थिति के क्लेश दायक वातावरण को हल्का किया– 'किंतु सुनते हैं कि ईमानदारी की कमाई नष्ट नहीं होती और मैंने कोई बेईमानी की हो, स्मरण नहीं आता।'

'सो तो मैं स्मरण दिला सकता हूँ।' मिश्र जी भी मुस्कराये– 'हमारे उपार्जन में धर्म का भी भाग है और उसे तुम पूरा न सही, बहुत कुछ पचा लेते हो।'

'बात चल ही पड़ी है तो आज अपने व्यय का आदर्श तो बता दो।' ठक्कर ने पूछा– 'सम्भव है, वह मेरे भी कुछ काम आ जाये।'

'सबके लिए कोई सामान्य आदर्श बना देना कठिन है। अपनी परिस्थिति के अनुसार सबको अपना बजट बनाना पड़ता है; किंतु आयकर देकर जो बचे उसका दस प्रतिशत धर्म का है, यह मैं मानता हूँ। उसे दान कर देना चाहिए।' मिश्र जी ने बताया।

'उससे तीर्थाटन, यज्ञ, श्राद्ध आदि कर दिया जा सकता है?' ठक्कर ने स्पष्टीकरण चाहा।'

तीर्थाटन, यज्ञ, श्राद्ध, आदि कर्त्तव्य हैं अथवा पारलौकिक उपार्जन!' मिश्रजी ने कहा– 'वे अपने भाग से सम्पन्न होने चाहिए। धर्म के सत्त्व को तो परोपकार में ही लगाना ठीक है।'

'अपना पूरा बजट तो बताओ!' ठक्कर और मिश्र जीमें इतनी आत्मीयता है कि वे एक–दूसरे को 'आप' सम्बोधित करना आवश्यक नहीं मानते।

'40 प्रतिशत भोजन व्यय, 5 प्रतिशत वस्त्रों के लिए और 5 प्रतिशत स्वच्छता के लिए।' मिश्र जी ने अपना बजट सुनया – '10 प्रतिशत सेवक को, स्वयं की शिक्षा तथा मनोरंजन पर 5 प्रतिशत, इतना ही पत्नी को निजी प्रसाधनादि के लिए तथा इतना ही चिकित्सा के लिए बच्चों की शिक्षा पर साढ़े सात प्रतिशत, ढाई प्रतिशत उनको मनोरंजनार्थ। शेष 5 प्रतिशत आकस्मिक विपत्ति में काम आने को सुरक्षित करता जाता हूँ। इसी में से जो बच रहेंगे, उसे संतानों के लिए छोड़ जाना पर्याप्त मानता हूँ।

× × ×

धन की तीन गति हैं – दान, भोग और नाश। ठक्कर फिर सायंकाल मिश्रजी के समीप आ बैठे थे। दोपहर में न्यायालय के पुस्कालय से उठ गये थे एक मुकदमा देखने; किंतु उसी समय शाम को मिश्र जी से मिलने का कार्यक्रम बन गया था। अब आते ही उन्होंने वही चर्चा उठायी – 'नाश किसी को पसंद नहीं; किंतु लोभवश संग्रह सभी करते हैं। यह लोभ ही नाश को निमन्त्रित करता है, इतना मैं जानता हूँ।'

'भोग या तो धर्मानुकूल होगा अथवा अधर्म। और अधर्म हुआ तो वह महानाश है। लोक में धन, स्वास्थ्य, कींति का नाश और परलोक की बात आप जानते ही हैं।' मिश्र जी ने कहा– 'अतः धन के भोग का अर्थ है– **धर्मसम्मत भोग। सीमित आवश्यक जीवन निर्वाह–** इसे आप मान लेंगे।'

'मान लेना ही चाहिए मुझे।' ठक्कर ने पर्याप्त गम्भीर होकर कहा– 'और तब दान के अतिरिक्त उपार्जन की मेरी अपनी सनक का उपयोग नहीं है।'

'हिंदू के लिए जो दिनचर्या आह्निक सूत्रों ने दी है, उसमें दिन-रात में केवल एक प्रहर उपार्जन के लिए रक्खा गया है। आज के वातावरण में – वर्तमान सामाजिक स्थिति में यह शक्य नहीं है; किंतु उपार्जन की सनक का उपयोग कुछ नहीं है। वह केवल लोभ है।' मिश्र जी ने बात पूरी की।

ठक्कर बोले नहीं। दान के सम्बन्ध में उनके मन में निष्ठा है। अपनी आय का अधिकांश वे सामाजिक कार्यों में व्यय कर देते हैं। कलियुग में धर्म का एक ही चरण तो बचा है – दान। उसके मन पर दृढ़ संकल्प है– 'येन-केन विधि दीन्हें दान करइ कल्यान।'

'दान यदि अहंकार का पोषण न करे, उसमें यशेच्छा न हो और मैं दाता, दूसरे गृहीता दरिद्र – मैं दयालु, दूसरे दया के पात्र – यह भावना न आवे, तो दान परम धर्म है।' मिश्र जी नहीं चाहते ठक्कर को हताश करना।

'लेकिन 'त्यागपूर्वक भोग' ऋषियों ने आदर्श माना है। उपार्जन का उद्देश्य भोग है और **भोग तब पवित्र होता है, जब उपार्जन पवित्र हो तथा उसका आवश्यक अंश त्याग-दान में लग चुका हो। भोग भी त्याग के लिए-संयम के लिए हो।** त्याग के लिए उपार्जन की बात तो तब बने, जब कर्तृत्व का अहंकार अभीष्ट न हो। लोक परमात्मा का। हमारे किये लोकोपकार होता कहाँ है। हम जो त्याग-दान करते हैं, अपनी शुद्धि के लिए। प्रभु की कृपा कि हमें वे ऐसे अवसर देते हैं।'

'अहंकार न आवे, यह प्रयत्न करता हूँ।' ठक्कर ने शान्त भाव से कहा।

'सो मैं जानता हूँ।' मिश्र जी बोले – 'धन में गौरव बुद्धि है, उपार्जन में महत्ता लगती है और उसके बिना अपने में ही हीनत्व की भावना आती है, तब तक आपका ही

मार्ग ठीक है। जो आवे उसे सेवा में लगा दिया जाय। धर्म पुष्ट होता रहेगा तो चित्त शुद्धि होगी।'

और चित्त-शुद्धि तो? ठक्कर को लगा कि बात यहीं समाप्त हुई तो वह अपूर्ण रह जायगी।

'परम पुरुषार्थ धर्म नहीं है, मोक्ष है और वह निवृत्ति-साध्य है।' लगभग सूत्र सुना दिया मिश्र जी ने- '**इसीलिए त्यागपूर्वक भोग- त्याग के लिए भी प्रवृत्ति इष्ट नहीं है मन्त्र-द्रष्टा ऋषि को।**'

परम योग

'परो हि योगो मनसः समाधिः।'-

भागवत ११.२३.४९

हिमालय के दुर्गम क्षेत्र में नेपाल राज्य के मुक्तिनाथ से और आगे दामोदरकुण्ड (नकली नहीं, असली दामोदर-कुण्ड) के समीप कुछ योगसिद्ध साधकों का समुदाय एकत्र था। बड़ी-बड़ी कृष्णकपिश जटाएँ, सुगठित प्रलम्ब देह, भस्मभूषित सर्वाङ्ग और फटे कानों में मोटी योगमुद्रा। यह सिद्ध योगीश्वर गुरु गोरखनाथ शिष्य मण्डल था और उनके सिद्धेश्वर गुरु आज उनके साथ थे।

'भगवान दत्तात्रेय आज सोमवती अमावस्या का स्नान दामोदरकुण्ड पर करने वाले है।' सर्वज्ञ योगियों के सन्देश-विनिमय के लिए कोई चर अथवा स्थूल माध्यम तो आवश्यक नहीं है। कल सायंकाल गुरु को ध्यान में भगवान् दत्त सङ्कल्प ज्ञात हो गया था और अपने प्रमुख शिष्यों के साथ आज उषःकाल में उन्होंने दामोदरकुण्ड के हिमशीतल जल में डुबकियाँ लगायीं। भस्मोद्धलन हो चुका सबका और अब तो सभी हिममुक्त शिलाओं पर बैठे उन सुरासुरवन्दित श्री अत्रिनन्दन के आगमन की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

यह हिमक्षेत्र-तृण भी नहीं होता यहाँ। नीचे जमे हुए उज्जवल हिम में यत्र-तत्र कुछ शिलाएँ हैं और ऊपर नील गगन है। चारों ओर से रजतकान्त शिखरों से घिरे इस क्षेत्र में दामोदकुण्ड का जल पारदर्शी हिम के नीचे स्थिर-शान्त पड़ा है। भगवान् भास्कर के दर्शन हुए नहीं; किंतु उनकी क्षितिज से उठती किरणों ने हिम के इस साम्राज्य पर गुलाल बिखेरना प्रारम्भ कर दिया है।

केवल एक शिला पर मृगचर्म बिछा है। अपेक्षाकृत कुछ ऊँची शिला है वह। उस पर तो प्रलम्बबाहु, उन्नतभाल, कमललोचन तेजोमय जटाधारी हैं- इन बाबा गोरखनाथ का भी क्या परिचय देना आवश्यक है?

सभी केवल कौपीन-परिधान हैं। योगियों की सिद्ध काया को शैत्य स्पर्श करने में असमर्थ है। एक शिला पर कमलपत्र पर दूर्वादल, कमलपुष्प, कुछ फल तथा

नवनिर्मित दुग्धोज्जवल भस्म है। यत्नपूर्वक यह अर्चन-सामग्री दूर से लायी गयी है इस अवसर के लिए।

दिशाएँ आलोक से भर गयी। यह ठीक है कि भुवनभास्कर किरणों ने शिखरों को स्वर्ण-स्नान करा दिया है; किंतु अम्बर से यह जो कोटि-कोटि सूर्यसम अपार प्रकाश-पुञ्ज सीधे उतरता आता है। सहसा एक साथ ससम्भ्रम उठ खड़ा हुआ योगियों का समुदाय और गुरु गोरखनाथ ने अञ्जलि में कमलपुष्प उठाये। एक साथ उन कण्ठों से परावाणी गूँजी– 'अलख ! दत्त गुरु दाता।'

× × ×

'आपके समुदाय की साधना अव्याहत?' गुरुदत्त ने कुशल-प्रश्न किया। उन्होंने स्नान कर लिया था और प्रशस्त शिलातल पर व्याघ्राम्बर सनाथ हो गया था। उनका आसन बनकर। पादपद्मों में अर्चा के कमलदल पड़े थे। वाम भाग योगकक्ष के सहारे तनिक झुक गया था। विभूति-भूषित भाल और रुद्राक्षकी मालाओं की शोभा उस कर्पूर-गौर श्रीअङ्ग के कण्ठ, भुजा, मणिबन्ध में। दूर से हिमशिलाओं के टूटने-गिरने का मन्दस्वर आने लगा था; किंतु जहाँ भुवन-वन्दित योगियों का समुदाय एकत्र हो उनकी शान्ति में व्याघात बनने का साहस प्रकृति कैसे कर सकती है। वायु के पद भी वहाँ शिथिल-संयमित हो जाते हैं।

'नित्य पूर्ण काम भुवनेश्वर प्रभु जब स्वयं साधकों के साफल्य के लिए सप्रयत्न हैं। इसी मङ्गल-विधान के लिए उन्होंने यह योगेश्वरावतार अपना रक्खा है। विघ्न कैसे किसी की साधना में व्याघात बन सकते हैं; किंतु– गुरु गोरखनाथ ने अञ्जलि बाँधकर मस्तक झुकाया– 'जब इन पुण्य चरणों के दर्शन का सौभाग्य मिला है, सभी आदेश एवं ज्ञानोपदेश से कृतार्थ होने की लालसा रखते हैं !'

'मैं देखना चाहता हूँ पहले आपके साधकों की साधना-परिपाटी !' भगवान् ने अपना अभिप्राय व्यक्त किया।

'जैसी आज्ञा !' गुरु गोरखनाथ के संकेत पर एक तरुण योगी आगे आये। उन्होंने आसन स्थिर किया आधे क्षण में प्रत्याहार ध्यान में और ध्यान समाधि की भूमि में पहुँचा। स्थिर अर्धोन्मीलित दृग! भगवान् दत्त का दक्षिण कर उठा और योगी सविकल्प से निर्विकल्प में पहुँचने के स्थान पर बाह्यचेतना में आ गया।

'मनुष्य सदा समाधि में स्थित नहीं रह सकता !' भगवान् के शब्दों ने एक सन्देश दिया – निर्विकल्प की शान्ति सामान्य जीवन में अवतरित करो वत्स ! अपने गुरुदेव के

आदर्श को अपनाने का प्रयत्न करो!'

'सोऽहं' दीर्घ घण्टा-निनाद। दूसरे साधक ने वह स्थान लिया पहले के उठ जाने पर और उनका प्रगाढ़ संयम-अनाहत उनके अन्तः से बाह्य जगत् में गूँजने लगा। शङ्ख वंशी के स्वर उठे और लय हुए मेघगर्जन से ऊपर दिशा में प्रणव की पराध्वनि गूँजने लगीं।

'वत्स!' भगवान् दत्त के सङ्कल्प के साथ साधक जागृति में आ गया- 'वाद्यों का स्वर जगत् में दुर्लभ नहीं है। मेघ की ध्वनि भी अयाचित आकाश में गूँजती है। शब्द की साधना का लक्ष्य है अशब्द में स्थिति-नित्य सहज स्थिति जगत् के कोलाहल में रहते अविकम्प शान्त अशब्द में!'

'ॐ **सच्चिदेकं ब्रह्म** ॐ अन्य साधक आ बैठे थे उस प्रयोगशिला पर। नेत्र-कोणों के संवेदनस्नायुसूत्र का उन्होंन किंचित् स्पर्श किया और स्थिर हो गये। रूप-अदभूत अपूर्व रंगों की छटा जब अन्तर से उमड़ी, सम्पूर्ण हिम प्रदेश रक्त, पाटलपीत, हरित, नील रंगों से रञ्जित होने लगा। दो-चार क्षण रंगों की छटा और फिर दृश्य - अद्‌भुत अपूर्व दृश्य! जैसे सम्पूर्ण दिव्य सृष्टि साकार हो उठी है। अन्त में एक परमोज्ज्वल प्रकाण्ड प्रकाश-राशि।

'अलं!' प्रभू के एक शब्द ने साधक को उत्थित कर दिया। 'रङ्ग और रूप सम्पूर्ण दृश्य दृष्टि में बिखरे पड़े हैं। तुम नेत्र बंद करके सङ्कल्प न भी करो, दिवाकर का तो तीव्र तेज है, जगत् के नेत्रों को वह नित्य सुलभ है। यह साधना इस रङ्ग रूप को सृष्टि में तुम्हें नित्य अरूप में निवास दे सके तो यह सफल हुई।'

'लं' केवल बीज का उच्चारण किया अब आसन पर आये साधक ने। शीघ्र ही दिशाएँ सौरभ से भर गयीं। पुष्प-सार जैसे सम्पूर्ण पर्वतों पर लुढ़का दिये गये हों। क्षण-क्षण सुरभि का परिवर्तन मनों घृत-कर्पूर का मानो हवन हो रहा हो और अन्त में तुलसी-मञ्जरी का स्थिर अपार सौरभ!

भगवान् दत्तात्रेय ने उत्थित करके समझाया इस साधक को 'कहीं भी कोई जाय, गन्ध आयेगी ही। अगन्ध-सहजावस्था है और उसमें स्थित रहना है।'

इसी प्रकार रस का साधक आया। खेचरी मुद्रा तो की उसने; किंतु उसे उत्थित करके गुरु दत्त किंचित् हँसे- 'वत्स! तुम्हारे साधन ने हम सबका आतिथ्य कर दिया। नाना रसों का आस्वादन अनुभव किया हमने और अमृत का स्वाद पाया; किंतु रस कहाँ लोक में दुर्लभ हैं। रसातीत स्थिति में अनित्य अवस्थिति, यह लक्ष्य है तुम्हारी साधना का।'

स्पर्श के साधक ने कुछ अङ्ग-चालन की क्रियाएँ की और तब स्थिर हुआ। हिम प्रदेश सुखद उष्ण बन गया। सबके त्वक् ने पाटलदलों के स्पर्श का अनुभव किया।

भगवान् ने उसे सन्देश दिया 'अस्पर्श–समस्त स्पर्शों में रहते स्पर्शातीत बने रहो!'

'तुमने क्या-क्या अनुभव किये!' अन्त में भगवान् दत्त ने योगी भर्तृहरि से पूछा।

'आपके पदपङ्कज सम्मुख हैं और उनका जो चिन्मय प्रभाव है, वह वाणी में नहीं आता!' विनम्र उत्तर था।

तुम्हारे इन साथियों के प्रयोगों का चमत्कार?'

'क्षमा करे प्रभु!' वाणी का संकोच कह रहा था कि भर्तृहरि का मन इन्द्रियों के साथ नहीं था, अतः कोई चमत्कार प्रभावित नहीं कर सका। कोई वृत्ति उनके चित्त में उठी नहीं।

'यही अलख-लक्ष्य स्थिति!' भगवान् ने बताया – 'मन की यही सहज एकाग्रता परम योग है। सब योग क्रियाओं का यही परम लक्ष्य है।'

'मैं' की शोध

'मैं कौन?' नरेन्द्र चिकित्सा-विज्ञान का छात्र है। किंतु वह अत्यन्त आस्तिक कुल का व्यक्ति। जब वह पाँच वर्ष का था तभी से पिता ने उसे प्रातः स्नान करके थोड़े से श्लोक बोलकर, भगवान् को प्रणाम करके तब भोजन करना चाहिए, यह बात सिखा दी थी। किंतु चिकित्सा-विज्ञान लेकर उसके सम्मुख एक समस्या आ खड़ी हुई है। "यह जीव क्या है? 'मैं' इस शरीर में कौन-सा तत्त्व है।"

बड़ी-सी चुटिया, ललाट पर चन्दन, गले में जनेऊ और अपने कमर में धोती पहिनने का अभ्यास। चप्पल के स्थान पर लकड़ी की खड़ाऊँ की खटपट जिसे पसंद है, उसे स्कूल, कॉलेज और विश्वविद्यालय में सहपाठियों ने कितना चिढ़ाया, सताया होगा, - आप बड़ी सरलता से अनुमान कर सकते हैं। किंतु आपका अनुमान ठीक नहीं है। इस गौर-वर्ण, बड़ी-बड़ी आँखों और घुँघराले बालों वाले अत्यन्त मेधावी, सशक्त छात्र को उसके सहपाठी सदा श्रद्धा और स्नेह से देखते रहे हैं।

नरेन्द्र जब गाँव के स्कूल से नगर में आया, उसे केवल चार-छः दिन कुछ लोगों ने चिढ़ाने का प्रयत्न किया। प्रयत्न करने वालों को शीघ्र पता लग गया कि चेष्टा उन्हें महँगी पड़ेगी। नरेन्द्र झेंपने और डरनेवालों में नहीं था। उसने पीटा भी किसी को नहीं; किंतु जिसका हाथ पकड़कर उसने एक बार चेतावनी दे दी, उसे वह चेतावनी कभी भूल नहीं सकती थी। फिर कक्षा में और खेल के मैदान में जिसकी प्रतिभा और स्फूर्ति समान रूप से अग्रणी रहती हो, उसे उसके सहाध्यायी चिढ़ा कैसे सकते हैं?

बात उल्टी हो गयी। नरेन्द्र के होस्टल में कइयों ने खड़ाऊँ पहिनना और जनेऊ पहिनकर संध्या करना प्रारम्भ कर दिया। नरेन्द्र से पहले स्नान करके उसका आसन अव्यवस्थित करने तथा संध्या का जल रखने वाले श्रद्धालु भी उसे मिल गये। उसे प्रायः सभी 'नरेन्द्रजी' कहकर ही सम्बोधित करते थे। यह परिपाटी कॉलेज में और विश्वविद्यालय में भी ज्यों-की-त्यों बनी रही और जब नरेन्द्र चिकित्सा-विज्ञान का विद्यार्थी बनकर आया, उसका उपहास करने का साहस पुराने छात्रों को भी नहीं हुआ।

इतना संयमी, नियमनिष्ठ, आस्तिक व्यक्ति यह कैसे मान ले कि चेतना जड़ द्रव्यों की विकृति है। देह से भिन्न चेतन-तत्व कोई वस्तु नहीं है, यह भौतिकवाद नरेन्द्र का हृदय किसी प्रकार स्वीकार नहीं करता।

'जैसे ईंट पर ईंट रखकर एक भवन बनाया जाता है, हमारा शरीर भी उसी प्रकार बना है। यह भी एक मकान है। इस मकान की ईंटें हैं कोषिकाएँ। एक युवा स्वस्थ शरीर में लगभग छः सौ खरब कोशिकाएँ होती है।' नरेन्द्र ने शरीर-विज्ञान का यह तथ्य ज्ञात कर लिया है- 'प्रत्येक कोशिका के पास अपना मस्तिष्क - केन्द्र (न्यूक्लियस) होते हैं। केंन्द्रक के अपने ज्ञानसूत्र या गुणसूत्र (क्रोमोसोम) होते हैं और अपने संस्कार कोष (जीन) होते हैं।'

प्रत्येक कोषिका सोच सकती है, यह नरेन्द्र जानता है। उसे पता है कि कुक्कुटाण्डगत भ्रूण को यदि इस सुरक्षा के साथ निष्पेक्षित किया जाय कि कोषिकाएँ नष्ट न हों, केवल उनके क्रम को अस्त-व्यस्त करके पूरे भ्रूण को द्रव बना दिया जाय तो भी क्रिया शीलता के योग्य परिस्थिति मिलने पर कोषिकाएँ अपने सहयोगियों को ढूँढ़ लेती हैं और कुक्कुट-शावक के अवयवों का निर्माण करने लगती हैं। यदि कुछ कोषिकाएँ नष्ट न कर दी गयी हों तो उस निष्पेषित द्रव से भी कुक्कुट की उत्पत्ति में बाधा नहीं पड़ती। केवल कुछ देर लगती है।

"प्रत्येक कोशिका के पास आनुवंशिक संस्कार और अपना मस्तिष्क, तब इनमें से 'मैं' कौन?" नरेन्द्र सोचने लगा है कि - 'जिसे हम जीव कहते हैं, जो इस मनुष्य देह का अभिमानी है, जिसे मनुष्य-देह के प्रारब्ध का भोग करना है और जो इस देह के शुभाशुभ कर्म का उत्तरदायी है, वह कौन है?

× × ×

'बेटा कल की छुट्टी का प्रार्थनापत्र दे आना। कल अपने नये मकान का गृह प्रवेश है। पूजा तुम्हारे हाथ से ही होनी है।' नरेन्द्र के पिता गाँव छोड़कर नगर में आ गये हैं। उन्होंने अब अपना मकान बनवा लिया है। मकान की भूमि नरेन्द्र के नाम से ली गयी है और उसी को गृहप्रवेश का प्रमुख बनना है। पिता ने प्रातः अध्ययन के लिए जाते समय सूचना दे दी कि कल उसे घर पर ही रहना है।

'यह गृह-देवता कौन?' नरेन्द्र के मन में एक प्रश्न और खड़ा हो गया। उसने बड़ी श्रद्धा और सावधानी से पूजन-कर्म सम्पन्न किया था। किंतु क्षेत्रपाल का भाग देते समय उसके मन में जिज्ञासा जाग खड़ी हुई। पूजन-कर्म की समाप्ति पर जब पण्डित जी भोजन करके बैठ गये निश्चिन्त होकर, तब नरेन्द्र ने प्रश्न किया।

'मकान तुम्हारे सामने बना है। सम्मुख न भी बना होता भी तुम जानते हो कि इसे कारीगरों ने कैसे बनाया है।' विद्वान् हैं पण्डित जी। उन्होंने समझाया- 'किंतु तुम्हारा शरीर भी तो तुम्हारे ही सामने प्रतिदिन बन रहा है। जो भोजन थाली में है, वही क्या पेट में जाकर 'मैं' नहीं बनता? तुम्हारे शरीर का कण-कण इसी भोजन से बनता है। इतने पर भी शरीर में तुम हो। देह में जैसे जीव है, गृह में वैसे गृह-देवता है। जड़ पदार्थ का निर्माण भले जड़ द्रव्यों से हुआ हो और हमारे सामने हुआ हो; किंतु जब एक संगठन बन गया, तब उसका अधिष्ठाता चेतन भी होता ही है। गङ्गाजी के जल का प्रत्येक कण जल है; किंतु पूरे प्रवाह की अधिष्ठाता देवता गङ्गा जी हैं।'

'यह जीव क्या है?' नरेन्द्र के सम्मुख फिर वहीं प्रश्न आ गया। ईंटों से भवन के समान कोषिकाओं से शरीर बना। भोजन से कोषिकाओं का पोषण एवं वृद्धि होती है, गृह बना तो गृह-देवता, शरीर बना तो जीव; किंतु जीव है क्या?

'जीव है' - यह नरेन्द्र असंदिग्धरूप से मानता है। अतएव गृहदेवता भी हैं - प्रत्येक वस्तु के अधिष्ठाता देवता हैं। यह मानने-समझने में उसे कठिनाई नहीं होती है। अपने शरीर के मान-अपमान, सेवा-उपेक्षा का जैसे उस पर प्रभाव पड़ता है, व तुष्ट-रुष्ट होता है और शरीर को औरों के अनुकूल-प्रतिकूल बनता है, वैसा ही गृह-देवता भी करते होंगे। यह बात भी नरेन्द्र ठीक समझता है। वह यह भी जानता है कि सेवा-सत्कार का माध्यम शरीर को ही बनाना पड़ेगा किंतु जीव है क्या?

'भैया! तुम तत्व ज्ञान की बात पूछ रहे हो। जीव क्या है? मैं क्या हूँ? यह जान लिया तो परमात्मा को जान लिया। इस आत्मा में ही परमात्मा बैठा है।' पण्डितजी ने सरला पूर्वक कहा- 'मुझे यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि मैं आत्म ज्ञानी नहीं हूँ। तुम्हारी जिज्ञासा सच्ची होगी तो कोई तत्वज्ञ तुम्हें प्राप्त हो जायगा।

जब कोई कह दे कि मैं यह बात नहीं जानता तो चर्चा समाप्त हो जाती है; किंतु चर्चा समाप्त हो जाने से ही जिज्ञासा तो समाप्त नहीं हो जाती। इस प्रश्न का उत्तर प्राप्त कर लेना ही तत्व ज्ञान है, पण्डितजी की इस बात ने नरेन्द्र की जिज्ञासा को और महत्त्व दे दिया था। वैसे भी वह किसी प्रश्न को अभी मांसित छोड़ने का अभ्यासी नहीं है।

'यह तत्त्व ज्ञान-सम्बन्धी प्रश्न है।' पण्डितजी ने नरेन्द्र को एक दिशा दे दी थी। तत्त्वज्ञान-सम्बन्धी प्रश्न का उत्तर कोई तत्त्व ज्ञानी दे सकता है। इस विवेक का फल हुआ कि नरेन्द्र साधुओं की खोज में रहने लगा। वह समय मिलते ही आस-पास के किसी साधु के समीप जा बैठता था। यथा सम्भव कुछ सेवा करता था साधु की। जल ला देता, आश्रम स्वच्छ कर देता और चुपचाप बैठा रहता। कभी-कभी कुछ फल या अन्य आवश्यक सामग्री भी साधु के लिए ले आता था।

नरेन्द्र ने धार्मिक साहित्य का अध्ययन कम नहीं किया है। वह उपनिषदों की उन कथाओं से परिचित है, जिनमें तत्त्व ज्ञान के जिज्ञासु को वर्षों तप करना पड़ा है। महापुरुष प्रसन्न हों और अधिकारी मानें, तब वे तत्त्व ज्ञान का उपदेश करते है। पहुँचे और प्रश्न की तोप दाग दी, इससे कोई लाभ नहीं होता, यह नरेन्द्र की धारणा है।'

× × ×

'बेटा! तुम मेरे पास कई दिनों से आ रहे हो। अच्छे सुशील और सेवा-परायण लगते हो। क्या चाहिए तुम्हें?' एक वृद्ध साधु ने एक दिन नरेन्द्र से पूछा।

'मुझे बहुत दिनों से एक प्रश्न तंग कर रहा है।' नरेन्द्र ने नम्रतापूर्वक अपना प्रश्न बतलाकर प्रार्थना की 'यदि आप अनुग्रह करें।'

'भैया, तुम विज्ञान के विद्यार्थी हो। जानते हो कि इस चट्टान में अग्नि है।' महात्मा ने गम्भीर होकर कहा- 'चट्टान के एक कण को यदि तोड़ दो और तोड़ते ही चले जाओ तो क्या होगा'

'केवल विद्युत रहेगी परमाणु के टूटने पर और ऐसा करने में कितना विनाश होगा, कहा नहीं जा सकता। नरेन्द्र परमाणु-विज्ञान का विद्यार्थी न सही; किंतु उसे इतना सामान्य ज्ञान तो है ही।

'प्रत्येक परमाणु में वह अपरिमित शक्ति स्वयं परमाणु बनी शान्त बैठी है।' महात्मा समझा रहे थे- जब तक परमाणुओं को तोड़ो नहीं, उस शक्ति का पता भी नहीं लगता।'

'अभी थोड़े ही समय से मनुष्य उस शक्ति से परिचित हुआ।' इससे पूर्व तो कल्पना भी नहीं कर सका था कि परमाणुओं में इतनी शक्ति है।' नरेन्द्र ने उत्साहपूर्वक कहा।

'उस शक्ति से भिन्न परमाणु तथा उसके अवयवों की कोई सत्ता नहीं है। किंतु परमाणुओं को तोड़े बिना यदि उसके अवयवों में उस शक्ति को ढूँढ़ा जाय तो उसका पता लगेगा क्या?' महात्मा ने पूछा।

'नहीं लगेगा।' सीधा उत्तर था।

'परमाणु बना। उसके अवयव गठित हुए और वह असीम शक्ति उसमें सुप्त-अदृश्य हो गयी। महात्मा ने कहा- "तुम्हारा जो इस देह के प्रति 'अहं' है, यही उस चेतन शक्ति को अदृश्य करने वाला परमाणु है। इसे तोड़े बिना उस अनन्त चित्-शक्ति का साक्षात्कार सम्भव नहीं है। अतः इस परिच्छन्न 'अहं' को टूटने दो।'

'किन्तु शरीर के कर्मों का भोक्ता जीव? नरेन्द्र ने अपने प्रश्न को फिर दुहराया।

'जीव तो परिछिन्न है और अहं के साथ है। जीव को समझने के लिए अहं का उच्छेद क्यों आवश्यक होना चाहिए?'

'अहं का उच्छेद किये बिना चेतना का स्वरूप समझ में नहीं आता और इसीलिए देहस्थ चेतन का स्वरूप भी तुम समझ नहीं पाते हो।' दो क्षण महात्मा गम्भीर हो गये और फिर उन्होंने कहा- 'इस कुटिया में जो आकाश है, वह सम्पूर्ण आकाश से पृथक् नहीं हैं, वह तुम समझते हो। घड़े को लेकर चलें तो उसके भीतर का आकाश चलेगा या नहीं?'

'नहीं चलेगा।' नरेन्द्र को सोचना नहीं पड़ा। उसने स्थिर स्वर में कहा- 'आकाश चलता नहीं है।'

'किंतु घड़े में भरा धुआँ अथवा घड़े के जल में पड़ता सूर्य का प्रतिबिम्ब?'

'धुआँ या प्रतिलिम्ब चलेंगे; क्योंकि घड़े की मिट्टी के कण धुएँ और जल को अपनी सीमा में रख सके हैं।' नरेन्द्र ने बताया - 'किंतु आकाश इतना सूक्ष्म है मिट्टी के कणों की बाधा उसमें उपस्थित नहीं होती।'

'चेतन तत्व आकाश के समान व्यापक है। जब एक आकार बनता है, तब वह उसके भीतर ही बनता है। जैसे घड़े में आकाश अथवा व्यापक विद्युत में परमाणु।' महात्मा ने समझाया- 'सामान्य चेतना तो सर्वत्र है। वह आधार-स्वरूप है। जैसे व्यापक आकाश या विद्युत सर्वत्र है। घड़े के भीतर जो आकाश आ गया, वह घड़े के भीतर के जल अथवा धुएँ का धारक है। इसी प्रकार देह के भीतर चेतना का जो अंश है, वह देह का धारक है।'

'यह जीव या अधिदेवता है?'

'नहीं, यह तो वासुदेव है ! इसे हृदयस्थ ईश्वर कहते हैं। इसका जो प्रतिबिम्ब चित्त में पड़ा- चेतना का प्रतिबिम्ब होने से उसमें भी चेतना है। जैसे सूर्य के प्रतिबिम्ब में प्रकाश होता है।'

'प्रतिबिम्ब होने से उसमें परिच्छिन्नता, चंचलता भी है।' नरेन्द्र ने स्वतः कहा- 'जिस चित्त में वह प्रतिबिम्बित है, उसके भी कुछ गुण-धर्म उसमें आ गये हैं।'

'यह जीव है। यही अपने को देहाभिमानी मानता है।' महात्मा ने कहा- 'जब भी तुम मकान बनाते हो, उसमें अधिदेवता आ जाता है। यदि तुम जड़ द्रव्य को इतना परिष्कृत कर दो कि वह प्रतिबिम्ब ग्रहण कर सके तो तुम अपनी प्रयोगशाला में जीव बना चुके- यह गर्व ले सकते हो; किंतु जीव-तत्त्व चेतना तो सर्वाधार, सर्वव्यापी है।'

नरेन्द्र ने महात्मा के चरणों में मस्तक रक्खा। आज उसका समाधान हो गया था।

आनन्द-मार्ग

'वत्स! तुम मेरे कुल के नहीं हो।' आचार्य श्रीनिवास ने बड़े स्नेह से कहा- 'जो अधिकारी जिस साधना का है, उसको उसी में लगना चाहिए। हम लोग ऋषि नहीं हैं। सर्वज्ञ ऋषि ही सबको उसके अधिकार के अनुरूप मार्ग प्रदान कर सकते थे। हम तो केवल वह मार्ग जानते हैं, जो हमारा मार्ग रहा है; किंतु सबके लिए वही मार्ग तो उपुयक्त नहीं है।'

किसी भी प्रकार से अपने शिष्यों की संख्या वृद्धि का आज जैसा अन्ध प्रयत्न उस समय किसी महापुरुष को अभीष्ट नहीं था। परमार्थ का जिज्ञासु यदि अपने मार्ग का - अपने सम्प्रदाय का अधिकारी नहीं हो उसे दीक्षा नहीं दी जाती थी। 'जीव का कल्याण इसी मार्ग से होता है' ऐसी संकीर्णतापूर्ण मान्यता महापुरुषों में हुआ नहीं करती।

'निराश होने की कोई बात नहीं है। भगवान् नारायण अनन्त दयार्णव हैं। कोई अधिकारी अपने अधिकार से वञ्चित रहे, यह उनके राज्य में सम्भव नहीं।' श्रीआचार्य ने आश्वासन दिया- 'तुम्हें गुरु की प्राप्ति अवश्य होगी। योग्य अधिकारी को गुरु ढूँढ़ना नहीं पड़ता। गुरु उसे स्वयं ढूँढ़ लेते हैं।'

आचार्य श्रीनिवास प्रकाण्ड विद्वान् हैं। उनकी विपुल ख्याति है। उसके विरक्त-गृहस्थ शिष्यों की संख्या भी कम नहीं है। गिरिधरलाल ने कई वर्ष से यह सङ्कल्प कर रक्खा था कि वह आचार्य की शरण ग्रहण करेगा। सौभाग्य से आचार्य आये थे इधर। वह कितनी उत्सुकता से इस दिन की प्रतीक्षा कर रहा था; किंतु आचार्य ने उसे स्वीकार नहीं किया।

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः। सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः।

'विवेक मुख्य साधन है हमारे सम्प्रदाय का और विवेक का अर्थ है भोजन के शुद्धाशुद्ध का विवेक।' आचार्य ने समझाया- 'प्रपत्ति की परिपक्वता के लिए चित्त शुद्ध होना चाहिए। अन्न की शुद्धि से चित्त की शुद्धि हमारे साधन का मुख्य आधार है। जितना सम्भव हो, इसको अपनाओगे तो तुम्हें लाभ ही होगा।'

अन्न की शुद्धि – अन्नमय कोष की, स्थूल देह की शुद्धि प्रथम आवश्यक है, इसे कोई कैसे अस्वीकार कर देगा; किंतु आज यह असम्भव प्राय बात है। अन्न शाक जिस भूमि में, जिस खाद से उत्पन्न होते हैं, आहार के पदार्थों का जो भ्रष्ट, मिश्रित रूप उपलब्ध होता है बाजार में- कोई कहाँ तक सावधानी रक्खेगा। अपवादरूप किन्हीं अतिशय सम्पन्न सज्जन के लिए भले सम्भव हो यह, सामान्य साधक के वश की तो बात नहीं है।

आहार में स्वरूपदोष सङ्गदोष और अर्थदोष न हो, यह बात उस समय भी गिरिधरलाल को बहुत सरल नहीं लगी थी। आज की स्थिति तो जैसी है – प्रत्यक्ष ही है।

× × ×

'वत्स ! तुम हमारे कुल के नहीं हो।' गिरिधरलाल गये थे योगिराज अनन्त शम्भु की शरण लेने; किंतु वहाँ भी उन्हें उत्तर मिला – 'प्राण की शुद्धि से चित्त की शुद्धि हमारा साधन है। सामान्य प्राणायाम करोगे तो लाभ होगा तुम्हें; किंतु हठयोग की निर्विकल्प समाधि के लिए जितना प्राणायाम, जो मुद्राएँ आवश्यक हैं, उनका खिंचाव सहन करने योग्य तुम्हारा शरीर नहीं है।'

'क्रिया की शुद्धि से चित्त की शुद्धि होती है। अपने को आग्रह पूर्वक सत्कर्म में लगाये रक्खों। इससे अन्नदोष तुम्हें प्रभावित नहीं कर सकेगा। योग की क्रियाओं का थोड़ा अभ्यास मनोबल देगा।' योगिराज ने समझाया–'लेकिन परमार्थ-साधन का तुम्हारा अपना मार्ग यह नहीं है। समय आने दो, उपयुक्त गुरु की उपलब्धि अवश्य तुम्हें होगी।'

प्राण के संयम से अथवा क्रिया की शुद्धि से – तात्पर्य यह कि प्राणायाम कोष की शुद्धि से चित्त की शुद्धि होती है, बात सर्वथा उचित है; किंतु बुद्धि जिसे उचित कहती है, क्या हम वहीं करने में सफल हो पाते हैं? मन की पराधीनता से छुटकारा पा लेना यदि तुम इतना सुगम होता........

धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्।

हमारी बुद्धि सदा ठीक ही निर्णय करती है, ऐसा भी तो नहीं है। गिरिधरलाल को भी लगा कि यह उसका मार्ग नहीं है। वह प्राणायाम तथा मुद्राओं का व्यायाम-क्रम नहीं चला सकेगा। क्रिया की शुद्धि के लिए सावधान रहेगा। सफल कितना होगा, वह स्वयं नहीं जानता।

× × ×

'भावना शुद्ध रहे तो क्रिया शुद्ध होती है। भावना की शुद्धि से प्राणमयकोष की

शुद्धि हो जाती है और अन्नमयकोष भी शुद्ध हो जाता है। अन्नदोष अधिक बाधा नहीं देते।' गिरिधरलाल गये थे महात्मा श्रीसीतारामशरण जी के समीप। महात्माजी ने बड़ी मधुर वाणी में उन्हें समझाया- 'भगवान् के रूप, गुण, लीला के चिन्तन की भावना का अभ्यास करो। मानसिक पूजा को अपना दैनिक कार्य बना लो और प्रतिकूल भावना से मन को प्रयत्न पूर्वक हटाते रहो। संसार के व्यक्ति तथा पदार्थों का चिन्तन मन को मत करने दो। मन को राग और द्वेष के प्रवाह से दूर रक्खो। दया, क्षमा, सेवा के भावों को मन में बसने दो।'

गिरिधरलाल को महात्माजी ने आदेश दिया था- 'कुछ दिन अभ्यास करके तब हमारे पास आना।'

'महात्माजी अतिशय विनम्र हैं।' गिरिधरलाल सोचते हैं- 'इसीलिए उन्होंने स्पष्ट नहीं कहा है कि तुम हमारे शिष्य होने के अधिकारी नहीं हो।'

गिरिधरलाल के ऐसा सोचने का कारण है। वह प्रयत्न करके हार गया है। पूरे तीन महीने उसने चेष्टा की है। मन कोई अपने हाथ में है कि जो चाहेंगे, वह सोचा जा सकेगा। दो क्षण तो वह अभीष्ट-चिन्तन में लगता नहीं। सोचना चाहते हैं कुछ, और मन सोचता कुछ है। निष्प्रयोजन बिना सिर-पैर की बातें मन में आती रहती हैं; किंतु मानसिक पूजा नहीं चल पाती।

मनोमयकोष की शुद्धि से चित्त की शुद्धि मन ही तो चित्त है। मन शुद्ध हो जाय, भावना शुद्ध होने लगे- गिरिधर को लगता है कि यही साध्य है। प्रारम्भ में ही यह साधन बन जाय, यह उसे अपने वश की बात नहीं लगती है। अतएव महात्मा श्रीसीतारामशरणजी के समीप जाने का उत्साह भी वह अपने में नहीं पाता है।

× × ×

'बुद्धौ शरणमन्विच्छ' - स्वामी आत्मानन्दजी का प्रवचन चल रहा था- तुम नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त अद्वितीय सच्चिदानन्द हो। बुद्धि की शरण-ग्रहण करो। यह समस्त प्रपञ्च तुम्हारी दृष्टिमात्र है।'

गिरिधरलाल ने स्वामीजी की बहुत प्रशंसा सुनी है। स्वामीजी में उसकी श्रद्धा है। आज वह उनके सत्संग में पहली बार नहीं आया है। वह नित्य भले न आता हो, आता है। स्वामीजी के लिये फल ले आता है। संत-सेवा में उसकी प्रीति है। किंतु स्वामीजी इतने बड़े विद्वान् हैं और इतनी ऊँची बात कहते हैं कि उसके पल्ले कुछ पड़ता नहीं है।

शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान इस षट्सम्पत्ति से सम्पन्न, जितेन्द्रिय, विरक्त, एकाग्रचित्त साधक जब साधन-चतुष्टय का आश्रय लेता है- विवेक, वैराग्य से सम्पन्न होने पर जब उसमें मुमुक्षा जागती है, तब गुरुपसत्ति से

श्रवण किया हुआ तत्त्व अन्तःकण में मनन के द्वारा उद्भासित होता है और निदिध्यास अविद्या को निवृत्त करने में सफल होता है।

षटसम्पत्ति जीवन में आयी नहीं, साधन-चतुष्टय सम्यक् अपनाये नहीं गये तो श्रवण किया हुआ तत्त्व केवल बौद्धिक ज्ञान बनकर रह जाता है और यह भी तब होता है, जब बुद्धि तीक्ष्ण हो। गिरिधरलाल कभी तार्किक नहीं रहे हैं। वे बाल्यकाल से भावुक व्यक्ति हैं। अतएव वेदान्त का उपदेश उनको अनुकूल नहीं पड़ता है।

विज्ञानमयकोष की शुद्धि से - ज्ञान की शुद्धि से अन्तःकरण की शुद्धि पर स्वामी आत्मानन्दजी बल देते हैं। वे कहते हैं -'तुम एक अन्तःकरण करने वाले नहीं हो। मरने दो एक अन्तःकरण को। जैसे मच्छर, मक्खी, कुत्ते, सूअर का अन्तःकरण है, वैसे ही यह भी एक अन्तःकरण है। इसकी उपेक्षा कर दो। तुममें अन्तःकरण एक भ्रान्त प्रतीति है।'

अन्तःकरण की उपेक्षा कर दी जाय तो वह स्वतः शान्त-समाहित हो जायगा। तादात्मय के बिना तो चित्त में क्रिया होगी ही नहीं। किंतु चित्त से तादात्म्य न किया जाय, उसकी उपेक्षा कर दी जाय, यह बात क्या बहुत सरल लगती है आपको?

गिरिधरलाल का कहना है कि - 'चित्त को लेकर ही तो साधना मार्ग में चलने की बात उठी थी। दुःख चित्त को ही होता है। दुःख न हो, जन्म-मृत्यु न हो- यही अध्यात्म का उद्देश्य है और ये चित्त के ही होते हैं। अतएव चित्त के ये हों या न हों, यह कहना कैसे बनेगा।'

गिरिधरलाल यह नहीं समझ पाते हैं कि चित्त के दुःख तथा जन्म-मृत्यु को मिटाने का साधन चित्त की उपेक्षा कर देना है। चित्त में 'अहंता' का त्याग करो तो चित्त जड़ हो जायगा। वह तो अहं के तादात्म्य से ही एक भयङ्कर भूत बना डरा रहा है। किंतु गिरिधरलाल की प्रज्ञा इतनी परिमार्जित नहीं है।

'मैं इस कुल का भी नहीं हूँ।' यह बात स्वयं गिरिधरलाल ने निश्चित की है। स्वामी आत्मानन्दजी ने उनसे यह बात कहीं नहीं। कहने का प्रसंग ही उपस्थित नहीं हुआ।

× × ×

'अरे इधर तो आ!' गिरधरलाल निकले थे तीर्थयात्रा करने। वैसे भी वे इस प्रकार वर्ष में कई बार पुण्य स्थलों की यात्रा कर आते हैं। पंढरपुर, डाकोरजी, वृन्दावन यदि वर्ष में एक बार न जायँ तो उन्हें बेचैनी होती है। इस बार तो चित्त बहुत अशान्त था उनका, अतः घर से निकल पड़े थे। मथुरा में विश्राम घाट पर स्नान करके सन्ध्या की उन्होंने और जब चलने को हुए तो देखा कि दूर सीढ़ियों के ऊपर बैठा एक फक्कड़ उन्हें पुकार रहा है।

'मैं तेरे लिये आकर बैठा हूँ और तू देखता तक नहीं।' लंबी-दुबली देह, उलझे रूखे केश, कमर में मैली-सी लँगोटी और पूरे शरीर में लिपटी बृजरज। उस अवधूत का रंग गोरा या साँवला, यह कहना भी कठिन था। कोई चिह्न नहीं, जिससे उसका सम्प्रदाय जाना जा सके।

'बैठ यहाँ!' गिरिधरलाल ने समीप जाकर प्रणाम किया तो अवधूत ने उन्हें समीप ही सीढ़ी पर बैठने का आदेश किया। 'तू भटकता कहाँ है? मेरे कुल का है तू?'

'प्रभो!' गिरिधरलाल सहसा भाव क्षुब्ध हो उठे। 'वत्स! तुम मेरे कुल के नहीं हो।' सभी महापुरुषों से यह सुनते-सुनते वे निराश हो गये थे। एक संत ने उन्हें अपने कुल का कहा तो सही।

'आनन्द की शुद्धि कर! आनन्द का आश्रय ले!' फक्कड़ खुलकर हँस पड़े।

गिरिधरलाल के नेत्र अश्रुपूर्ण थे। हाथ उन्होंने जोड़ रक्खे थे। किंतु उनकी भङ्गिमा से स्पष्ट था कि अभी महात्मा की बात उन्होंने समझी नहीं है।

'देख, रोटी खाये बिना काम तो मेरा भी नहीं चलता।' अवधूत हँसते जाते थे और कहते जाते थे- 'कौन कैसे कमाता है, उसके घर का चूल्हा और बर्तन कैसा है, साधु यह सब पूछकर भिक्षा नहीं लिया करता। भिक्षा में मिला अन्न साधु के लिए पवित्र है। इस अन्नशुद्धि को समझता है तू?'

'ठीक-ठीक तो नहीं समझता।' गिधिरलाल ने धीरे से कहा।

'सीधी बात है, पेट भरने के लिए जीवन-निर्वाह मात्र के लिए भोजन करो, अन्न में स्वाद मत लो। आनन्द के लिए भोजन मत करो तो अन्न शुद्ध!' अवधूत फिर ठहाका लगाकर हँसे- 'आहार-शुद्धि हो गयी, केवल आहार से आनन्द लेना बंद कर दो। आहार में आनन्द लो; किंतु स्वाद का आनन्द नहीं, वह प्रसाद है- श्रीकृष्णचन्द्र का, इसका आनन्द लो तो आहार की परम शुद्धि हो गयी।'

गिरधरलाल के नेत्र चमक उठे। आहार-शुद्धि इतनी सरल होगी, यह तो बात ही कभी उनकी ध्यान में नहीं आयी थी।

'नाक पकड़कर बैठने की आवश्यकता नहीं है।' अवधूत का स्वभाव बार-बार हँसना था, सो वे हँस रहे थे। क्रिया आवश्यक है, इसलिए करो। आनन्द पाने के लिए क्रिया मत करो। क्रिया में आनन्द मत लो, इसमें आनन्द लो कि तुम श्यामसुन्दर के लिए क्रिया करते हो। प्राणमय-कोष की शुद्धि इतनी ही है।'

'भावना के द्वारा मनोमय कोष की शुद्धि से प्राणमयकोष एवं अन्नमयकोष की शुद्धि का स्वरुप आज समझा।' गिरिधरलाल ने कहा नहीं, केवल सोचा मन में।

'मन के पीछे लाठी लेकर मत पड़ो।' अवधूत ने इस बार चोंका दिया- 'उसे अपनी उधेड़-बुन करने दो। केवल इतना ध्यान रक्खो कि मनोराज्य में, मन की

कल्पनाओं में तुम्हें आनन्द नहीं लेना है। आनन्द तुम लोग केवल तब, जब तुम्हारा मन नन्दनन्दन के विषय में चिन्तन करेगा। तुम्हारे रस लिए बिना वह भटकता है तो भटका करे। आनन्द को पृथक करो और मनोमयकोष शुद्ध हुआ धरा है।'

'तनिक कठिन बात है; किंतु बहुत कठिन नहीं लगती।' गिरिधरलाल सोचने लगे– 'अन्ततः कुछ अभ्यास तो साधन मार्ग में करना ही होगा।

'बुद्धि के विचारों में भी आनन्द मत लो!' अवधूत ने आगे समझाया– 'नया ज्ञान, नवीन उद्भावना बुद्धि के नये चमत्कार– इनमें भी आनन्द मानना बंद करो। बुद्धि जब तक कोई नया प्रकाश श्रीकृष्ण के रूप, गुण, लीला के विषय में न दे, दूसरे किसी विषय में चाहे जितना अद्भुत ज्ञान मिले, उसे नीरस बन जाने दो। विज्ञानमय कोष इस प्रकार शुद्ध हो जायगा।'

'तुम्हारा मार्ग आनन्द मार्ग है। दुःखी मत हो। चिन्ता मत करो। खिन्न मत हो।' अवधूत दृढ़ स्वर में इस बार कह रहे थे– 'हँसना सीख लो और उद्धार हो गया, चिन्ता दुःख आवें तो ठहाका लगाकर हँसो। चञ्चल कन्हाई तुम्हें छकाना चाहता है। वह तुम्हारा मुख गम्भीर फूला हुआ देखकर हँसना चाहता है। उसके खिले हँसते मुख की बात सोचो।'

'लेकिन भगवान्!' गिरधरलाल ने बीच में ही प्रार्थना की– 'मन में विकार भी तो आते हैं।'

'तब कन्हाई कहीं पास ही होता है। वह नटखटपन पर उतर आया है और छकाना चाहता है।' अवधूत हँस– 'वह पेट पकड़कर हँसते-हँसते दुहरा हुआ जाता है और तुम बुद्धू बन रहे हो। ऐसे समय अधिक जोर से हँसो और फिर देखो कि विकार का कैसा कचूमर बनता है।'

गिरधरलाल ने मस्तक भूमि पर रक्खा। जब उन्होंने सिर उठाया, अवधूत उछलते-कूदते किलकते एक ओर भागे जा रहे थे।

मैं श्राद्ध करूँगा

'पिताजी आज बहुत प्रसन्न दीखते हैं आप?'

'मेरा पौत्र आज मुझे उपहार देने में जुटा है।'

'अच्छा, तो धूलि की मुट्ठी तू पिताजी को दे रहा है?' नन्हें बच्चे की ओर प्रसन्न भाव से उसके युवा पिता ने देखा। तुझे देने के लिए और कोई भली वस्तु नहीं मिली!'

'वह कुछ दे तो रहा है।' वृद्ध अपने पौत्र के द्वारा मुट्ठी भरकर दी गयी धूलि को हाथ पर बड़े उल्लास से ले रहे थे। बच्चा अपने पितामह को धूलि देकर खूब प्रसन्न हो रहा था। 'जो वह दे सकता है, दे रहा है। किंतु तुम तो अपने पिता को मरने पर तिल-जल भी देने की राजी नहीं हो।'

'मैं जीवित पिताकी सेवा में ही विश्वास करता हूँ।' युवक गम्भीर हो गया। वह सुधारवादी है और उसका श्राद्ध, मूर्ति के द्वारा भगवत्पूजा आदि में विश्वास नहीं है। वह जानता है कि उसके इस विचार से उसके वृद्ध पिता दुखी रहते हैं; किंतु मनुष्य की आस्था तो अपनी होती है। पिता मन्दिर जाते हैं, घर में पूजा करते हैं। अभी तीर्थयात्रा पर गये थे। वह उनकी आस्था में बाधा नहीं बनता; किंतु अपनी आस्था भी वह छोड़ने की प्रस्तुत नहीं है और न पिता को कोई झूठा आश्वासन ही देना चाहता है।

'पतन्ति पितरो हयेषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः।'

'पिता इस गीता के वचन को पता नहीं क्यों पकड़े बैठे हैं। गीता में उसकी आस्था है; किंतु गीता के कुछ स्थल उसको ठीक नहीं लगते। वह आर्य समाज की शैली से गीता को समझता है। फिर यह बचन तो श्रीकृष्ण का नहीं है। क्या हुआ कि श्रीकृष्णने इसका खण्डन नहीं किया। बचन तो यह अर्जुन का है और अर्जुन उस समय मोहग्रस्त था।

अनेक बार पिता इस प्रसङ्ग को उठाते हैं। आज भी उन्होंने यही प्रसङ्ग उठा लिया। मनुष्य का उत्थान-पतन, उसकी उच्च या अधोगति अपने कर्मों से होती है। पुत्र के दिये पिण्ड के बिना पिता को अधोगति होगी, यह ठीक बात नहीं है।

पिता जानते हैं कि उनका पुत्र हठी है। अतः बात उन्होंने आगे बढ़ायी नहीं।

× × ×

'पिता के ही रक्त-मांस से पुत्री का भी निर्माण होता है। पुत्र और पुत्री समान है। पिता की सम्पत्ति में दोनों का अधिकार समान होना चाहिए। यह तर्क भोगवादियों का है।' उस दिन हिंदू-उत्तराधिकार-बिल के विरोध में जो सभा हो ही थी, उसमें एक विद्वान् वक्ता कह रहे थे।

'हिंदू धर्म में भोगवादी नहीं है। हम मानते हैं कि जो उपार्जन करे, उसी का उस उपार्जित सम्पत्ति में अधिकार है। दूसरे किसी का उस सम्पत्ति पर कोई अधिकार नहीं है। फिर वह उसका पुत्र हो, पुत्री हो या और कोई हो।' वक्ता ने अपनी बात आगे बढ़ायी।

'हिंदू-उत्तराधिकार-बिल' का वह समर्थक नहीं है; किंतु उसके विरोध के आधार भिन्न हैं। वक्ता की बात ने उसे चौका दिया। जो उपार्जित करे, सम्पत्ति उसकी, यह बात उसे सर्वथा उचित और तर्कसङ्गत लगी।

'आप किसी को कुछ रूपये दे दें और उनसे वह कोई दुष्कर्म करे, उसके दुष्कर्म में आपकी आर्थिक सहायता आपको पाप का भागी बनायेगी या नहीं?' वक्ता ने प्रश्न किया।

'निश्चय बनायेगी।' वह आवेश में बोल उठा।

'पिता जब अपना उपार्जन पुत्र के लिए छोड़ जाता है, पुत्र उसका सदुपयोग या दुरुपयोग करेगा तो पुत्र के कर्मों का भाग पिता को मिलेगा ही।' वक्ता की बात अस्वीकार नहीं की जा सकती थी। वे कह रहे थे- 'पुत्री उस धन का उपयोग करने में स्वतंत्र रह नहीं सकती। उसे तो अपने पति का अनुगमन करना है। उसका पति जैसे चाहेगा, वैसे धन का उपयोग करेगा। जबकि धन के उपार्जनकर्त्ता को अपने अनुकूल संस्कारों से संस्कृत करने का कोई अवकाश जामाता के लिए मिला नहीं है।'

'सीधी बात है, पैतृक सम्पत्ति पुत्र को केवल उपभोग के लिए नहीं मिलती। वह मिलती है श्राद्ध-परम्परा बनाये रखने के लिए।' वक्ता ने वक्तव्य समाप्त करते हुए कहा- 'पैतृक सम्पत्ति मिलनी न पुत्र की उपभोग्य है, न पुत्री की। पैतृक ऋण को देकर जो बचे, वह है तर्पण-श्राद्ध को बनाये रखने के लिए। अत: जो श्राद्ध के अधिकारी नहीं हैं, उन्हें वह सम्पत्ति मिलनी चाहिए- यह तर्क ही सम्पत्ति के उत्तराधिकार-उद्देश्य के विपरीत है।'

उस दिन वह सभा से गम्भीर चित्त घर आया था। जबसे 'हिंदू-उत्तराधिकार-बिल' का प्रश्न उठा है, उसने इस पर बहुत विचार किया है। याज्ञवल्क्य-स्मृति का दायभाग उसका पढ़ा हुआ है। याज्ञवल्क्य के निर्माण का मूलाधार ही यह है कि श्राद्ध का किसके न रहने पर कौन उत्तराधिकारी होता है।

'पिता की इच्छापूर्ति नहीं करता है तो पिता की उपार्जित सम्पत्ति के उपभोग का तुम्हें क्या अधिकार है?' यह प्रश्न सीधा उसे हदय में उठा। वह सदाचारी है, संयमी है, और लोग उसे ईमानदार समझते हैं। अपने साथ ही वह कैसे बेईमान बन सकता है।

'श्राद्ध?' किन्तु श्राद्ध की बात उसकी समझ में आती नहीं है। बहुत उलझनें लिये उस दिन बड़ी कठिनाई से वह सो सका।

× × ×

'भगवन् हमारे, वंशधर तो अकृतज्ञ, हीनसत्त्व, अश्रद्धालु निकल गये।' क्षीणकाय, दीनवदन, वाष्पपूरित-लोचन कुछ पुरुष थे। उनका देह अद्‌भुत था। श्वेतवर्ण मेघों से ही जैसे उनके सर्वाङ्ग निर्मित हों। वे एक सशक्त, सत्ताधारी, मणिभूषणभूषित तेजोदेह पुरुष के सम्मुख वद्धाञ्जलि खड़े थे।

अद्‌भुत दृश्य था। वहाँ न घर थे, न नगर। कोई वृक्ष, लता भी दृष्टि में नहीं आती थी। केवल मेघदेह व्यक्तियों का समूह था वहाँ और जैसे वे शून्य में ही स्थिर हों। उनमें कुछ सुपुष्टकाय, प्रसन्नवदन भी थे; किंतु अधिकांश दुर्बल थे और दुखी लगते थे।

'आप सब जानते हैं कि अर्यमा को अपनी ओर से कुछ करने का अधिकार नहीं है।' वे सत्ताधारी बोले- 'मैं केवल काव्य को (श्राद्ध के भाग को) उचित अधिकारी तक पहुँचा मात्र सकता हूँ। मुझे स्वयं दुःख है कि मेरे पितृलोक के निवासी पृथ्वी की श्रद्धा से वंचित होकर क्षीणकाय होते जा रहे हैं और और यह लोक निरन्तर निर्जनता की ओर बढ़ रहा है।'

'अभी धरा पर कुछ श्रद्धा शेष है। कुछ लोग श्राद्ध करते हैं। यद्यपि उसका भी अधिकांश विधिच्युत होने से व्यर्थ जाता है, फिर भी कुछ सफल होता है।' वे क्षीणकाय कह रहे थे- 'उसमें कुलोच्छिन्न, श्राद्ध-वर्जित हम-जैसों के लिए भी एक अञ्जलि जल, एक पिण्ड होता है और अब हम सबका आधार वही रहा है; किंतु वह विनाशोन्मुख है। यदि.....।'

'आप जानते हैं कि यहाँ पाथेयवर्जित प्रतीक्षा सम्भव नहीं है।' अर्यमा ने खिन्न स्वर में कहा - 'मरणोत्तर-क्रिया अपूर्ण रहने पर प्राणी प्रेतयोनि में रहता है और श्राद्धवर्जित पितर भी तब तक प्रेतयोनि पाता है, जब तक उसके अपने कर्म फलोन्मुख न हों। उन कर्मों का जिन प्राणियों से सम्बन्ध है, वे भी प्राणी सुख-दुःख, संयोग-वियोग देने की अनुकूल अवस्था में न आ जायँ। कव्ययुक्त प्रतीक्षा पितृलोक में और कव्यवर्जित प्रतीक्षा-यातना प्रेतलोक में चलती है।'

अर्यमा की बात वज्राघात ही थी उन दुर्बल देह लोगों के लिए। उनमें एक अद्‌भुत आर्तनाद फैला- इतना अद्‌भुत और व्यापक कि वह किसी के लिए असह्य था। सहसा उसकी निद्रा भङ्ग हो गयी। उसने पाया कि वह लगभग पसीने से भींग चुका है।

× × ×

'तुमने स्वप्न में सचमुच पितृलोक के ही दर्शन किये हैं।' दूसरे दिन जब वह एक साधु के पास गया और उन्हें उसने अपने स्वप्न की बात सुना दी, तब वे बोले- 'स्वप्न में तुमने जो देखा-सुना है, शास्त्र उसे तथ्य स्वीकार करता है।'

ये महात्मा हैं तो सनातन धर्मी; किंतु इनमें उसकी श्रद्धा है। ये उसे बहुत उदार, विवेकशील, विद्वान् और अपने शुभ-चिन्तक लगते हैं। जब भी उसे कोई मानसिक उलझन होती है, प्रायः इनसे वह सम्मति लेना पसन्द करता है; क्योंकि अपने सहयोगियों में तो वह स्वयं सबसे अधिक अध्ययन सम्पन्न है।

'श्राद्ध मृत प्राणी को प्राप्त होता है?' उसने सीधा ही प्रश्न किया।

'जीवित प्राणी को क्या प्राप्त होता है, यही बात तुम पहले सोचो।' महात्मा ने कहा- 'तुम्हारा पेट तो रोटी और आम दोनों से भर सकता है; किंतु तुम्हारी इच्छा आम खाने की हो तो वह रोटी खाने से पूरी तो नहीं होगी।'

'मैं आपका तात्पर्य समझ नहीं सका।' उसने अपनी उत्सुकता व्यक्त की।

'मैं यह बता रहा हूँ कि भूख और लालसा दो भिन्न वस्तु हैं। भूखे को स्थूल भोज्य पदार्थ चाहिए। लालसा-वाले की तृप्ति पेट की तृप्ति नहीं है, मन की तृप्ति है।' महात्मा ने समझाया- 'मृत प्राणी के पास स्थूल देह नहीं होता, इसलिए उसे स्थूल भूख नहीं लगती। स्थूल पदार्थ सीधे उसे मिले, इसकी उसे कोई आवश्यकता नहीं है। किंतु सूक्ष्म शरीर- मन उसके पास होता है। इसलिए लालसा उसमें होती है। उसकी लालसा तृप्त न हो तो वह क्षुधातर के समान दुखी रहता है और क्षीण होता है। इसलिए उसकी लालसा तृप्त करने का उपाय होना चाहिए।'

वह चुपचाप सुनता रहा। महात्मा ने भी उसे कुछ मिनट दिये सोचने-समझने के लिए और तब बोले- 'जब तुम्हारे पास स्थूल देह है, तुम्हें आम खिलाकर तुम्हारी लालसा दूर कर दी जाय- यह सीधा उपाय है। आम का कोई अंश तब भी तुम्हारे सूक्ष्म देह को नहीं मिलता। मिलता तो वह स्थूलदेह को ही है। सूक्ष्म देह को केवल सन्तोष मिलता है कि हमने आम खा लिया, किंतु स्थूल आम का उत्सर्ग किये बिना यह सन्तोष करा देने का उपाय नहीं है।'

'इसलिए ब्राह्मण को प्रतिनिधि बनाकर उसे भोजन कराके या कुश पर पिण्ड देकर सूक्ष्म देही पितर की लालसा तुष्ट करने का प्रयत्न किया जाता है।' उसने स्वयं यह बात कही- 'उपाय तो ठीक है। प्रतिनिधि के मानापमान से पूरा राष्ट्र अपना मानापमान मानकर तुष्ट या रुष्ट होता है, यह तो प्रत्यक्ष सत्य है; किन्तु भोजन ब्राह्मण को ही क्यों?'

'भूखे दरिद्र को क्यों नहीं! यह भी कह जाओ।' महात्मा ने हँसते हुए कहा- 'भूखों को, दरिद्रों को भोजन कराने का निषेध नहीं है। किंतु श्राद्ध है श्रद्धा पर

आधारित। पितर हमको-तुमको दीखते नहीं हैं। उनका प्रतिनिधि कौन बन सकता है? किसी प्रतिनिधि बनाने पर उससे वे तादात्म्य कर सकेंगे, यह बात शास्त्रैकगम्य है। श्राद्ध के लिए सभी ब्राह्मण भी उपयुक्त नहीं होते। उनमें भी उचित पात्र ढूँढ़ना पड़ता है। इसीलिए श्राद्ध में अधिक लोगों को भोजन कराने का निषेध है। एक, तीन या अधिक-से-अधिक पाँच, बस। पीछे चाहे पूरी जाति या नगर को ही खिला दो; किंतु श्राद्धाङ्ग रूप में संख्या बढ़नी नहीं चाहिए।'

'आज आज्ञा दें। मेरे पिता बीमार हैं दो दिन से, और इस समय उन्हें आश्वासन देना आवश्यक है।' उसने महात्मा को प्रणाम करके अनुमति ली।

× × ×

'पिताजी! आप मेरे अब तक के दुराग्रह को क्षमा करें।' घर आकर उसने सीधे पिता के चरणों में मस्तक रख दिया। रुग्ण पिता ने खींचकर उसका मस्तक अपने वक्ष से लगाया। वह कह रहा था- 'मैं श्राद्ध करूँगा। मुझे अपनी भूल ज्ञात हो गयी।'

'मेरे बच्चे!' पिता का कण्ठ भर आया। उनके नेत्रों से अश्रुके बिन्दु टपके। लगा कि उनके हृदय पर जो एक आशङ्का का भारी पत्थर धरा रहता था, भाप बनकर उड़ गया है।

'मैं विधिपूर्वक श्राद्ध करूँगा।' वह दृढ निश्चयी है और अध्ययनशील है। जब एक बार उसने निश्चय कर लिया, कोई मिथ्या सङ्कोच उसे बाधा नहीं पहुँचा सकता। 'आप स्वस्थ हो जायें और अभी खूब अधिक दिनों तक मुझे अपना स्नेह देते रहें। किंतु इस ओर से निश्चिन्त रहें। मैं यहाँ श्राद्ध करूँगा और गया जाकर भी श्राद्ध करूँगा। आपने ही तो एक बार मुझे बतलाया है कि गया जाकर पिण्ड दान कर देने से पितरों की अक्षय तृप्ति हो जाती है। मेरे पितर कव्यवर्जित होकर पितृलोक से न गिरें, यह अक्षय व्यवस्था मैं अपने जीवन में ही करूँगा।'

❑❑

कुबुद्धि

सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता परो ददातीति कुबिद्धिरेषा।

वह कौन है, कहाँ का है, कैसे आया है और क्यों आया है इस दुर्गम प्रदेश में – कोई नहीं जानता। सच तो यह है कि इस याक तथा भेड़ों के झुंड चराते, इधर-उधर तम्बू लगाकर दस-बीस दिन रुकते हुए घूमने वाले तिब्बती लोगों के पास उसका परिचय जानने का कोई साधन भी नहीं है। वह उनकी भाषा नहीं जानता और वे लोग उसकी गिटपिट समझ नहीं पाते।

तीन-चार दिन के अंतर से वह उनके पास आता है। एक ही क्रम है उसका चुपचाप सोने का एक सिक्का फेंक देगा तम्बूवालों के सामने और अपना विचित्र बर्तन रख देगा। उसे ढ़ेर-सा मक्खन, दूध और दही चाहिए और कुछ सत्तू भी। उसकी अभीष्ट वस्तुएँ सरलता से मिल जाती हैं। एक बार किसी तंबूवाले ने चमड़े, चँवर तथा माँस सामने लाकर रख दिया – कदाचित् इन वस्तुओं का भी वह ग्राहक बने; किंतु उसने अपनी भाव-भङ्गी से प्रकट कर दिया कि उसे यह सब नहीं चाहिये।

तिब्बत की सर्दी में दूध-दही महीनों खराब नहीं हुआ करते। वह खरीदे मक्खन, दूध, आदि उठा लेता है और चुपचाप चला जाता है- चला जाता है दुर्गम पहाड़ों की ओर, उन पहाड़ों की ओर जिधर जाने में ये पर्वतीय लोग भी हिचकते हैं।

सुना है वहाँ बहुत दूर किसी हिमाच्छादित गुफा में एक कोई पुराना भारतीय 'लामा' रहता है। बड़ा सिद्ध लामा (योगी) है वह। अवश्य यह गोरा साहब उसी के पास रहता होगा।

तिब्बत के इन सुदृढ़काय श्रद्धालुजनों में इस गोरे साहब के लिए सम्मान का भाव उत्पन्न हो गया है। ऊनी पतलून, ओवरकोट, टोप आदि पहिने उनके बीच सप्ताह में एक बार आने वाला यह साहब उसके सम्बन्ध में बहुत कुतूहल है इनके मन में। किंतु कोई साधन नहीं साहब से कुछ जानने का।

हिम की शीतलता से उसका मुख, उसके हाथ झुलसकर काले-से पड़ गये हैं- यह तो स्वाभाविक बात है; किंतु उसका एक कान नुचा-कटा है। आधी नासिका है ही

नहीं। एक नेत्र इस प्रकार फटा है जैसे किसी ने नोच लिया हो। कपोल दोनों कटे-फटे हैं और मुख में सामने के दाँत है ही नहीं।

'वह अवश्य कभी रीछ से भिड़ गया होगा।' इन पर्वतीयों के जीवन की जो सामान्य घटना है, उसी की कल्पना की गोरे साहब की आकृति को देखकर इन्होंने 'रीछ ने उसे नोचा-खसोटा और लड़ाई में पहाड़ से वह लुढ़क गया नीचे। दाँत पत्थर की चोट से टूट गये; किंतु रीछ से उसके प्राण बच गये।' अपनी कल्पना को उन्होंने घटना मान लिया है और गोरे साहब के इस साहस ने उन्हें उसके प्रति अधिक श्रद्धालु बनाया है !

× × ×

'कोई योगी- हिमालय का कोई योगी ही मेरी इच्छा पूरी कर सकता है।' उसका निश्चय भ्रान्त था, यह आप नहीं कह सकते- 'वह जैसे भी मिलेगा, मैं उसे पाऊँगा और जैसे भी खुश होगा, खुश करूँगा।'

वह कैसे पहुँचा तिब्बत के इन पर्वतों तक और कैसे उन हिमगुफा में स्थित योगी के दर्शन कर सका, एक लम्बी कथा है। उसे यहाँ रहने दीजिये। तिब्बती चरवाहों की जनश्रुति भारत के पर्वतीय जनों में प्रायः पहुँच जाती है और वहीं उसने भी दुर्गम पर्वत की गुफा के 'लामा' की चर्चा सुनी थी। जिसे कष्ट डिगा नहीं पाते और मृत्यु कम्पित नहीं कर पाती- कौन-सा लक्ष्य है, जिसे वह प्राप्त नहीं कर सकता।

गुफा तक वह पहुँचा और आज तीन महीने से इस गुफा में ही डेरा डाले पड़ा है। साथ जो सोने के सिक्के ले आया था, उनकी संख्या घटती जा ही है और वह समझ नहीं पाता, यह क्या करे।

गुफा के भीतर योगी है। एक शिला पर स्थापित मूर्ति के समान निष्पन्द, निश्चेष्ट, स्थिर आसीन। वह नहीं कह सकता, वह योगी का जीवित शरीर है या निष्प्राण। उसने पढ़ा है - भारतीय योगी प्राण को रोककर वर्षों निष्प्राण के समान रह सकते हैं और कोई निष्प्राण देह भी इस हिम प्रदेश में विकृत तो होने से रहा।

गुफा उसने स्वच्छ कर दी है। शिलापर मूर्ति के समान जो योगी का निश्चल देह है, डरते-डरते उसे उसने धीरे-धीरे साथ लाये स्टोव पर जल गरम करके तौलिये से प्रक्षालित किया। अब तो तेल समाप्त होने से स्टोव उपेक्षित पड़ा है। इससे अधिक कोई सेवा वह इन मूर्तिप्राय महापुरुष की सोच नहीं पाता।

प्रतीक्षा–प्रतीक्षा ही कर सकता था वह और अब संसार में लौटकर करना भी क्या था। उसकी प्रतीक्षा न भी सफल हो, इस शिलातल पर आसीन योगी के पदों में अनन्त काल तक अविकृत पड़ा रहेगा उसका निष्प्राण शरीर। यहाँ से वह लौटेगा नहीं। ऐसा कुछ नहीं होना था। सृष्टि का एक संचालक है और वह दया सिन्धु है। दृढ़वती को उसने कभी निराश नहीं किया है। उस दिन वह गुफा प्रकाश से भर उठी। शिलातल-समासीन योगी का शरीर–जैसे सूर्य के समान प्रकाशपुञ्ज बन गया। देखना सम्भव नहीं था उनकी ओर गोरा साहब हाथों से नेत्र ढ़ककर, घुटनों के बल भूमि पर सिर रखकर प्रणत हो गया उन तेजःपुञ्ज के सम्मुख।

'वत्स!' प्रणव के सुदीर्घ गम्भीर नाद के अनन्तर श्रवण में जैसे अमृतधारा पहुँची। एक क्षण, केवल एक क्षण रूककर वे सर्वज्ञ उसी की भाषा में उसे सम्बोधित कर रहे थे। आँसुओं से भीग गया उसका मुख और वह बोलने में असमर्थ हो गया।

'मैं यहूदी हूँ। अपने घर से, देश से निर्वासित असहाय, अत्याचार का मारा एक अधम।' कठिनाई से गद्‌गदकण्ठ वह बोला– 'आपकी शरण आया हूँ। आपके अतिरिक्त उन पिशाचों से कोई मेरा प्रतिशोध नहीं दिला सकता।'

योगी सुनते रहे नीरव और वह कहता गया– 'मैं जर्मन यहूदी देश के प्रति कभी अकृतज्ञ नहीं रहा; किंतु हिटलर की शक्ति से आज संसार संत्रस्त है। उसके अत्याचारों का किसी के पास प्रतीकार नहीं। फांसिस्ट पिशाचों ने मेरी पत्नी–मेरे बच्चे की जो दुर्गति की– वे उनकी हत्या कर देते तो मैं उन्हें क्षमा कर देता; किंतु उन्होंने जिस प्रकार उन्हें मारा और मेरा यह शरीर गीध मुर्दे नोचते हैं और मेरे जीवित शरीर को उन्होंने चिमटों से नोचा, हंटरों से पीटा! मुझ पर हुए अत्याचारों की सीमा नहीं है। उन पर प्रलय की वर्षा हो!' उसके नेत्र अङ्गार हो रहे थे और थर–थर काँप रहा था वह क्रोध से।

'मैं यहाँ तक पहुँच नहीं पाता; किंतु मुझ गृहहीन की जो सेवा, जो सहायता उदार पुरुषों ने की– मैं उनका कोई प्रत्युपकार नहीं कर सका। उन्होंने मुझे सम्मान दिया, सुविधा दी – मेरी शुश्रूषा की। आपका आशीर्वाद उनका उत्थान करे!' वह तनिक शान्त हुआ। 'अपने जीवन के लिए मुझे कुछ नहीं चाहिए।'

'भोले बच्चे!' स्निग्ध शान्त स्वर था उन महायोगी का। 'तुम अपने भूतकाल को एक बार अनावृत देखो।'

जैसे वह कोई स्वप्न देखने लगा हो, उसी क्षण ऐसी अवस्था उसकी हो गयी।

× × ×

पशुओं के घेरे के समान कँटीले तारों का घेरा और उसमें सैकड़ों स्त्री-पुरुष-बच्चे। वह दास प्रथा का युग- घोड़े पर चढ़ा, हंटरों से उन्हें पीटता-हँसता निरंकुश रशियन जमींदार-पशुओं के साथ भी इतनी निर्दयता कोई कदाचित् ही करे।

वह एक शिशु गिरा और उसके पेट पर घोड़े की टाप पड़ी। फट से निकल पड़ी अँतड़ियाँ। उसकी असहाय माता, किंतु पिशाच घुड़सवार ने उस अबला को भी कुचल दिया घोड़े के पैरों के नीचे। अट्टहास करते उसके पीछे घोड़े पर सवार उसके दोनों सहकारी और उस महिला का पति कुछ कहने पर जब सम्मुख आया........

किंतु चीत्कार कर उठा गोरा साहब। यह सब देखने में समर्थ नहीं था। उसकी सम्मोहन निद्रा भङ्ग होगी।

'दूसरा कोई नहीं, तुम स्वयं हो वह घुड़सवार!' योगी ने शांत स्वर में कहा। 'तुम्हारे सहकारी ही इस बार तुम्हारे स्त्री तथा पुत्र हुए थे।'

स्तब्ध रह गया वह। फटे-फटे नेत्रों से उन महातापस की ओर देखता रह गया। वे कह रहे थे- 'वृद्धावस्था में सद्बुद्धि आ गयी। तुमने जीवन का कुछ भाग पीड़ितों की सेवा एवं सहायता में व्यतीत किया। अकेले तुम नहीं- आज तो तुम्हारे सहधर्मी भी उत्पीड़ित हुए हैं। उनकी भी लगभग ऐसी ही कथा है।'

'हे भगवान्!' दोनों हाथों से उसने सिर पकड़ लिया । उसे लगा कि गुफा की भित्तियाँ घूमने लगी हैं।

'कोई दूसरा किसी को सुख-सम्मान नहीं देता। कोई दूसरा किसी को दुःख, पीड़ा या अपमान भी नहीं दे सकता। दूसरे केवल सुख या दुःख के निमित्त बनते हैं।' योगी स्नेहपूर्ण स्वर में समझा रहे थे। 'तुम्हारे कर्म ही तुम्हारी ओर लौटते हैं और तुम्हें सुख या दुःख देते हैं।'

'दीवाल पर मारे गेंद के समान!' वह अपने-आप बोल उठा था।

'हाँ!' ठीक समझा तुमने!' योगी अब कह रहे थे- 'तुम अब क्या चाहते हो?'

किंतु अब वह क्या चाह सकता? उसने कहा- 'कितना मूर्ख था मैं! कितनी बड़ी थी मेरी कुबुद्धि!' और उसने उन महायोगी के चरणों पर मस्तक रख दिया।

तिब्बत के याक एवं भेड़ों के चरवाहों के किसी तंबू के समीप उनका परिचित गोरा साहब आगे कभी नहीं आया। उन्होंने अपना संतोष कर लिया- 'वह कहीं पर्वत से गिर गया था बर्फ में दब गया।' वह भी एक गुफा में साधन-मग्न हो गया, यह जानने का साधन भी क्या था उनके पास।

❑❑

नरक क्या?

'को वास्ति घोरो नरकः? स्वदेहः

'नारकीय प्राणी!' कलिंग-नरेश द्युमान् ग्लानि से गले जा रहे थे। शब्द नहीं, वज्र से भी तीक्ष्ण अस्त्र थे वे। ऐसे अस्त्र जो मर्म पर क्षण-क्षण में आघात करके उसे विदीर्ण कर रहे थे।

राज्य का अमर-आकांक्ष्यं वैभव, दिगन्तधवल सुयश, विद्वानों के द्वारा प्रशंसित प्रतिभा-जैसे सब सारहीन हो गये ये आनन्द के उपकरण। बन्दियों का सुयशगान अपना उपहास प्रतीत होता था। मागध जब वंश-विरुदावली का वर्णन करते - जी चाहता, कहीं ऐसे स्थान में जा छिपें, जहाँ किसी को मुख न दिखाना पड़े। सूत प्राचीन इतिहास का वर्णन करते हुए जब वर्तमान के वर्णन पर आने लगते, नरेश व्याकुल होकर उठ जाया करते राजसभा से।

'आप सब एक अयोग्य की प्रशस्ति में अपनी प्रतिभा का दुरुपयोग क्यों करते हैं?' विनय नहीं, अन्तर का सच्चा खेद होता था वाणी में। किंतु परम्परा ही ऐसी बन गयी थी कि नरेश के सम्मुख आनेवाले कवि, ज्योतिषी तथा अन्य विद्वान् सबसे अधिक वाक्य-व्यय नरपति की प्रशंसा में ही करते थे और इससे अत्यधिक वेदना होती थी कलिंग-नरेश को। पर कोई उनका निषेध सुनता कहाँ है। लोग तो उसे महाराज की शिष्टता-विजय मान लेते हैं।

'आप अश्वमेध यज्ञ सम्पन्न करें!' कुलपुरोहित अपने प्रबल-पराक्रम यजमान को किसी प्रकार उसकी आधि (मनोरोग) से मुक्ति दिलाने का प्रयत्न कर रहे हैं। 'यदि कोई प्राक्तन पाप होंगे तो उनका प्रायश्चित हो जायगा। अश्वमेध महापापों का भी परिहारक है। आपका प्रताप दिग्विजय करने को पर्याप्त है।'

'दिग्विजय की मुझे चिन्ता नहीं है। कलिंग के शूर पराभव सुनने के कभी अभ्यस्त नहीं रहे। विजयश्री के कर उनके धनुष पर ज्या चढ़ते ही यशोमाल्य लिए उन्हें अलंकृत करने उठ जाते हैं। नरेश ने उत्साह नहीं दिखलाया, किंतु एक अनाधिकारी नारकीय प्राणी सम्राट् बन जायगा, केवल अपने शौर्य के सहारे! धरा रसातल चली जायेगी। धर्म कहाँ आश्रय ढूँढ़ेगा द्युमान् की दिग्विजय-असुरों की विजय से भिन्न

होगी क्या वह? मैं सम्राट् पद की कल्पना से भी काँप उठता हूँ। प्रभु !'

'कोई और उपयुक्त अनुष्ठान या आराधना !' पुरोहित को किसी भी प्रकार अपने इस यजमान के चित्त को आश्वासन देना है। आश्वासन ही तो देना है- यह श्रद्धाप्राण, सदाचार-संयम-तत्पर, मर्यादा की मूर्ति-द्युमान्- इसमें कलुष सम्भव कैसे हैं? प्रजा जिसे प्राण के समान लगती है, सम्यक् सदाचार के निर्वाह के लिए जिसने अङ्गपति का क्रोध स्वीकार किया; किंतु अपने एक पत्नीव्रत को त्यागकर उसकी सौन्दर्यमयी दुहिता का पाणि ग्रहण जिसे प्रिय नहीं लगा, जो शत्रु के भी क्लेश से विकल हो उठता है, उसमें कलुष सम्भव है?

'नारकीय प्राणी !' किंतु नरक से जो संसार में आते हैं, उनके लक्षण भी तो शास्त्रों ने बतलाये हैं। द्युमान् में क्रोध, स्वार्थ, हिंसा-प्रवृत्ति, विषय-लोलुपता कुछ भी तो नहीं है। द्युमान् यदि स्वर्ग से नहीं आया है तो संसार में फिर कोई स्वर्ग से आया प्राणी नहीं हो सकता।

'नारकीय प्राणी !' जिनके श्रीमुख से ये शब्द निकले थे, उन पर अविश्वास करने का भी साहस नहीं राजपुरोहित में। वे अवधूतश्रेष्ठ निदाघ-महर्षिगण उनकी चरण-वंदना करते हैं। उन नित्य निःस्पृह, निरंतर आत्मलीन में न रोष सम्भव है और न प्रमाद वहाँ प्रश्रय पा सकता है।

राजपुरोहित शास्त्रज्ञ हैं- गम्भीर विद्वान् पूर्व-मीमांसा शास्त्र के। अनेक बार ऋषियों ने अपने यज्ञों में उन्हें ऋत्विक् अथवा अध्वर्युवरण करके सम्मानित किया है। वेद के रहस्य एवं धर्म के तत्त्व को जानने का गर्व वे नहीं करते, ठीक-ठीक धर्म का तत्त्व भगवान् नर-नारायण ही जानते हैं, किंतु जितना ज्ञान उनका है, अपने यजमान में उन्हें अल्पतम पाप भी नहीं दीखता; किंतु महर्षि निदाघ की वाणी असत्य का स्पर्श करेगी, धर्मराज भी ऐसा सोचने का साहस नहीं कर सकते।

'यह ठीक है कि युवराज का अध्ययन अभी समाप्त नहीं हुआ।' नरेश ने बाधा दी कुलपरोहित के चिन्तन में- किंतु आपके करों की छाया में सिंहासन पर उन्हें बैठना मात्र ही तो है? 'आप ! आप सिंहासन-त्याग........।' पूरी बात आशङ्का के कारण मुख से निकल नहीं सकी।

'आप-जैसे वेदज्ञ कहते हैं तुषाग्निको शरीर समर्पित कर देना मानव का सबसे बड़ा प्रायश्चित्त है।' नरेश ने स्वस्थ स्वर में कहा- 'तीर्थराज में गङ्गा-यमुना जहाँ अङ्कमाल देती हैं; मकर के आगामी पुण्यपर्व पर इस अधम की भस्म वहाँ परिपूत बने, ऐसी अनुमति प्रदान करें।'

'कोई इसे स्वीकार नहीं करेगा। प्रजा, सामन्त, विप्रवृन्द एवं आश्रितजन कोई

नहीं।' राजपुरोहित दृढ़ स्वर में बोले- 'अल्प पाप में अधिक प्रायश्चित्त निर्दिष्ट करने वाला ब्राह्मण नरकगामी होता है। यदि यही प्रायश्चित्त आवश्यक हो तो इसका विधान महर्षि निदाघ को ही करना चाहिए।'

× × ×

'महर्षि निदाघ के राज्य में पधारने का समाचार मिला है!' उस दिन राजपुरोहित ने ही सोत्साह सूचित किया था। वे दिग्वसन, अलक्ष्यलिङ्ग अवधूत- उनका कोई ठीक पता-ठिकाना हुआ करता है? उन ज्ञानमूर्ति के दर्शन जिसे हो जायँ, सौभाग्य उसका। ऋषिगण भी सदा उन्हें कहाँ पहिचान पाते हैं।

उन्मत्त, जड़ के समान अपने को प्रदर्शित करने वाले गृहस्थ के यहाँ गोदोहन काल से अधिक किसी प्रकार न रुकनेवाले उसे नित्य परिव्राट् से उपदेश-प्राप्ति की आशा तो दुराशा ही है। वे कहाँ प्रवचन करते हैं? किंतु उनके दर्शन ही क्या कम सौभाग्य के सूचक हैं।

एक अन्तेवासी उनके दर्शन समीप के वानप्रस्थाश्रम में कर आया था। उसने अपने गुरुदेव को सूचित किया और राजपुरोहित की कलिंग-नरेश पर असीम कृपा तो सबको ज्ञात है। वे तत्काल राजसदन पहुँच गए थे- 'अवश्य ही कुछ श्रम उठाना पड़ेगा उन्हें ढूँढ़ने में।'

'वह श्रम हमारे सौभाग्य को शुभ्र करनेवाली तपस्या बनेगा!' नरेश ने तत्काल रथ प्रस्तुत करने की आज्ञा दे दी।

कोई सेवक साथ नहीं लिया गया। राजपुरोहित ने अपना एक ब्रह्मचारी अवश्य भेज दिया था पहिले ही। रथ वानप्रस्थ तपस्वियों के आश्रमों तक पहुँचा भी नहीं था कि वह ब्रह्मचारी मार्ग में लौटता मिला- 'भगवान् भास्कर के प्रधान पीठ की ओर महर्षि चले गए।'

एक से दूसरे स्थानों में पूछते-पता लगाते अंत में महर्षि निदाघ मिल गए थे। वे शाद्वल भूमि में एक नारिकेल तरु की छाया का आश्रय लेकर लेटे थे। एक हाथ पर मस्तक रखकर शान्त पड़ा था। उनका श्रीअङ्ग। रथ पर्याप्त दूर छोड़ दिया गया।

राजपुरोहित को आगे करके नरेश महर्षि के समीप मन्दगति से पहुँचे। भूमि में पड़कर प्रणिपात किया सभी ने। राजपुरोहित का ब्रह्मचारी भी साथ ही था और सारथि भी।

'नारकीय प्राणी!' महर्षि ने तिरस्कारपूर्वक कहा और शीघ्रतापूर्वक उठकर खड़े हो गए। वे इतने वेग से एक ओर दौड़ पड़े कि उनके पीछे दूसरे के लिए दौड़ना भी कठिन ही था। दौड़ना मर्यादा के अनुरूप भी नहीं होता।

अमङ्गल का स्पर्श कब किया?

'जिज्ञासु है तू! आ! आ जा!' सागर-पुलिन पर पड़े थे वे सर्वज्ञ इस दिन। आज भी वे उसी पर दक्षिण कर का उपधान बनाये लेटे थे। आज नरेश के साथ राजपुरोहित मात्र थे महर्षि को प्रणिपात करनेवाले। शेष सभी लोगों को राजपुरोहित ने रोक दिया था। महर्षि ने किंचित् मस्तक उठाया और अधरों पर मन्दस्मित आ गया- 'विप्रश्रेष्ठ! आपका यजमान अब प्रकाश के उन्मुख हो चुका है।'

'श्रीचरणों की कृपा!' राजपुरोहित ने अञ्जलि बाँधकर मस्तक झुकाया- 'प्रकाश के अधिदेवता के पादपङ्कजों में प्रणिपात करके ही हम इधर आये हैं।'

'आप शास्त्रज्ञ हैं। नरक का स्वरूप क्या है?' नरेश और राजपुरोहित दोनों जब समीप पुलिन की रेत पर बैठ गए, दो क्षण रूक कर महर्षि ने पूछा- 'क्या-क्या है नरकों में?

'अंधकार, घृणित वस्तुएँ।' राजपुरोहित ने विनम्र स्वर में ही उत्तर दिया- 'पीड़ा के अकल्पनीय उपकरण, मल-मूत्र-शोणितादि अपवित्र पूयगन्ध घृणित पदार्थ!'

'राजन्! तुम्हारे इस शरीर के भीतर क्या-क्या है?' महर्षि देर तक मौन रहे। उन्होंने नेत्र बन्द कर लिए थे। जैसे राजपुरोहित का उत्तर उन्होंने सुना ही नहीं। एकाएक नेत्र-पलक खुले और उन्होंने द्युमान् की ओर देखा- 'कुछ श्रेष्ठ, सुन्दर, सुपवित्र तत्त्व!'

'भगवान्! इसमें श्रेष्ठ सुन्दर सुपवित्र क्या?' नरेश सङ्कोचपूर्वक बोले- 'रक्त, मांस, मेद, अस्थि, लोम, मज्जा, त्वचा, मल, मूत्र......।'

'सब अपवित्र, सब दुर्गन्धित, सब घृणित!' महर्षि उठकर बैठ गए- 'और इस देह ने दुःख-ही-दुःख दिया प्राणियों को। दारुण वेदना देने वाला यह कारागार। तब यह नरक नहीं है राजन्?'

कोई कैसे कहे कि यह नरक नहीं है। राजपुरोहित के मुख से शब्द नहीं निकला। नरेश ने केवल स्वीकृति में सिर झुका दिया।

'इस नरक में- देह में पड़ा प्राणी-देहासक्त ही नारकीय प्राणी है।' महर्षि की वाणी के शब्द-शब्द से मानों प्रकाश फूट पड़ता था। देहासक्ति ही उसे नरक भी ले जाती है। प्रायश्चित्त करना है तुम्हें? इस देहासक्ति का त्याग तुम्हारा प्रायश्चित्त!'

राजपुरोहित के साथ नरेश ने श्रद्धाभरित प्रणिपात किया वहीं पुलिन पर उन अवधूत श्रेष्ठ को।

❑❑

'नारकीय प्राणी!' ठक् रह गए चारों-के-चारों व्यक्ति। वाक्य किसी एक को लक्ष्य करके नहीं कहा गया था; किंतु उसका लक्ष्य कौन था, यह निर्णय कोई समस्या नहीं थी। सूत को महर्षि सम्बोधन करते, यह संभावना नहीं थी। राजपुरोहित तथा ब्रह्मचारी के लिए महर्षि इस प्रकार के शब्द का उपयोग कर नहीं सकते थे। कुछ भी हो, वे दोनों ब्राह्मण थे और ब्राह्मण का अबोध शिशु भी रूष्ट हो जाय- स्रष्टा को भी वह रोष भारी पड़ता है। महर्षि विप्र का अपमान कर नहीं सकते थे।

'नारकीय प्राणी!' आगतों में जो जो मुख्य था, संबोधन उसी को लक्ष्य करेगा। नरेश को लगा कि दिशाएँ अंधकार में डूब गयी हैं। वे मस्तक पकड़कर बैठ गए। राज-पुरोहित बड़ी कठिनाई से उन्हें रथ पर बैठा सके उस दिन।

× × ×

'महर्षि निदाघ कोणार्क-क्षेत्र में ही हैं।' राजपुरोहित के ब्रह्मचारी ने ही इस बार भी समाचार दिया था। कई ब्रह्मचारी तथा अनेक राजसेवक महर्षि का पता लगाने कई दिनों से चारों ओर घूम रहे थे।

'हम पहिले भगवान् नारायण को नमस्कार करेंगे।' कोणार्क पहुँचकर यद्यपि अवधूत का पता लग गया; किंतु राजपुरोहित ने रथ को देवधाम की ओर ले जाने का आदेश किया। भगवान् सूर्य की विधिवत् अर्चना उन्होंने की और नरेश से सम्पन्न कराई।

'जगत् के परम प्रकाश! आपके चरणों में यह अज्ञानान्धकार में डूबता ब्राह्मण प्रकाश-प्राप्ति की कामना से आया है।' पूजा के अंत में राजपुरोहित ने जब प्रार्थना प्रारम्भ की, केवल नरेश ही नहीं, मन्दिर में उपस्थित समस्त जन विस्मित हो उठे। यह अद्भुत गंभीर स्वर-वैखरी वाणी तो नहीं है। हृदय से उठती घनघोष-जैसी यह पश्यन्ती वाणी- 'कोणार्क से निराश लौटने नहीं आया यह विप्र। आपने अनुकम्पा नहीं की- श्रीविग्रह के सम्मुख प्राङ्गण में इस शरीर की भस्म मिलेगी कल प्रातः। भार्गव ब्राह्मण देह-दाह के लिए चिता की चिन्ता नहीं करता। अग्नि की धारणा उसे माता के दूध के साथ मिलती है। यजमान को तुषाग्नि में आहुति बने देखने से पूर्व योगाग्नि दग्ध न कर दे यह देह- पौरोहित्य व्यर्थ रहा मेरा।'

किंतु भगवान् के श्रीचरणों में पहुँची प्रार्थना कभी निराश लौटी है जो आज लौटती? महर्षि निदाघ ही कहाँ निष्ठुर हो सकते थे। जिसमें रज और तम की छाया का स्पर्श नहीं- रोष, क्रोध, घृणा, निष्ठुरता का प्रवेश सम्भव है वहाँ? उनकी वाणी ने

विरक्त कौन?

'महाराज! किसी सच्चे विरक्त के हाथ लगें तो श्रीविग्रह स्थान ग्रहण करे!' परम प्रतापी महाराज भोज चिन्ता में पड़ गए राजज्योतिषी की यह बात सुनकर। कोई सच्चा विरक्त क्यों राजसदन आयेगा। उसे धारा नगरी के और भोज के वैभव से प्रयोजन! लेकिन मंत्री को आदेश दे दिया गया कि वे ऐसे विरक्त के अन्वेषण का पूरा प्रयत्न करें।

बड़े उत्साह से मन्दिर का निर्माण किया गया था। कला मूर्तिमती हो उठी थी। भोजराज की श्रद्धा और राजज्योतिषी का शास्त्रज्ञान साकार हुआ। कहीं कोई बाधा नहीं पड़ी। जितना समय लगने का अनुमान था, कार्य उससे पहिले ही पूर्ण हो गया था।

भगवान शङ्कर का यह श्रीविग्रह स्थापित होना था लिङ्गविग्रह के पृष्ठ में। मन्दिर के अंतरगृह के मध्य लिंगमूर्ति और भित्ति में निर्मित सिंहासन पर श्री आशुतोष। लिंग विग्रह स्थापित हो गया और श्रीमूर्ति सिंहासन पर पहुँचायी गयी; किंतु वह सीधी बैठती ही नहीं। बहुत प्रयत्न हो चुके कभी एक ओर कभी दूसरी ओर मूर्ति का मुख तिरछा हो जाता है। जब मानव-प्रयत्न विफल हो गये, महाराज ने अपने राजज्योतिषी के श्रीचरणों में मस्तक झुकाया- 'क्या कारण है कि प्रभु आसन स्वीकार नहीं कर रहे हैं?'

ज्योतिषीजी केवल ज्योतिषी नहीं थे। कहा जाता है कि धारापुरी की अधिष्ठात्री महाशक्ति ने उन्हें साक्षात् दर्शन दिए थे। वे उन श्री जगदम्बा के नैष्ठिक आराधक थे। महाराजा के प्रश्न का उत्तर देने के लिए उन्होंने न पञ्चाङ्ग खोला और न अपनी पट्ट पर कोई गणित किया। वे चुपचाप वहाँ से गये और भगवती के मन्दिर में श्रीमूर्ति के सम्मुख आसन लगाकर बैठ गए।

'महाराज, आपने श्री विश्वनाथ को यहाँ आराध्यरूप में प्रतिष्ठित करने की इच्छा नहीं की है।' पूरे पाँच घण्टे बाद राज्योतिषी मन्दिर से निकले और सीधे राजसदन पहुँचे। तत्काल महाराज ने स्वयं उनके चरणों में आकर वंदना की। जो कुछ

आभास उन्हें मिला था, वही है वे बता रहे थे- 'ज्ञान एवं विद्या के आदिगुरु यहाँ श्रीदक्षिणामूर्ति के रूप में आपको प्रतिष्ठित करने हैं। इस रूप में वे किसी नरेश का दिया आसन ग्रहण कैसे करें? वे ठीक आसन ग्रहण कैसे करे? वे ठीक आसन ग्रहण कर लेंगे।'

भगवान् शङ्कर का वह दक्षिणामूर्त-विग्रह-श्रीमूर्ति जब आयी थी, उसे देखकर महाराज भाव विभोर हो गए थे। जिसने देखा- यही लगा कि प्रभु साक्षात् उपदेश करने आ बैठे हैं।

'धारा को महाशक्ति की अनुकम्पा पहले से प्राप्त है।' श्रद्धाभरित स्वर में श्रीविग्रहपर दृष्टि पड़ते ही राजज्योतिषी ने कहा था- 'अब ज्ञान के अधिष्ठाता आपकी श्रद्धा स्वीकार करके स्वयं आचार्य रूप में आ गये हैं।'

'आपके श्रीचरणों का अनुग्रह!' महाराज ने सादर मस्तक झुकाया था।

धारा विद्वानों की नगरी; किंतु काशी तथा सुदूर दक्षिण प्रतिष्ठानपुर (पैठण) तक से कर्मकाण्ड के विद्वान् आमन्त्रित हुए। प्राण प्रतिष्ठा को समस्त विधि सावधानीपूर्वक सम्पन्न की गयी। विधि के ज्ञान में न त्रुटि थी, न उसके पालन में प्रमाद हुआ। यजमान की श्रद्धा कहीं शिथिल नहीं हुई। शुद्ध सामग्री, सम्यक् विधि, श्रद्धायुक्त शास्त्रपूत यजमान और विधिज्ञ संयमी अप्रमत्त ऋत्विक्-प्रतिमा में प्राण प्रतिष्ठित हो गये, यह लक्षित कर लेना कठिन क्यों होने लगा।

सब सानन्द हुआ; किंतु जब श्रीविग्रह को उनके सिंहासन पहुँचाया गया- पूरे प्रयत्न के पश्चात् एक स्वर से विप्रवर्ग ने कह दिया- 'राजन्! कोई ऐसा कारण अवश्य है, जिससे प्रभु आसन नहीं ग्रहण कर हे हैं।'

वह कारण-कितना अद्‌भुत कारण निकला वह।

× × ×

महाराज भोज की ओर से कुछ अच्छे विद्वान् नियुक्त कर दिये गये हैं, अखण्ड यज्ञ चल रहा है। महामंत्री ने अपने निपुणतम सेवक नियुक्त कर दिये हैं- विरक्त ढूँढ़ने का प्रयत्न चल रहा है। राज्योतिषी ने अपने कुछ शिष्य नियुक्त कर दिये हैं- भगवती की सविधि अर्चना चल रही है।

सब चल रहा है; किंतु दक्षिणामूर्ति भगवान् शिव का श्रीविग्रह आसन नहीं ग्रहण करता। साधु आते हैं- संन्यासी, वैष्णव, संतमतानुयायी, जटाधारी, मुण्डितकेश, भस्मधारी, गैरिकवस्त्र, श्वेतवस्त्र, पीतवस्त्र या केवल कदलीपत्र कौपीन लगाने

वाले। दिगम्बर अवधूत भी आए। जिनकी त्याग-तपस्या की ख्याति थी, उन्हें महामंत्री स्वयं आदर पूर्वक ले आये। निष्परिग्रह, अनिकेत, उग्रतम तपस्वी-सभी तो आ गए। काष्ठमौनी, ऊर्ध्वाबाहु, सदा खड़े रहने वाले, पता नहीं कितने और कैसे-कैसे साधु आये। जिनसे बड़ी आशा थी, कुछ नहीं हुआ उनसे भी। पूरे तीन वर्ष होने को आये- श्रीविग्रह सम्मुख आसन पर नहीं आया।

किसी ने कुछ अनुष्ठान बताया, किसी ने विशेष जप, यज्ञ अथवा अर्चन की आवश्यकता सूचित की। सब सम्पन्न हुए। किसी असफल साधु का तिरस्कार नहीं हुआ। कोई उपेक्षित-तिरस्कृत न हो जाय, महाराज ने इसके सम्बन्ध में अधिकारियों को सावधान कर दिया था। जो असफल होते थे- उनका चित्त खिन्न हो, स्वाभाविक था; किंतु राज्य के कर्मचारी उन्हें आदरपूर्वक ही विदा करते थे।

'मेरा पाप - मेरे ही किसी अपराध का यह परिपाक है।' महाराज खिन्न रहने लगे थे। उनकी मुखश्री म्लान हो गई। शरीर कृश होने लगा। वे प्रातः स्नान करके जब अर्चन के लिए मन्दिर में उपस्थित होते, अश्रु रोक नहीं पाते थे।

'मेरे राज्य में न सही, पवित्र भारत भूमि में तो वीतराग महापुरुष हैं ही।' महाराज ने अंत में एक दिन कातर होकर राजपुरोहित के चरण पकड़ लिए- 'भोज प्राण देकर भी ला सके तो उन्हें धारापुरी ले आयेगा। आप प्रयत्न करें और ऐसे पुरुष का पता न लगे, मैं विश्वास नहीं कर सकता।'

'मैंने प्रयत्न करने में कोई प्रमाद नहीं किया है।' राजपुरोहित ने तनिक गंभीर होकर कहा- 'किंतु लगता है, हमारी परख का मापदण्ड ठीक नहीं है। ऐसी अवस्था में बात मानव-प्रयत्न की रह नहीं जाती। मेरा तो एक ही आश्रय है। आप चिन्ता न करें, पुत्र जब आग्रह करता है, दयामयी माँ को उसका बालहठ पूर्ण तो करना ही पड़ता है।'

महाराज को आश्वासन प्राप्त हुआ। राजपुरोहित ने भगवती के मन्दिर में जो आसन नित्य अर्चा के लिए लगाया, उससे उठे ही नहीं। मध्याह्न हुआ और बीत गया। शिष्यों में, घर के सदस्यों में व्यग्रता आयी। तृतीय प्रहर भी बीत गया और रात्रि का अंधकार भी अंत में फैलने लगा।

'राजपुरोहित ने आज जलग्रहण नहीं किया। वे अपने आसन से न उठे हैं, न हिले हैं। उन्होंने पलकें तक नहीं खोली। किसी का पुकारना सुनते नहीं। बन्द नेत्रों से अविराम अश्रु चल रहे हैं।' समाचार महाराज को मिला।

'आचार्य ने उपवास किया और इस अधम ने भोजन किया है!' महाराज के पश्चात्ताप का पार नहीं था। 'भोज अब तब तक मन्दिर से नहीं उठेगा, जब तक आचार्य सुप्रसन्न नहीं उठते।'

सायंकालीन भोजन न राजसदन में किसी ने किया और न राज्य के उच्च कर्मचारियों के गृहों में राजपुरोहित के घर तो पूरे दिन ही सब उपोषित रहे। किंतु मन्दिर में भीड़-भाड़ महाराज ने नहीं होने दी।

पूजा हुई, आरती हुई, रात्रि का नैवेद्य अर्पित हुआ। आराधक स्थिर बैठा रहे तो आराध्या शयन कर लेगी? भगवती की शयन-आरती नहीं की मन्दिर के मुख्य पुजारी ने। वे बाह्यद्वार बंद करके स्वयं श्रीमन्दिर में एक ओर आसन पर ध्यानस्थ बैठ गए।'

'माँ! कृपामयी!' मध्यरात्रि व्यतीत हो चुकी थी, जब राजपुरोहित के स्वर ने महाराज तथा पुजारी दोनों को चौका दिया। पता नहीं कब कैसे दोनों को बैठे-बैठे ही निद्रा आ गई थी। दोनों ने देखा- राजपुरोहित प्रतिमा के सम्मुख साष्टाङ्ग प्रणिपात कर रहे हैं।

'महाराज! आप राजसदन पधारें। तनिक स्वस्थ होकर राजपुरोहित ने भोज को देख लिया- 'जब माँ ने कार्य भार स्वीकार कर लिया, हम चिन्ता क्यों करें?'

मध्य रात्रि के पश्चात् उस दिन पुजारी ने देवी की शयन-आरती की।

× × ×

सेठ लक्ष्मीचन्द इस बार स्वयं निकले हैं अपने दल के साथ। अवस्था अधिक हो गई; इसलिए अब सेठजी छोटी यात्रा पर ही कभी-कभी निकलते हैं। लड़के यह काम सम्हाल लेते हैं। वैसे सेठ जी बनजारे हैं। उनका काम ही ऊँट, बैल, खच्चर लादकर दूर-दूर के नगरों की यात्रा करना है। गद्दी पर उनका व्यापार नहीं चलता।

बहुत छोटी टोली थी जब सेठ अमीचन्द ने कारोबार अपने पुत्र लक्ष्मीचन्द को दे दिया था। अब उस बात को युग हो गये। अब तो सात बड़े दल चलते हैं लक्ष्मीचंद जी के। सातों लड़कों ने अपने-अपने व्यापारी दल बना लिए हैं। कभी-कभी सेठ जी भी एक छोटी आठवीं टोली बनाकर निकल पड़ते हैं।

बनजारे की टोली अपने-आप में एक पूरा राज्य होता है। ऊँट, खच्चर, घोड़े, बैलगाड़ियाँ और पैदल भी। व्यापार की कोई निश्चिन्त वस्तु नहीं। जहाँ जो वस्तु ठीक मूल्य पर मिली, लाद लिया। जहाँ जिसके ठीक दाम लगे, बेच डाला। व्यापार की वस्तुओं के साथ बर्तन, सीधा सामान, कपड़े-बिछौने, वैद्य जी का औषधालय और एक छोटी किंतु सधे वीरों की शस्त्रसज्ज सेना। यह सेना न हो तो बनजारे दिन-दोपहर लूट लिए जाया करें।

सेठ लक्ष्मीचंद की टोली में एक विशेषता प्रारंभ से ही रही। इस टोली के साथ

ठाकुर जी की पालकी चलती हैं। पुजारी महाराज और ठाकुरजी के सेवक चलते हैं। पता नहीं क्यों चलते हैं ये सब; क्योंकि पूजा तो सेठ जी स्वयं दोनों समय करते हैं। पानी पड़े या पत्थर, ठाकुर पूजा के लिए दोनों समय टोली को रूकना ही पड़ता है।

रूक तो जाते हैं सेठजी दो-दो दिन- उन्हें पता भर लगना चाहिये कि कोई उत्तम रत्न या बहुमूल्य वस्त्र मिल सकता है। कोई काष्ठ, हाथी-दाँत, या अन्य आधार पर इतनी कलाकृति-सेठ जी को पसंद भर आ जाय, वे उसे लेकर जायँगे। इतने अधिक मूल्यों में ली गई वे वस्तुएँ जब उन्हें बेचनी नहीं- बड़े आदमी की एक संग्रह-प्रवृत्ति के अतिरिक्त आप क्या कहेंगे। यों सेठ जी कहते हैं- 'लालजी! इसे पाकर प्रसन्न होंगे।'

मोटा कपड़ा, साधारण चटाई, फटे-पुराने जूते से जो उस बुढ़ापे में, इस सम्पन्नता में भी अपना काम चला लेता है, उसकी सनक ही तो है यह- 'लालजी!' अपने ठाकुरजी को सेठजी कहते हैं। यात्रा के विषम दिनों में भी लालजी के लिए दस-पंद्रह व्यंजन बनेंगे, कहीं कोई उत्तम उद्यान दीखा तो उसी के पुष्प चाहिए। अनेक बार टोली इस सनक के कारण बहुत उलझन में पड़ जाती है। असुविधा और कष्ट-किंतु सेठजी जब यह सब सुने।

'लालजी!' बूढ़े सेठ को न अपने भोजन का स्वाद, न धन की चिन्ता। लड़कों के आग्रह तक वह नहीं सुनता। उसे तो एक सनक है - लालजी के लिए उसे पसंद आ जाय तो एक पुष्प, एक फल के लिए वह पूरी थैली उलट देगा।

यह सनकी सेठ लक्ष्मीचन्द अपनी टोली लिए पहुँच गया धारापुरी। क्या विशेषता है इसमें कि महाराज उसे राजसभा में सम्मानित करने वाले हैं। राजपुरोहित उसके सम्मुख आदर से झुक जाते थे। हुआ कुल इतना था कि सेठ ने स्नान किया, पूजा की और एक लोटा जल लिए शिवमंदिर चले गए। जल चढ़ाकर घूमे तो दक्षिणामूर्ति विग्रह पर दृष्टि पड़ी। तिरछा श्रीविग्रह- सेठ ने श्रीमूर्ति के घुटनों पर हाथ रक्खा सहज- 'प्रभु यदि सम्मुखासीन होते!' मूर्ति जैसे स्वयं घूमकर सीधे आसन पर आ गई। अब लोग कहते हैं - 'सेठजी सच्चे विरक्त हैं। उन्हें किसी विषय में आसक्ति नहीं है। किंतु उन्हें यह जो 'लालजी' की आसक्ति है?

❑❑

अजातशत्रु

'नाथ !' कण्ठ जितना मधुर था, स्वर उतना ही करुण हो गया था। कुसुम कोमल कलेवर, कुश-कण्टक, कंकड़ियाँ और बड़े-छोटे पाषाण-खण्ड। मार्ग कोई था ही नहीं। कहीं बड़ी-बड़ी घासों में से चलना था और कहीं नुकीले कंकड़ों पर से। जिसे असूर्य-अस्पर्शा महारानी को कभी मर्मर की सुचिक्कन भूमि पर भी पादक्षेप नहीं करना पड़ा था, जिनके कहीं भी चलने से पूर्व ही सेविकाएँ आगे-आगे मार्ग में सुन्दर और कोमल आस्तरण बिछाती चलती थीं, आज उन्हें इस मार्ग में चलना पड़ रहा था। प्रारब्ध भी कितनी विडम्बना करता है !

भगवान् भास्कर मध्याकाश में पहुँच चुके थे। भूमि उत्तप्त हो गयी थी। शरीर स्वेद-प्रवाह चल रहा था। कोमल चरणों में फफोले पड़ गये थे और अब वे फूटते जा रहे थे। जहाँ तृण नहीं थे, वहाँ पैर रखना अत्यन्त उत्पीड़क होता था।भूमि के ताप के साथ कंकड़ियाँ फफोलों में चुभक असह्य कष्ट देती थीं। किसी प्रकार भी चलना सम्भव नहीं जान पड़ता था। बहुत संयम के पश्चात् भी मुख से एक सम्बोधन निकल ही गया।

'साध्वी !' महाराज दो डग आगे बढ़ गये थे। पीछे लौटकर उन्होंने पत्नी की ओर देखा और उसके हाथ को कंधे पर रखकर सहारा दिया। 'वह सम्मुख हरे-भरे वृक्ष खड़े हैं। वहीं पास से एक निर्मल स्रोत प्रवाहित होता है। एक छोटी-सी गुफा है। गुरुदेव कभी-कभी उसमें विश्राम किया करते थे और मैं उनके दर्शनों को आया करता था। मुझे इस स्थल का ज्ञान है। यहाँ वन्य-फल एवं कंद मिल जाया करते हैं। हम वहीं अपना आवास रक्खेंगे।' महाराज के स्वरों में न तो कम्पन था औ न कष्ट की कोई झलक। वे इस प्रकार बोल रहे थे, जैसे उनके पैरों में काँटें नहीं चुभे हैं और छाले नहीं पड़े हैं।

दो में-से किसी के शरीर पर कोई आभूषण नहीं था। महारानी का दिव्य सौन्दर्य एक कौशेय साड़ी में आवृत था। और महाराज ने तो केवल धोती पहन रक्खी थी। उनके कन्धों पर उत्तीय भी नहीं था। उनके दीर्घ केश पीठ पर छिटके हुए थे और वायु से उड़ रहे थे। किसी कंकड़ी, गोखरू या काँटे के चुभ जाने पर वे पैरों की ओ देखते

तक नहीं थे। एक पल को रूककर पैर को पीछे की ओर मोड़ लेते एक पैर पर खड़े रहकर हाथ से बिना देखे ही चुभी वस्तु को निकालकर फेंक देते और इस प्रकार चलने लगते जैसे कुछ हुआ ही नहीं। अवश्य ही महारानी के पैरों में कुछ चुभने पर रूकना पड़ता। वे महाराज के कन्धों पर पूरा भार देकर उसे निकाल पातीं और चलना तो फिर किसी प्रकार हो रहा था। एकाध बार महाराज ने चाहा कि पत्नी के पैरों से काँटे को खींच लें; किंतु महारानी ने उनकी ओर इस दृष्टि से देखा, मानो नेत्रों से ही कह रही हों' 'आप मेरे पैर छुयें, इससे पूर्व मेरे प्राणों को शरीर से विदा हो जाना चाहिए! दासी पर इतनी तो दया कीजिये।' उस दृष्टि ने ही महाराज को विरत कर दिया।

'हम कितनी दूर आ गये हैं?' महारानी एक शिला पर वृक्ष की छाया में महाराज के सहारे बैठ गयीं। वे अत्यधिक थक गयी थीं। पैरों में पीड़ा तथा जलन हो रही थी। कुशल इतनी थी कि गन्तव्य अब कुछ हाथ दूर ही था।

'पर्याप्त दूर!' महाराज ने गम्भीर कण्ठ से कहा। 'नगर से लगभग एक योजन दूर!'

'कुल एक ही योजन?' घबड़ाकर महारानी उठ बैठी। उनके मुख पर भय के चिह्न स्पष्ट हो गये। उन्होंने तो समझा था कि चलते-चलते वे दस-बीस योजन अवश्य पहुँच गयी हैं। 'मुझे विश्राम नहीं करना हैं! उठिये, चलिये! यहाँ तक तो शत्रु के चर बड़ी सरलता से पहुँच सकते हैं। सन्ध्या होने से पूर्व शत्रु हमें पकड़ लेगा। हमें यहाँ नहीं ठहरना चाहये। यह न तो घोर कानन है और न विकट पर्वत।' कष्ट विस्मृत हो गया। महारानी चञ्चल हो गयीं।

'सती! आतुर होने का कोई कारण नहीं।' महाराज शांत बैठे थे। 'हम भागकर नहीं आये हैं। हमने केवल अपने को राजधानी से इसलिये दूर हटा लिया है कि नवीन शासक की व्यवस्था में प्रजा का हमारे प्रति मोह व्याघात न उपस्थित करें। प्रारब्ध जो है, वह तो घोर कानन तथा विकट पर्वत में भी पहुँचने पर प्राप्त होगा ही। जो कष्ट प्रारब्ध में नहीं है, उसे कोई दे नहीं सकता।'

'वह आपका शत्रु है। वह आपको अवश्य पकड़ना चाहेगा और पकड़ने पर......।' आगे का अमङ्गल वाक्य मुख से नहीं निकला। बड़े-बड़े नेत्र महाराज के मुख पर लगे थे औ उनमें मूक आग्रह था कि आप मेरे कष्ट की चिन्ता न करें। यहाँ से उठें और किसी ऐसे स्थान तक चलें जहाँ शत्रु हमारा पता न पा सके।

'पगली! शत्रु किसी का भी कोई नहीं होता। संसार में कौन किसका शत्रु है?' महाराज के मुख पर इस अवस्था में भी निर्दोष हास्य आया। 'शत्रु तो मनुष्य अपने भीतर छिपाये रखता है। जहाँ भी जाता है, इन शत्रुओं को साथ लिए जाता है। जिसने इन शत्रुओं को जीत लिया, उसका शत्रु संसार में उत्पन्न हुआ ही नहीं। संसार के शत्रु

किसी व्यक्ति के शत्रु नहीं होते। वे तो संग्रह के भागीदार होते हैं और पूरे का पूरा चाहते हैं। तूने अब अपना संग्रह छोड़ दिया है, अब तेरी किसी से क्या शत्रुता? वैसे कोई कष्ट प्रारब्ध में होगा तो उसे क्या दूर जाकर निवृत किया जा सकता है?'

महारानी बोली नहीं, परंतु उन्होंने समझ लिया कि उनके पतिदेव अब किसी प्रकार नहीं जायँगे। 'बड़े हठी हैं।' मन-ही-मन वे भगवान् को स्मरण करने लगीं।

× × ×

[2]

'आपकी कृपा के लिए आभार! मैं जानता हूँ कि आपकी कन्या अत्यन्त रूपवती हैं और शील तथा गुण में उनके समान बालिका इस समय अलभ्य है। अपनी विद्या, प्रतिभा तथा चित्रकला के लिए वे पूरे देश में विख्यात हैं। उनके लिए अनेक तेजस्वी राजकुमार, अनेक पराक्रमी नरेश याचना करें, यह नितांत स्वाभाविक है। सबकी प्रार्थना के रहते आपने मुझे यह गौरव देने का विचार किया, मैं इसे अपने पर आपकी कृपा मानता हूँ। इतने पर भी आप मुझे क्षमा करेंगे! आप जानते हैं कि मैं विवाहित हूँ और पुरुष की सन्तति-परंपरा को बनाये रखने के लिए एक पत्नी पर्याप्त है। काम कहीं परितृप्त नहीं होता और विचारशील को उससे बचना चाहिए। राजकुमार अभी शिशु है अन्यथा उसी के लिए आपका अनुरोध स्वीकार करता। राजकुमारी को मैं अपनी बहन मान रहा हूँ। आशा है आप इस सम्बन्ध को स्वीकार करके मेरे अविनय को क्षमा करेंगे।' महाराज ने स्वयं अपने हाथों पत्र लिखा, उसे कौशेय वस्त्र से आवृत किया। आदरपूर्वक पत्र आगत ब्राह्मण के हाथों में देकर प्रार्थना की कि यहाँ की परिस्थिति काश्मीर-नरेश को सादर समझा दें।

महाराज काश्मीर सौवीर नरेश से सम्बन्ध करने को उत्सुक थे। उन्होंने राजपुरोहित को नारियल देकर भेजा था। सौवीर के मन्त्रियों ने महाराज को सम्मति दी कि 'वे परम पराक्रमी देवपुत्र काश्मीरराज के नारियल को स्वीकार कर लें।' कोई लाभ नहीं हुआ। महाराज इस तर्क को मानने को प्रस्तुत नहीं हुए कि राजा को अनेक विवाह राजनैतिक दृष्टि से करने चाहिए। अंततः पत्र लेकर राजपुरोहित नारियल के साथ लौटे।

नारियल के लौटाने-जैसे अपमान का समाधान पत्र न कर सका। काश्मीर में रणभेरी बजी, सैनिकों ने कवच पहने, शिरस्त्राण धारण किये और शङ्खों की तुमुल ध्वनि में रथ एवं अश्वों का अपार दल सौवीर की ओर प्रस्थित हुआ। महाराज स्वयं

सेना का नेतृत्व कर रहे थे। देवपुत्र की अजेय सैन्य मार्ग के नरेशों का आतिथ्य ग्रहण करती अबाध गति से बढ़ती जा रही थी।

'सैनिकों को आदेश दो! दुर्गद्वारों का निरीक्षण स्वयं कर लो! मैं स्वयं सीमा पर चलकर सामना करूँगा।' सौवीर-नरेश ने समाचार पाकर सेनापति को आज्ञा दी। 'प्रजा का रक्षण राजा का कर्त्तव्य है। क्षात्रधर्म है युद्ध। हम अपने धर्म का पालन करेंगे।' मन्त्रियों को आशा नहीं थी कि सदा शान्ति का उपदेश देने वाले उनके परम धार्मिक महाराज इतना शीघ्र युद्ध का आदेश दे देंगे।

'महाराज स्वयं युद्धस्थल पर जा रहे हैं।' विद्युद्वेग से समाचार राजधानी, राजधानी से नगरों, वहाँ से ग्रामों और क्रमशः इतस्ततः झोपड़ियों तक पहुँच गया। जिस नरेश ने प्रजा को प्राण से बढ़कर प्यार किया हो, उसके प्रति प्रजा के अनुराग का स्रोत उमड़ना ही था। यह सत्य है कि सौवीर ने कभी किसी पर आक्रमण की बात नहीं सोची थी, सभी नरेश से मैत्री का व्यवहार किया था और इसी से निश्चिन्त होकर उन्होंने अपनी सेना बहुत घटा दी थी; पर आज सेना का प्रश्न कहाँ था? सेना तो पता नहीं कब महाराज के साथ युद्धभूमि में जायेगी, किंतु समाचार जिस तरुण के कानों तक पहुँचा, उसी ने खाँड़ा उठा लिया। कवच और धनुष की अपेक्षा किसी को नहीं थी। ग्राम-नेताओं ने बिना वर्णभेद के तरुणों को एकत्र किया। भल्ल, शूल, गदा, पारिघ, जो जिसके पास था, पर्याप्त माना गया। ग्रामों ने अपनी रक्षा का प्रबंध कर लिया और कुछ सैनिकों की टुकड़ी सीमा की ओर भेज दी। महाराज तथा राज्य की सेना के पहुँचने के पूर्व ही सीमा पर एक महती सैन्य एकत्र हो गयी और उसमें नवीन दल आकर उसे बृहत् से बृहत्तर करते ही जा रहे थे।

काश्मीर-नरेश ने देवपुत्र की पदवी यों ही नहीं प्राप्त की थी। वे अनुभवी थे, कूट योद्धा थे।उनके गुप्तचर बहुत पूर्व सौवीर पहुँच चुके थे। उन्हें उन चरों से ज्ञात हो गया कि पूरा सौवीर देश दुर्ग में परिणत हो गया है। एक-एक पद पर भयङ्कर संग्राम होगा। सीमा पर इतनी बड़ी सेना एकत्र है कि काश्मीर की सेना उसकी दशांश भी नहीं। काश्मीर नरेश ने सेना को रोक दिया। वे सौवीर-राज के आगमन की प्रतीक्षा करने लगे।

'मैंने आपके पत्र की भावना को स्वीकार किया। मैं युद्ध के लिये नहीं, अपने सुहृद् से मिलने के लिए आया हूँ।' सीमा पर पहुँचते ही सौवीर-राज को काश्मीर नरेश के दूत ने अपने महाराज का पत्र दिया।

'मेरा सौभाग्य! मैं अपने सम्मान्य अतिथि का हर्षपूर्वक स्वागत करूँगा।' जो जैसा होता है, विश्व को वैसा ही समझता है। सरल हृदय, धार्मिक सौवीर नरेश ने पत्र पढ़कर उसे अक्षरशः सत्य मान लिया। काश्मीर नरेश ने आगे बढ़कर सौवीर महाराज

को अङ्कमाल दी। बड़ी सरलता से स्वागत-पाती हुई। काश्मीर की सेना राजधानी की ओर चल पड़ी। सौवीर के ग्रामों से आये स्वेच्छा सैनिक अपने घरों को लौट गये। देशवासियों का आवेश शांत हो गया। एक बार जनता का आवेश शांत हो जाने पर फिर उसे प्रस्तुत करना सरल नहीं हुआ करता। काश्मीर के कूटनीतिज्ञ नरेश इसे जानते थे और इसी से उन्होंने यह कौशल रचा था।

× × ×

[2]

'महाराज!' महारानी चीत्कार करके अपने पति के चरणों में गिर पड़ीं। वे निद्रा में बड़ा भयङ्कर स्वप्न देखकर जगी थीं। उठते ही उन्होंने देखा कि राजसदन में कोलाहल हो रहा है। 'मारो! काटो!' पता नहीं कितने पिशाच चिल्ला रहे हैं। उनके कण्ठ से शब्द नहीं निकलता था। काष्ठपुतली की भाँति वे अपनी शय्या पर बैठी थी। हुंकारें, आर्तक्रन्दन, कराह तथा शस्त्रों की झंकृति क्रमशः समीप आती जा रही थी। उन्होंने समझ लिया कि काश्मीर नरेश ने विश्वासघात किया है। अग्नि की लपटें दृष्टि पड़ीं। अवश्य ही आततायियों ने कोई सौध भस्म कर देना चाहा है। अन्ततः जब शयनकक्ष के द्वार पर क्रोधोन्मत सैनिकों ने अपशब्द कहते हुए आघात प्रारंभ किया तो वे आतुरतापूर्वक उठीं।

'क्यों? क्या हुआ?' महाराज नियमानुसार ब्राह्म-मुहुर्त से पूर्व ही उठ गये थे। आचमन करके वे चंदन के एणेयाजिनाच्छादित आसन पर कमलासन से बैठे आराध्य के ध्यान में तल्लीन थे। उन्हें बाह्य संसार का तनिक भी बोध नहीं था। 'अच्छा, भीत मत हो!' एक क्षण में ही उन्होंने परिस्थिति समझ ली। विकार की एक भी रेखा उनके मुख पर नहीं आयी। शान्त भाव से पत्नी को वहीं छोड़कर वे शयनकक्ष के द्वार की ओर बढ़े।

'सौवीर के राजवेश को मैं सदा के लिये नष्ट कर दूँगा!' द्वार खुलते ही हाथों में रक्तंजित खड्ग लिए काश्मीर नरेश ने प्रवेश किया। उनके नेत्र अंगार के समान जल रहे थे। मुख पर स्वेद-कण चमक रहे थे। शिरस्त्राणसे बाहर उनका केशपास फैला हुआ था। उस समय वे एक असुर की भाँति प्रतीत हो रहे थे। उनके साथ उन्हीं के समान अनेक सैनिक कक्ष में प्रविष्ट हो गये थे। अवश्य ही राजसदन की रक्षा करनेवाले थोड़े-से सैनिक अकस्मात् आक्रमण में मारे जा चुके होंगे। बाहर का कोलाहल शांत हो गया था।

'सन्तति-परंपरा बनाये रखने को एक ही नारी पर्याप्त है- क्यों?' सौवीरराज की ओर देखकर तीव्र व्यङ्ग करते हुए काश्मीर नरेश ने कक्ष में दृष्टि दौड़ायी। 'मेरे नारियल का-मेरा अपमान! इतना साहस हो गया है तुममें? मैं तुम्हारी संतति-परंपरा को अभी समाप्त किये देता हूँ।' छोटा-सा बालक चौंककर जाग पड़ा था। वह अपनी माता की ओर जा रहा था। एक बार खड्ग चमका और भूमि में रक्त की धारा चल पड़ी।

'व्यर्थ ही बाल-हत्या से तुमने अपने-आपको कलङ्कित किया!' महाराज के मुख पर शोक का कोई चिह्न नहीं आया। अवश्य ही महारानी पुत्र के वध को देखते ही मूर्छित होकर गिर पड़ी थीं। इधर अभी किसी का ध्यान नहीं था। 'राजकुमार को तो मरना ही था। उसके प्रारब्ध में यही होगा।' जैसे किसी दूसरे का पुत्र मर गया है और महाराज उसे आश्वासन दे रहे हैं।

'तुम्हें मेरी पुत्री से परिणय करना होगा!' सौवीर-नरेश के उच्च कुल में बलात् कन्या देकर काश्मीर के महाराज, जिनके पूर्वज हीन रह चुके थे और जिन्हें अब भी नरेशवृन्द हीन क्षत्रिय मानता था, अपने को उच्चकुल की गणना में पहुँचाने का निश्चय कर चुके थे।

'क्षत्रिय भयभीत नहीं हुआ करता।' महाराज के स्वर में कोई विकार नहीं था। 'राजकुमारी को मैं बहन स्वीकार कर चुका हूँ।' उन्होंने अपना निश्चय बिना किसी हिचक के सुना दिया।

'दुर्ग मेरे सैनिकों के अधिकार में है। ध्वज-परिवर्तन में एक क्षण लगना है।' काश्मीर नरेश आश्चर्य में थे। अब तक ऐसा अलिप्त लौहपुरुष उन्हें प्रतिद्वन्द्वी नहीं प्राप्त हुआ था।

'भगवान् ने दया की। प्रजा की रक्षा का भार उन्होंने मुझसे ले लिया। आप अपना कार्य करें! मैं राजसदन की अपेक्षा तपोवन में रहना अधिक सुखकर मानता हूँ। उन महापुरुष को लोभ स्पर्श तक नहीं कर सकता था।

'आपको अवकाश दे रहा हूँ। कल दूसरे प्रहर मध्याह्न तक आपको अपना निश्चय स्थिर कर लेना चाहिये। यदि नियमानुसार कल तृतीय प्रहर में सौवीर की राजसभा अपनी अध्यक्षता में संचालित करके उसमें अपने विवाह की घोषणा करने को प्रस्तुत न हुए तो राजसभा मेरे संरक्षण में होगी और उसमें काश्मीर के छोटे राजकुमार सौवीर के महाराज घोषित होंगे।' काश्मीर-नरेश उत्तर की अपेक्षा किया बिना अपने सैनिकों के साथ लौट गये।

महाराज ने स्वयं पुत्र के शरीर को उठाया। आज सेवक कहाँ? स्वयं उन्होंने अपने धनुष पर बाण चढ़ाकर शयनकक्ष के चंदन के आसनों, द्वारों, तथा दूसरे पात्रों को टुकड़े-टुकड़े किया। चिता बनायी और पुत्र के शरीर की दाह-क्रिया सम्पन्न की। इस कार्य में पर्याप्त विलम्ब हो गया। अरुणोदय हो चुका था। मूर्छिता महारानी के मुख पर सुगन्धित जल डालकर उन्होंने व्यजन से वायु की।

'वे पिशाच कहाँ गये?' महारानी ने अर्धचेतना में ही कहा।

'इस समय वे चले गये हैं। उठों और मेरे साथ चलो!' महाराज ने इतना ही कहा, सती नारी ने इतना ही बहुत माना कि 'उसके देवता सुरक्षित हैं।' वह आदेश पाकर उठी। पति के कहने पर उसने समस्त आभूषण उतार दिये। एक साड़ी ही शरीर पर रह गयी। दोनों गुप्तद्वार से राजभवन से बाहर हुए।

× × ×

[4]

'महाराज! वे आ रहे हैं।' महारानी अत्यन्त भयभीत थीं। आज के कष्ट के कारण उन्हें ज्वर हो आया था। एक अशोक के नीचे बड़ी-सी शिला पर बिना किसी आस्तण के वे पड़ी थीं। महाराज किसी वन्यफल के कठोर छिलके को ढूँढ़ लाये थे और उसी में समीप के स्रोत से जल ले आये थे। विश्राम के पश्चात् श्रान्ति और बढ़ी ज्ञात हो रही थी। महारानी ने मुख फेरा। पश्चिम में अस्ताचलगामी सूर्य किरणों के प्रकाश में उन्होंने देखा कि सुदूर सपाट भूमि पर कुछ घोड़े दौड़े चले आ रहे हैं। उनकी गति अत्यन्त तीव्र है।

'साध्वी! तुम जल लो।' महाराज ने बिना कुशलता के कहा। उन्हें घूमकर पीछे देखने की आवश्यकता ही प्रतीत नहीं हो रही थी। 'जो आता है, उसे आने दो! भगवान् के मङ्गलमय विधान में कोई बाधा देने में समर्थ नहीं।' वे पत्नी के समीप ही शिला पर बैठ गये।

'वे आ रहे हैं! देखो, वे आ रहे हैं!' महारानी ने कुछ भी नहीं सुना। ज्वर तीव्र हो चुका था। उनके नेत्र दूर लगे हुए थे। 'बहुत-से घोड़े हैं। बड़े वेग से दौड़े आ हे हैं! ओह, उनके साथ बहुत बड़ी पदाति सैन्य है। हम दो निरीह प्राणियों के लिए इतना सैन्यसमारम्भ!' महारानी के नेत्रों में अश्रु-प्रवाह चल पड़ा।

'क्षत्राणी होकर तुम डरती हो? छिः! जल पी लो!' महाराज ने मुख में हाथ से कुछ बिन्दु डाले।

'वे आ गये! आगे-आगे वही पिशाच है। वही-जिसने मेरे पुत्र को खा लिया और

अब स्वामी को....नहीं, मुझे दो अपनी तलवार! तलवार दो!' ज्वर, शोक एवं भय ने उसे महामहिम नारी को विक्षिप्त कर दिया था। वह उठने लगी। महाराज ने अंक में लेकर लिटा दिया। कोलाहल पास आता रहा था। महाराज ने अब उधर देखा।

'सौवीर अमर रहे! सौवीर महाराज की जय हो।' सहस्र-सहस्र कण्ठ आकाश को आंदोलित कर रहे थे। महाराज ने देखा, अपार जनसमूह दौड़ा आ रहा है। कोई पदाति और कोई घोड़ों पर। ऊँट और हाथी भी दृष्टि पड़ते हैं। पूरी मेदिनी मानो दौड़ते मनुष्यों से पूर्ण हो गयी है।

'महाराज रक्षा करें! प्राणदान!!' महाराज कुछ सोचें, इसके पूर्व ही सबसे आगे अश्व का सवार कूदा और उनके पैरों पर गिर पड़ा। कुछ और अश्वारोही भी उसी प्रकार कूदकर पृथ्वी में इस प्रकार गिरे, मानो वे अश्व से लुढक गये हों। महाराज यदि एक क्षण का भी विलम्ब करते तो अवश्य पिछली अश्वपंक्ति से कूदे तरुणों ने इन लुढ़के वीरों की बोटी-बोटी उड़ा दी होती। महाराज दोनों हाथ उठाये खड़े थे। जनसमूह बढ़ता जा रहा था। आगतों के मुख पर प्रतिशोध की भयङ्कर भावना थी। उनके शस्त्र उठे हुए थे और शरीर काँप रहे थे।

'महाराज की जय हो!' महाराज ने देखा कि एक वृद्ध एकत्रित समूह में आगे बढ़े और उन्होंने अपना मस्तक झुकाया। जनसमूह जयनाद कर रहा था। महाराज ने पहचाना- वे सौवीर के महामन्त्री थे। ज्ञात हुआ कि काश्मीर नरेश के विश्वासघात का समाचार लगते ही उन्होंने उसे देश में प्रसारित किया। रात्रि के युद्ध में सेनापति काम आ चुके थे, किंतु नगर के लोगों ने काश्मीर नरेश को दुर्गद्वार बन्द करने नहीं दिया। नागरिक तरुण किसी प्रकार युद्ध कर रहे थे और पास के ग्रामों से तरुणों के दल पहुँचने लगे। चतुर काश्मीरराज भागने की चिन्ता करने लगे। उनके चर ने यहाँ के स्थान का पता दिया। वे इधर ही भागे। मार्ग में वे अपने शेष सभी सैनिक खो चुके हैं।

'आपने मेरी पुत्री को बहिन कहा है। मैं आपका पितृव्य हूँ। मुझे क्षमा!' जो अपने को देवपुत्र कहता था, उसका मुकुट सौवीर-नरेश के चरणों में पड़ा था।

'राजन्! आप व्यर्थ अपने को हीन बनाते हैं!' महाराज ने आदरपूर्वक उन्हें उठाया। 'कौन किसे क्षमा करेगा? कौन किसका शत्रु है? शत्रु तो अपने विकार हैं और उन पर जिसने विजय प्राप्त कर ली, उसका शत्रु कोई विश्व में हो ही नहीं सकता।' सौवीर-नरेश का स्वर गंभीर था।

'महाराज! आप महापुरुष हैं।' काश्मीर-नरेश के नेत्र वृष्टि करने लगे। 'ऐसे अजातशत्रु से जो शत्रुता करता है, विश्व में उसका कोई मित्र भी नहीं रह जाता।'

❑❑

मिथ्याभिमान

'अहं करोमीति वृथाभिमानः'

'बाबू! एक गंभीर रोगी है।' होम्योपैथिक डाक्टर शिर्के ने कहा। 'सिविल सर्जन बुलाया गया है। तुम्हारे वैद्यराज भी हैं और अब मुझे भी फोन आया है; आओ, साथ चलो।'

उन दिनों मैं एक बड़े नगर में रहता था। आयुर्वेद में निसर्गतः अभिरूचि है और होम्योपैथी अपने अत्यधिक सस्तेपन के कारण आकृष्ट करती है। चिकित्सा मेरा कभी व्यवसाय नहीं रहा, कभी बनाने की इच्छा भी नहीं; किंतु वह एक व्यसन तो पता नहीं कब का बन चुका है।

उन दिनों होम्योपैथी सीखने की धुन थी। एक दवाइयां का छोटा बक्स मँगा लिया था और कुछ पुस्तकें। केवल पुस्तकों को पढ़ लेने से चिकित्सा आ जायगी, यह विश्वास मुझे रहा नहीं। अतः डा० शिर्के के समीप जाकर एक घंटे प्रतिदिन बैठने लगा था।

मेरी अभिरूचि ने डाक्टर को आकृष्ट किया। वे मुझसे स्नेह करने लगे और यथासम्भव अपनी व्यस्तता में भी कुछ-न-कुछ बताने लगे। रोगियों को सम्मुख रखकर उनका यह बताना कितना प्रभावकारी था, कहने की कोई आवश्यकता नहीं है।

मुझसे डाक्टर को कोई सङ्कोच होने का कारण नहीं था। वे जानते थे, मैं चिकित्सा को व्यवसाय बनाकर उनका प्रतिस्पर्धी नहीं बनने जा रहा हूँ।

वह पहिला दिन था, जब चिकित्सालय से बाहर रोगी के समीप जाते हुए डाक्टर ने मुझसे साथ चलने को कहा था। अपनी मोटर में वे ड्राइवर के स्थान पर बैठ गये और जब मैं उनका चिकित्सा-बक्स लेकर बैठा, सहकारी को साथ ले जाना आवश्यक हो गया।

× × ×

'मौत की औषधी धन्वन्तरि के समीप भी नहीं, डाक्टर साहब!' नगर के उन सम्भ्रात सज्जन के बँगले में हमारी मोटर रूकी और उतरते ही सबसे प्रथम वैद्यराज जी मिले। वे रोगी को देखकर लौट रहे थे। 'जिसे मैं अच्छा नहीं कर सका, उसे अब तक तो कोई अच्छा कर नहीं सका है। जाइए, आप भी देख लीजिए। सिविल सर्जन आपको भीतर ही मिलेगा।'

वैद्यराज जी नगर में मेरे पड़ोसी है। मुझ पर उनकी अद्‌भुत कृपा है। अपनी चिकित्सा के चमत्कार वे प्रायः मुझे सुनाया करते हैं। मेरी उनपर श्रद्धा है और देश में जो आयुर्वेद के गिने-चुने प्रकाण्ड विद्वान् हैं, उनमें उनकी गणना होती है। अपने अनुभव एवं नैपुण्य पर उनका गर्व उचित ही है।

'आप दस मिनट रूकें तो साथ ही चलेंगे।' मैंने वैद्यराज जी से सहज भाव से प्रार्थना की।' यहाँ से मैं सीधे अपने यहाँ ही चलना चाहता हूँ।'

'अच्छा, मैं रूकता हूँ। तुम हो आओ।' वैद्यराजजी ने मेरी प्रार्थना स्वीकार कर ली।

'होपलेस, डाक्टर साहब!' रोगी के कक्ष के द्वार के बाहर ही हमें सिविल सर्जन मिले। उन्होंने डा० शिर्के से हाथ मिलाया और बोले- 'कोई आशा नहीं।'

स्वभावतः डा० शिर्के निराश हो गये। मैं भला, किस गणना में आता था? किंतु यहाँ तक आ गये थे तो रोगी को देखे बिना लौट जाना उचित नहीं था।

'आप देर से आये!' रोगी के पिता ने कोई उत्साह नहीं व्यक्त किया।

'कृपा करके आप सिविल सर्जन को दस मिनट रोकिये!' रोगी के मुख पर दृष्टि पड़ते ही मुझे सहसा भरोसा हो गया - हम देर से नहीं आये। 'निराश होने का कोई कारण नहीं।'

डा० शिर्के ने आश्चर्य से मेरी ओर देखा। रोगी के वे सम्भ्रान्त पिता- डूबते को जैसे तिनके का सहारा मिला। उनके नेत्रों में कृतज्ञता उमड़ पड़ी और अनेक स्वजनों एवं सेवकों के होते हुए स्वयं उठे सिविल सर्जन को रोकने।

'मैं आज ही कैण्ट की मैटीरिया का अध्याय पढ़कर आया हूँ।' मैंने संकेत किया और डा० शिर्के मेरी ओर झुके तो मैंने उनके कान में फुफुसाते हुए कहा- 'सब लक्षण पूरे मिलते हैं। आप आज चमत्कार दिखा सकेंगे।

डाक्टर शिर्के विश्वस्त नहीं हुए, किंतु मैंने औषधि का नाम बताया और आग्रह किया- 'जब कोई चिकित्सक दवा नहीं दे रहा है, आप भी इन्हें निराश कर दें- यह क्या उचित होगा?'

मेरा अनुरोध मान लिया गया। दवा की एक बूँद जल में डालकर पिला दी गयी और मैंने सदा की भाँति आवश्यकता से बहुत अधिक अपने पर भरोसा करके रोगी के पिता से आग्रह किया – 'आप किसी भी प्रकार सिविल सर्जन को एक बार और रोगी की परीक्षा के लिए यहाँ ले आयें।'

सिविल सर्जन को ले आने में अधिक कठिनाई नहीं हुई। वे रूक गये थे और कहते ही रोगी के कक्ष में चले आये। किंतु उनके आने तक दवा की पहिली मात्रा दिये पाँच मिनट बीत चुके थे और जब वे कक्ष में आये, मैं दूसरी मात्रा दे रहा था। रोगी की बेचैनी में स्पष्ट अंतर इतनी ही देर में देखा जा सकता था।

सिविल सर्जन ने बेमन से हृदय-परीक्षण प्रारंभ किया किंतु क्षणभर में ही वे गंभीर हो गये। उन्होंने बहुत एकाग्रतापूर्वक हृदय, फेफड़े आदि का परीक्षण किया और कई-कई बार किया। अंत में वे उठे और डा० शिर्के की ओर मुड़े- 'धन्यवाद डाक्टर! आप निश्चय सफल हुए। रोगी तेजी से खतरे के बाहर जा रहा है।' मुक्तकंठ से उन्होंने स्वीकार किया।

सिविल सर्जन साहब को अब रूकने के लिए नहीं कहना पड़ा। उनके परीक्षण में पाँच मिनट और लग चुके थे और औषध की तीसरी मात्रा भी रोगी को दे दी गयी थी।

'अब आप कृपा करके एक बार वैद्यराजजी को भी बुला लें।' मैंने आग्रह किया। 'वे मेरे अनुरोध पर बाहर रुके।'

रोगी को अब बेचैनी नहीं रही थी। अब मेरी बात बिना सोचे-समझे मान ली जाय, ऐसी परिस्थिति बन चुकी थी। वैद्यराज जी आये और उन्होंने नाड़ी देखी, उन्होंने भी स्वीकार किया- 'आज मैं मानता हूँ, डा० शिर्के, कि आपने मृत्यु को भी अँगूठा दिखाने में सफलता पायी है।'

'मैंने कुछ नहीं किया है।' डा० शिर्के ने मेरी ओर देखा। 'मैं भी आप सबके समान सर्वथा निराश हो चुका था और लौटने वाला था; किंतु.......।'

'रोगी का प्रारब्ध उसकी रक्षा करने को उद्यत था।' बात गलत स्थान पर समाप्त होने जा ही थी, इसलिए मुझे बीच में बोलना पड़ा। 'भगवान् की कृपा! वे परमप्रभु जिसे रखना चाहते हैं, उसे मार देने की शक्ति तो यमराज में भी सम्भव नहीं है।'

× × ×

'तुम इतने निपुण चिकित्सक हो!' हम जब लौटे, तब मार्ग में मेरे पास बैठे वैद्यराज ने मुझसे कहा। 'किंतु तुमने मुझे गंध तक नहीं लगने दी कि तुम चिकित्सा-

शास्त्र से भी परिचय रखते हो।'

डा० शिर्के मुझे और वैद्यराज को भी अपनी मोटर में लिये जा रहे थे। मैंने कहा तो था कि ताँगा करके मैं चला जाता हूँ; किंतु उनका आग्रह था कि वे मुझे अपने यहाँ छोड़कर तब चिकित्सालय जायेंगे।

'मैं अभी पन्द्रह दिन से होम्योपैथी सीखने लगा हूँ।' मैने कहा। 'यह तो संयोग था कि सुयश मुझे प्राप्त होना था। चिकित्सा का अधिष्ठान रोगी अनुकूल स्थिति में था, कर्ता चिकित्सक की सूझ-बूझ ठीक थी; औषध का चुनाव उचित हुआ और ठीक ढङ्ग से वह निर्मित थी, उसे देने की पद्धति में भी कोई भूल नहीं हुई और सबसे बड़ी बात कि रोगी का प्रारब्ध अनुकूल था। इनमें-से एक भी बात यदि ठीक न होती, चिकित्सक क्या कर लेता।'

'अच्छा, तो तुम अपनी दार्शनिकता पर आ गये हो।' वैद्यजी किंचित् मुसकराये।

'दार्शनिकता की तो यहाँ कोई बात नहीं है।' मैं कह रहा था। 'सभी विषयों में सफलता इन सब संयोगों पर ही निर्भर हुआ करती है। 'मैंने किया' यह अभिमान तो मनुष्य का व्यर्थ ही है।'

'कहते तुम ठीक हो!' वैद्य जी ने अनुमोदन किया और स्वयं गीता के श्लोक उनके मुख से निकलने लगे-

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्।।
शरीरवाङ्मनोभिर्यत् कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः।।
तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः।।

❑❑

सफलता

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः।।

'अस्वस्थ देह, अशान्त मानस, अहङ्कार-उन्मत मानव यदि सफल हैं, तो असफल कौन कहा जायगा?' वह आज पूर्णतः उत्तेजित है। आत्मघात करने को उद्यत होने वाले की उत्तेजना अपनी चरम सीमा पर होती है। ऐसा क्षुब्ध व्यक्ति किसी का भी सङ्कोच नहीं करता। वह बलात् खींच लिया गया, जब गङ्गोत्तरी में गङ्गा के प्रवाह में अपना शरीर समर्पित करने जा रहा था। इस बात ने उसे अधिक क्षुब्ध कर दिया है- 'आप कहते हैं कि मेरे पास सम्पत्ति है, अधिकार है, सम्मान है। मैं इतना सफल जीवन प्राप्त करके यह अनर्थ क्यों कर रहा हूँ। यह बात आपके-एक साधु के मुख से शोभा देती है? मानव-जीवन के बहुमूल्य वर्षों को विनष्ट करके, सतत श्रम से स्वास्थ्य की बलि देकर धातु की चमकती राशि, कुछ रङ्गीन कागज के टुकड़ों के पुलिन्दे अथवा मूल्यवान् कहे जाने वाले पत्थर पा लिये, मूर्खों के समुदाय ने अपना अग्रणी मान लिया अथवा प्रशंसा के पुल बाँध दिये और इस प्रशंसा एवं अधिकार ने अंतर की शान्ति का अपहरण कर लिया। इस पर अब आपके यह महाव्यंग्य कि मैं अत्यन्त सफल व्यक्ति हूँ?'

'किंतु अपघात का यह अनर्थ तुम्हें किस समस्या का समाधान देगा? साधु ने शान्त स्वर में कहा- 'शेष प्रारब्ध से छुटकारा मिलना नहीं है। जीवन से असमय भागने का अपराध करके तुम अपने को अधिकतम दण्ड का ही भागी बनाओगे!'

'हे भगवान्!' वह दोनों हाथों से सिर पकड़कर बैठ गया और फूट-फूटकर रोने लगा।

'भगवान् करुणावरुणालय है। उनका असीम अनुग्रह है तुम पर।' साधु ने स्वस्थ आश्वासन दिया-'अन्यथा सुयश, सम्पत्ति एवं शासनाधिकार के पीछे संसार के लोग पागल हैं। उन्हें पता तक नहीं चलता कि यह उन्माद उन्हें किस गर्त में अवश ले जा रहा है। शासनाधिकार के साथ अशान्ति, सम्पत्ति के साथ चिन्ता एवं श्रम तथा अस्वास्थ्य, सुयश के साथ अहङ्कार, अयश का भय आदि अनेक दोष रहेंगे ही। मनुष्य की सबसे

बड़ी असफलता यही है कि वह इन्हें जीवन की सफलता समझता है। जब यह बात सूझने लगे तो समझना चाहिए कि माया ने अपनी माया-यवनि का उठा लेने का अनुग्रह किया है।'

'महाराज! मैं अधिक आस्थावान् नहीं हूँ।' उसने सिर उठाया। 'तत्त्वज्ञान या आत्मसाक्षात्कार, भगवद्दर्शन, निर्विकल्प समाधि आदि में मनुष्य की सफलता है, मेरा ऐसा विश्वास नहीं है। जैसे सम्पत्ति, सुयश, शासनाधिकार की महत्ता सुनते-सुनते संस्कार बन गया है कि इनकी प्राप्ति जीवन की सफलता है, वैसे ही ग्रंथ पढ़कर अथवा आप लोगों से सुनकर समाधि आदि में महत्त्व बुद्धि हो जाती है। एक संस्कार चित्त में डालो कि अमुक अवस्था परम सफलता है और तब उस कल्पना को साकार करने में जुटो।'

'मुझे बहुत प्रसन्नता है कि तुम सचमुच समझदार हो।' साधु उसे गङ्गातट से अपने आश्रम में ले आये। अग्नि के समीप बैठने के पश्चात् बोले- 'देखो, सुख की निर्बाध उपलब्धि ही प्राणियों का स्वाभाविक लक्ष्य है। सच्चा सुखी आप्तकाम पुरुष ही होता है और आत्माराम ही आप्तकाम होता है।'

'आप्तकाम हुए बिना अशान्ति तो मिटती नहीं।' उसने स्वीकार किया-'कामना के पीछे भागने में कितनी भी उसकी पूर्ति प्राप्त होती रहे विश्राम कहीं नहीं है। भोग उलटे रोग का प्रसाद देता है।'

'अब विचार करके देखो!' साधु गम्भीर बन गये- 'मद और मत्सर पामर पुरुषों में होते हैं। पाप करना ही जिन्हें प्रिय है, उनकी चर्चा अनावश्यक है। वे पतन के पथ पर लुढ़के जा रहे हैं। अब आप्तकाम होने में चित्त के चार विकार बाधक रह जाते हैं- मोह, लोभ, काम और क्रोध। मोह और लोभ विषयी पुरुष को अपनाते हैं। ये स्थायी विकार हैं। प्रत्येक अवस्था में प्रत्येक आयु में ये बने ही रहते हैं। ये मन्द गति से बहते हैं; किंतु बद्धमूल होते हैं। इनको निर्मूल किये बिना कोई साधक नहीं बनता।लोभ और मोह का उन्मूलन जहाँ हो जाता है, वहाँ से परमार्थ का पथ प्रारंभ होता है। साधक में वैराग्य न हो तो साधन कैसे चलेगा और वैराग्य का अर्थ ही है- 'लोभ तथा मोह का सम्यक् त्याग।'

'भगवान् ने तुम पर अनुग्रह किया है। तुम में वैराग्य आया है। लोभ-मोह से तुम ऊपर उठ सके हो।' कुछ क्षण रुककर साधु बोले- 'अब काम और क्रोध के वेग को सहने की क्षमता उत्पन्न करो। जीवन की सफलता यही है कि मनुष्य इनके वेग को सह लेने में सक्षम हो। विश्वास करो, जिस दिन तुम यह शक्ति प्राप्त कर लोगे आप्तकाम हो जाओगे!'

'काम और क्रोध तो निमित्तज हैं।' वह उस दिन साधु के समीप से उठ आया और धर्मशाला के अपने कमरे में आकर सोचने लगा-'कोई प्रलोभन सम्मुख आयेगा तो मन में उसे प्राप्त करने की वासना उठेगी। कोई अपने अभीष्ट में व्याघात बनेगा तो उस पर क्रोध आयेगा। तब ऐसा क्यों नहीं किया जा सका कि निमित्त प्राप्त ही नहीं हो।'

गङ्गोतरी से वह लौटा; किंतु घर न आने का तो निश्चय कर चुका था। तीर्थयात्रा में लगा रहा कुछ काल और यह यात्रा भी उसकी हिमालय के पर्वतीय तीर्थों की ही थी। अंत में एक एकान्त निर्झर के किनारे एक गुफा को अपना आश्रय बनाकर जम गया पास के पर्वतीय ग्राम के लोग जैसे ही पहिली बार दर्शन करने आये, उसने बता दिया कि केवल शाम को दो घण्टे ही गुफा से निकलकर बाहर बैठेगा और कोई स्त्री अथवा कन्या उसकी गुफा के पास कभी आयी तो यहाँ से चला जायगा।

जप तथा गीता-भागवत का पाठ-स्वाध्याय। बड़ा शान्त तथा आनन्दमय जीवन उसे प्रतीत हुआ। अपने साथ थोड़े से वस्त्र, दो कम्बल, एक लोटा तथा गीता एवं भागवत की पुस्तकें - इतनी ही सामग्री लाया था। ग्राम के लोग उसे आटा, आलू, नमक, तथा दूध दे देते थे। शरीर-निर्वाह के लिए इतना सब पर्याप्त था।

'कहो नारायण ! प्रसन्न हो?' अचानक एक दिन उसकी गुफा पर वे गङ्गोतरी वाले साधु आ धमके। ये बाबाजी लोग विचित्र होते हैं। हाथ जोड़ो प्रार्थना करो, धरना तक दे डालो किंतु ध्यान नहीं देंगे तो नहीं देगे। किंतु यदि किसी की ओर ढल पड़े; फिर उसका पिण्ड भी नहीं छोड़ेंगे। अब पता नहीं कैसे उसका पता लगाकर ढूँढ़ते हुए आये हैं। आये और सीधे गुफा में उसके आसन पर जाकर विराजमान हो गये।

'मेरा सौभाग्य !' वह हर्ष विह्वल हो उठा। चरणों पर मस्तक रखकर प्रणाम किया उसने।

'सौभाग्य अथवा दुर्भाग्य की बात पीछे देखी जायगी। इस समय तो मैं तुम्हें यहाँ से निर्वासित करने आया हूँ। बैठों और स्थिर होकर सुनो !' साधु ने उसके बैठ जाने पर कहा- 'तुमने अपने को भ्रम में डाल रक्खा है। कोई प्रलोभन सम्मुख न हो या स्वयं में शक्ति न हो, यह अकामता अथवा काम-विजय नहीं है। सब लोग सम्मान करें, सब अनुकूल आचरण करें तो क्रोध किसी को क्यों आयेगा? साधक के लिए एकान्त आवश्यक है; किंतु इससे अपने में आप्तकाम होने का भ्रम होता है। अवस्था आ गयी है कि तुम अब जन-सम्पर्क में आकर आत्मपरीक्षण करो !'

उसके अत्यन्त आग्रह करने पर भी बाबाजी रुके नहीं। वे उसी समय चले गये। कठिनाई से उन्होंने थोड़ा दूध स्वीकार किया था। उसके चले जाने के पश्चात् उसने भी गुफा छोड़ दी।

वह हिमालय की तपोभूमि से मैदान के कोलाहलपूर्ण क्षेत्र में आ गया; किंतु यह अवतण केवल शारीरिक नहीं रहा। उसे लगा कि वह मानसिक दृष्टि से भी हिमालय से नीचे गिर गया है। यह समाज, यह अशान्त वातावरण- उसे लगता है कि साधारण व्यक्ति भी उसकी अपेक्षा मानसिक दृष्टि से अधिक सशक्त है।

अब उसे कौन बतावे कि जैसे चमड़े के कारखाने का कर्मचारी चमड़े की गन्ध के प्रति सहिष्णु हो जाता है, वेसे ही उत्तेजक वातावण में रहने वाले व्यक्ति चित्त भी क्रमशः क्षीणसत्त्व हो जाता है। उसे उत्तेजना-प्राप्ति के लिए अधिक उपकरण अपेक्षित होते हैं।

यह बात भी वह कहाँ समझता है कि चित्त में एक साथ अनेक आवेग नहीं रह सकते। जिनके चित्त में मोह या लोभ जितने प्रबल हैं, उनहें काम या क्रोध उतने कम अभिभूत कर पाते हैं। लोभी व्यापारी हँसकर अपमान सह लेने में चतुर होता है। किंतु शुद्ध जल के सरोवर में सामान्य वायु भी लहरें उठाया करती हैं।

समाज में नारी ने अपने को अर्धनग्न रखना सभ्यता मान लिया है। अब कोई कहाँ तक नेत्र बन्द किये चल सकता है। लोग सादे सामान्य वेश का ही उपहास करते है। तनिक वेश में धार्मिकता वयञ्जित हो तो उस पर व्यङ्ग कसना आज के युवकों को अपना गौरव जान पड़ता है।

बड़ी व्यथा, बड़ी अशान्ति मिली है उसे इस वातावरण में आकर। वह तो उन्मत्त ही हो जाता यदि उसे अचानक वे साधु न मिल जाते। वृन्दावन वह आया तो भी उसे शान्ति नहीं मिली थी। बार-बार चित्त में विकृति आती है। बार-बार रोष आता है। कितना भ्रम में था वह अपने सम्बन्ध में।

'बच्चे!' साधु ने बहुत स्नेहपूर्वक उसके मस्तक पर हाथ रक्खा- 'व्याकुल मत बन। ऐसा भवन नहीं बनेगा, जो जीर्ण न हो, मैला न हो। ऐसा शरीर नहीं होगा, जो रोगी न हो। यदि हो भी जाय, जैसा कि कुछ दिव्य देह अमर पुरुषों का है तो कोई महत्ता उसकी नहीं है।'

'शरीर स्वस्थ रहे या रोगी, मैं चिन्ता नहीं करता।' उसने अश्रुभरे नेत्र उठाये।

'मैं यही कह रहा हूँ कि शरीर की चिन्ता से पागल मत रहा कर!' साधु ने स्नेहपूर्वक कहा- 'सूक्ष्मशरीर भी शरीर ही है बच्चे!'

'भगवन्!' यह ऐसे चौंका, जैसे पैरों के नीचे सर्प का आ गया हो। भला इस बात से क्या तात्पर्य हो सकता है इन साधु का?

'काम और क्रोध स्थायी वृत्तियाँ नहीं हैं।' साधु समझाने लगे- 'ये आवेग हैं, आँधी की भाँति निमित्त के संयोग से आते हैं। आने से पूर्व जिनका पता ही नहीं होता,

उन्हें आने से ही तू कैसे रोकेगा? समष्टि में निमित्त आवें ही नहीं, किसी के वश की बात है?'

'तब?' केवल नेत्रों के भाव उसके पूछ रहे थे। शब्द वह चाहता भी तो कण्ठ से नहीं निकलते।

'आँधी तो आयेगी। आने का पता लगे तो भवन के द्वार बन्द कर ले।' साधु ने अपनी बात की व्याख्या कर दी– 'काम तथा क्रोध के वेग तो आयेंगे। आने पर सावधान होकर इन्द्रियों के द्वार बंद कर। इनका वेग क्रिया से, शब्द से, शरीर की भावभङ्गिमा से बाहर निकले– शरीर छोड़कर ये बाहर जायँ, इससे पहिले ही इन्हें चित्त में दबा दे। इनका वेग भीतर ही सहन कर लेने की क्षमता हो जाय तो तू आप्तकाम हो गया। सुखी हो गया। सफल हो गया।'

श्रीबाँकेबिहारी जी के मंदिर में एक कोने पर दीवाल से टिके वे दोनों आधे खड़े प्राय:थे। मंदिर के पट खुल गये। गोस्वामी जी ने चिक उठाना प्रारंभ कर दिया। दोनों शीघ्रता से सम्मुख आ गये। साधु ने वार्ता का उपसंहार किया। थोड़े शब्दों में 'अपने प्रयत्न से कोई कदाचित् ही सफल होता है। सफलता इनके श्रीचरणों में रहती है। इतना स्मरण रख तो तुझे अशान्ति स्पर्श नहीं करेगी।'

× × ×

'सफलता श्रीकृष्णके चरणों में रहती है।' उसके मस्तिष्क में गूँजते रहते हैं। ये शब्द। उस दिन आरती के पश्चात् निकला तो वे साधू उसे मिले नहीं। दर्शन करने में लगने पर पता नहीं चला कि कब बाहर चले गये; किंतु इनके शब्द उसे भूले नहीं हैं। 'सफलता साधना के परिपाक में नहीं है। वह किसी क्रिया में, पदार्थ में अथवा चित्त के अवस्था विशेष में भी नहीं रहती। वह तो श्याम के श्रीचरणों में रहती है।

'कन्हाई ! यह क्या ऊधम है?' अब भी उसके चित्त में विकार तो आता है। किंतु विकार का वेग उठते ही एक बात और आती है। वह अपने भीतर ही अपने अंतर्यामी इस गोपकुमार पर बिगड़ता है। एक झिड़की और सब जैसे शान्त हो गया। अब बाह्य दृश्य अपना सिर धुनें। आँधियाँ उद्दाम वेग के प्रवेश के लिए जैसे वहाँ क्षुद्र छिद्र भी नहीं रह गया। बात बहुत सीधी है। मन्मथ भुवनविजयी भले हो; किंतु जहाँ उसकी आहट पर उसका बाप ही डाँट खा जाय, बेचारा बेटा वहाँ आने का साहस करे भी तो कैसे।

'कृष्ण ! अब तू मुझे भी चिढ़ाने का साहस करता है?' क्रोध अधिक धृष्ट है

पुष्पधन्वा की अपेक्षा; किंतु उसके पद भी पलायन करते दीखते हैं जब प्रलयङ्कर के भी परमपराध्य पर कोई कड़ी आँखें उठाता है। वह तो तब तक टिका रहता है, जब तक कि उसे यह स्मरण न आवे कि यह बाह्य निमित्त उसका वह चिर चञ्चल ही उपस्थित करता है।

किंतु वह अब भी दुःखी रहता है- 'मैं इस सुकुमार को क्यों बार-बार डाँट देता हूँ। कितना सङ्कोची है, यह कभी तनिक विनोद कर ही लेता तो बिगड़ता क्या है।'

'क्यों रे, तू इसे भी दुःख कहता है?' सदा की भाँति वे साधु इस बार भी उसे अकस्मात ही मिले थे। उन्होंने हँसते हुए कहा- 'श्राबृजराजकुमार से चाहे काम का सम्बन्ध हो या क्रोध का, वह तो विकार है ही नहीं। उससे तो घृणा करके भी मानव-असुर मुक्त हुए हैं। जहाँ क्षोभ में भी सुखस्वरूप की स्मृति है, वहाँ दुःख कहाँ रहता है। श्रीकृष्ण की स्मृति- ठीक तब, जब विस्मृति की संभावना ही सबसे अधिक है। तो वेग-सहिष्णुता का यह आधार पाकर ही तो सम्पूर्ण रूप से सफल है।'

भाग -4

सहज त्याग

'भगवान् अमरनाथ के दर्शन होंगे।' श्रद्धा भरी थी स्वर में। 'जो हम संसार के कर्म-कल्मषग्रस्त प्राणियों को शुद्ध सत्त्व सेवन का संदेश देने के लिए सृष्टि की आदि से गिरिगह्वर में उज्जवल हिमलिङ्ग के रूप में आसीन हैं, उन आशुतोष के अर्चन का हमें सौभाग्य प्राप्त होगा।'

'वह वहाँ महामाया वैष्णवी देवी के पादपद्मों में प्रणत हो सकेंगे।' शक्ति के आराधक के लिए कम आकर्षण कहाँ है कश्मीरमण्डल में। 'वे जगद्धात्री द्वापरान्त से वहाँ तपस्या कर रही हैं। श्रीमूर्ति जो चर्मचक्षुओं को दृष्टिगत होती है, माया है वह तो उनकी। वे साक्षात् तपोनिरत हैं। कल्कि के रूप में युगान्त में अवतीर्ण होने वाले अपने नित्य आराध्य की प्रतीक्षा कर रही हैं वे वहाँ।'

'सबसे महान् सौभाग्य हमारा है कि भगवती हंसवाहिनी के वरद पुत्र का साक्षात्कार करेंगे।' सबमें वयोवृद्ध विद्वान् बोल रहे थे। 'श्रुतियों के उन सचल स्वरूप का क्षण सांनिध्य भी प्राप्त करना कितना महान् पुण्योदय है।'

प्रयाग के प्रतिष्ठित पण्डितों का समुदाय एकत्र था, वहाँ उस दिन। जहाँ विद्वान् एकत्र होंगे, वहाँ विद्या, विद्वान् एवं शास्त्रों की चर्चा होगी ही। उस दिन एक ने अकस्मात् कह दिया- 'हम जिनके ग्रन्थ पढ़ते-पढ़ाते हैं, वे पण्डितराज कल्लट केसे होंगे?'

आज का युग नहीं था। पुस्तकें छपती नहीं थीं। पत्रों में उनकी समालोचना नहीं निकलती थी। उनके प्रचार का साधन उनकी श्रेष्ठता ही थी। उन्हें इतना उत्कृष्ट होना चाहिए कि जो एक बार उनके पृष्ठ उल्टे, वह इतना समुत्सुक हो उठे कि कई मास उनकी प्रतिलिपि करने में होने वाला श्रम उसे सहज स्वीकृत हो जाय। इस प्रकार प्रतिलिपि-परम्परा से ही उनका प्रचार-प्रसार सम्भव था।

आप अनुमान कीजिये, सुदूर कश्मीर की किसी एकान्त कुटिया में ग्रन्थ प्रणयन करने वाले महापुरुष की अपूर्व शक्ति का। उसके जीवनकाल में ही उसके ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ प्रयाग एवं काशी तक पहुँच गयी थीं और इन संस्कृत विद्या के महान् केन्द्रों में देश के सम्मानित विद्वान् उन प्रतिलिपियों का आदर करते थे। वे अपने

अध्यापन में उनसे सहायता पाते थे।

ऐसे महत्तम के दर्शन की उत्कण्ठा होना आश्चर्य की बात तो थी नहीं। परन्तु उन दिनों यात्रा के लिए केवल अपने पैरों का आश्रय था। यात्रा का संङ्कल्प सरल नहीं था। प्रयाग से कश्मीर-आज भी दूरी उतनी ही है। आप आज पैदल यात्रा का एक बार अनुमान लगा देखें। भूले नहीं कि उस समय आज के समान स्वच्छ प्रदेश एवं उत्तम सड़कें भी नहीं थीं। देश घोर अरण्यों से व्याप्त था।

ब्राह्मणों के लिए यात्रा में बहुत सुविधा थी। वन के बर्बर लोग, दस्यु भी अपना सौभाग्य समझते थे उनकी सेवा करने में। ब्राह्मण का शाप सह लेने का साहस क्रूर कर्मियों में भी नहीं था। तपस्वी, त्यागी था ब्राह्मण और जब उसमें ब्रह्मतेज विद्यमान है, वन्य पशु भी उसके चरणों में मस्तक ही झुका सकता है।

'केसर और कवित्व की जन्मभूमि कश्मीर मण्डल है!' आज विद्वदवर्ग के कुछ सामान्य सदस्य समुत्सुक हो उठे थे। यात्रा के लिए- 'कश्मीर के महाराज विद्वानों के आराधक कहे जाते हैं। उनकी श्रद्धा को स्वीकृति देना अनुचित नहीं होगा।'

'अनुपम तीर्थ-यात्रा है! सभी दृष्टियों से सर्वश्रेष्ठ!' एक तरुण विद्वान् उल्लास में आये। 'भूस्वर्ग कश्मीर की सुषमा सरस हृदय को सदा आकृष्ट करती है। ऊपर से अमरनाथ की यात्रा और महापण्डित कल्लट का साक्षात्कार। भारत के सर्वश्रेष्ठ धर्मप्राण नरपालिका आतिथ्य यात्रा-श्रम को दूर करने के लिए वहाँ प्रथम उपस्थित मिलता है।'

× × ×

'प्रयाग के प्रतिष्ठित विद्वान पधार रहे हैं!' महाराज को बहुत पूर्व समाचार प्राप्त हो गया अपने सदा सावधान चरों के द्वारा और उनका आदेश देश की सीमा तक के शासक अधिकारियों के पास चला गया- 'दीर्घकाल की कठिन यात्रा से वे सभी श्रद्धेय क्लान्त होंगे। हमें धन्य करने वे पधार रहे हैं। उनकी सुख-सुविधा की व्यवस्था में होने वाला प्रमाद क्षम्य नहीं होगा। उनकी रूचि का हमें सम्मान करना है। उनकी इच्छा ही हमारे लिए आज्ञा है।'

सन्तोष नहीं हुआ महाराज को अपने प्रबन्ध से। उन्होंने स्वयं यात्रा की। सम्मान्य अतिथि किसी सङ्कोच में न पड़े, इस उद्देश्य से साक्षात् सम्मुख उपस्थित होने का साहस नहीं किया उन्होंने। 'राजशिविर साथ-साथ चले तो उन त्याग-मूर्तियों को असुविधा होगी!' नरेश ने व्यवस्था इस प्रकार की कि वे अतिथियों के आगमन से पूर्व

प्रस्थान कर दिया करेंगे एक पड़ाव आगे। इस प्रकार प्रथम पहुँचकर सब व्यवस्था का स्वयं निरीक्षण कर लिया करेंगे वे।

'वे विद्वान् हैं, ब्राह्मण हैं, तप एवं तेज के स्वरूप हैं!' महाराज सतत सावधान थे। 'कहीं वे रुष्ट न हो जाएँ!' उनके संयम, अर्चन एवं अह्निक में कोई व्याघात न पड़े।'

ब्राह्मणों को यह बताने की भी अनुमति नहीं थी सेवकों को कि उनका सत्कार स्वयं कश्मीर के अधिपति कर रहे हैं। उन विद्वानों के लिए यह अनुमान कर लेना कठिन नहीं होगा, यह दूसरी बात।

यात्रा में कष्ट तो होता ही है। एक योजन से अधिक न चलने वाला इन विप्रो की यात्रा! त्रिकाल स्नान-सन्ध्या, विस्तृत नित्यकर्म एवं पूजन – कैसे सम्भव है कि यह सब करते हुए कोई एक योजन से अधिक की यात्रा एक दिन कर ले! मार्ग में उन्हें चातुर्मास्य भी तो करने पड़े। प्रयाग से प्रस्थान के दिन उस समय का यात्री गिनने बैठ नहीं सकता था।

उन तेजोमूर्तियों को कहीं प्रतिकूलता प्राप्त नहीं हुई। देवता और दस्यु दोनों उनकी सेवा करके अपने को भाग्यशाली मान सकते थे। उनसे सदा आग्रह ही किया मार्ग में पड़ने वाले नगरों एवं अरण्य के वासियों ने – 'आप सब एक दिन और रूककर हमें पवित्र करते।'

निर्जन अरण्य भी आये– कुछ अर्थ नहीं था। उनकी सेवा का सौभाग्य वहाँ अधिक प्राप्त होगा, इस प्रलोभन से अनेक सुदूर ग्रामों के सरल प्राणी पहले पहुँच जाया करते थे। अरणि-मन्थन करके अग्नि प्रकट करना पड़ता था केवल यज्ञ के लिए और वारुण-मन्त्रों का कभी प्रयोजन नहीं पड़ा। जल का अभाव सम्मुख आया नहीं। तपस्वी ब्राह्णों का वृन्द जब यात्रा करता हो, प्रकृति सत्त्व-परीक्षण की धृष्टता नहीं कर सकती।

× × ×

'अतिथि महापण्डित के दर्शन करने पधारेंगे सर्वप्रथम!' महाराज को इसकी आशा पहले से थी। व्यवस्था उसके अनुरूप करने में कोई कठिनाई नहीं थी; किन्तु महापण्डित के आश्रम पर तो कोई व्यवस्था की नहीं जा सकती।

'भद्रे! अतिथि पधारे हैं! अर्घ्य!' महापण्डित अपनी लेखनी छोड़कर बड़ी आतुरतापूर्वक उठे थे। उन्होंने आज पता नहीं कितने वर्षों के पश्चात् पत्नी को उच्च स्वर में पुकारा था।

गौरवर्ण, कृशकाय, उन्नतभाल, रजतश्मश्रु– जैसे कोई जनलोक का ऋषि धरा पर उतर आया हो। शिला पर एक जीर्ण कुशासन पड़ा था और आस-पास भूर्जपत्र बिखरे पड़े थे।

मृत्पात्र में अर्घ्य के लिए जल लेकर जब महापण्डित की सहधर्मिणी उटज से बाहर आयीं- सत्युग की कोई ऋषि-पत्नी अवश्य ऐसी ही होंगी।

'हम आपके दर्शनार्थ आये हैं। साक्षात् न सही- आपके वाङ्मय के शिष्य हैं हम!' आगतों ने श्रद्वासमन्वित प्रणिपात किया। पण्डितराज उन्हें साष्टाङ्ग अभिवादन कर रहे हैं- यह अत्यन्त सङ्कोच की बात थी।

'आज मैं धन्य हुआ! आप ब्राह्मण-अतिथियों के श्रीचरण यहाँ आये! मेरा गार्हस्थ सार्थक हुआ।'

महापण्डित के नेत्रों से बिन्दु नहीं टपकते थे- धारा चल रही थी। 'आप सत्त्वमूर्तियों में यह शील, विनम्रता, श्रद्धा स्वाभाविक है; किंतु आतिथ्य मेरा अधिकार है। मैं आपको सङ्कोच में नहीं डालूँगा। आप जब जैसे संतुष्ट हों।'

महापण्डित ने स्वयं चरण-प्रक्षालन का आग्रह नहीं किया। उन्होंने देख लिया कि अतिथि इसमें सङ्कोच पा रहे हैं। जल देकर उन्होंने चरण धुलाये। शिला पर चटाई बिछा दी। तपस्वी के आश्रम पर आतिथ्य उसके उपयुक्त ही तो होगा।

'आपकी सत्कीर्ति हमें ले आयी है।' आगतों ने अपना परिचय दिया। 'हम धन्य हुए इन चरणों के दर्शन करके।'

लोकोत्तर विद्वानों का मिलन हुआ था। उनकी विनम्रता अपूर्व थी। 'विद्या ददाति विनयम्' यह प्रत्यक्ष हो गया उस दिन वहाँ।

'अतिसांनिध्यादनादरम्।' तनिक एकान्त पाकर प्रयाग के एक पण्डित ने अपने सहचरों से धीरे से कहा- 'यहाँ का नरेश ऐसे अमूल्य रत्न का भी आदर नहीं कर सका।'

'यह जीर्ण कुटीर! यह कङ्गाली और सरस्वती के ऐसे वरद पुत्र के पास!' व्यथा सबके चित्त को पीड़ित कर रही थी। 'हम कल उसे धिक्कारेंगे। वह अपने परम पूज्य का उचित पालन भी कर नहीं सकता- कितना अधम है यहाँ का नरपाल!'

× × ×

'मैं आप सबकी आज्ञा शिरोधार्य करने में अपने जीवन की सार्थकता समझता हूँ।' महाराज ने बड़ी ही नम्रता पूर्वक निवेदन किया। 'किन्तु महापण्डित के सम्मुख इसे उपस्थित करने का साहस मुझमे नहीं है। आप इसे उन तक पहुँचा देने की कृपा करें और वे यदि रूष्ट हों तो आप सब उन्हें शान्त कर लेंगे, यह आश्वासन मुझे दें!'

'आप भय न करें!' विद्वानों ने आश्वासन दिया। 'हम यह दानपत्र स्वयं महापण्डित को अर्पित कर देंगे।'

'हम इतना ही चाहते हैं कि यह कश्मीरभूमि उनके श्रीचरणों से धन्य बनी रहे!' दानपत्र प्रयाग के पण्डितों को अर्पित करते हुए महाराज के कर कम्पित हो रहे थे। 'आपके आश्वासन का मुझे अवलम्बन है। वही हमारा आधार है।'

प्रयाग के विद्वान् राजसभा में पधारे थे। महाराज ने उनका श्रद्धा-समन्वित स्वागत किया था, उन्हें वस्त्राभरण एवं विपुल दान-दक्षिणा प्रदान की थी; किन्तु उन विद्वान् ब्राह्मणों ने नरेश के सम्मान के प्रति आस्था नहीं व्यक्त की। वे भारती के भव्य पुत्र- उन्हें भय किसका! उन्होंने स्पष्ट सुना दिया- 'नरेश! तू हमें इस कंचन से ठगना चाहता है? तू चाहता है कि इसे लेकर हम तेरा स्तवन करें, तेरी कीर्ति का प्रस्तार करें? कृपण! तेरे यहाँ अमूल्य रत्न है और तूने उसको दो मुट्ठी अन्न देने की व्यवस्था भी नहीं की। भारत का सर्वश्रेष्ठ विद्वान तेरे यहाँ जीर्ण तृणकुटीर में कच्चे फलों पर जीवन यापन करने को विवश है!'

'आप सब सत्य कहते हैं।' नरेश के नेत्रों में अश्रु आ गये। किंतु महापण्डित कुछ स्वीकार करेंगे, इसकी सम्भावना कहाँ......।'

'तूने प्रयत्न किया कभी?' विद्वानों का रोष शान्त नहीं हुआ था। अन्ततः उनका आदेश महाराज ने डरते-डरते स्वीकार किया। एक उत्तम जागीर का दानपत्र लिखवाया। उन्होंने और राजमुद्रा से उसे अङ्कित करके उन पण्ड़ितों को अर्पित कर दिया।

'क्या प्रश्न है? वैसे ही सुना दें आप सब!' वह दान पत्र लेकर जब विद्वानों का समुदाय महामण्डित के आश्रम में पहुँचा और उनके चरणों के समीप उन्होंने वह दानपत्र धर दिया, तब महापण्डित ने समझा कि कोई लिखित शङ्का इन विद्वानों ने उनके सम्मुख रखी है।

'कोई प्रश्न नहीं।' नम्रतापूर्वक ब्राह्मणों ने कहा। 'नरेश ने निर्वाह-योग्य भूमि श्रीचरणों में अर्पित की है, उसका यह दानपत्र है।'

'इतना साहस आ गया उसमें! अब वह इतना गर्विष्ठ हो गया कि कल्लट को दान देने लगा है?' महापण्डित झटके से उठ खड़े हुए। दानपत्र शिला से नीचे गिर पड़ा। उन्होंने चटाई गोल करके बगल में दबा ली और कमण्डलु उठाया। पत्नी को आदेश दिया- 'भद्रे! यह भूमि अब ब्राह्मण के रहने योग्य नहीं रही। इसके शासक में धनमद आ गया। चलो, चलें यहाँ से।'

पतिव्रता को लेना क्या था, उटज में उसकी गृहस्थी कितनी थी। उसने अपना जीर्ण उत्तरीय मस्तक पर डाला और द्वार से बाहर आ खड़ी हुई।

'मुझे क्षमा कर दें! यह अपराध मैंने स्वतः नहीं किया है।' कश्मीर नरेश वृक्षों के पीछे से निकले और चरणों पर गिर पड़े।

'यह अपराध हमारा है। हमने महाराज से अनुरोध किया था।' विद्वानों ने कर बद्ध प्रार्थना की।

'आप सब तो अतिथि है !' महापण्डित शान्त हो गये। उन्होंने संकेत किया पत्नी को कुटिया में चले जाने का। चटाई शिला पर बिछा दी। कमण्डलु धर दिया। दानपत्र उठकर फाड़ते हुए नरेश से बोले- 'जब ब्राह्मण आगे हों, क्षत्रिय क्षम्य हो जाता है । अब जा ! फिर आश्रम में मत आना।'

'ब्राह्मण का - मनुष्य मात्र का आराध्य धन है धर्म !' महापण्डित के आसन की शिला के आस-पास दानपत्र के टुकड़े वायु में उड़ रहे थे। वे महामानव प्रयाग से पधारे पण्डितों को बता रहे थे। 'जिसके पास वह धर्मरूपी धन है, क्या करेगा वह इस स्वर्ग-भूमि आदि का; ये तो कङ्गालों की कौड़ियाँ है उसके सम्मुख !'

❑ ❑

धर्मात्मा

[1]

बड़ी भारी कोठी है। ऊँची चहारदीवारी से घिरी हुई कोठी के चारों ओर सुन्दर वाटिका है। छोटा-सा राजभवन कहें तो भी कोई हानि नहीं। कोठी से सटकर चहारदीवारी के बाहर एक फूस की पुरानी झोपड़ी है। फूस की टट्टियों से घिरी अनेक स्थानों से टूटी झोपड़ी है। कोठी जितनी स्वच्छ, जितनी विशाल, जितनी सजी हुई एवं वैभव सम्पन्न है, झोपड़ी उतनी ही जीर्ण-शीर्ण, उतनी ही अपने में सिमटी-सिकुड़ी और उतनी ही कङ्गाल है। कोठी और झोपड़ी- दोनों एक दूसरे से सटी। इनका क्या मेल? क्या सामजंस्य इनमें? लेकिन सामजस्य जो संसार में है, यही है। हम हृदय में और बाहर झोंपड़ी से सटी हुई कोठी खड़ी करते हैं।

नानुपहत्य भूतानि भोगाः सम्भवन्ति हि।

झोंपड़ियों को गिराकर ही कोठी बनी- जाने दीजिये इस बात को। यह तो होता ही है। ऐसा न करना हो तो कोठी बने ही नहीं। लेकिन यह कोठी कैसे और कब बनी, मैं यह नहीं कहने चला हूँ। मुझे तो इनकी कहानी कहनी है- इनमें रहनेवालों की कहानी। कोठी है और उससे सटी झोंपड़ी है। कोठी से सटी झोंपड़ी होगी ही, उसके दम्भ पर परिहास करती-सी; किंतु ये कोठी और झोंपड़ी कुछ भिन्न हैं। इनमें धर्मात्मा रहते हैं, दोनों में ही धर्मात्मा रहते हैं।

कोठी है, सेठजी, बाबूजी, महाराज जी, लालाजी, नेताजी, मिनिस्टर जी, मेम्बर जी को छोड़कर कोठी हो भी किसकी सकती है। अब उन सेठजी का नाम-धाम पता-ठिकाना जानकर आप क्या करेंगे? वे बड़े सज्जन हैं, बड़े उदार हैं, बड़े दानी हैं, बड़े भक्त हैं, बड़े धनी हैं, बड़े व्यापारी हैं, अर्थात् बड़े हैं! बड़े हैं!! बड़े हैं!!!

झोंपड़ी है भोला की। सम्मान से कहना हो तो भोलाराम कह लीजिये। आप उसका विवरण जानने की इच्छा सहज ही नहीं करेंगे। वह कङ्गाल है, श्रमजीवी है, दुबला है, ठिगना है, धीरे-धीरे बोलता है, धीरे-धीरे चलता है। थोड़े में कहें तो वह छोटा है, छोटा है, छोटा है। अन्ततः उसकी झोपड़ी भी तो छोटी ही है। उसके पास क्या

मोटर है कि इधर-उधर सर्र-सर्र दौड़े उस पर चढ़कर! उसके पास तो एक बुढ़िया घोड़ी भी नहीं! सेठ जी बोलते हैं तो कोठी गूँज उठती है; किंतु भोला का शब्द तो उसकी झोपड़ी में भी पूरा सुनायी नहीं पड़ता। भोला यदि सेठजी की भाँति एक बार भी जोर से बोले तो कोई उसका सिर न फोड़ देगा तो झिड़क देगा जरूर।

सेठजी के बनवाये तीर्थों में अनेकों मन्दिर हैं, धर्मशालाएँ हैं। स्कूल पाठशालाएँ कई उनके व्यय पर चलती हैं और कई तीर्थों में अन्न-सत्र चलते हैं उनकी ओर से। गरमी के दिनों में कितनी प्याऊ सेठ जी चलवाते हैं; यह संख्या सैकड़ों में है और जाड़ों में जिन साधु-ब्राह्मण एवं कङ्गालों को वे वस्त्र तथा कम्बल दिलवाते हैं, उनकी संख्या तो कई सहस्र होगी। कोठी से थोड़ी ही दूर पर सेठ जी ने अपने आराध्य का मन्दिर बनवाया है। कई लाख की लागत होगी। इतना सुन्दर, इतना विशाल इतना सुसज्जित मन्दिर आस-पास देखने में ही नहीं आता। दूर-दूर के यात्री मन्दिर में दर्शन करते हैं। स्वयं सेठजी नित्य दो-तीन घंटे पूजा-पाठ करते हैं। कई विद्वान ब्राह्मण उनकी ओर से जप या पाठ करते रहते है। नियमित रूप से सेठ जी कथा सुनते हैं। उनका दातव्य औषधालय चलता है और पर्वों पर प्रायः वे किसी-न-किसी तीर्थ की यात्रा कर आते हैं। तीर्थं में दान-दक्षिणा तथा पूजन में हजारों खर्च कर आते हें सेठ; ऐसा धर्मात्मा इस युग में बहुत कम देखने में आता है।

भोला जब रोटी बना लेता है, प्रायः पड़ौसी की गाय हुम्मा-हुम्मा करती आ जाती है उसकी झोंपड़ी में। एक टुकड़ा रोटी भोला उसे देता है। गैया ने यह नियमित दक्षिणा बाँध ली है। एक कुतिया ने कहीं पास ही बच्चे दिये हैं। दो-तीन पिल्लों के साथ वह पूँछ हिलाती आ जाती है। बेचारी हड्डी-हड्डी हो गयी है भूख के मारे और उस पर ये पिल्ले। भोला भोजन करने के पश्चात् एक टुकड़ा रोटी किसी प्रकार उसके लिए भी बचा रखता है। पास की सड़क पर वहाँ आम के नीचे जो कोढ़ी बैठता है, रोटी तो सेठ जी के क्षेत्र से उसे कुछ डाँट-डपट सुनने के पश्चात् मिल ही जाती है; किंतु पानी का नल कहीं पास में है नहीं। भोला उसके घड़े में सबेरे और शाम को नियम से एक घड़ा पानी डाल आता है। वह जो पीपल के नीचे नाले के प्रवाह में पकड़कर गोल-मटोल बना पत्थर रक्खा है, वही भोला के शङ्कर जी हैं। स्नान के बाद एक लोटा जल वह उनको चढ़ा देता है, यही उसकी पूजा है। वह तीर्थ करने जाय तो पेट को फीस कहाँ से मिले? यहीं क्या कम है कि शिवरात्रि को, वर्ष में एक बार वह चला जाता है गङ्गा-स्नान करने।

ये दो धर्मात्मा हैं। कोठी में रहते हैं सेंठ जी और झोंपड़ी में रहता है भोला। भोला में साहस नहीं कि कोठी में सेठ जी के पास जाय और उनसे परिचय करें और सेठ जी को कहाँ इतना अवकाश है कि अपनी इस विशाल कोठी के बाहर कोने में जो फूस की ढेरी है, उस पर ध्यान दें और सोचे कि उसमें भी कोई दो पैर का जन्तु रहता है। ये दोनों पड़ोसी हैं, पर है सर्वथा अपरिचित। आप सम्भवतः मुझे कोसेंगे कि मैं क्यों भोला की

व्यर्थ चर्चा करता हूँ। वह धर्मात्मा है- उसका धर्म यदि उसी के समान अपरिचित है हमारी-आपकी दृष्टि में तो उसका क्या दोष?

× × ×

[2]

अपने दोषों को जरा भी न देखना और किसी के गुण में भी दोष निकाल लेना संसार के प्राणियों का कुछ स्वभाव हो गया है। वे सज्जन कहते हैं- सेठ जी दान-दक्षिणा का दम्भ तो बहुत करते हैं; किंतु उनके व्यापार में धर्मादे की जो रकम निकलती है, वह भी रोकड़-बही में जमा ही रहती है। यह मन्दिर कैसे बना, ये क्षेत्र कैसे चलते हैं, इनका कहीं कुछ हिसाब ही नहीं है। सच्ची बात तो यह है कि ब्लैक (चोरबाजारी) की जो नित्य की आमदनी है, उसका एक अंश इस धर्म कर्म में इसलिए लगाया जाता है कि वह आमदनी पच सके।'

ये दूसरे बाबाजी अपने को बड़ा विचारक और सच्चा आलोचक मानते है। ये कहते हैं- 'सेठ जी के मन्दिर को देखकर वही लोग प्रशंसा कर सकते हैं, जिन्होंने सेठजी की कोठी भीतर से ही नहीं देखी। सेठ जी ने अपने लिए जैसा मकान बनवाया है, मन्दिर उसकी तुलना में कुछ भी नहीं है। भगवान् के लिए जो वस्त्र एवं आभूषण हैं, उससे अच्छे तो अपने लड़के के ब्याह में सेठजी ने नौकर-नौकरानियों को उपहार में दे दिये। यहाँ मन्दिर में दो-तीन सामान्य सेवक हैं और इन सबका वेतन मिलकर भी सेठजी के एक निजी सेवक के वेतन के बराबर नहीं है। भगवान् के भोग की बात तो छोड़ दो। ये रोटियाँ सेठजी के यहाँ झाँड़ू देने वाले भी नहीं छुयेंगे।'

ये नेताजी हैं। ये सेठजी के ही किसी कारखाने में किसी पद पर काम करते हैं। इनकी बात और भी विलक्षण है। ये मजदूरों को उपदेश दिया करते हैं कि 'काम कम-से-कम करना और पैसा ज्यादा-से-ज्यादा लेना ही बुद्धिमानी है। इन सेठों से जितना ओर जैसे भी वसूल किया जाय, सब जायज है। सामने अफसर आ जाय तो काम करना, नहीं तो आराम करना। और कहने-रोकने पर उसी को दोष निकालकर लड़ने को तैयार हो जाना, उसे पूँजीपति या गरीबों का शत्रु बताकर चिल्लाने लगना- ये ही तरीके हैं इन लोगों पर विजय प्राप्त करने के।' ये व्याख्यानों में कहते हैं- 'सेठ जी मजदूरों के पक्के शोषक हैं। दया का नाम भी इनमें नहीं है। तनिक-सी भूल पर नौकरों को निकाल देना यहाँ रोज-रोज की घटना है। कितना कम वेतन दिया जाय और कितना किससे काम लिया जाय, यही सेठ जी की दृष्टि में रहता है। काम करने वाला भूखा है, थक गया है, दु:खी है आदि बातों की और उनका स्वयं को ध्यान जाने से रहा, कोई इनकी चर्चा भी कर दें तो लाल हो उठते हैं।

ये पण्डित जी भी सेठ जी से सन्तुष्ट नहीं जान पड़ते। स्वयं चाहे अनुष्ठान के

समय ऊँघते ही रहें पर इनका अभियोग है- 'सेठ जी लम्बे अनुष्ठान भी पहले से बहुत थोड़ी दक्षिणा तै करके कराते हैं। पाठशालाओं में अध्यापकों को बहुत कम वेतन दिया जाता है। मन्दिरों और क्षेत्रों में सदा कटा-कसर करते रहते है। धर्म में भी मोल-भाव करते हैं और यदि किसी ने बिना तै किये पूजा-पाठ कर दिया, तब तो उसे इतनी कम दक्षिणा मिलती है कि वह कहीं मिट्टी खोदता तो उससे अधिक पाता।'

संसार में दोष देखनेवालों की, असूया-गुण में भी दोष की कल्पना करनेवालों की कमी नहीं है। कोई सेठजी को कंजूस कहता है, कोई अनुदार बतलाते हैं; कोई निष्ठुर कहता है और कोई अश्रद्धालु। स्वयं रिश्वत लेनेवाले सरकारी कर्मचारी उन्हें चोर बाजारी आदि का दोष देते हैं तो दूसरे दलों के नेता उन्हें शोषक कहते हैं।

जहाँ दूसरों को सेठ जी के बहुत-से दोष दीखते है; वहीं सेठ जी को भी दूसरों से सन्तोष नहीं है। सबसे अधिक तो वे इस झोंपड़ी से असन्तुष्ट हैं, जो उनकी विशाल कोठी से सटी खड़ी है। इस कूड़े के ढ़ेर ने उनकी कोठी की शोभा ही बिगाड़ रक्खी है। उन्होंने अनेक बार अपने मुनीम-मैनेजर से कहा, अनेक बार प्रयत्न कराये झोंपड़ी की भूमि खरीदने के लिए। उनके सेवकों ने बताया है कि इस झोंपड़ी में एक बहुत बुरा आदमी रहता है। बुराई उसमें सबसे बड़ी यही है कि वह किसी दम पर भी अपनी झोंपड़ी बेचता ही नहीं। सेठ जी ने कभी नहीं देखा झोंपड़ी में रहने वाले उस गन्दे जीव को। वे उसे देखना चाहते भी नहीं। वह घमण्डी है, उजड्ड है, मूर्ख है – और जाने क्या-क्या है। सेठ जी के मन से। वे उससे घृणा करते हैं। वह भला आदमी कैसे हो सकता है, जबकि एक औषधालय या पाठशाला बनाने के लिए अपनी सड़ी झोंपड़ी बेच नहीं देता।

भोला की बात छोड़ दीजिये। वह तो पूरा भोला है। कुछ मजदूर नेताओं ने उसे भड़काने का प्रयत्न किया; कुछ दूसरे लोगों ने भी कारण-विशेष से उसके कान भरे, उसे अनेक लोगों ने सेठजी के विरूद्ध बहुत कुछ बताया; किंतु ऐसे सब लोगों का अनुभव है कि भोला पल्ले सिरे का मूर्ख और एकदम कायर है। उसमें साहस है ही नहीं सेठ के विरुद्ध मुख खोलने का। कुछ लोग यह भी कहते हैं कि उसे सेठ से अवश्य गुप-चुप अच्छी रकम मिलती है। भोला क्या कहता है, इसे कोई सुनना नहीं चाहता। वह कहता है- 'सेठ जी बड़े धर्मात्मा हैं। कमाने को तो सभी उलटे-सीधे कमाते हैं; परन्तु अपनी कमाईमें से इस प्रकार और इतना दान-पुण्य भला कौन करता है। ऐसे धर्मात्मा के पड़ोस में मैं रहता हूँ, यही मेरे बड़े भाग्य हैं। सेठ जी मेरी झोंपड़ी अच्छी काम के लिए ही लेना चाहते हैं। इसमें उनका तो कोई स्वार्थ है नहीं। इतने बड़े आदमी का भला बित्ताभर जमीन से क्या बनता-बिगड़ता है। लेकिन मैं क्या करूँ? मेरे बाप-दादे की यही तो झोंपड़ी है, मैं इसे कैसे बेच दूँ।'

भोला धर्मात्मा है – कुछ सीधे-सादे गरीब लोग कहते हैं। वह सड़क पर आम के नीचे पड़ा रहने वाला कोढ़ी तो भोला की प्रशंसा करता थकता ही नहीं। सेठजी धर्मात्मा

हैं, इसे कैसे कोई अस्वीकार कर देगा। यह बात तो सहस्रों व्यक्ति कहते हैं।

× × ×

[3]

'कभी-कभी बहुत उल्टी बात होती देखी जाती है। विशेषतः ये लँगोटीधारी फक्कड़ लोग ऐसी अटपटी बातें करते हैं कि साधारण व्यक्ति कुछ समझ ही नहीं पाता, उस दिन ऐसे ही फक्कड़ आ गये थे कहीं से घूमते हुए। खूब मोटे-ताजे बाबाजी थे। हो तो गये थे बूढ़े, शरीर में झुर्रियाँ पड़ गयी थीं और बाल सब-के-सब चाँदी जैसे हो गये थे; किन्तु जब चलते थे, अच्छे-अच्छे साथ चलने में दौड़ने को विवश होते थे। इतना ही बाबाजी का घर-परिवार, माल-असवाब सब था। उन जाड़ों के दिनों में भी वे नङ्ग-धड़ङ्ग मस्त घूमते थे। यहाँ आकर सेठजी की कोठी के पास वह जो पीपल है, उसके नीचे आसन लगाया उन्होंने। सेठ जी को पता लगा होगा, वे एक महात्मा को इस प्रकार सर्दी सहते देखकर बहुत बढ़िया कम्बल लेकर आये थे। बाबा जी ने कम्बल उठाकर फेंक दिया और बिगड़े - 'मैं पाप की कमाई नहीं खाया करता।' अब यह अटपटी बात नहीं तो क्या है? बेचारे सेठ जी हाथ जोड़े खड़े रह गये। कोई दूसरा हो तो... लेकिन फक्कड़ का कोई क्या कर लेगा?

बात यहीं रह जाती तो भी कुछ आश्चर्य न होता। सबको आश्चर्य तो तब हुआ, जब वहाँ भोला लगभग दौड़ता हुआ आया। वह भी साधु-सन्तों का बड़ा भक्त है। दो मटमैले-से कई दिन के तोड़े हुए नन्हे-नन्हें अमरूद बाबा जी के पैरों के पास रखकर वह भूमि में पूरा ही लेट गया। बाबा जी ने झटपट अमरूद उठा लिये और इस प्रकार उनका भोग लगाने लगे, जैसे कई दिनों से कुछ खाया ही न हो।

'भगत! बड़े मीठे हैं तेरे अमरूद!' वे मस्त हो रहे थे ओर इस प्रकार भोला से बाते करने लगे थे, जैसे वहाँ और कोई हो ही नहीं। 'तू बड़ा धर्मात्मा है। आज मैं रात को यहीं रहना चाहता हूँ, मेरे लिए थोड़ा-सा पुआल ला दे तू।'

'महाराज! मेरे पास ताजा पुआल....।' भोला बहुत संकुचित हो गया था, उस बेचारे के पास ताजा पुआल कहाँ से आवे। वह कोई किसान तो है नहीं। कहीं से कुछ पुआल ले भी आया होगा तो झोंपड़ी में बिछाकर उसी पर सोता होगा।

'सेठजी! आप कष्ट न करें।' महात्माजी ने सेठजी को रोक दिया; क्योंकि वे एक सेवक को कोठी में-से पुआल ले आने का आदेश दे रहे थे। सेठ जी को मना करके वे भोला से बोले- 'तू जो पुआल बिछाता है, उसमें से ही दो मुट्ठी ले आ। देख, सब-का-सब मत लाना।'

'यह कौन है?' सेठ जी ने अपने मुनीम से, जो पास खड़ा था, पूछा।

'इसी की झोंपड़ी है वह!' जैसे सेठ जी आकाश से भूमि पर गिरे। 'यह धर्मात्मा है?' वे मस्तक झुकाये बहुत देर सोचते रहे।

'तुम क्या सोचते हो?' सन्त ने अब कृपा की उन पर। जो धर्म का सच्चा जिज्ञासु है, वह भूलें चाहे कितनी भी करे, अंधकार कब तक अटकायें रख सकता है उसे। सन्त कह रहे थे- 'वह धर्मात्मा है या नहीं, इस बात को अभी छोड़ दो ! तुम धर्मात्मा हो या नहीं- यही बात सोचो।'

'मुझसे जो बन पड़ता है, करने का प्रयत्न करता हूँ।' सेठजी का अन्तर स्वच्छ था और वे वहीं कह रहे थे, जो उनकी सच्ची धारणा थी।

'यदि भोला तुम्हारे दस हजार रुपये चुरा ले......।' सेठ जी चौके और भोला की ओर देखने लगे। महात्माजी ने कहा- 'डरो मत ! तुम्हारे रुपये सड़क पर भी पड़े हो तो वह छुएगा नहीं। मैं तो समझाने की बात कह रहा हूँ कि यदि वह तुम्हारे दस हजार चुरा ले और उनमें-से सौ रुपये दान कर दे तो वह दानी हो जायगा या नहीं?'

'चोरी के धन को दान करने से दानी कैसे होगा? वह तो चोर ही रहेगा।' सेठ जी ने भोला की ओर देखते हुए उत्तर दिया।'

'वह सौ रुपये का दान कुछ फल नहीं देगा? क्या पकड़े जाने पर सरकार उसे दान करने के कारण छोड़ेगी नहीं?' सन्त ने बहुत भोलेपन से पूछा।

'दान तो उसने किया ही कहाँ। दान तो मेरे रूपये का हुआ, सो दान का कुछ पुण्य हो तो जिसका रुपया है, उसको होना चाहिए। सरकार भला क्यों छोड़ने लगी उसे।'

'अब सोचो- तुम जो धन दान करते हो, वह सब तुम्हारी ईमानदारी की कमाई का है या झूठ, छल, कपट, धोखा देकर उसे प्राप्त किया गया है?'

'तो मेरा सब दान-धर्म...!' सेठ जी सहसा नहीं बोल पाये। वे कई क्षण चुप रहे और जब बोले -रुकते-रुकते वाक्य पूरा करते अटक गये। उनकी आँखों से टप-टप बूँदे गिरने लगी थी।

'ऐसा नहीं !' महात्मा जी की वाणी में बड़ा स्नेह और आश्वासन था- 'चोर ने जो रुपये चुराये हैं, उन पर अनुचित रीति से ही सही, पर उसका अधिकार तो हो ही गया है। वह उन रूपयों को बुरे कर्मों में भी लगा सकता है और दान भी कर सकता है। इसलिये जब वह उनमें से कुछ दान करता है, तब दान का पुण्य तो उसे होता ही है; किंतु चोरी के पाप से दान करे वह छूट नहीं जाता। चोरी का दण्ड तो उसे भोगना ही पड़ेगा। अवश्य वह दूसरे दान न करने वाले चोर से श्रेष्ठ है। उसे दान का पुण्य फल भी अवश्य मिलेगा।'

'यह नन्हीं-सी सेवा.....।' सेठ जी बहुत देर सिर झुकाये चुपचाप कुछ सोचते रहे। बड़ी नम्रता से हाथ जोड़कर अन्त में अपने कम्बल को स्वीकार करने की पुनः प्रार्थना की उन्होंने।

'तुम्हारी वस्तु होती तो मैं अवश्य ले लेता।' महात्मा कुछ हंसते हुए-से बोले- 'तुम्हारा हृदय पवित्र है भैया ! भगवान् बड़े दयालु हैं। वे शरणागत के अपराध देखना

ही नहीं जानते। वे क्षमा करेंगे और शक्ति देंगे। मैं यहाँ फिर आऊँगा और उस समय तुम मुझे अपने वस्तु दे सकोगे।'

साधुओं की इन उल्टी-सीधी बातों को समझना कठिन ही है। सेठजी ने क्या समझा, कुछ पता नहीं; किंतु उस कम्बल को लेकर वे महात्मा के चरणों में प्रणाम करके कोठी में लौट गये।

× × ×

[4]

व्यापारी कहते हैं- 'सेठ पक्का धूर्त है। इसने हम लोगों का रूपया हड़प जाने के लिए दिवाला निकाला है। बहुत बड़ी रकम दबा ली है इसने।'

भिखारी कहते हैं- 'यह महान् कृपण है। इसने चलते हुए क्षेत्र बन्द करा दिये। भिखारियों की रोटी बन्द करके धन बटोरने में लगा है।'

पण्डे-पुजारी कहते हैं- 'अब यह नास्तिक हो गया है। पर्वों पर भी न तो कोई भेंट चढ़ाता और न कथा-वार्ता ही कराता है।'

सब लोग निन्दा करते हैं, सब असन्तुष्ट हैं। सेठजी का दिवाला निकल गया है। वे अब एक छोटे-से भाड़े के महान में पत्नी के साथ रहते हैं। दलाली करके किसी प्रकार पेट भर लेते हैं। न मोटरें हैं, न कोठी है। न सेवक हैं, न स्तुति करने वाले हैं। मन्दिरों में जो धन पहले लगा दिया था, उसी से वहाँ पूजा की व्यवस्था चलती है। सेठ जी अब यदा-कदा ही अपने मन्दिरों में जाते हैं। वे तो आजकल एक कम्बल की पूजा करतें हैं।

यह सब तो हुआ; पर सेठजी हैं बड़े ही प्रसन्न। इतना कष्ट-क्लेश, इतना अपमान-तिरस्कार, इतना उलट-फेर-जैसे कुछ हुआ ही नहीं। वे कहते हैं- 'अब मुझे पता लगा कि सुख क्या होता है और कहाँ मिलता है? अब तक तो मैं अशान्त और दुःखी ही था।'

आज फिर वे महात्माजी आये हैं। उसी पीपल के नीचे आसन लगाया है उन्होंने। आज भोला और सेठजी एक साथ आये। कहना यह चाहिये कि सेठजी भोला को देखकर आये। एक बहुत घटिया कम्बल सेठ जी ने महात्माजी के चरणों के पास धर दिया और भूमि पर मस्तक रखा।

'अब इस वर्ष जाड़ेभर मैं कम्बल ओढूँगा।' महात्माजी ने चटपट कम्बल उठाकर ओढ़ लिया।

'ये कृपा न करते तो मुझ-जैसे का उद्धार न होता, इनके पड़ोस के कारण ही मैं गिरकर सम्हल सका।' सेठजी भोला के चरण छूने जा रहे थे।

'आप यह क्या कर रहे हैं? महात्मा हैं आप तो। हक्का-बक्का-सा भोला पीछे हट गया।

वे सन्त दोनों पर अनुग्रह की वर्षा करते हुए मन्द-मुन्द मुस्करा रहे थे। ❑❑

धी-धर्म

सा बुद्धिर्विमलेन्दुशङ्खधवला या माधवव्यापिनी।

केशर की क्यारियाँ जिसकी वायुमें सौरभ भरती हैं, कश्मीर की वह कमनीय भूमि काव्यकला एवं विद्वानों की भी कई शताब्दियों से क्रीड़ाभूमि रही है। कई-कई दिगन्तदिग्विजयी भारती के भव्य पुत्रों ने उस प्रकृति की प्रिय रङ्गस्थली को भूषित किया है, किंतु अनन्त आकाश में जो असीम आलोक के एकमात्र आवास हैं, उन भगवान् भास्कर को भी अस्ताचल जाना पड़ता है। कश्मीर की प्रतिभा का वह अद्‌भुत आलोक भी उस दिन तमसाच्छन्न हो उठा था। दिग्विजयी, शास्त्रार्थ-पंचानन प्रतिपक्ष प्रलयंकर प्रकाण्ड पण्डित पराजित लौटे थे उस दिन। शिष्यों को उन्होंने मार्ग में ही विदा कर दिया था। केवल दो नैष्ठिक गुरुभक्त साथ आये थे। ग्रन्थों तथा सामग्रियों से भरे शकट, विजयोद्‌घोषक बाद्य एवं परिकर, बहुमूल्य उपहारों से पूर्ण मंजूषाएँ तथा अश्व-गजादि का यूथ इस बार दूसरी यात्राओं के समान साथ नहीं आया था। वह सब वाराणसी में ही विसर्जित हो गया, जीवन की प्रथम पराजय के दिन ही।

'मैंने वाग्देवीकी आराधना की थी युयावस्था के प्रारम्भ में ही, उन हंसवाहिनी ने मुझे अपने आशीर्वाद से सनाथ किया; किन्तु काशी विश्वनाथकी पुरी है। उस औढरदानी आशुतोष के आराधकों के सम्मुख शारदा की शक्ति भी कुण्ठित हो गयी, इसकी लज्जा मुझे नहीं है।' रजत केश, सुदीर्घ शरीर, पाटल वर्ण एवं विशाल भाल से मण्डित स्वयं शैव हैं। उनके ललाट का त्रिपुण्ड और कण्ठ की रुद्राक्ष माला आज तक आतङ्क के स्थान पर श्रद्धा उत्पन्न करने वाली हो गयी है। उनमें जो पण्डित्य का गर्व तथा औद्धत्य था, आज शमित होकर सौम्याकृति बन गयी है उनकी और उनके प्रशान्त मुख पर दीर्घ नेत्र जैसे किसी रहस्य को देख लेने के प्रयत्न में हैं।

पश्चात्ताप या खेद का लेश नहीं है मुख पर। जीवन में जो विजय घोष सुनने का अभ्यासी रहा, वैभव जिसके चरणों में लुण्ठित होता रहा, जो सुरों के समान स्तोत्रों से सम्मानित होता रहा, वह आज सम्पूर्ण राजसिकता विसर्जित करके अधिक भव्य हो गया है। उसने- उसकी सूक्ष्मदर्शिनी प्रज्ञा ने देख लिया है कि उसकी प्रतिभा जहाँ पूर्ण

वेग से प्रधावित थी, वह प्रशंसा मृगमरीचिका मात्र निकली। उनको संतोष है- 'भगवान् चन्द्रमौलि के अपने आवास का चारु यश सुरक्षित रहना चाहिये था मेरी धृष्ठता ही थी कि मैं अन्नपूर्णा की पुरी से भी विजयपत्र चाहता था। काशी के वृद्ध एवं विद्याधनी शास्त्रार्थ में नहीं आते, यह सुना था। उनके चरणों में मस्तक रखने वाले श्री विश्वनाथ के सेवक तरुण मेरा गर्व नही सह सके, स्वाभाविक था और अन्ततः शारदा भी तो उन त्रिलोचन की कृपा कण से ही शक्तिशालिनी है। मुझ अनुचर का गर्व नाश करके उन्होंने कृपा ही की।'

'नहीं राजन्! यह वृद्ध अब राज सभाओं का सत्कार-सेवन करके तृप्त हो चुका। इसे आप अब अपने भस्माङ्गरागभूषित भवहारी आराध्य की सेवा के लिए अवकाश दें।' महापण्डित ने कश्मीर-नरेश की प्रार्थना स्वीकार नहीं की। महाराज अपने महापण्डित की इस पराजय को महत्व नहीं देते थे। वे चाहते थे कि राजसभा पहले के समान उनसे सुशोभित हो। नरेश का यह प्रस्ताव भी कि महापण्डित के युवा पुत्र उनका स्थान स्वीकार करें, स्वीकृत नहीं हुआ।

'वत्स! विद्यावाग्देवी का वैभव है; किंतु वे शुभ्र कमलासना ही सर्वोपरि नहीं है।' उन प्रज्ञा के परम धनी ने पुत्र को आदेश किया। 'पिता का अपूर्ण कार्य जो पूर्ण कर दिखाये, पुत्र होना उसी का सफल हुआ। मेरे पिता की आकांक्षा शास्त्रार्थ-जयी होने की थी। उसे पूर्ण करने में जीवन लगा दिया मैंने, किंतु ब्राह्मणत्व दूसरे को पराजय देने में नहीं है। धी की प्राप्ति-विशुद्ध निर्मल धी ब्राह्मण का धन है, तुम उसे उपार्जित करो।'

× × ×

'वत्स ! तुमने अपने अभिवादन से कौटल्य को गौरवान्वित किया। जिनकी यशोगाथा हिमवान् के शुभ्र शिखरों से लेकर आसिन्धु भारतभूमि को पवित्र करती है, उनके सुमेधा पुत्र जिसके अन्तेबासी होने पधारें, वह धन्य हुआ।' मगध का चक्रवर्ती जिनके सम्मुख सेवक के समान करबद्ध खड़ा होता था, वे आचार्य चाणक्य गद्गद-कण्ठ कश्मीर से आये युवक को अपनी भुजाओं में बाँधे, वक्ष से लगाये थे। उन राजनीति के परम चतुर, सदा शुष्क कहे जाने वाले के नेत्रों से बिन्दु टपक रहे थे।

'आर्यवर्त आज आर्य की बुद्धि से श्रीसम्पन्न है!' विनम्र ब्राह्मण युवक ने झुककर चरण-स्पर्श किया। 'पिता ने मुझे 'धी' की प्राप्ति का आदेश दिया है और आज देश में आर्य ही एकमात्र उसे ज्योतिःकेन्द्र हैं।"

उस अत्यन्त सुन्दर, शिष्ट, विद्वान् युवक को विश्राम की आवश्यकता थी। सुदूर कश्मीर से यात्रा करता वह मगध पहुँचा था। अपने उटज में ही आचार्य ने उसे

आवास दिया। चाणक्य के शिष्य गुरु का इङ्गित न समझ सकें तो उनका शिष्यत्व कैसा। वे अपने नवीन सहपाठी की सुव्यवस्था तथा सत्कार में स्वतः लग गये।

'आर्य! धी का स्वरूप क्या?' गोमयोपलिप्त वेदिका पर मृगचर्म बिछाकर कृष्णवर्ण, दीर्घारुण-नेत्र, भारतीय नीतिशास्त्र की साकार मूर्ति के समान आचार्य चाणक्य जब अपना प्रातःकृत्य करके, अग्नि को आहुतियाँ देकर विराजमान हो गये, वह प्रलम्ब-बपु, आजानुबाहु, कमललोचन, पाटलगौर नवयुवा कश्मीर का आगत छात्र उनके सम्मुख वेदिका से नीचे कुशासन पर आ बैठा। उसके नेत्र एवं मुख की आकृति कहती थी कि जिज्ञासा उसमें सचमुच जागी है।

'कौटल्य दार्शनिक नहीं, नीतिज्ञ है, वत्स!' आचार्य चाणक्य गम्भीर हो गये। 'तुम्हारे नेत्र एवं भाल की रेखाएँ कहती हैं कि तुम्हारी प्रतिभा जब जागेगी, उसका आलोक जगती को चमत्कृत कर देगा। तुम्हारे-जैसे मंत्री पाकर मगध अपने को अनायास कृतार्थ मानेगा। तुम राजनीति में रुचि लेते....।'

'मैं तुम्हें निराश नहीं करूँगा।' दो क्षण चाणक्य मौन रहे। उन्होंने देख लिया कि उनका प्रयास असफल रहा है। उनका यह नवीन छात्र अभी राजनीति की ओर आकर्षण नहीं रखता। अतः उसके प्रश्न का उत्तर दिया उन्होंने- "बिना दर्शन के कोई विद्या पूर्ण नहीं होती; अतः चाणक्य दर्शन से अपरिचित है, ऐसा भी कहा नहीं जा सकता। धी एक वृत्त्यात्मक शक्ति है। वह पदार्थ नहीं है। अतः उसका रंग अथवा स्वरूप भी निश्चिन्त नहीं है। मन ही जब विवेचन करता है, 'धी' कहलाता है और वह जिस तत्व को ग्रहण करके विवेचन करे, तदाकार हो जाना उसका स्वभाव है।'

'आर्य! धृष्टता क्षमा करें।' युवक दो क्षण मौन रह गया और आचार्य की अनुमति दृष्टि के संकेत से पाकर बोला- 'राजनीति के विवेचन का कार्य राजस नहीं है, आर्य?'

'कर्म की समस्त प्रेरणा, समस्त कर्म चिन्तन राजस है।' बिना कुण्ठित हुए चाणक्य बोले। 'राज्य-व्यवस्था तो राजस है ही। उसमें लगी बुद्धि राजस है और राजनीति तो राजस ही नहीं, तामस भी है। उसमें हिंसा, छल आदि अनेक ऐसी बातें हैं, जो धर्म शास्त्र को स्वीकार नहीं है।'

'विशुद्ध धी....' युवक ने पूछने पर उपक्रम मात्र किया।

'चाणक्य अर्थ एवं काम का विद्वान् है, वत्स!' आचार्य ने बड़े स्नेह से देखा उसकी ओर। 'तुम आज विश्राम करो। तुम्हारे उपयुक्त स्थल का विचार करूँगा। सत्त्वोन्मुख ब्राह्मण कुमार को राजस् के कीच में डालने का अपकर्म कौटल्य नहीं करेगा।'

× × ×

राजनीति के कठिनतम प्रश्न जिसके भाल पर एक भी आकुंचन लाने में समर्थ नहीं हुए थे, वे आचार्य चाणक्य भी गम्भीर बन गये थे। उनके सम्मुख भी कश्मीर का यह युवक समस्या था। वे एक साम्राज्य के सूत्रधार-अभीप्सु ब्राह्मण-युवकों की जिज्ञासा को समाधान प्राप्त हो, इसकी व्यवस्था क्या राज्य का कर्त्तव्य नहीं है? राज्य कितना भी शक्तिशाली और साधन-सम्पन्न हो, क्या यह व्यवस्था उसकी सामर्थ्य सीमा में है?

कश्मीर से कोरा हाथ हिलाते ही तो वह यहाँ नहीं आ गया था। कश्मीर ही कहाँ तपस्वी साधकों एवं सिद्धों से रहित है? वैष्णव देवी और अमरनाथ का आकर्षण किसको वहाँ आकर्षित नहीं करता? स्वयं शिवाचार्य विद्यमान हैं वहाँ और उनका अनुग्रह प्राप्त है युवक के श्रद्धेय पिता को।

'प्रज्ञा और प्राण को एक करके साधक जब मूलाधार से उठती परावाणी को जीवन में अवतरित कर पाता है, उसके जन्म-जन्म के कलुष उस धवल धारा में धुल जाते हैं। प्राणों में अवतरित परावाणी ही पिण्ड में जाह्नवी का अवतरण है।' श्रीशिवाचार्य के उपदेश को अयथार्थ कहने का साहस कौन करेगा? लेकिन प्रत्येक जिज्ञासु किसी एक ही साधन का अधिकारी तो नहीं होता। जिज्ञासा कितनी भी तीव्र हो, वह साधन विशेष में रुचि ही ले, आवश्यक तो नहीं है। शिवाचार्य ने देख लिया था कि वह उनके कुल का नहीं है।

'मूलाधार में साढ़े तीन कुण्डल लेकर, मुख में पुच्छ दिये जो ज्योतिर्मयी नाग माता प्रत्येक प्राणी में प्रसुप्त है, तेरा सौभाग्य कि वह तेरी कुलकुण्डलिनी उद्‌बुद्ध है और वह स्वाधिष्ठान का भेदन करके मणिपुर तक आ चुकी है।' योगी चन्द्रनाथ मिले थे मार्ग में और उन्होंने स्वतः परिचय किया था उससे। उन्होंने स्वयं उसके मेरुदण्ड को अपने कर स्पर्श से झंकृत किया था। परीक्षण के पश्चात् बोले- 'तू जन्मान्तर का साधक है। आज्ञा चक्र तक तेरी कुण्डलिनी मासार्ध में पहुँच जायगी यदि तू साधन प्रारम्भ करे। भ्रमर-गुहा होकर विन्दुवेध करते सहस्रार में पहुँचकर शून्य शिखरसे ऊपर सत्स्वरूपमें अवस्थित होने में भी तुझे अधिक समय अपेक्षित हो, ऐसी सम्भावना नहीं है।'

जिनका अनुग्रह पाने की अच्छे साधक आकांक्षा करते हैं, उन योग सिद्ध चन्द्रनाथ की सहायता का लोभ भी उसे आकर्षित नहीं कर सका। उसकी उदासीनता से चकित चन्द्रनाथ ने नेत्र बन्द किये और जब ध्यान से उत्थित हुए तो शिथिल स्वर में बोले- 'तेरी उपेक्षा उचित है। तू इस कुल का है नहीं।'

'पता नहीं तू किस भ्रम में पड़ गया है।' अकस्मात मिल गये थे उसे दिगम्बर

घूमते यमुना-तट पर सिद्धाचार्य कुलशेखर और अट्टहास करते बोल उठे थे- 'तू तो बत्तीस लक्षणों से सम्पन्न हैं। किसी वीर शैव ने तुझे केवल इसलिए बलि नहीं बनाया कि उत्थित-कुण्डलिनी पुरुष पशु नहीं होता। वह शिव का स्नेह भाजक सेवक है। चण्डिका उसकी बलि स्वीकार नहीं कर पाती। तेरे लिए शक्ति मैं ला दूँगा, भुक्ति-मुक्तिप्रदायिनी त्रिपुरा की आराधना क्यों नहीं करता? चल आ?'

'मुझे क्षमा करें!' उसने नम्रतापूर्वक अस्वीकार कर दिया था। श्रीशिवाचार्य का सत्सङ्ग पिता के साथ वह कर चुका है। तन्त्रों की साधनाएँ उसने भले की न हों, उनके विवरण से अपरिचत नहीं था। उसके चित्त में उन साधनों का स्मरण भी जुगुप्सा उत्पन्न करता था। अतः वह अवधूत कुलशेखर के समीप से शीघ्र हट आया था।

'मुझे मोक्षाकांक्षा नहीं है।' उसने कई सिद्धों, साधुओं को यह उत्तर दिया है- 'मेरा क्या होता है, इसकी चिन्ता मैं नहीं करता। पिता ने मुझे एक आदेश दिया है। वह जीवन में पूर्ण न भी हो तो मुझे सन्तोष रहेगा । यदि मैं उसे प्राप्त करने के प्रयत्न में लगा रहा।'

पता नहीं उसका क्या रूप था। जिज्ञासा थी, पिता की ख्याति थी अथवा उसकी तितिक्षा थी- क्या था; कुछ ऐसा अवश्य उसमें था, जो मिलने वाले उत्कृष्ट विद्वानों, साधकों, सिद्धों को उसकी ओर आकृष्ट कर लेता था। उसे महापुरुषों की कृपा मार्ग में प्राप्त होती रही, यह उसने अपने लिए परम सौभाग्य माना। वह अश्रद्धालु नहीं था। इतने पर भी वह उनमें-से किसी की कृपा का लाभ उठा नहीं सका।

आचार्य चाणक्य ने नवीन आगन्तुक से यह सब विवरण प्राप्त कर लिया था। कुशल राजनीतिज्ञ सम्पूर्ण परिस्थित पहले जानना चाहता था। लेकिन परिस्थिति के परिचय ने समस्या को सरल करने में कोई सहायता नहीं की। जिसे इतने उत्कृष्ट सिद्ध महापुरुष संतुष्ट नहीं कर सके, वह एक राजनीति के ज्ञाता से संतुष्ट हो जायगा- इसकी सम्भावना भला कौन मानता; किंतु उसे भेजा कहाँ जाय? जिज्ञासु ब्राह्मण कुमार को निराश लौटा देना भी आचार्य का हृदय स्वीकार नहीं करता था।

'मुझे लगता है कि तुमको अपने भीतर से ही प्रकाश प्राप्त होगा।' बहुत मनन-चिन्तन के उपरान्त चाणक्य इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे। 'तुम कुछ काल यहाँ निवास करो और अपने को शान्त बनाकर भीतर से मार्ग-दर्शन पाने की चेष्टा करो।'

× × ×

'अस्य गायत्री मन्त्रस्य विश्वामित्र ऋषिःगायत्री छन्दः सविता देवता। प्रातः संध्या के लिए गङ्गतट पर ही वह बैठ गया था अभी आर्द्र केशों से बिन्दु टपक

रहे थे। संध्या का सङ्कल्प करके अंगन्यास बोलते-बोलते चौंक गया वह। मन में मन्त्र का उत्तरार्ध जैसे स्वयं जाग्रत हुआ- '**धियो यो न प्रयोदयात्।**'

बुद्धि के प्रेरक हैं भगवान् सविता।' प्रतिदिन तीन-तीन समय संध्या चल रही है बाल्यकाल से और अब तक इस तथ्य पर दृष्टि नहीं गयी? लेकिन केवल मन्त्र-जप अथवा मन्त्र-पाठ से तो कोई ऋषि नहीं हो जाता। मन्त्र जब हृदय में स्वयं प्रकाशित होता है, उस अद्भुत आलोक का वर्णन वाणी नहीं कर सकती। संध्या साङ्ग सम्पूर्ण हुई। किसी कर्म में कोई व्यतिक्रम नहीं हुआ; किंतु हुआ यह सब दीर्घकालीन अभ्यास के कारण। उसे पता नहीं लगा कि कैसे वे कर्म उसके द्वारा होते चले गये।

सूर्योपस्थान करके वह गङ्गा-तट पर स्थिर खड़ा हो गया था। उसकी वाणी मूक थी; किंतु उसका मौन स्तवन किसी शब्द की अपेक्षा अधिक श्रद्धा-शबल हो गया था।

आज उसके नेत्र भास्कर की ज्योति से विचलित नहीं हो रहे थे। वह ज्योतिर्मय सूर्यमण्डल को अपलक देखे जा रहा था। क्या? यह क्या? उसका शरीर पुलक-प्रपूरित हो गया। उसके नेत्रोंमें अश्रुधारा चलने लगी। उसने सुना था- शुक्लाम्बरपरिधान, शशिवर्ण, चतुर्भुज सशङ्ख-चक्र-गदा-पद्महस्त श्रीनारायण अधिष्ठाता हैं सूर्यमण्डल के वे अखिलेश्वर आज मन्द-मन्द मुस्कराते प्रत्यक्ष हो गये हैं। शत-शत-चन्द्र-ज्योत्स्ना-स्निग्ध उनकी नखचन्द्रिका......।

'**धियो यो नः प्रयोदयत्।**' अचानक कण्ठ से परावाणी प्रकट हुई और उसने देखा कि वे सूर्यमण्डलस्थ पुरुष तो अतसी-कुसुमावभास पीताम्बर-परिधान, वनमाली बन गये हैं। उनका वह अमृतस्पन्दी स्मित-अणु-अणु उससे आप्लावित है।

'धी-मेधा, वह तो सहज सत्त्वरूपा है। सात्त्विक अहं उसका उद्भवकर्ता है। रजस् और तमस् का आश्रय लेकर तो वह विकृत होती है। अर्थ-काम उसके अपने क्षेत्र नहीं हैं। वह सत्त्वमयी-उसका क्षेत्र तो है सत्त्व मूर्ति धर्म।'

स्वच्छता

शशि सम्पूर्ण रात्रि की यात्रा से श्रान्त होकर अपनी अस्ताचल की सुकुमार शय्या पर शयन करने चला गया है। रात्रि के प्रहरी पक्षियों को भी अवकाश प्राप्त हुआ है। तमःप्रसार के अपकर्मसे आकुल रजनी रानी अनेकविध रुदनसे पक्षियों को अशान्त बनाकर अब चली गयी है। उसके अश्रुबिन्दु तृण-पत्रों पर सर्वत्र स्पष्ट लक्षित हैं। स्वच्छता का भव्य सेनानी भास्कर अपनी रश्मियों की मार्जनी लिये अंधकार को जगती के समस्त अंचल से सावधानीपूर्वक स्वच्छ करता चला आ रहा है। अवश्य ही उसके इस आयास में दिग्देवताओं का मुख अरूणिम रज से रंजित हो उठा है। प्रभात के बन्दीजन पक्षिसमूह अपने सामूहिक सङ्कीर्तन में लग गये हैं। उनका स्वर एक साथ सबको सम्बोधित कर रहा है- 'उठो! आलस्य त्यागो! जागो! ज्योति का सत्कार करो! जीवन तुम्हारे द्वार तक जयघोष करता आ गया है।'

वे कृशकाय कबके उठ चुके हैं। कालके पद जैसे उन्हें पराजित करने में असमर्थ हो-होकर लौट जाते हैं। अहर्निश अखण्ड कार्यक्रम उनका चलता रहता है। इस अविराम अर्चन में देवी निद्रा को भी यदि कभी-कभी कुछ घड़ी-पल अवकाश प्राप्त हो जाय तो उनका सौभाग्य। वही सबसे अधिक उपेक्षिता है। अन्यथा वे सबको समय देते हैं। पूर्व से निश्चय करके समय देते हैं। इन जनों के रूप में जनार्दन ही तो हैं, अतः जब वे स्वयं आराधना का अर्घ्य लेने आते हैं, उनके किस रूप की अर्चा अस्वीकार कर दी जाय। केवल अपने साथ वे कठोर हो सकते हैं। उनके शौच-स्नान, आहार-आराम का कोई निश्चित समय नहीं रहा है। इसमें भी यदि दूसरों का आग्रह निमित्त न बने- कौन जानता है कि ये कैसे और कब अपनाये जायँ।

यह उनकी बात, उनका दृष्टिकोण है। कभी किसी की एक कहानी पढ़ी है- 'एक साधक ने तपस्या करके वरदान पाया कि जिसे अपना एक रक्तकण दे देगा, उसका असाध्य रोग भी नष्ट हो जायगा। लोगों ने उसे दो दिन भी जीवित नहीं रहने दिया। सुइयाँ तथा अन्य शस्त्र चुभाने से भी जब उसके देह से रक्त निकलना बंद हो गया,

अन्तिम आगत ने उसके पैर बाँधकर वृक्ष से लटकाया। नीचे अग्नि जलायी और किसी प्रकार उसके देह का अन्तिम रक्त बिन्दु प्राप्त करके प्रसन्न चित्त लेकर वह लौटा।' कल्पित कथा सही, किंतु केवल स्वप्रयोजन पर दृष्टि रखने वाले सामान्य जनों की मानस-प्रवृत्ति का सम्यक् निरूपण है इसमें और उनको देखकर लगने लगता है, यह कथा सत्य भी हो तो आश्चर्य नहीं। अपना प्रयोजन प्रत्येक के लिए वह अत्यन्त लघु लगता है। प्रत्येक समझता है, इतना अल्प आयास तो उसके लिए उन्हें करना ही चाहिए। स्वप्नतम सुमन भी सहस्रशः करों से जब देवता पर समर्पित होने लगते हैं, पाषाण का श्रीविग्रह भी किस प्रकार क्षीण एवं जर्जर हो जाता है, प्राचीन मन्दिरों में मैंने इसे देखा है। लेकिन लोक-मनोवृति-उनकी असुविधा पर किसी की दृष्टि कहाँ जाती है।

यह तो चलता ही रहेगा। उनकी अन्य प्रवृत्तियों में भी तो कुछ दर्शनीय हैं। उनके शरीर पर दो घड़ी रहने वाला कम्बल भी जलक्षालित होकर ही पुनः उपयोग के योग्य होता है। वे जिस तृणासन पर आसीन होते हैं, दूसरी बार उपयोग में आने के लिए उसे भी स्नान कराके सुखा लिया जाना चाहिए। वस्त्र की बात तब बताना अनावश्यक है।

उनका शरीर-स्वच्छता तथा अर्चा के आयास ने उसे अत्यन्त कृश कर दिया है। मल तो वहाँ कहाँ से रहेगा, काया की आवश्यक मिट्टी भी कई-कई बार स्नान से धुलती, कृपालु आगतों की अर्चा का श्रम सहती क्षीणतर होती चली गयी है। कङ्काल प्रायः रह गया है उनका शरीर।

उनका आग्रह देखता हूँ स्वच्छता के प्रति, तो दूसरा पार्श्व इसका स्मरण आ जाता है। कई वर्ष हो गये जब कैलास-मानसरोवर की यात्रा पर गया था। पुण्य-प्रदेश उसे यों ही नहीं माना गया है। सत्त्व ही सघन होकर जैसे सर्वत्र शुभ्र हिमके रूप में एकत्र हैं। पूय-गन्ध वहाँ इस असीम शैत्य में उठती नहीं। कुछ भी तो वहाँ नहीं सड़ता।

वहाँ के लोग स्नान नहीं करते। शरीर में जहाँ कभी स्वेद नहीं होता, स्नान की आवश्यकता है या नहीं- कहना कठिन है; क्योंकि शास्त्र की दृष्टि तो नहीं है। वस्त्र-प्रक्षालन-जैसी कोई क्रिया उस प्रदेश में नहीं है। वे केवल ऊन के बुने वस्त्रों को वायु से शुद्ध होने वाला माना है। वे उसे हिम-शुद्ध करते हैं। कभी लगा कि वस्त्र में स्वेदज प्राणी उत्पन्न हो गये हैं (स्वेद न होने पर भी वे उत्पन्न होते हैं) तो वस्त्र को रात्रि में बाहर खुले स्थान पर छोड़ देंगे। स्वच्छता सम्पूर्ण हो गयी।

अस्वच्छ हैं वे? रूकिये, इतना सरल उत्तर इसका नहीं है। वह पुण्य प्रदेश-प्रातः उठने पर मुख में दुर्गन्धि अथवा मल वहाँ नहीं मिलता। दन्त धावन की प्रथा वहाँ नहीं है, आश्चर्य क्या है। सर्वत्र रक्त को हिम करनेवाला सलिल-उससे कुछ क्षालित नहीं होता। जहाँ शरीर पर उसे लगायेंगे, मैल भी शरीर के समान कठोर होकर स्थिर बन

जायगा और उष्णता की उपलब्धि का साधन काष्ठ वहाँ होता नहीं। कुछ क्षुप्मात्र यत्र-तत्र प्राप्त होते हैं। वायु-शुद्धि-देवभूमि की सहज पावन, रजःस्पर्श से सर्वथा रहित और अविराम अश्रान्त प्रवाहित वायुदेव वहाँ सचराचर की शुद्धि में स्वयं संलग्न हैं।

और अब मुझे वह मरु-प्रदेश स्मरण आ रहा है। मन का स्वभाव ही है तनिक-सा सूत्र ग्रहण करके उड़ान ले लेना। जल के अभाव से उत्पीड़ित वहाँ का प्राणी। वह रजःशुद्ध है। मृत्तिका सर्वत्र मलिन ही तो नहीं करती, मार्जन का भी तो अत्यन्त महत्त्व पूर्ण उपकरण वहीं है।

प्राणियों के प्राणों की रक्षा के लिए पावस में जो मेघों से जीवन की धारा प्राप्त होती है- जल जीवन है, यह बात उसी प्रदेश में बुद्धि ग्रहण कर पाती है, वर्षा का वह जल कौशल पूर्वक वर्षभर सुरक्षित न रक्खा जाय, प्राण ही असुरक्षित हो जायँगे। उस जल को जो जीवन का अमूल्य आधार है, क्षालन के लिए अपव्यय कोई करे, समाज उसे क्षन्तव्य मान लेगा?

रजःपूत प्राण हैं वहाँ के; किंतु मुझे आश्चर्य हुआ जब मैने देखा उस गृह में गृहपति के अर्चापीठ पर भगवान् मत्स्य का श्रीविग्रह। इस रेणुका प्रदेश में प्रलयाब्धि-विचरण-विनोदी मत्स्य की आराधना! अर्णव आवेष्टित कोई द्वीप उचित अधिकारी है। इस अर्चा का और रम्यक वर्ष में वैवस्वत मनु यदि अपने त्राणकर्त्ता की उपासना करते हैं, उचित है; किंतु मरुभूमि में?

'मैंने अनेक वर्ष अपनी स्वच्छता पर अभिमान किया!' पूछने पर गद्‌गदकण्ठ, अश्रुलोचन गृह पति कह रहे थे- 'इन सत्त्वमूर्ति प्रभु ने इस अकिचिंत्कर अङ्ग पर अकारण कृपा की। इनका रजत स्वच्छ श्रीअङ्ग परम शीतल-सत्त्वधन ही तो है। गलित गर्व आज मैं अपने को धन्य मानता हूँ।'

उनकी वाणी में आकर्षण था। उनकी चेष्टा में स्पृहणीय सौजन्य था। उनका वर्णन मन को संपूर्ण विवरण ज्ञात कर लेने को समुत्सुक बना रहा था। मुझे उनके यहाँ रूकना पड़ा; क्योंकि अवकाश में वे हों, स्वस्थ-चित्त हों तभी मैं उनसे सुनने की आशा कर सकता था।

× × ×

'शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः' (2।40) योग- दर्शनकार की इस बात पर कभी ध्यान ही नहीं गया था। मुझे तो मेरी स्वच्छता ने इससे सर्वथा विपरीत बना दिया था। मुझे लगता था कि मेरे वस्त्र, मेरे पात्र, मेरे उपकरण दिव्य हैं। परम पवित्र हैं वे। मेरा शरीर पावन है। दूसरों का अल्पतम स्पर्श मुझे क्लेश देता था। वे एकान्त में मेरे

अतिशय आग्रह पर सुना रहे थे- 'यदि किसी की छाया भी मेरे वस्त्रों पर पड़ जाय, मैं वस्त्रों को धोता था। अनेक श्रद्धालु आये; किंतु मैंने उन्हें झिड़क दिया। कोई इतना स्वच्छ पवित्र हो कैसे सकता था कि मेरी कोई क्षुद्र सेवा भी कर सके।'

'उन दिनों श्रीजगन्नाथपुरी में रहता था। सागरतट का एकान्त रमणीय स्थान, नीलांचल का निवास; किंतु मैं दूर से नीलचक्र के दर्शन करके ही सन्तोष कर लेता था। मन्दिर में जाने पर अनेक लोगों का स्पर्श होगा। अपवित्र हो जाने की अशङ्का से ही मेरा चित्त व्याकुल हो जाता था। कितना भाग्यहीन था मैं। श्री जगन्नाथपुरी में रहकर भी उन पुरुषोत्तम के दर्शन से वंचित अपने अहङ्कार के कोश में बन्द कौशेयकीट की भाँति घृणित!' रुदन करने लगे वे।

'**परैरसंसर्गः**' का कितना भ्रान्त अर्थ माना था मैंने।' तनिक स्वस्थ होने पर बोले- 'आत्म तत्त्व से भिन्न प्रतीयमान समस्त प्रपंच 'पर' है। उससे असंसर्ग-उसमें अभिनिवेशक का अभाव, यह बात तो कभी सूझी हीं नहीं। जिस 'स्वाङ्ग' से 'जुगुप्सा' होनी चाहिए थी, वही परम पवित्र हो गया था मेरे लिए और उससे भिन्न शरीर 'पर' थे। उनसे असंसर्ग साधने में ही मैं अपना समस्त पौरुष समर्पित कर चुका था।'

'अहंङ्कार, घृणा, क्रोध, पता नहीं कितना कलुष मैंने स्वयं अपने अन्तःकरण में भर लिया था और भरता जाता था। इतने पर भी मानता था कि मैं स्वच्छ हूँ। पवित्र हूँ।' उन्होंने मेरी ओर नेत्र उठाये- 'आज मुझे पता लगा कि मैं कितना मूर्ख था। जल, मिट्टी के द्वारा मल के पिण्ड को ऊपर-ऊपर से प्रक्षालित करके मैंने मान लिया था कि वह स्वच्छ हो गया और इस अहङ्कार ने मुझे उद्धत बना दिया। निर्बाध कलुष मैं चित्त में भरता चला गया।'

'मुझे अत्यधिक क्लेश होता था तब, जब मैं समुद्र में मछुओं को जाल खींचते देखता था। उनके जाल तथा शरीर से निकली दुर्गन्धित अपवित्र वायु से बचने का कोई उपाय नहीं था। कितना भी मैं अपने को द्वार के भीतर बन्द कर लूँ, वह वायु मेरी नासिका में आती थी और उसे अपने शरीर में पहुँचने से मैं रोक नहीं सकता था।' इस समय भी जब वे यह चर्चा कर रहे थे, उनके भाल पर किंचित् आकुंचन मैंने लक्षित किया- 'समुद्र तट का मेरा निवास था। इन पाप जीवी पशुप्राय लोगों पर मुझे कितना क्रोध था....।'

अचानक वे खुलकर हँसे। संस्कार वश जो क्षोभ मन में आ रहा था, उसे इस प्रकार उन्होंने तिरस्कृत कर दिया। कहने लगे - 'कोई भी साधन प्रारम्भ होता है चित्त को शुद्ध करने के लिए। शान्ति एवं सुख की प्राप्ति के लिए- यह कहना अधिक उपयुक्त होगा; किंतु मेरे साधन ने मेरे चित्त को अत्यन्त मलिन बना दिया था। मुझ-

जैसा अशान्त एवं दुखी व्यक्ति मिलना कठिन था। अन्ततः व्याकुल होकर मैंने देहत्याग का निश्चय किया।'

'धवल ज्योत्स्नाने उदधि के अंतर में अपने नभस्थित आत्मज के प्रति वात्सल्य-पूर उठा दिया था। अम्बुधि शत-शत उच्छलित तरङ्गों उडुनाथ को अङ्कमाल देने उठता लगता था। इस महामहोत्सव का दर्शन करने श्रद्धालु जन सागर तीर पर आ जाते हैं, इधर मेरा ध्यान नहीं था। मैं स्वर्गद्वार से दूर निकल गया और उच्छ्वास लेते पयोधि को अपना पवित्र शरीर समर्पित करने बढ़ा।' सर्वाङ्ग रोमांच-कण्टकित हो गया उनका। उस क्षण का स्मरण करके वे कई क्षणों तक मूक-विभोर बने रहे।

'लहरों ने मेरा स्पर्श किया और जैसे ही मैं वेगपूर्वक बढ़ा, मुझे उठाकर पुलिन पर पटक दिया। अकस्मात् एक शीतल उज्ज्वल डेढ़-दो हाथ का मत्स्य भी मेरे ऊपर उछल आया। वह मेरे शरीर पर छटपटाया और तरङ्ग के दूसरे आगमन के साथ सागर में चला गया। दो क्षण लगे इस सबमें; किंतु उस शरतपूर्णिमा की रात्रि के वे क्षण- मेरे जीवन की पूर्णता के क्षण थे वे। अनन्त अम्भोधि के अङ्क से वे अकारण कृपासागर ही मुझे अपना स्पर्शदान करने आये थे।' दो क्षण रूक गये वे।

'मत्स्य का शरीर पर छटपटाना- मैं चौंका, घबराया और दुर्गन्धि से व्याकुल हो गया। उठा तो लगा कि पूरे देह से मछली की दुर्गन्धि आ रही है। वही दुर्गन्धि जो दूर से आती थी तो मैं दौड़कर द्वार बंद कर लेता था। तीव्र घृणा-अपने देह से उस क्षण पहली बार घृणा हुई।' कई क्षण फिर निस्तब्ध रहकर बोले- 'अचानक मस्तिष्क में जैसे प्रकाश पिण्ड का विस्फोट हुआ हो। निरन्तर अनन्त वारि राशि की लक्ष-लक्ष तरङ्गों से धौतवपु मत्स्य इतना अपवित्र, इतना दुर्गन्धित और तेरी यह काया? यह भी तो मांस-मेद, रक्त-कफ-पित्त, अस्थि-स्नायु का पिण्ड है। कुछ घड़े जल से धोकर तू इसे पवित्र-स्वच्छ बना लेगा?'

'भगवान् मत्स्य उस क्षण से मेरे परम गुरु हैं। ये मेरे परमाराध्य है।' भरे कण्ठ वे कह रहे थे- 'कुछ काल और वहाँ रहकर जन्मभूमि आ गया। अब मुझे जलाभाव पीड़ा नहीं देता। स्वच्छता की सनक ने मुझे पितृ-सेवा से वंचित किया था। प्रभु की कृपा से वह उन्माद मिटा तो घृणा, अहङ्कार क्रोध के कल्मष अपने-आप चले गये। ये सब भी तो उसी गर्वतरु के कोटर में आश्रय लेने वाले प्राणी थे। तरु गिरा ओर ये निर्मूल हुए। पितृपदों की सेवा उनकी अन्तिम अवस्था में ही मिली; किंतु मुझे पश्चात्ताप नहीं है। गर्व का शस्त्र जिसे आहत करता है, कुछ पीड़ा दिये बिना उसका व्रण कहाँ पूर्ण हो पाता है।'

× × ×

रस्सी पर चटाई, कम्बल, गैरिक वस्त्र सब साथ ही सूख रहे हैं। ये सूखकर

उपयोग योग्य होंगे तो इनका स्थान दूसरे ले लेंगे। स्वच्छता का यह क्रम तो अबाध चलता है। प्रकृति अपने स्वभाव से तो सर्वत्र धूलि ही डालती है। विकृत होना उसका स्वभाव है। स्वच्छता सायास प्राप्त करना पड़ता है। आयास शिथिल होगा- आवास हो, शरीर हो, अंत:करण हो-अवश्य वह अस्वच्छ ही रहेगा। स्वच्छता का प्रयास तो चलता ही रहना चाहिए। जब तक जीवन है, जागृति है, इस आयास की अपेक्षा तो रहेगी ही।

'यह मल-मूत्र की थैली-इसमें धरा क्या है।' वे श्रद्धेय उस दिन कह रहे थे। स्वच्छता का इतना अथक आयास और वाणी का यह वर्णन - स्वच्छता सफल होती है यहाँ आकर, यह बात मुझे उस दिन उन मरुभूमि के ग्राम में उन श्रद्धेय गृहस्थ ने समझायी थी और उस साफल्य के साकार विग्रह इन श्रद्धेय शीर्णाङ्ग के पदों में आज मैं प्रणिपात करता हूँ।

❑❑

साधन-सिद्धि

साधन सिद्धि राम पद नेहू।

'आपकी उपस्थिति भी यदि प्राणियों को अभय न दे सके, किसकी शरण में जायँ हम अशिक्षित, उपेक्षित, असहाय प्राणी !' कई ग्रामों के प्रमुख एकत्र होकर आये थे। उनमें जो सबको लेकर आये थे, वे प्रार्थना कर रहे थे।

राजधानी से दूर, घोर वन से लगभग घिरे हुए जो थोड़े-से ग्राम यहाँ वनवासियों के हैं, उनमें कुछ गिने-चुने लोग सुसंस्कृत भी हैं; क्योंकि कश्मीर के विरक्त विद्वान् ब्राह्मणों का परिवार इन ग्रामों में एक लम्बी अवधि से रहता आया है। उनके सम्पर्क ने विद्या-व्यसन दिया है। अब उन लोगों में अनेक बौद्ध धर्मावलम्बी हैं।

पता नहीं किसके अपराध से, किसके अपकर्म का परिणाम है कि एक अश्रुतपूर्व उत्पात इन दिनों यहाँ प्रारम्भ हो गया है। वन एक शेर आततायी बन गया है। किसी-न-किसी के पाप का ही यह परिणाम है। अन्यथा वनपशु तो कभी मानवशत्रु नहीं रहा। इस पवित्र प्रदेश में। शेर अब इन जनपदों तक में आने लगा है। वह गोष्ठ से पशु ही नहीं उठा ले जाता- दो-तीन मानवों का भी आखेट कर चुका है।

शासक प्रमत्त नहीं हैं। समाचार पाकर शासकीय अधिकारी तीन बार आ चुके हैं, किंतु शेर बहुत चतुर है। वह या तो मिलता नहीं, अथवा इतना अकल्पित आक्रमण करता है कि आखेटक कुछ नहीं कर पाता। तीन अभियानों में चार राजकर्मचारी आहत हो चुके और उनमें एक तो मृत्यु का ग्रास बन गया।

'कोई असुर आ गया है इस वन में।' लोगों में अनेक प्रकार की बातें फैली हैं- 'वह प्रेताविष्ट पशु है। उसे कोई मार नहीं सकता।'

जब दूसरा उपाय नहीं दीखा, वनवासी ग्रामों के लोग एकत्र हुए और उन्होंने महासिद्ध की शरण लेने का निश्चय किया। बौद्ध महायान मार्गके उन्नायक, चौरासी सिद्धों में प्रथम सिद्ध सरहपा (श्री नागार्जुन) इन दिनों कई महीनों से अपनी साधना के लिए समीप के वन में आ गये थे। वनवासियों का समुदाय उनके आश्रम पहुँचा।

'महापुरुषों की उपस्थिति ही सम्पूर्ण आतङ्कों को उपशम दे देती है।' आगतों ने

प्रार्थना की– 'हम आर्त हैं और हमारे अपने उद्योग असफल हो चुके हैं।'

'अच्छा!' अपनी बड़ी-बड़ी पलकें उन परम प्रज्ञावान् त्रिकालदर्शी, अमितशक्ति महापुरुष ने उठायी, 'लगता है कि कन्ह को इसका अनुमान हो गया था। वह आ रहा है।'

दृष्टि जिधर उठी थी लोगों ने उस ओर मुड़कर देखा दूर वृक्षों के मध्य से निकलती एक आकृति उन्हें दीख पड़ी। कोई आ रहा था– कोई शेर की पीठ पर बैठा चला आ रहा था। आश्चर्य से लोग उधर देखने लगे।

चरवाहें बालक जैसे अपने भैंसे की पीठ पर स्वच्छन्द बैठते हैं, शेर की नङ्गी पीठ पर, एक ही ओर दोनों पैर लटकाये जो अल्हड़, जटाजूटधारी युवक आ रहा था, वह इन ग्रामवासियों के लिए अपरिचित नहीं है। सबका प्रिय, सबका श्रद्धा-भाजन, किचिंत सङ्कोची महासिद्ध सरहपा का प्रिय शिष्य कन्हपा-उसे भला कौन नहीं जानेगा।

'मैं इसे पकड़ लाया हूँ।' थोड़ी दूर पर कन्हपा शेर की पीठ से कूदे और उन्होंने आकर गुरुदेव के सम्मुख भूमि में मस्तक रखने के पश्चात् दोनों हाथ जोड़कर प्रार्थना की– जो दण्ड-विधान श्रीचरण निश्चित करेंगे, यह स्वीकार कर लेगा।'

शेर अब बैठ गया था। वह जैसे मस्तक झुकाये आया था, अब भी वैसे ही मस्तक झुकाये था। एक बड़े आकार के पालतू कुत्ते-जैसा वह शान्त था।

'कन्ह इसको अपना वाहन बना चुका।' महासिद्ध ने ग्रामवासियों की ओर देखा– 'अब यह उत्पात तो करने से रहा। इसे तो साधकत्व प्राप्त हो गया। वनपशु है– अपने स्वभाव-दोष से हिंसा की है। आप सब इसे अब क्षमा कर दें, यही उचित होगा।'

दृष्टि फिर शेर पर गयी और वह उठा, धीरे-धीरे चलकर समीप आया और महासिद्ध के चरणों पर सिर रखकर बैठ गया।

'महासिद्ध की जय!' आगतों ने उत्साहपूर्वक जयनाद किया।

× × ×

'महासिद्ध की जय!' 'कन्हपा की जय!' जनसमूह उमड़ पड़ रहा था। लोगों की श्रद्धा का आवेग भी एक नदीपूर है, जब वह उमड़ता है, उस पर अंकुश रखना सरल नहीं होता। राजकर्मचारी बड़ी कठिनाई से भीड़ को नियन्त्रित कर रहे हैं।

जनता का यह उत्साह, श्रद्धा का यह आवेश सर्वथा उचित है। महासिद्ध के प्रिय शिष्य कन्हपा ने उन्हें जीवन-दान दिया है। बहुत नीची है कश्मीर घाटी। पर्वतों से घिरी यह एक विशाल झील ही तो थी, जो महर्षि कश्यप की कृपा से जल निकल जाने के कारण आवास भूमि बन गयी। यों भी इस घाटी में झीलों, कुण्डों, स्रोतों की बहुलता है; कितु जब कभी बड़ी वर्षा होती है – इस पुराण-वर्णित झील में नाग ने जो जल

निकालने का मार्ग बनाया वह छोटा रह गया है। इसे वर्षा शीघ्र ही झील का रूप देने लगती है। इस बार तो तीन दिन-रात मेघ खुले ही नहीं थे। लगता था कि घाटी में प्रलय आ गयी हे।

महासिद्ध अपने आश्रम में ध्यानस्थ थे। कुशल यही थी कि वे राजधानी के आश्रम में थे। जब जल आश्रमों में प्रवेश करने लगा, सहसा कन्हपा उठ खड़े हुए। अनेक लोगों का कहना है कि वे शरण लेने आश्रम गये उस समय। वे कहते हैं - 'कन्हपा के मुख की ओर देखना सम्भव नहीं था। लगता था कि सूर्य ही पृथ्वी पर उतर आया है।'

आश्रम से बाहर आकर एक दृष्टि उन्होंने मेघों पर डाली। 'हुं' एक धीमी हुंकार ओर मेघ तो वायु के झकोरों में उड़ते ही चले गये। दो क्षण में तो सुनहली धूप पूरी घाटी पर चमकने लगी थी।

आकाश खुल गया था; किंतु धरा तो जैसे प्रलय-सागर में डूबती जा रही हो। जल में तैरते-डकराते पशु, भवनों की छतों पर टँगे रोते-चिल्लाते शिशु और उनकी माताएँ। फूस के छप्पर, खपरैले - सब पर लोग घर का सामान लेकर चढ़ गये हैं या चढ़ रहे हैं। नीचे पानी में कहाँ क्या डूबा है, क्या बह रहा है, कौन गणना करें।

सुना है कि महर्षि अगस्त्य ने कभी समुद्र पी लिया था; किंतु देखने वाले भी कुछ समझ नहीं सके कि इस बार क्या हुआ। कन्हपा ने अपनी दाहिनी भुजा उठायी और कुछ संकेत किया- सम्भवतः उनकी अँगुलियों ने कोई मुद्रा बनायी। जल अकस्मात् वाष्प बनकर उड़ता तो बादल या कुहरा उठता। इतना जल किसी मार्ग से वह जाता तो उसमें बहुत प्रबल प्रवाह उमड़ता और कन्हपा ने उसे पिया हो, ऐसा तो प्रतीत नहीं हुआ। हुआ चाहे जो हो, जल बड़ी शीघ्रता से घटने लगा था।

कन्हपा स्थिर शान्त भुजा उठाये आश्रम के बाहर खड़े रहे और जल घटता गया, घटता चला गया। सायंकाल तक केवल भूमि गीली रह गयी थी। छोटे गड्ढों तक के जल को पृथ्वी ने सोख लिया था उस समय तक, जब कन्हपा ने अपनी भुजा नीचे की और आश्रम की ओर मुड़े।

राजकर्मचारी शीघ्र सावधान हो गये थे। समाचार फैला और जनसमूह श्रद्धा के आवेश में उमड़ पड़ा। स्वयं कश्मीर-नरेश पधारे महासिद्ध एवं उनके महामहिम शिष्य की चरण-वन्दना करने। इस जय-घोष के कोलाहल के कारण महासिद्ध समाधि से उत्थित हो गये थे।

'कन्ह !' रात्रि के द्वितीय प्रहर में जब जनता का कोलाहल शान्त हो चुका था और आने वाले लोग लौट चुके थे, महासिद्ध ने अपने शिष्य को समीप बुलाया और स्थिर दृष्टि से उसकी ओर देखने लगे। 'तुमने कोई अकार्यं किया है, ऐसा मैं नहीं कहता; किंतु साधन को सफलता समष्टि के विधान में परिवर्तन करने की शक्ति प्राप्त करना तथा ऐसे हस्तक्षेप करना नहीं है। तुम भटक गये हो अपने मार्ग से।

कन्हपा- आज पूरा नगर जिन्हें महासिद्ध की दूसरी मूर्ति मान रहा था, वे कन्हपा मस्तक झुकाये अपराधी के समान खड़े थे। नगर के किसी निवासी ने दूसरे दिन आश्रम में उन्हें नहीं देखा।

× × ×

'कन्हपा बहुत दुखी हैं।' महासिद्ध को उनके शिष्य प्रायः समाचार देते रहते हैं। सब जानते हैं कि सरहपा त्रिकालदर्शी हैं और अपने आश्रितों की वे कभी उपेक्षा नहीं करते। उन्हें समाचार देना आवश्यक है। लेकिन कन्हपा के प्रति जो सहज अनुराग उनके गुरु भाइयों में है, उससे सब विवश है। उनमें कई यात्रा करके महीने-डेढ़ महीने दुर्गम पर्वतीय पथमें चलकर कन्हपा से मिलने गये हैं। 'वे ध्यान नहीं कर पाते। समाधि में उनकी स्थिति अब नहीं होती। वे प्रायः रुदन करते रहते हैं।'

महासिद्ध, पता नहीं, कन्हपा के प्रति क्यों इतने निष्क्रमण हो गये हैं। अपने सर्वप्रिय शिष्य के प्रति उनमें करुणा क्यों नहीं जागती? वे सङ्कल्प करें- एक पामर प्राणी को भी वे समाधि में बैठा देने में सहज समर्थ हैं। कन्हपा तो उनके योग्यतम अधिकारी शिष्य हैं। लेकिन कन्हपा का नाम आने पर महासिद्ध केवल मुसकरा करके रह जाते हैं।

'वह अपने कुल का नहीं है।' उस दिन महासिद्ध ने शिष्यों के आग्रह पर सहसा कह दिया और सब चौंक उठे। इस ओर महासिद्ध का ध्यान नहीं था। वे कह रहे थे- 'वह जहाँ का है, पहुँच गया वहाँ। धन्य हो गया वह।'

'कन्हापा अपने कुल के नहीं हैं?' शिष्य कुछ समझ नहीं सके। महापुरुषों में संङ्कीर्णता, पक्षपात और अहंता-ममता का आग्रह नहीं होता। महासिद्ध अनेक बार अपने समीप आये साधनोत्सुक, विरक्त, संयमी को भी कह देते हैं- 'भाई, तुम अधिकारी तो हो; किंतु इस कुल के नहीं हो। तुम जिस घर के हो, वहाँ जाने से तुम्हारी उन्नति शीघ्र होगी।'

प्रायः महासिद्ध ऐसे साधक को बतला देते हैं कि उसे कहाँ किस महापुरुष के समीप जाना चाहिए। यह बात उनके शरणागत साधक समझते हैं। लेकिन महासिद्ध के शरणागतों में जो सर्वश्रेष्ठ हैं, जो योग सिद्ध हैं, वे कन्हपा ही इस कुल के नहीं हैं, यह बात क्या समझ में आने योग्य है?

यह उलझन बहुत समय तक चली नहीं। दूसरे ही दिन कन्हपा ने आश्रम में प्रवेश किया। इतना विवर्ण मुख, पीत एवं शुष्क देह, बिखरी जटाएँ- कन्हपा के गुरुभाई ही नहीं, दूसरे लोग भी उन्हें देखकर आश्चर्य में पड़ गये। कौन-सा रोग, कौन-सा शोक है जो इस तेजस्वी योगसिद्ध को भी इस दशा में पहुँचा सकता है?

'देव ! दया !' आर्तनाद करते महासिद्ध के चरणों में कन्हपा गिरे थे और बच्चे के समान क्रन्दन कर रहे थे। उन्होंने दूसरों की ओर देखा तक नहीं था।

'वत्स!' महासिद्ध का गद्गद स्वर आज ही सुनायी पड़ा था। उनके कर अपने प्रिय शिष्य की जटाओं और पीठ पर फिर रहे थे। वात्सल्य उमड़ पड़ा था। आज सरहपा के नेत्रों में।

'मुझे क्या हो गया है? मैं क्यों स्थिर बैठ नहीं पाता? तथागत की श्रीमूर्ति क्यों मेरे चित्त में प्रकट नहीं होती?

मैंने क्या अपराध किया है? किया भी है तो उसका परिमार्जन क्या आप भी नहीं करेंगे?' शब्द अस्पष्ट, गद्गद वाणी में, हिचक-हिचककर बोले जा रहे थे- 'यह नवधन सुन्दर कौन है जो भीतर और बाहर सदा मुसकराता दीखता है? मुझे समाधि नहीं चाहिए। निर्वाण मेरा इष्ट नहीं रहा; किंतु इस पीतवसन के बिना मैं मर जाऊँगा। यह मिलकर भी नहीं मिलता लगने वाला, यह नित्य सम्मुख होकर भी अदृश्य अप्राप्य-यह मेरे मन को प्राणों को मथ रहा है। इसे मैं कैसे पाऊँ? आप इतनी कृपा क्या मुझ पर नहीं करेंगे? आप सर्वसमर्थ हैं......।'

'मैं जो कर सकता था, मैंने अपना कर्त्तव्य पूरा कर दिया वत्स!' महासिद्ध भी भर्राये कण्ठ से बोले- 'साधना विशुद्ध तुम्हें कर सकती थी, कर चुकी। सफल हुई तुम्हारी साधना और तुम्हारी शिष्यता ने मुझे गौरवान्वित किया। साधन की सिद्धि है सहज प्रेम की उपलब्धि।'

'तुम जिसके हो, उसने तुम्हें अपना लिया है।' कुछ क्षण रूककर स्थिर कण्ठ महासिद्ध बोले- 'इसमें व्यथित होने की कोई बात नहीं है। तुम इस कुल के नहीं हो, यह मैं प्रारंभ से जानता हूँ; किंतु अन्तः की शुद्धि के लिए तुम्हें हमारे साधन-मार्ग से जाना था। लक्ष्य पर जाकर मार्ग छूटने की चिन्ता नहीं पाली जाती। मैं प्रसन्नतापूर्वक आज तुम्हें विदा करने को उत्सुक हूँ।'

× × ×

उन दिनों बृज भूमि में नगर नहीं थे। जहाँ-तहाँ छोटे ग्राम और वन। कहते हैं कि उन वनों में बहुत काल तक एक जटाधारी तेजस्वी घूमता देखा जाता था। कभी ग्वारियों से रोटी-छाछ वह अवश्य ले लेता था, परन्तु किसी के घर भिक्षा करते उसे किसी ने नहीं देखा। जैसे यह पता नहीं कि वह कब कहाँ से आया, वैसे ही वह एकाएक अदृश्य भी हो गया।

समता

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति।।

(गीता २।१३)

'अघोरनाथ! साधुता व्यर्थ है यदि वह स्वार्थ कलुषित हो।' गुरुदेव ने दीक्षा देने के दिन ही कहा था। आज उनके वचनों का स्मरण आ रहा है- 'यश, ऐश्वर्य तथा भोग तो प्रत्येक संसारासक्त चाहता है। सिद्धियाँ तुझे और क्या देंगी? मठ, मन्दिर तथा लोक प्रशंसा-साधु-सम्प्रदाय में वह जो घोर सांसारिकता आ गयी है, उसे अपनाकर मुझे लज्जित मत करना। गृह-परिवार आदि का ही यह दूसरा रूप है। काम कलुषित, शास्त्रवर्जित घृण्य रूप। तुझसे मुझे आशा है - व्यक्तित्व के पोषण से ऊपर उठना वत्स!'

'अपनी ही मुक्ति की चिन्ता-यह भी तो व्यक्तित्व का ही चिन्तन है। स्वार्थ ही तो है यह।' अघोरनाथ आज यह सोचने लगे हैं। क्षीणकाय, अपरिग्रहशील, तपोनिरत अघोरनाथ ने अब तक ऐसा कुछ नहीं किया है, जिससे यह कहा जा सके कि गुरुदेव के दीक्षाकालीन उपदेश को वे कभी भूले हैं। उनकी कठोर तपस्या, घोर वन में एकान्त साधना एवं लोक निरपेक्षता को देखते ही सबके मस्तक उनके सामने झुक जाते हैं।

'छिः!' सच्चे योग-साधक के सम्मुख सिद्धियाँ आती ही हैं। अघोरनाथ के सम्मुख अनेक रूपों में वे आयीं और बार-बार आयीं; किंतु उन्होंने तत्काल झिड़क दिया उन्हें। जैसे कोई घाव भरे खजुलाहे कुत्ते को झिड़क देता है।

'शिवस्वरूप गुरु गोरखनाथ अमर हैं। उन्होंने काल के पद अवरुद्ध कर दिये हैं। रसेश्वर-सिद्धि ने उन्हें यह सामर्थ्य प्रदान की।' नाथ-सम्प्रदाय में जो जनश्रुतियाँ हैं, अघोरनाथ ने भी सुनी हैं और उन पर श्रद्धा की है। आज इस श्रवण ने चित्त को एक नवीन सङ्कल्प दिया- 'जरा-मरण-भयातुर, रोग-शोक-संत्रस्त, काम-क्रोध-लोभ-

निष्पीड़ित मानव समुदाय अपनी इस असह्य पीड़ाओं से परित्राण पा जाय यदि रसेश्वर सिद्ध योग सर्व सुलभ हो। लोकमङ्गल के इस अनुष्ठान में आत्माहुति देने में भी श्रेय है।'

मनुष्य महान् नहीं है। दैहिक बल, बुद्धि, बल, धन अथवा तप उसे महान् नहीं बनाता। महत्सङ्कल्प मनुष्य को महान् बनाता है। जो अपने सङ्कल्प के प्रति सच्चा है और उसका सङ्कल्प स्वार्थ-दूषित नहीं है तो समष्टि स्वयं उसको सुयोग प्रदान करती है। महत्सङ्कल्प के लिए महान् श्रम की शक्ति, साहस तथा अनुकूल योग अपने-आप उपस्थित होते हैं।

अघोरनाथ का सङ्कल्प महान् था और अपने संकल्प के प्रति उनकी स्थिर प्रतिष्ठ निष्ठा थी। रसेश्वर के स्वरूप, उसकी मृत, मूर्छित, विद्व आदि अवस्थाएँ तथा उनके सम्बन्ध में अन्य आवश्यक विवरण उन्हें अल्पकाल में ही प्राप्त हो गये। ऐसे अनेक विवरण उन्हें मिले, जिनकी प्राप्ति ही किसी रससाधक के पूरे जीवन की साधना का परिणाम कहा जा सकता था।

× × ×

विशुद्ध विप्रवर्गीय पारद- कृष्ण, पीत एवं अरुणिमा से सर्वथा शून्य शुभ्र चन्द्रोज्ज्वल रस धरा में अपने-आप उपलब्ध नहीं होता। अनेक अनुष्ठानों के उपरान्त मंत्रपूत साधक मरुस्थल के मानव वर्जित प्रदेश के प्राणि-पद-स्पर्शहीन पवित्र सिकता-कणों से उसे तब कण-कण के रूप में प्राप्त कर सकता है, जब ग्रीष्म के मध्याह्न में धरागर्भ से रसेश्वर के कण ऊपर उठते हैं।

अपने को अग्नि में आहुति देने के समान अनुष्ठान है यह। मरुस्थल की प्रचण्ड ऊष्मा, जल-विहीन धरा और उसमें अनेक योजन लक्ष्यहीन भटकती यात्रा में-राशि-राशि उड़ती बालुका में अल्पतम कणों का अन्वेषण; किंतु अघोरनाथ को यह दुष्कर नहीं लगा। उन्होंने शुद्ध विप्रवर्गीय पारद प्राप्त किया और पर्याप्त मात्रा में प्राप्त किया।

विशुद्ध पारद- भगवान् धूर्जटिके श्रीअङ्गा सार-सर्वस्व। वह जिसे उपलब्ध हो गया, देव-जगत् उसका सम्मान करने को विवश है। यम की चर्चा व्यर्थ है, उद्धत चामुण्डा तथा अपना ही रक्तपान करने वाली छिन्नमस्ता तक उस महाभाग के सम्मुख संयमित हो जाती हैं। योगिनी, यक्ष-रक्षः पिशाच उसकी छाया का स्पर्श करने में समर्थ नहीं। स्वयं विशुद्ध पारद की उपलब्धि अपने आप में महती सिद्धि है। किन्तु अघोरनाथ के महत्तम संकल्प की शक्ति के सम्मुख तो इसकी कोई गणना नहीं है।

सिद्धभूमि आवश्यक थी। कामाख्या और हिंगलाज स्मरण आये। भगवती

महामाया ही तो सिद्धरसकी साधना में व्याघात उपस्थित करती है। इस विचार ने अघोरनाथ को जालंधर पीठपर भी स्थिर नहीं होने दिया। त्रिपुरभैरवी प्रसन्न न हों, कोई सफलता किसी को मिला नहीं करती। उनके अङ्क का आश्रय अपेक्षित है रस-साधक को।

'भगवती त्रिपुरसुन्दरी की छाया जो स्फटिक शुभ्र-विग्रह वृषभध्वज के श्रीविग्रह में पड़ती है, भस्मभूषिताङ्ग शिव के वक्ष में वह किचिंत श्याम प्रतीत होने वाला प्रतिबिम्ब ही भगवती त्रिपुर भैरवी हैं।' अघोरनाथ ने अपने सम्प्रदाय के एक सन्त से कभी यह विवरण सुना था। साधना स्थल चुनने में इस श्रवण ने उनकी सहायता की।

'भगवान् नीलकण्ठ ने विशद वक्ष में भगवती का प्रतिबिम्ब अर्थात् शक्तिसमन्वित पुरुष-अर्धनारीश्वर की सौम्य क्रीड़ास्थली!' अघोरनाथने व्यास-पार्वती सरिताओंकी मध्यभूमि त्रिकोण सिद्धक्षेत्र कुलान्त में भी सुदूर हिमक्षेत्र में पार्वती के उद्‌गम स्थान को उपयुक्त माना।

चतुर्दिक हिमश्वेत शिखर, सत्त्वगुण मानो सर्वत्र साकार हो रहा है। पार्वती के उद्‌गम का अल्प प्रवाह और उसे अंकमाल देता उष्णोदक निर्झर-भगवान् उमामहेश्वर व्यक्त विग्रह प्रकृति में वहाँ जलरूप है। योगसिद्ध तपस्वी अघोरनाथ को आहार की अल्पतम अपेक्षा होती है। जब आवश्यक हो, वे कुछ नीचे आकर वन्य कन्द-मूल सहज प्राप्त कर लेते हैं।

'विश्व के प्राणी जरा-मृत्यु, शोक-रोग से परित्राण प्राप्त करें।' शरीर की स्मृति नहीं। क्षुधा-पिपासा की चिन्ताएँ बहुत पीछे छूट चुकी हैं। कटिमें कौपीन और फटे कानों में मुद्रा, जलपात्र तक रखना जिस तापस ने त्याग दिया है, वह बड़ी-सी झोली में औषधियाँ, खरल तथा अनेक वस्तुओं का परिग्रह लिए इस एकान्त हिमप्रदेश में आ बैठा है। एक ही व्यथा है उसे- 'प्राणियों की व्यथा दूर हो।'

'कहाँ त्रुटि है? क्या भूल हो रही है मुझसे?' अघोरनाथ लगे हैं पूरे छः महीने से। आज शरच्चन्द्रिका का भी योग आ गया, किंतु रसेश्वर अनुविद्ध क्यों नहीं होते? पारद मूर्छित हो जाता है। गुटिका बन जाती है। तापसहिष्णु भी हो गया है। सब हुआ; किंतु वह अनुविद्ध नहीं हो रहा है। परीक्षण-प्रक्रियाओं में पड़कर वह पुनः सक्रिय, सप्राण हो उठता है। अघोरनाथ ने आसन स्थिर किया और गुरुदेव के पादपल्लवों में चित्त को एकाग्र करके वे ध्यानस्थ हो गये।

× × ×

शुभ्र ज्योत्स्ना घनीभूत होकर जैसे शरीर बन गयी हो। धरा का स्पर्श बिना किये

भी सम्मुख सुप्रसन्न स्थित वह भव्य तपोमय श्रीविग्रह। पिंगल जटा भार से विद्युन्माला का भ्रम सहज हो सकता था। कर्ण में मुद्रा होने से अनुमान होता था कि वे देवता नहीं, कोई योगीश्वर हैं।

चाहते हुए भी अघोरनाथ नेत्र-पलक खोलने में समर्थ नहीं हो रहे थे। उनका कोई अङ्ग किंचित गति करने की शक्ति से भी रहित जान पड़ा; किंतु नेत्र पलक खुले हों, इस प्रकार प्रत्यक्ष दर्शन वे उन तेजोमय का कर रहे थे। मन-ही-मन चरण-वन्दन कर लिया उन्होंने।

'वत्स! किसी समय यही इच्छा इस गोरखनाथ की भी हुई थी।' अत्यन्त स्नेहस्निग्ध, किंतु तनिक खिन्न स्वर था- 'गोरख मिट जाता, अपने अमरत्व की अभिलाषा कहाँ की थी मैंने। मुझे तो रससिद्ध हो जाने के पश्चात् पता लगा कि काल की कृष्ण यवनिका में मेरे लिए अमर का यह छिद्र भी भगवती महामाया का पूर्व सङ्कल्पित विधान ही था। उनका सङ्कल्प अमोघ है। उनके लीला-विलास में व्याघात उपस्थित किया नहीं जा सकता। मैं समझता था, काल के पदों को रुद्ध करने का साधन मुझे मिल गया है; किंतु भ्रम सिद्ध हुआ वह मेरा। मुझे भविष्य के साधकों को संरक्षण एवं प्रकाश प्रदान करने के लिए महामाया ने सुरक्षित मात्र किया है।'

'धन्य हो गया जीवन। जन्म-जन्म की साधना सफल हुई। साक्षात् शिव स्वरूप गुरु गोरखनाथ ने दर्शन देकर कृतार्थ किया मुझे।' अघोरनाथ का देह भले निष्कम्प हो, उनका चित्त विह्वल हो रहा था। अनन्त भावनाओं का उद्रेक अन्तःकरण में एक साथ उठ रहा था।

'भगवान् महाकाल की गति अवरुद्ध नहीं हुआ करती। उनकी गति को रुद्ध करने के साधन हैं; किंतु वे महामाया की इच्छा से ही सक्रिय होते हैं।' गुरु कह रहे थे। 'काल के प्रवाह में वे साधना किन्हीं-किन्हीं को सुरक्षित कर देते हैं किसी उद्देश्य विशेष से।'

'अच्छा समझ लो, तुम सफल ही हो जाते हो।' अघोरनाथ के अन्तर्द्वन्द्व को लक्षित करके गुरु ने कहा। 'जरा मृत्यु तथा व्याधि का ही निवारण तो कर सकोगे। भय, शोक, लोभ-मोह तो मनुष्य के मन से उत्पन्न होते हैं। ये दुःख तो उसके कल्पनाप्रसूत हैं। अमर होने मात्र से मनुष्य सुखी कैसे हो जायगा? तुम्हें लगता नहीं है कि मृत्यु से अभय होकर अजितेन्द्रिय प्राणी अधिक तमोगुणी, विषय-लोलुप संघर्षशील, अधर्मचारी होकर परिणामस्वरूप अनन्त काल तक अशान्त, क्षुब्ध और दुखी रहने लगेगा।'

'अनर्थ! क्षमा करो नाथ!' अचानक अघोरनाथ चीत्कार कर उठे। उनके नेत्र खुल गये। वहाँ कोई दृश्य नहीं था; किंतु उस हिमप्रदेश में भी उनका संपूर्ण शरीर स्वेद से

भर उठा था। उसी समय उन्होंने अपनी झोली का संपूर्ण संग्रह पार्वती के प्रवाह में विसर्जित कर दिया।

× × ×

'फट गया! फट गया! फट गया! यह कंचुक फट गया।' अवधूत अघोरनाथ पुनः उन लोगों में आ गये हैं, जो उनसे परिचित हैं। जो साधना-काल से इस तपस्वी में श्रद्धा रखते हैं; किंतु सबको लगता है कि उग्र तपस्या तथा कठिन योग-साधना ने इनके मस्तिष्क को कुछ विकृत कर दिया है। कभी कोई शव यात्रा देखते ही नाचने लगते हैं - 'अलख निरंजन! अविनाशी हूँ मैं। अरे मूर्खों! तुम सब रोते क्यों हो! मेरा यह कंचुक फट गया। अब नया-नया, कोमल-कोमल, नन्हा-नन्हा कंचुक, पहनूँगा! अहा, सुन्दर, सुकुमार, छोटा-सा वस्त्र।'

अवधूतों की बात वैसे भी समझ में आनी कठिन होती है और अघोरनाथ तो कुछ विक्षिप्त हो गये हैं। वे कभी किसी बच्चे को गोद में उठा लेते हैं- 'अब यह वस्त्र मुझे छोटा पड़ने लगा है। धीरे-धीरे बड़ा वस्त्र बदल लूँगा। क्यों बड़ा वस्त्र ठीक रहेगा!' बच्चे से ही पूछने लगेंगे।

'बाबा, तेरा यह वस्त्र पुराना हो गया!' एक दिन गाँव के चौधरी का हाथ पकड़कर बोले। 'बहुत सिकुड़ने पड़ गयीं इसमें। फटने को आ गया यह। अब इसे बदल डालना है।'

'अभी आज ही तो यह कुर्ता-धोती मैंने पहनी है महाराज!' बेचारा चौधरी अपने नवीन वस्त्रों को देखता और अवधूत के मुख को- 'पुराने वस्त्र तो मैंने आज सेवक को दे दिये।'

'अरे नहीं, डरना मत! यह पुराना वस्त्र महाहवन के काम आयेगा। वस्त्र का क्या, सेवक को दे दे या अग्नि में डाल दें!' अवधूत हँसते रहे- 'कुत्ते-शृंगाल, कौवे-गीध, मछली-कछुए, असंख्य कीट-अपने कोई दरिद्र हैं कि थोड़े से सेवक रखेंगे। सम्राट् के लक्ष-लक्ष सेवक!'

किंतु उस दिन से लोग अवधूत से डरने लगे हैं! वह चौधरी तीसरे दिन ही मर गया था और अवधूत तब भी ताली बजाकर कूद रहे थे- 'महाहवन किया अपने वस्त्र से मैंने। मेरी लपटें, मेरा वस्त्र और अब मैं रोता हूँ! अहाहा!'

किंतु अवधूत सदा ऐसे उन्मत्त नहीं रहते। बड़ा स्नेह करते हैं शिशुओं से। कोई बीमार दीख जाय तो उसके पैर तक दबाने बैठ जायँगे। सिद्ध पुरुष है, एक चुटकी भस्म दें तो बड़े-से-बड़े रोग भाग जाय। अब मस्तिष्क कुछ विक्षिप्त हो गया तो इसका कोई क्या करे। वैसे

अपने लिए उन्हें कभी कुछ चाहिए ही नहीं। रोटी दो या हलवा, भूख लगी हो तो प्रेम से पत्ते भी खा लेते हैं, न लगी हो तो खीर भी फेंक देते हैं- 'मैं इस कीचड़ का क्या करूँ। उजला लगता है तो तू मुख में पोत लें! मैं नहीं पोतता इसे।'

'धन चाहिए! मुझे भी तो थोड़ा धन चाहिये!' उस दिन ईंटों के टुकड़े, टूटे शीशे, कंकड़, मिट्टी के डले एकत्र करने लगे और पूरी गली का कूड़ा एकत्र कर लिया। बच्चों ने पूछा कि क्या करते हो तो बोले- 'सम्पत्ति एकत्र कर रहा हूँ।' फिर भाग खड़े हुए- 'सब सम्पत्ति मेरी! सब कहीं मेरी सम्पत्ति! सम्पत्ति भी मैं, तुम भी मैं। मैं अलख! अलख! गुरुदेव!'

अब पागल की चेष्टा की क्या सङ्गति है। पता नहीं क्या बात है कि गाँव के पण्डित जी कहते हैं- 'अघोरनाथ बाबा ही सच्चे ज्ञानी हैं। उनमें पूर्ण समता है। वे तत्त्वदर्शी हैं।' कहीं पण्डित जी का मस्तिष्क भी तो कुछ गड़बड़ नहीं होने लगा है?'

❑ ❑

संगठन

अपने देश के जो सैनिक पिछले दिनों कांगों से लौटे, उनमें से एक से मिलने का अवसर मुझे मिला है। एक यात्रा में रेल की दूसरी श्रेणी के डिब्बे में हम दोनों बैठे थे। मेरा स्वभाव परिचय पूछने का नहीं है। मैंने पूछा नहीं; किंतु मेरे बिना पूछे उस सैनिक ने जो कुछ बताया, उतना मुझे ज्ञात है। उसका नाम तथा पता भी उसने बताया था। वह सब मैं भूल गया। बातों के चलते उसने कुछ कागज मुझे दिखाये। उन कागजों में कुछ ऐसी बातें थीं कि मेरी रूचि हो गयी उनमें और अपने सहयात्री की अनुमति से मैंने कागजों की प्रतिलिपि कर ली।

उस सैनिक का कहना था कि काँगों के अपने काम में उसे एक बार उस देश के मध्य भाग में जाना पड़ा था। वहाँ एक छोटा-सा पक्का बङ्गला उसे ठहरने को दिया गया। उस घोर वन्य प्रदेश में वह अकेला पक्का मकान था। जो भारतीय टुकड़ी का कई दिन सैनिक शिविर बना रहा उस बङ्गले की दशा ऐसी थी, जैसे उसमें वर्षों से कोई रहा न हो। भारतीय सैनिकों ने ही उसे स्वच्छ किया। इस सफाई में एक डायरी मिली। डायरी फ्रेंच में लिखी गई थी। उसमें बीच में बहुत-से पृष्ठ कोरे थे।

उस डायरी को वहाँ से लौटने के पश्चात् सैनिक ने एक संयुक्त राष्ट्रसंघ के कर्मचारी को दिखाया। डायरी को उन्होंने रख लिया; किंतु सैनिक के अनुरोध पर डायरी का अंग्रेजी अनुवाद करके उन्होंने उसे दे दिया। मुझे जो कागज देखने को मिले, वे उस अंग्रेजी अनुवाद का हिंदी भाषान्तर था। इसमें हिंदी करने वाले ने कहीं-कहीं अपनी टिप्पणी भी सम्मिलित कर दी है। मैं उसी को यहाँ अद्धृत कर रहा हूँ; क्योंकि मुझे देश तथा समाज के लिये इस डायरी-लेखक की बातें उद्‌बोधक लगती है। डायरी पहली अप्रैल से प्रारम्भ होती है।

१ अप्रैल-आज यहाँ मूर्खता-दिवस मनाया जा रहा है। कोई मुझे भी मूर्ख बना सकता है; किंतु मैं तो स्वयं मूर्ख बन गया हूँ। वैसे इङ्गलैण्ड के लोग सभ्य हैं। एक विदेशी के साथ बड़ा विनम्र व्यवहार करते हैं। पराजित फ्रांस के नागरिक होने के नाते

मेरे साथ प्राय: सभी सहानुभूति प्रदर्शित करते हैं। पराजित फ्रांस-हृदय जैसे सोचते ही टुकड़े-टुकड़े हो जाता है। हमारी मेगनी लाइन कागज की किले बंदी सिद्ध हुई है। हिटलर के एक धक्के ने-लेकिन हिटलर ने उसे धक्का कहाँ दिया, उसे तो स्वदेश के पंचम मार्गियों ने परास्त किया। आपस की फूट, दलबंदी सत्ता हथिया लेने का लोभ और स्वार्थीजनों का विश्वासघात फ्रांस को ले डूबा। लेकिन फ्रांस अजेय है। फ्रांस विजयी होगा अन्त में फ्रांस अमर रहे।

2 अप्रैल- थोड़ी अंग्रेजी जानना मेरे लिए बहुत लाभ का सिद्ध हुआ। अच्छा ही हुआ कि जब जर्मन-सेनाएँ फ्रांस में प्रवेश कर रही थीं, मैं यहाँ निकल आया। स्पेन होकर न आता तो क्या जर्मन खूँखार कुत्तों से बच पाता। लेकिन यहाँ बैठे रहना व्यर्थ है। आह! सिर बहुत दर्द कर रहा है। भागते समय बस से उड़ा जो छोटा टुकड़ा सिर में लगा था, उसका प्रभाव अब तक गया नहीं है। मस्तिष्क घूमता रहता है। अद्भुत विचार मन में आते हैं। मैं पागल तो नहीं होने जा रहा हूँ।

3 अप्रैल - नहीं, ब्रिटेन मेरी सहायता नहीं कर सकता। हिटलर के दारुण अत्याचार का स्वयं यह देश आखेट हो रहा है। हिटलर के पास शैतान की शक्ति है। उसे पराजित करने के लिए कोई अलौकिक उपाय चाहिये। मैं अपने देश के लिए क्या कुछ नहीं कर सकता हूँ?

4 अप्रैल- कल डायरी में मैं यह अलौकिक उपाय की बात क्या लिख गया? अलौकिक उपाय सम्भव है क्या? सुना तो है कि भारत के योगियों को ऐसी बहुत-सी शक्तियाँ प्राप्त होती हैं। भारत अभी स्वयं पराधीन है। ऐसी शक्ति होती हो तो देश पराधीन क्यों रहे? किंतु योगी, सुना है कि संसार से कोई सम्बन्ध ही नहीं रखते। कुछ भी हो एक बार भारत जाकर प्रयत्न करना है। यहाँ पड़े-पड़े भी तो मैं कुछ कर नहीं रहा हूँ।

5 अप्रैल- आज बहुत दौड़-धूप की है। ब्रिटेन का इण्डिया हाउस कहता है- 'इन सङ्कट के दिनों में भारत-यात्रा की शीघ्र व्यवस्था वह नहीं कर सकता।' लेकिन यहाँ का उपनिवेश विभाग कहता है कि मेरे दक्षिण अफ्रीका के उपनिवेशों में जाने की व्यवस्था वह इसी सप्ताह कर सकता है। वहाँ से भारत जाना अधिक निरापद होगा और वहाँ से सुविधा भी शीघ्र हो जायेगी। अफ्रीका सही, मैं अब यहाँ रहते-रहते ऊब गया हूँ। कहीं भी जाऊँ, इतना सन्तोष तो रहेगा कि कुछ प्रयत्न कर रहा हूँ।

इसके आगे कुछ दिनों का विवरण नहीं था। पता नहीं, वह डायरी में था ही नहीं, या अनुवादकों में किसी ने छोड़ दिया था। आगे विवरण इस प्रकार प्रारम्भ होता है।

26 जून-भूमध्य-रेखा पर स्थित यह प्रदेश इतना उष्ण है कि मुझे लगता है,

जलती भट्ठी में डाल दिया गया होऊँ। दिन डूबने के बाद भी गर्मी बहुत रहती है। दिन में तो कहीं बाहर जाना सम्भव ही नहीं है। यहाँ के शासक बहुत सज्जन हैं उन्होंने बताया है कि कोई भारतीय साधु इन दिनों यहीं इस उपनिवेश की राजधानी में हैं। भारत जाने से पहले उनसे मिलकर आवश्यक जानकारी प्राप्त कर लेना अच्छा होगा।

27 जून- घुटा सिर, लाल कपड़े में लिपटा शरीर पहली बार एक भारतीय साधु से मिला हूँ। मैं पहुँचा ही तब, जब उनका प्रवचन चल रहा था। अपने पल्ले उपदेश की कोई बात नहीं पड़ी। मुझे उपदेश चाहिए भी नहीं। मुझे तो अपने देश के शत्रुओं का विनाश करने का उपाय चाहिये। कल सबेरे आठ बजे साधु ने समय दिया है। देखूँगा। कि वह मुझे कोई उपयोगी सूचना दे पाता है अथवा नहीं।

28 जून- रात से ही वर्षा हो रही है। वर्षा में ही गाड़ी करके साधु के यहाँ गया। अच्छा आदमी है वह। खूब फर्राटे की अंग्रेजी बोलता है। मैं समझ तो लेता हूँ; पर अच्छी अंग्रेजी बोल नहीं पाता। लेकिन उसे बीच-बीच में अपनी भाषा (सम्भवतः संस्कृत) के पद्य (श्लोक) बोलने का व्यसन है। मेरी बात उसने मुझे समझाने में व्यर्थ नष्ट कर दिया। ये भारत के लोग कैसे हैं? देश पराधीन है और इन्हें धर्म एवं ईश्वर की चिन्ता ही लगी है। ये तो सन्तोष का पाठ ही मुझे भी पढ़ाना चाहते हैं। किंतु यह साधु अच्छा है। इससे अपने काम की सूचना पाने की आशा मुझे है। कल फिर मिलूँगा।

29 जून- आज भारतीय साधु ने मुझे दो घण्टे समय दिया। वह पता नहीं, मनुष्य के क्या चार लक्ष्य बताता है और उसमें चौथे को ही सबसे बड़ा कहता है। उसका कहना है कि चौथे को समूह में, समाज में नहीं पाया जा सकता। केवल वही व्यक्ति का अकेले चलने का मार्ग है। भारत के योगी उसी को श्रेष्ठ मानते हैं। उसी पर चलते और दूसरों को चलाते हैं। योगियों के पास जाकर भी कोई संसार की वस्तु माँगना अच्छा नहीं। ऐसा करने वाले को वे अपने पास टिकने नहीं देते। तब मेरे लिए भारत जाना व्यर्थ रहेगा। मुझे कोई और उपाय सोचना होगा। लेकिन इस साधु से एक बार और मिलकर पूरा स्पष्टीकरण कर लेना है।

अनुवादक की टिप्पणी - अर्थ, धर्म, काम ओर मोक्ष ये चार ही मनुष्य के पुरुषार्थ हैं। इनमें परम पुरुषार्थ मनुष्य का मोक्ष ही है और मोक्ष अन्तर्मुख होने पर प्राप्त होता है। अतएव मोक्ष का साधन सामूहिक नहीं हो सकता। व्यक्ति के लिए अपनी रूचि तथा अधिकार के अनुसार यह साधन पृथक्-पृथक् होगा तथा सर्वथा वैयक्तिक होगा।

30 जून- भारतीय साधु कहता है- धर्म, धन और भोग= ये तीनों बातें मनुष्य को सामाजिक प्राणी बनाती हैं। इनकी उन्नति एवं सुरक्षा समाज के सुदृढ़ सङ्गठन तथा

परस्पर सहयोग से ही सम्भव रहती है। समाज के सदस्य पूरे समाज के लिए अपना सर्वस्व तथा प्राण देने को उद्यत रहें, तभी समाज के सब सदस्यों की स्वाधीनता सुरक्षित रहेगी। जहाँ स्वार्थ, दलबंदी, पदलिप्सा फैली है, वहाँ स्वाधीनता का भी कुछ अधिक अर्थ नहीं है। वहाँ दुर्बल निरन्तर उत्पीड़ित होते रहेंगे और सबल भी सशङ्क ही रहेंगे कि दूसरे उन्हें पदच्युत न कर दें। मैं आज इस साधु के उपदेश से ऊब गया हूँ। यह दूसरे की उत्सुकता की चिन्ता किये बिना अपनी ही बात कहता जाता है। अब भारत जाना व्यर्थ लगता है। कौन जाने कितने इसी प्रकार के उपदेश देने वाले साधु वहाँ मिलेंगे। इन लोगों को देश की ही चिन्ता होती तो क्या इनका अपना देश आज तक पराधीन होता?

1 जुलाई– आज एक नवीन बात का मेरे यहाँ काम करने वाले हब्शी से पता लगा है। अफ्रीका के घने वन में बसने वाले लोग बहुत-सी जड़ी-बूटियाँ जानते हैं। उन्हें ऐसे-ऐसे विष ज्ञात हैं कि अग्नि में उसे डाल दो तो जिधर वायु चले, उधर के प्राणी प्राण शून्य हो जायँगे। वे लोग रोग फैला सकते हैं। वे अग्नि और वर्षा के वेगों को बाँध सकते हैं। अपने शत्रुओं को केवल जादू से वे नष्ट कर देते हैं। लेकिन ये अशिक्षित जङ्गली, पता नहीं, कितनी बातें मिथ्या विश्वास के आधार पर कहते हैं। इस हब्शी की बातों में कितनी ठीक हैं, कहा नहीं जा सकता।

2 जुलाई– यहाँ का अंग्रेज कलक्टर तनिक भी चकित नहीं हुआ, जब मैंने उसे अपनी हब्शी नौकर की बातें बतलायीं। वह कहता है कि उसने भी ऐसी बातें बहुत सुनी हैं। उसका विश्वास है कि इन बातों में बहुत अधिक सच्ची हैं। कुछ थोड़ी बातें झूठी हो सकती हैं। लेकिन ये जङ्गली लोग किसी बाहर के व्यक्ति को अपनी कोई जड़ी-बूटी बतलाते नहीं। मन्त्र-तन्त्र तो ये अपने लोगों को भी नहीं सिखलाते, केवल जातिया मुखिया उसे जानता है। इसी के साथ, ये अत्यंत निर्दय है। किसी को मार देना इनके लिये साधारण बात है। अब भी भीतरी अफ्रीका के वनों में मनुष्य भोजी जातियाँ हैं।

यहाँ फिर पर्याप्त समय तक डायरी के उद्धरण नहीं है।

5 अक्टूबर– बेल्जियम कांगो के अधिकारी भी मेरी ही भाँति हिटलर से कुद्ध हैं। इनके देश को भी तो नाजियों ने बूटों ने रौंद रक्खा है। मेरे साथ यहाँ के अधिकारियों की पूरी सहानुभूति है; किंतु जिससे कहता हूँ, वही मुझे हतोत्साहित करता है। मध्य कांगों में, बौने लोगों के मध्य मैं जाना चाहता हूँ, यह सुनते ही सब चौंकते हैं। इस प्रदेश के सात फुट ऊँचे दैत्याकार लोगों में भी अब तक कोई मेरा मार्गदर्शक बनने को प्रस्तुत नहीं है। अन्ततः बौने क्यों इतने दुर्धर्ष हैं? मुझे वही युक्ति तो चाहिये? मृत्यु के भय से मैं रूक जाऊँ तो मेरा अब तक का सब उद्योग ही व्यर्थ है।

6 अक्टूबर– परमात्मा दृढ़ संकल्प का साथी है। मेरा साईस आज रात में एक व्यक्ति को मेरे पास ले आया। देखने में वह बड़ा भयानक लगता था। उसके नेत्र हिंसक पशुओं–जैसे लाल थे। मोटे ओठ, घुँघराले केश, बढ़े नख, नङ्गा शरीर– यह सब तो यहाँ साधारण बात है। मैं अब इस दृश्य का अभ्यस्त हो चुका हूँ। वह व्यक्ति सरकार द्वारा घोषित अपराधी है। उसे वैसे भी अपनी जीवन–रक्षा के लिए भीतरी वन में रहना है। मेरा नौकर कहता है कि उसका वन में रहने वाली जातियों में बहुत सम्मान है। क्या वह विश्वसनीय है? वह कहीं 'माऊ–माऊ' का सदस्य या नेता तो नहीं है?

7 अक्टूबर– मैं आज रात्रि में परमात्मा का नाम लेकर चल रहा हूँ। रात्रि में इसलिए कि दिन में मेरा मार्ग दर्शक प्रत्यक्ष किसी के सामने आना नहीं चाहता। मैं भी यहाँ छिपकर ही निकल जाना पसन्द करता हूँ। पता लगने पर स्थानीय अधिकारी मुझे वन में जाने की अनुमति नहीं देंगे।

आगे विवरण बहुत लम्बे समय तक नहीं है और अन्त में जो कुछ है, उसे उपसंहार ही कहा जाना चाहिए; क्योंकि उसके बाद इस डायरी के लेखक का क्या हुआ; यह कुछ पता नहीं है। सैनिक ने बताया कि या तो उसे बौनों ने मार डाला, अथवा किसी हिंस्र पशु का वह आखेट हो गया। कांगों में किसी के प्राणों का ऐसा मूल्य नहीं है कि वह न मिले तो उसका अन्वेषण किया जाय। कोई करना भी चाहे तो अगम्य वनों के कारण ऐसा करना सम्भव नहीं होगा। डायरी का यह अन्तिम भाग बिना किसी तिथि के ही प्रारम्भ हुआ है।

मुझे पता नहीं है कि आज कौन–सी तारीख है। तारीख का पता लगाने का कोई साधन भी नहीं है। कितने दिन मूर्छित रहा हूँ, यह भी मुझे पता नहीं है। स्मृति ठीक काम नहीं कर रही है। मस्तिष्क में जैसे हथौड़े चल रहे हैं। इस समय जो कुछ स्मरण आ रहा है वही लिपिबद्ध कर रहा हूँ। वह क्रमशः ही लिखा जायगा, इसका आश्वासन मुझे अपने–आप भी नहीं है।

मैं अधिक भीतर जाना चाहता था वन में; किंतु मौसम अनुकूल होने की प्रतीक्षा करना आवश्यक था। मेरा मागदर्शक सचमुच अनेक जङ्गली जातियों में सम्मानित था। वह मेरा गुरु बन गया। उससे केवल ओष्ठ हिलाकर बातचीत करना सीखने में मुझे दो महीने लगे। इसके बिना इन जङ्गली लोगों के मध्य रहना असम्भव है। इसमें प्रत्येक जाति की पृथक् भाषा है; किंतु मूक रहकर ओष्ठ हिलाने की भाषा तो सब समझते हैं। मुझे वन–पशुओं का स्वभाव तथा उनसे बचने की युक्तियों का भी बहुत कुछ ज्ञान अपने मार्गदर्शक से ही हुआ है। उसने थोड़ी जड़ी–बूटियाँ भी बतायी हैं।

मेरा मार्गदर्शक भी आगे साथ नहीं देता। वह भी मुझे बौनों के प्रदेश में जाने नहीं

देना चाहता था। लेकिन मैं केवल फूस की झोपड़ी में यहाँ घोर वन में जीवन व्यतीत करने तो नहीं आया था। मैं आगे जाता ही, लेकिन ईश्वर को जब वह स्वीकार होता तब तो.....।

उस दिन मेरा मार्गदर्शक भी कहीं चला गया था। मैं जङ्गली लकड़ी से एक मजबूत छड़ी बनाने में लगा था। अचानक लगा कि आँधी आ रही है। दृष्टि दौड़ाने पर भी किसी ओर वृक्ष हिलते नहीं दीखे। मैं सोचने लगा कि यह शब्द कैसा आ रहा है। सहसा चार-पाँच चीटिंयाँ मुझे दिखायी पड़ी और मेरे प्राण सूख गये। ये साधारण चींटियों से भिन्न चींटियाँ हैं। इनके सम्बन्ध में मैंने जङ्गली लोगों से बहुत सुना है। कई फर्लांग मार्ग घेरकर जब इनकी असंख्य सेना निकलती है, मार्ग में पड़ने वाले वृक्ष तक ये चाट जाती हैं। मनुष्य, पशु अथवा ऐसा कोई पदार्थ जो ये खा सकती हैं, बचता नहीं। अवश्य आज इनका अभियान इधर हुआ है। इनके दल के चलने का शब्द आ रहा है। वे उस दल की जासूस चीटिया हैं। आगे मार्ग कैसा है, इसका पता दल को देते रहना इनका काम है।

ये जासूस चींटिया खड़ी हो गयी थीं। इधर-उधर मूँछ हिलाकर कुछ सूँघ रही थीं। मैंने कमर से चमड़े की पेटी खोलकर उनमें से चार को मार दिया। एक सम्भवतः बच गयी और भाग निकली। अवश्य वह मेरी दृष्टि को धोखा दे गयी थी। मैंने दौड़कर पहला काम यह किया कि अपने घोड़े को खोल दिया। पशु मनुष्य की अपेक्षा विपत्ति का आभास पहले पा लेते हैं। छूटते ही घोड़ा तीर की भाँति एक ओर भाग गया। उसने इतना भी अवसर मुझे नहीं दिया कि मैं उसकी पीठ पर जीन डालकर बैठ पाता।

मेरा कुत्ता देर से भौंक रहा था। अब तक मैंने उसकी ओर ध्यान नहीं दिया था। कुत्ते को भी मैंने जंजीर से मुक्त कर दिया। लेकिन यह स्वामी भक्त प्राणी मेरे आस-पास ही घूमता और भौंकता रहा। पता नहीं उसकी क्या दशा हुई होगी।

इतने में मेरे कान के पास भयङ्कर वेदना हुई। जैसे किसी ने सुई चुभा दी हो। हाथ वहाँ गया और एक चींटी मसल गयी। यह पहली चोट मुझ पर थी। मैं इससे सँभलूँ, तब तक तो मुख, पीठ, हाथ-लगभग पूरे शरीर में सुइयाँ चूभने लगीं। चमड़े की पेटी मैंने पटकना प्रारम्भ किया; किंतु शीघ्र समझ आ गयी जहाँ तक मैं देख सकता था, केवल चींटियाँ-ही-चिटिंयाँ थीं। भूमि, दरवाजा, खम्भे सर्वत्र चीटियाँ लदी थीं। सब कुछ काला हो गया था। मैं पेटी फेंककर भागा। दोनों हाथों से कपड़े उतारता, फेंकता शरीर पीटता मैं चींटियों के झुंडों को रौंदता प्राण बचाने के लिए पूरे वेग से भागा जा रहा था।

मेरे शरीर का प्रत्येक भाग चींटियों से ढ़क चुका था। शरीर का एक-एक रोम उनके दंशन से बिंध रहा था। कुछ दूर एक दलदल था। और वहीं मेरी आशा का

आधार था। मुझे स्वयं पता नहीं है कि मैं दलदल तक कैसे पहुँचा और कैसे उसके कीचड़ भरे पानी में गिर गया। कब तक उस जल में पड़ा रहा, यह भी जानने का उपाय नहीं है।

मेरा मार्गदर्शक कहता है कि चींटियों के आक्रमण का पता उसे तब लगा, जब उनका दल मेरी झोंपड़ी को घेरकर आगे बढ़ चुका था। अन्यथा वह जहाँ गया था, उस गाँव में एक चीटियों का पुजारी रहता था। वह प्रार्थना करके चींटियों को मार्ग बदलने पर विवश कर देता है। उसने अपने गाँव को इसी प्रकार बचाया था। लेकिन मेरी ओर से वे लोग निराश हो चुके थे।

चींटी-दल रात्रि के मध्य तक वहाँ से जा चुका था। दूसरे दिन मार्गदर्शक कुछ दूसरे लोगों के साथ आया तो झोपड़ी का फूस तक वे चींटियाँ चाट गयी थीं। वे लोग तो मेरा कङ्काल ही इधर-उधर ढूँढ़ रहे थे; किंतु मैंने जो वस्त्र फेंके थे, उनके बटन दृष्टि पड़ गये। वस्त्र तो चींटियों का भोजन हो चुका था। बटन से अनुमान करके वे लोग दलदल तक पहुँचे।

अब भी मेरे पूरे शरीर में चेचक के समान गड्ढ़े हैं। घाव कितने दिन में अच्छे हुए, कौन जाने। मुझे इस स्थानपर- इस पक्की कोठरी में वहीं लोग ले आये हैं। कभी-कभी यह एक पादरी के लिए यहाँ के शासकों ने बनवायी थी। उस पादरी को भी चींटियों ने ही खाया था और तब से फिर कोई इधर आने का साहस नहीं कर सका।

चलने योग्य हो जाऊँ तो यहाँ से चला जाऊँगा। जो बात उस भारतीय साधु के कहने से समझ में नहीं आयी थी, वह चींटियों ने समझा दी। मुझे अब फ्रांस जाना है। शत्रु के उन्मूलन का सूत्र मुझे मिल गया है। वह सूत्र है- सङ्गठन। जो देश, जो समाज ऐसे सदस्य रखता है, जो प्रत्येक सदस्य अपने समाज के लिए आगा-पीछा सोचे बिना आत्मार्पण कर सकें, वहीं विजयी होगा। उसी को जीवित रहने का अधिकार है। स्वार्थलोलुप, पदलोलुप, का पुरुष लोगों का समाज कब तक बना रह सकता है। मेरे देश को सङ्गठन चाहिए- स्वार्थ त्यागी, स्वात्मदानी साहसी लोगों का सङ्गठन।

अनुवादक की अंत में एक टिप्पणी है- मेरे अपने देश को, अपनी जाति को भी इससे सीखना है। ऐसा सङ्गठन नहीं बनता तो देश एवं समाज की दुर्दशा दैव भी रोक नहीं सकता।

श्रद्धा की विजय

'तुम यहाँ? इस समय? इस स्थिति में ?' दो क्षण स्वर रूका– 'घर जाओ ! मेरी ओर मत देखो, घर चले जाओ ! माँ तुम्हारे लिए व्याकुल होगी।'

'वह माँ के पास ही जा रहा है !' एक अट्टहास करके भैरव स्वामी बोले– 'वह यहाँ से हिल नहीं सकता।'

'मैं कहता हूँ तुम घर जाओ !' सुनन्द पण्डित के लिए जैसे भैरव स्वामी की वहाँ सत्ता ही नहीं थी। वज्रकाय, सुदीर्घाकार रक्तवसन, जलते नेत्र, सदा हाथ में सिन्दूर-रंजित त्रिशूल लिए रक्त चन्दन का त्रिपुण्ड लगाये भैरव स्वामी– वे भैरव स्वामी जिनकी दृष्टि से मनुष्य तो क्या सिंह भी काँप जाय, इस समय खड्ग उठाये खड़े थे और सुनन्द पण्डित उनकी ओर देखते तक नहीं थे। उनके लिए जैसे भैरव स्वामी नितान्त उपेक्षणीय थे। अत्यन्त दृढ़ स्वर में कह रहे थे वे – 'माँ कभी सामान्य नहीं होती। वह जगन्माता का स्वरूप है और वह बुलाती है तो तुम्हें कोई रोक कैसे लेगा। जाओ ! माँ बुलाती है तुमको।'

'इसे चामुण्डा ने बुलाया है !' भैरव स्वामी ने कठोर स्वर में कहा। 'यह न स्वयं आया है, न जा सकता है।'

'आपकी क्रूरता ने बुलाया कहिये !' सुनन्द पण्डित ने अब देखा भैरव स्वामी की ओर जैसे छोटे बच्चे को झिड़क रहे हो झिड़का – 'जगदम्बा के सम्मुख अपनी क्रूरता की इस विडम्बना का प्रदर्शन करने में आपको लज्जा नहीं आती। आप इसे रोक नहीं सकते ! घर जाओ महादेव !'

तरुण महादेव, स्वस्थ बलिष्ठ पुरुष, अपने अखाड़े में दस को जोर कराके थका देने वाला पहलवान-जैसे उसमें रक्त की बूँद नहीं है। वह श्वेत हो गया है। निष्कम्प ठूँठ-सा खड़ा है। न उसके नेत्रों से अश्रु झरता, न शरीर काँपता। पता नहीं क्या हो गया है उसे। उसकी कटि में ऐसे लिपटा है जैसे दूसरे ने लपेट दिया हो। मस्तक पर रक्त चन्दन लगा है और गले में लाल कनेर के फूलों की माला है। उसके सम्मुख प्रज्जवलित अग्नि है और दूसरे उपकरण

हैं। साक्षात् यमराज के समान भैरव स्वामी खड्ग लिए खड़े हैं। स्वामी का त्रिशूल पास में गड़ा है। वे पूजन कर चुके हैं और महाबलि देने को उद्यत हैं।

'घर जाओ महादेव ! माँ बुलाती है !' सुनन्द पण्डित ने आदेश के स्वर में कहा। महादेव के भय से फटे नेत्रों की पलकें गिरीं और वह जैसे मूर्छा से जगा हो, हिल उठा। एक क्षण तो बहुत होते हैं, महादेव तो ऐसे मुड़ा और इतनी शीघ्रता से भागा जैसे सिंह को देखकर कोई प्राण बचाने भाग जाय।

'अच्छा !' भैरव स्वामी के अङ्गार-नेत्र प्रज्ज्वलित हो उठे। उन्होंने हाथ का खड्ग रख दिया और पास पड़ी पीली सरसों से कुछ दाने उठाये।

'ठहरिये ! जगदम्बा के सामने अधिक धृष्टता। अनर्थ करेगी भैरव जी !' पण्डित सुनन्द के स्वर में रोष नहीं था; किंतु तेज पूरा ही था।

'जगदम्बा ! कौन जगदम्बा?' भैरव स्वामी ने अट्टहास किया। 'चामुण्डा नित्य अजातपुत्र है। रक्त-बीज के रक्त कणों को चाट जाने वाली महाकाली...।'

'परन्तु वह शक्ति है, जगन्माता महाशक्ति का अंश।' सुनन्द पण्डित ने उसी तेजपूर्ण स्वर में कहा।

'कराल दंष्ट्रा, विकटास्यकोटरा, ज्वलदग्निनेत्रा, उन्मुक्तमूर्धजा चामुण्डा !' भैरव स्वामी क्रोध से अधर काटते गरज उठे- 'तू देख सकेगा उसे।'

'करालदंष्ट्रा, विकटास्यकोटरा, ज्वलदग्निनेत्रा, उन्मुक्तमूर्धजा चामुण्डा !' सुनन्द पण्डित ने तनिक स्मित से कहा- 'माता का रूप कुछ हो, अपने शिशु के लिए वह सदा सानुकूला स्नेह भरिता सौम्या है।'

'धूँ, धुर्रं !' जैसे सुनन्द पण्डित की बात का समर्थन हो गया हो। भैरव स्वामी ने देखा और मुख घुमाकर सुनन्द पण्डित ने भी देखा कि काली खोह के द्वार से सिंहनी भीतर चली आ रही है। उसके दोनों शिशु बार-बार उसके सम्मुख कूद आते हैं और पंजों से उसके मुख और नाक को नोचने का प्रयत्न करते हैं। सिंहनी मुख फाड़कर केवल 'घुर्र' कर रही है और शिशु तो उसके खुले मुख में पंजे डालकर उससे खेलते, उसकी गति को रुद्ध करते फुदक रहे हैं।

× × ×

'मैं मानता हूँ कि शास्त्रीय ग्रन्थों में पशु-बलि के विधान हैं।' सुनन्द पण्डित ने शान्त स्वर में कहा - 'परन्तु ऐसे वचन पर्याप्त मिलते हैं जो बतलाते हैं कि ऐसे विधान विधि-वाक्य नहीं है।'

'विधि-वाक्य नहीं हैं? आप कहना क्या चाहते हैं?' पण्डित-समाज में से एक ने तर्क किया- 'विधान तो सदा विधि-वाक्य होता है।'

'ऐसा नहीं है, रोगी के लिए अनेक बार ऐसे औषधि विधान होता है, जो सबके लिए उपयुक्त नहीं होती। हानिकर भी हो सकती है।' सुनन्द पण्डित आज की मण्डली में अकेले हैं। वे भी अन्य श्रद्धालु ब्राह्मणों के समान भगवती विन्ध्यावासिनी को नवरात्र में दुर्गापाठ सुनाने आये हैं। परन्तु वे बलि-प्रथा के समर्थक नहीं, इससे उनको प्रायः अन्य वर्ग व्यङ्ग सुनाया करता है और आज महाष्टमी का पाठ पूर्ण करके तो सबने उन्हें मण्डप में ही घेर लिया है।

'हम सब रोगी है?' एक युवक ने पूछा।

'शास्त्र स्पष्ट कहते हैं कि पशु-बलि का विधान हिंसा को नियन्त्रित करने के लिए है।' सुनन्द पण्डित ने युवक के प्रश्न का उत्तर न देकर अपनी बात स्पष्ट की। 'जो मांसाहार के बिना न रह सकते हो, उन राजस-तामस पुरुषों की हिंसावृत्ति अनर्गल पशु हत्या न करे, इसलिए उन्हें शास्त्र ने आज्ञा दी कि वे भगवती का सविधि पूजन करके, प्रोक्षित पूजित पशु की बलि दें और केवल उसी का मांस प्रसाद मानकर ग्रहण करें।'

'परन्तु जो मांसाहारी नहीं हैं, वे महाशक्ति की पूजा ही न करें।' युवक ने उत्तेजित होकर कहा।

'महाशक्ति जगन्माता, जगज्जननी हैं। उनकी पूजा तो प्रत्येक को करनी चाहिये!' सुनन्द पण्डित ने केवल दृष्टि उठाकर देखा भगवती विन्ध्यवासिनी की ओर- 'किंतु जगन्माता की पूजा उनके शिशुओं के रक्त मांस से नहीं हुआ करती। माता रक्ताशना नहीं और न वह पशु बलि से प्रसन्न होती है।'

'आपको तो वैष्णव होना चाहिये था।' एक अन्य पण्डित ने व्यङ्ग किया- 'व्यर्थ आते हैं आप विन्ध्याचल।'

'मैं व्यर्थ तो नहीं आता। माताके श्रीचरणों में अपनी तुच्छ श्रद्धांजलि अर्पित करने आता हूँ और जानता हूँ कि शिशु की मुट्ठी की धूलि से भी माँ प्रसन्न होती है।' अब सुनन्द पण्डित के नेत्र भर आये थे- 'परन्तु मुझे खेद होता है कि हम यहाँ भगवती कौशिकी के सम्मुख बैठकर पशु-बलि की चर्चा करें। विन्ध्याचल की त्रिकोणमात्रा में भगवती विन्ध्यावासिनी महाशक्ति कौशिकी महालक्ष्मी-स्वरूपा हैं, यह जानकर भी विद्वद्वर्ग....।'

'तो आप महाकाली चामुण्डा को भी बलि देना बन्द कर देना चाहते हैं?' एक साँवले रङ्ग के पण्डित ने पूछा।

'यदि मेरी बात आप सब मान सकें।' सुनन्द पंडित ने स्थिर स्वर में कहा- 'इससे देवी चामुण्डा रुष्ट नहीं होंगी। उन्हें परम सन्तोष होगा।'

'हम आपकी बात मान लेंगे यदि आप भैरव स्वामी को मना सकें।' युवक ने व्यङ्ग किया- 'आज रात्रि के द्वितीय प्रहर में कालीखोह चले जाइये। भैरव स्वामी आज महाबलि अर्पित करेंगे।'

'मैं प्रयत्न करूँगा। सुनन्द पण्डित की बात ने सबको चौंका दिया। वह वृद्ध ब्राह्मण सच्चा है और हठी है। कहीं सचमुच काली खोह चला गया....।'

'आप मुझे क्षमा करें!' युवक ने तो हाथ जोड़े- 'मैंने केवल व्यंग किया। आप जानते ही हैं कि भैरव स्वामी वीर-प्राप्त सिद्ध हैं और उग्र कापालिक हैं।'

'शुम्भ-निशुम्भ का मर्दन करने वाली जगन्माता के हम पुत्र हैं।' सुनन्द पण्डित ने युवक की ओर देखा- 'आप कातर क्यों होते हैं? वहाँ देवी चामुण्डा भी माता की ही शक्ति हैं और भैरव स्वामी तो उनके सेवक मात्र हैं- पथभ्रष्ट सेवक! मैं चेष्टा करूँगा कि वे सत्पथ देख सके।'

'आज की महाबलि बना यह ब्राह्मण!' पण्डित समाज में क्षोभ और दुःख दोनों था। सुनन्द पण्डित को वे समझाकर हार गये। इतना साहस किसी में नहीं था कि उनके साथ रात्रि में काली खोह जा सके। उग्र कापालिक की शक्ति वह तो पूरे नगर की बलि दे सकता है। जान-बूझकर मृत्यु के मुख में कौन जाय।

रात्रि के प्रथम प्रहर के बीत जाने पर सुनन्द पण्डित जब चलने लगे, उन्हें महादेव की वृद्धा माता मिली। वह पुकार रही थी- 'महादेव! महादेव! अरे कहाँ चला गया?'

पण्डित ध्यान न देते हुए उसकी पुकार पर 'कहीं गया होगा महादेव, अभी कौन इतनी रात बीती है कि बुढ़िया उसके लिए चिन्ता कर रही है' सोचते हुए आगे बढ़ गये। किंतु कुछ आगे महादेव के अखाड़े का एक युवक मिला। उसने कहा- 'महादेव गुरु आज वन की ओर जा रहे थे। पता नहीं क्या हुआ था उन्हें। मैंने बहुत पुकारा; किंतु बोलते ही नहीं थे।

'काली खोह की ओर तो नहीं गया?' सुनन्द पण्डित ने पूछ लिया।

'जाते तो उसी मार्ग पर थे, उत्तर मिला और सुनन्द पण्डित के पैरों में लगभग दौड़ने-जैसे गति आयी। युवक उन्हें आश्चर्य से देखता रह गया। 'महाष्टमी.... महाबलि.... महादेव.... उग्र कापालिक भैरव स्वामी....!' विचारों का अधंड़ चल रहा था। वृद्ध पण्डित के मस्तिष्क में और महादेव को पुकारती वह बलीपलित, क्षीणदृष्टि, नमितकाय उसकी वृद्धा माता उन्हें बार-बार स्मरण आ रही थी।

× × ×

'उसे क्या देखता है। वह सिंहनी तो शिशुओं के साथ महाबलि के प्रसाद का

थोड़ा-सा रक्त चाट लेने की तृष्णा लिये आयी है।' भैरव स्वामी ने हाथ को सर्षप एक ओर फेंक दी कुछ ओष्ठ हिलाकर और गरज उठे- 'अब देख इसे।'

आधे पल में एक पूरा नर-कङ्काल कहीं से आ खड़ा हुआ। कङ्काल न चर्म था, न स्नायु, न अँतड़ियाँ। मनुष्य की हड्डियों का पूरा कङ्काल और चलता-फिरता सजीव। उसके दोनों नेत्रों के गड्ढे अग्नि के समान जल रहे थे।

'बस! यह वेतालमात्र तुम्हारी शक्ति है?' सुनन्द पण्डित में न कम्प आया, न भय, न हिचक। चामुण्डा पीठ की ओर एक बार दृष्टि करके फिर उन्होंने देखा दूरे पीछे की ओर भैरव मूर्ति को- 'इसका स्वामी तो वह खड़ा है दण्ड लिए और तुम्हारा यह 'वीर' जानता है कि मेरी ओर देखने का साहस यह करें तो भैरव का कालदण्ड इसकी कपाल-क्रिया कर देगा। माता के सामने उसका यह गण....।'

'देख महादेव आ रहा है।' इन कुछ क्षणों में भैरव स्वामी ने दूसरे बार सर्षप फेंक दी- 'तू मन्त्रज्ञ है, वृद्ध है, ब्राह्मण है। मैं तुझे दया करके छोड़ देता हूँ। इस वीर को अपनी वाम भुजा काटकर दे दे और चुपचाप चला जा यहाँ से।' खड्ग उठाकर स्वामी ने सुनन्द पण्डित की ओर बढ़ाया।

'महादेव को माता बुलाती है, उसे कोई लौटा नहीं सकता।' पण्डित स्वर में दृढ़ विश्वास था। 'अपने मन्त्र सिद्ध किए हैं, मैं तो माता का नाम जानता हूँ जो सब में महान् मंत्र है!'

'तू मानेगा नहीं!' दाँत पीसकर भैरव स्वामी ने सर्षप उठायीं, उनके ओष्ठ हिले और सर्षप उस कङ्काल पर गिरी।

'माँ! चामुण्डे!' साथ ही पुकारा पण्डित ने देवीपीठ की ओर देखकर।

जैसे पूरा विन्ध्यागिरि फट पड़ा हो। भीषण शब्द और ऐसी प्रचण्ड ज्वाला जो पूर्ण ज्वालामुखी के फटने पर भी दृष्टि में न आ सके। परंतु पण्डित प्रमत्त नहीं थे। वे विद्युत् के समान भैरव स्वामी को अपने पीछे करके आराध्यपीठ के सम्मुख गिरे और पुकार उठे- 'माँ! क्षमा कर दे इस साधु को।'

करालदष्ट्रा, विकटास्यकोटरा, ज्वलदग्निनेत्रा, उन्मुक्तमूर्धजा, विश्वभीषणा, चामुण्डा अपने आराध्यपीठ पर जिह्वा लपलप करती प्रत्यक्ष खड़ी थीं। उनके हाथ का उठा खेटक स्तम्भित हो गया था।

'माँ! तेरी यह कालीखोह अब किसी निरीह मानव या पशु के रक्त से अपवित्र न हो!' सुनन्द पण्डित ने उठकर अंजलि बाँधी और वरदान माँगा। 'तू इस साधु को क्षमा कर दे और शान्त हो जा!'

'जो तेरी इच्छा!' देवी की वह मूर्ति जब अन्तर्निहत हो गयी, तब सुनन्द पण्डित ने घूमकर देखा- भैरव स्वामी मूर्च्छित होकर गिर पड़े हैं। उनके मस्तक से कुछ रक्त

निकल आया है। अब तक खोह के एक कोने में अपराधी कुत्तो के समान दुबका बैताल आगे बढ़ आया । उसने आधे पल में अपनी काली जिह्वा से भैरव स्वामी के मस्तक से निकला रक्त चाट लिया और अदृश्य हो गया।

भैरव स्वामी उठे एक अशक्त पुरुष के समान। सुनन्द पण्डित के पीछे मस्तक झुकाये वे चल पड़े। खोह से निकलते-निकलते सिंहनी की ओर देखकर पण्डित ने फिर भैरव स्वामी की ओर देखा और बोले- 'देवि ! तुम्हारा भाग तो बैताल चाट गया। अब तुम वन में अपने आहार का अन्वेषण करो।'

× × ×

भैरव स्वामी फिर विन्ध्याचल में देखे नहीं गये। विन्ध्याचल की शाक्तमण्डली सुनन्द पण्डित के तर्क मान लेगी, यह आशा तो कभी नहीं थी; किंतु काली खोह बन्द हो गयी और बन्द हैं।

❑❑

स्मरण

'भगवन्! मुझे भय बहुत लगता है।' महर्षि त्रित का दर्शन करने आये थे महाराज दिव्यभद्र और उनके साथ ही आयी थी राजकुमारी। जब पिता महर्षि से विदा होने की अनुमति लेने लगे तो उस बलिका ने ऋषि के पदों में मस्तक झुकाकर प्रार्थना की।

'बालिकाओं के लिए भीरू होना अस्वाभाविक नहीं है।' ऋषि ने अंजलि बाँधे, मस्तक झुकाये सामने खड़ी उस दस वर्ष की बच्ची की ओर देखा।

'सब मेरा उपहास करते हैं। मुझे तो एकाकी कक्ष में दिन में जाते भी भय लगता है!' उस राजकन्या के विशाल निर्मल नेत्र भर आये और अरुण सुकुमार अधर काँपने लगे– 'भैया कहते हैं कि मैं उनके उपयुक्त बहिन नहीं हूँ।'

'जब भय लगे, भगवान् का स्मरण कर लिया करो!' महर्षि ने सहज भाव से कह दिया।

'भगवान् का स्मरण!' बालिका चिन्ता में पड़ गयी।

'यह अतिशय चपल है।' महाराज ने अपनी कन्या की कठिनाई सूचित की– 'कुछ काल एक स्थान पर तो इसका शरीर स्थिर नहीं रह पाता। इधर से उधर फुदकती फिरती है। मन कैसे इसका स्मरण में लगेगा?'

'युवराज मणिभद्र की गदा देखी है वत्से?' ऋषि ने इस बार ध्यानपूर्वक राजकुमारी की ओर देखा और स्नेहसने स्वर में बोले– 'उससे बहुत विशाल ज्योतिर्मय गदा है श्री हरि की।

कौमोदकीं भगवतो दयितां स्मरेत

दिग्धामरातिभटशोणितकर्दमेन।'

'शत्रुओं के रक्त से लथपथ श्रीहरि की उस अत्यन्त प्रिया कौमादकी गदा का स्मरण तू कर लिया कर!'

'श्री हरि के तो कोई शत्रु नहीं। वे तो सबके परम सुहृद हैं।' राजकन्या ने आश्चर्य से कहा– 'माताजी ने तो मुझे यह बताया है।'

'तुम्हारी माता ने सत्य कहा है। श्रीहरि प्राणिमात्र के परम सुहृद हैं, किंतु उनके

आयुध-आभरण उनके समान ही चिन्मय हैं।' बालिका के विवेक ने ऋषि को सुप्रसन्न किया था। वे समझा रहे थे- 'भगवदाश्रित जनों को उत्पीड़ित करने वालों को प्रभु की गदा स्वयं शत्रु मान लेती है। वह स्वयं नियुक्ता है ऐसे शत्रुओं को शमित करने में। इसीलिए वह अत्यन्त प्रिया है हरि की।'

राजकन्या का समाधान हो गया। उसने महर्षि को पुनः वन्दन किया और पिता के साथ वह राजसदन लौट गयी।

× × ×

'भगवन्!' महापूजा के उपकरण समीप रखकर राजकुमार चण्डबाहु दण्डवत्-प्रणिपात करते भूमि पर गिर पड़े। उठने पर उन्होंने अवधूत के चरण पकड़ लिए। रात्रि के अन्धकार में उनके अश्रु भले न देखे जा सकें, उनके भरे कण्ठ के स्वर टूट रहे थे- 'आपके अतिरिक्त और कोई मुझे अवलम्ब नहीं दे सकता।'

राजकुमार आज सायंकाल विक्षिप्तप्राय राजसदन लौटे थे। क्रोध से बार-बार पैर पटकते मुट्ठियाँ बाँधकर अधर दंशन करते। अङ्गार नेत्र राजकुमार के सामने आने का साहस राजमाता तक को नहीं हुआ था। अपने कक्ष में वे बार-बार 'हुँ' करते चक्कर काटते रहे और प्रहर-रात्रि व्यतीत होने पर कुछ निश्चय करके स्वयं सामग्री एकत्र करने लगे।

'मैं एकाकी जाऊँगा!' राजकुमार के आदेश की अवहेलना करके एक विश्वस्त अनुचर ने उनका अनुगमन किया था। वह शस्त्र सज्ज सावधान सेवक साथ है, इसका अनुमान भी राजकुमार नहीं कर सके। अंधकार में वह उनसे पर्याप्त दूर रहा है।

राजकुमार आज अपने रथ से गुप्त रूप से अङ्ग नरेश की राजधानी गये थे। अङ्गराज महाराज दिव्यभद्र से उनके पिता की शत्रुता है; किंतु मकरध्वज तो यह सब नहीं देखता। जबसे अङ्गराजकुमारी श्रीजगन्नाथ रथयात्रा- समारोह में दृष्टि पड़ी, राजकुमार उन्हें किसी प्रकार भूल नहीं पाते। अपने चरों की सूचना के अनुसार राजोद्यान में राजकन्या के सम्मुख अकस्मात् उपस्थित होकर उसे चकित कर देने में वे सफल हो गये थे।

'अनार्योचित कर्म है यह!' राजकन्या ने तुच्छ सेवक की भाँति उन्हें झिड़क दिया- 'लज्जा आनी चाहिये आपको। तत्काल आप चले नहीं जाते तो भैया मणिभद्र की गदा के पारुष्य से परिचित होना पड़ेगा और अङ्गराज्य का कारागार आपका आतिथ्य करेगा!'

राजकन्या ने सचमुच सहेली को सूचना देने भेज दिया था। सिर पर पैर रखकर

राजकुमार को भागना पड़ा। इतना तिरस्कार जीवन में अपमानित होने का प्रथम अवसर था। राजकुमार क्रोध से उन्मत्त हो उठे– 'इस अभिमानिनी को अपने पैरों पर डालकर रहना है।'

सङ्कल्प कर लेना सरल है; किंतु उसकी पूर्ति के साधन सोचने लगे तो हृदय बैठ गया। नाममात्र का राज्य है उनका। अङ्गनरेश से युद्ध की कल्पना ही नहीं की जा सकती। अङ्ग के युवराज मणिभद्र से द्वन्द्व करने जायँ तो उपचार के लिये भी भवन लौट सकेंगे– कम सम्भावना है। अन्ततः राजकुमार को कुलेश्वर कौलिक का स्मरण आया था।

भयावह अन्धकार, घोर श्मशानभूमि, उल्लूक की कभी-कभी कर्णवेधी ध्वनि तथा शृगालों का शब्द; किंतु क्रोध एवं क्षोभ के आवेश में राजकुमार ने इधर ध्यान ही नहीं दिया था। वे सीधे चलते गये।

जलकर चिता की लपटें शान्त हो चुकी थी; परंतु अङ्गारों का धूमिल प्रकाश था। कृष्णवर्ण, दीर्घ प्रचण्डकाय, रूक्ष विकीर्णकेश, दिगम्बर अवधूत कुलेश्वर कौलिक जैसे इस शीतकाल की रात्रि में धूनी के समीप पड़े हों, इस प्रकार उस चिता के पार्श्व में भूमि पर पड़े थे।

'तू कामक्षुब्ध आया है!' अवधूत ने अपने पदों में प्रणत, हिचकियाँ भरते राजकुमार को तथा उनके द्वारा लाये गये महापूजा के उपकरणों को सहज भाव से देखा।

'कामना आपके यहाँ तो अपमानित नहीं होती देव!' राजकुमार ने पुनः पदों पर मस्तक रक्खा।

'निगम के साधक कामना को निर्मूल करके परिपूत होते हैं और आगम कामना का केन्द्रीकरण करके उसमें आत्माहुति देने का आह्वान करता है।' अवधूत अपनी मस्ती में बोलने लगे– 'शुद्ध सच्चिदानन्द ही महाशक्ति के अङ्क में सत्त्व, रज, तम होकर प्रतिफलित होता है। ऋषि त्रित चित् का साक्षात्कार करते हैं आत्मरूप में और कुलेश्वर रजोगुण की चरम परिणति में आत्माहुति करके 'शिवोऽहं' कहता है। त्रित और कुलेश्वर में जो तारतम्य देखे, मूर्ख है वह। किंतु इस गर्वोक्ति को राजसदेह कुलेश्वर का कण्ठ ही व्यक्त कर सकता है। सत्त्वशरीर त्रित को तो सौम्यता प्राप्त हुई जगती के जीवन में।'

'तू यह सब समझेगा नहीं।' अचानक बोलते-बोलते अवधूत चुप हो गये। राजकुमार की ओर दो क्षण देखकर फिर बोले– 'तुझे सिद्ध आकर्षण चाहिए! श्रद्धा और संयम सर्वत्र साधना में अनिवार्य हैं; किंतु तंत्र के साधक में लोकोत्तर साहस भी चाहिए। संपूर्ण ब्रह्माण्ड विस्फुटित हो जाय तो भी साधक का आसन अविचल रहे– कर सकेगा?'

'कर सकूँगा!' दृढ़स्वर राजकुमार ने स्वीकार किया।

'अहङ्कारका औद्वत्य!' अवधूत ने अट्टहास किया– 'कोई क्षति नहीं होती शरीरों के शीर्ण होने से। काली के ग्रास हैं ये देह और तू शाश्वत है। 'स्मरण' से संघर्ष करने चला है तू। महामाया की इच्छा....।'

अवधूत के प्रलाप को राजकुमार ने नहीं समझा; किंतु अपने को उन्होंने हुतार्थ माना; क्योंकि अवधूत ने उन्हें आकर्षण–प्रयोग की सम्पूर्ण विधि समझा दी थी और वे गर्व कर सकते थे कि कुलेश्वर कौल जैसे महासिद्ध ने मंत्रदान किया था उन्हें।

× × ×

'क्या है?' राजकुमारी ने इधर–उधर देखा। अकस्मात् उसकी निद्रा भङ्ग हो गयी थी। कक्ष में मंद प्रकाश है सुगन्धित तैल प्रदीपका और उसकी दोनों सहेलियाँ शान्त सो रही हैं उसके समीप ही। अन्ततः वह क्यों जाग गयी? उसकी निद्रा में में विघ्न कैसे पड़ा? आज उसे भय क्यों लग रहा हैं?

महर्षि त्रित ने आज से छः वर्ष पूर्व उसे भय–निवारण का उपाय बतलाया था– 'श्री हरि की गदा का स्मरण– वह स्मरण तो उसका जीवन बन गया और जब वह आखेट में अब अपने अग्रज के साथ अश्वरारूढ़ होकर निकलती है, बचपन में उसका उपहास करने वाले उसके बड़े भाई मणिभद्र अब कहते हैं – 'मेरी बहिन के सामने वनराज भी पूँछ दबाकर भागता है। अङ्गराजकुल की यशोमूर्ति है मेरी अनुजा!' और आज रात्रि में यह भय–अकारण भय उसी राजकुमारी को? अपनी शय्या पर ही वह बैठ गयी और मंद स्वर में स्तवन करने लगी–

गदेऽशनिस्पर्शनविस्फुलिङ्गे निष्पिण्डि निष्पिण्ढयजितप्रियासि।
कूष्माण्डवैनायकयक्षरक्षो- भूतग्रहांश्चूर्णय चूर्णयारीन्।।

(श्रीमद्भगवत ६।८।२४)

लगा कक्ष स्निग्ध चन्द्रिकासे परिपूर्ण हो गया है। चन्द्रोज्ज्वल विशाल गदा आविर्भूत हो गयी है और उससे झर रही है वह स्निग्ध, उज्ज्वल, असीम वात्सल्यधारा के रूप में एक शुभ्र ज्योत्स्ना। राजकन्या ने अपना मस्तक झुकाया और उसे कुछ ऐसा मधुर आलस्य आया कि वह शय्या पर पुनः लुढ़ककर गाढ़ निद्रा में मग्न हो गयी।

वह रात्रि थी कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी की। महारात्रि का मुहूर्त जाग्रत् करने राजकुमार चण्डबाहू श्मशान में बैठा था रात्रि के प्रथम प्रहर से ही। आज अपना आकर्षण–प्रयोग सम्पूर्ण करके ही आसन से उठेगा। इसी रात्रि में, इसी श्मशानभूमि में अभिमानिनी अङ्गराजकन्या उसके चरणों पर गिरेगी।

'ठं ठां ठूँ वौषट्' अत्यन्त कर्कश किंतु दृढ़ स्वर गूँज रहा है श्मशान की नीरवता में। प्रज्ज्वलित चिता में पड़ी पीत सर्षप की आहुतियों की पूय गन्ध वायु में भरी है। नीलवसन, रक्तचन्दनचर्चित-देह राजकुमार सर्षप के साथ अपराजिता के पुष्पों की अनवरत आहुति चिताग्नि में डाले जा रहा है।

कङ्काल देह प्रकट हुए, चिल्लाये, नृत्य करते रहे और स्थिर खड़े हो गये। शतशः अदृश्य महानागों की फूत्कार वायु में उठी एवं लीन हो गयी। ज्वालाएँ स्थान-स्थान पर धधकीं, बढ़ी, बुझ गयीं। राजकुमार अविचल रहा, निष्कम्प रहा और उसका स्वर स्थिर रहा- 'ठं ठां ठूं वौषट्!'

राजकुमार तब भी निष्कम्प रहा जब साक्षात् चामुण्डा-श्मशान-कालिका, नीलवसना, करालदंष्ट्रा, कपालमालिका अट्टहास करती चिताग्नि से बाहर ऐसे कूद पड़ा, जैसे साधक के मस्तक पर ही कूद जायगी।

'ठं ठां ठूँ वौषट्! आनय तां...।' अचानक सम्पूर्ण गगन में जैसे प्रलयाग्नि प्रकट हो गयी। प्रचण्ड ज्वालमालावृता सहस्राशनि-भीषण अद्भुत अनन्तदीर्घा एक महागदा आकाश में आयी और चामुण्डा श्मशानकालिका ने अपने केश नोच लिये। उसके शरीर का नीलाम्बर भस्म हो गया क्षणार्धमें। 'ठं!' अकल्पनीय दारुण शब्द-सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड जैसे चूर्ण-विचूर्ण हो गया हो ऐसा विकराल विकट विस्फोट!

आज आप विज्ञान की कृपा से परमाणु-विस्फोट की भयङ्करता का कुछ अनुमान कर सकते हैं। विश्व के मूल में जो मातृ का बीज है, उन बीजाक्षरों में किसी का विस्फोट हो जाय, सृष्टि-कोटि-कोटि ब्राह्माण्डों का कहीं पता नहीं लगेगा। यह तो सर्वेश्वर की अपार महिमा है कि बीजाक्षरों का विस्फोट समष्टि में सम्भव नहीं। वह सदा साधक में - व्यष्टि में होता है।

'ठ' साधक के मस्तिष्क में उसके बीजाक्षर का विस्फोट हो गया। कोटि-कोटि ब्राह्माण्ड फट गये माना उसके मस्तक में। यह बीजाक्षर पर चिन्मय श्रीहरि की गदा का स्मरणाघात-राजकुमार उस दिन से एक असाध्य उन्माद-का आखेट हो गया। वह अकस्मात दौड़ता, भागता, वस्त्र नोचता और 'ठं' का आर्तनाद करके मूर्छित हो जाया करता था।

साधु-समुदाय की जनश्रुति तो यह भी है कि उसी समय से आकर्षण के अभिचार के लिए चामुण्डा श्मशान-कालिका का अनुष्ठान वर्जित हो गया है। अनुष्ठान आरंभ करते ही वह उन्मादिनी हो उठती है और साधक को ही अपना शिकार बना लेती है।

❑❑

नाम का आश्रय

'ह्रां ह्रीं ह्रू फट्' उसका स्वर उच्च हो गया था। घाघरा से बहते हुए शव को पकड़कर उसने सन्ध्या के झिलमिल प्रकाश में ही तैरकर निकाल लिया था। शव जल से फूल गया था। उसे कहीं-कहीं कछुए और मछलियों ने भी नोच लिया था। उस समय उसके उन स्थानों से सफेद मांस दिखायी पड़ता था। उसके फूले हुए वक्ष पर जब वह आसन लगाकर बैठा तो ढ़ेर-सा जल शव के मुख से निकल पड़ा। अब घोर अन्धकार में यह सब दिखायी नहीं पड़ता।

उसने शव के मस्तक पर रक्त-चन्दन का तिलक किया था। गले में रक्त कनैर कुसुमों की माला डाली थी। कुंकुम छिड़का था सर्वाङ्गपर। रक्तवस्त्र पहनकर वह भी इन्हीं उपकरणों से आभूषित हुआ था। धृत, अक्षत सब कुकुमारुण कर दिये थे। बेचारा बकरी का छोटा-सा काला बच्चा गले में कनैर की माला से उलझता बार-बार चिल्ला रहा था।

अश्विनी की रात्रि में बादल थे आकाश में। घाघरा का जलप्रवाह मानों किसी की क्रूर हँसी हो। आज दुर्गाष्टमी है। अर्धरात्रि तक चन्द्रमा का धुँधला प्रकाश रहा और अब तो महाश्मशान घोर अन्धकार की यवनिका में अत्यन्त भयङ्कर हो उठा है।

जब तक मन्द प्रकाश था, इधर-उधर पड़े कपाल, श्रृगालों से नोचे जाते शव, बुझी चिताओं की भस्मराशि प्रत्यक्ष थी। फिर भी प्रकाश ने एक साहस दे रक्खा था। अन्धकार में स्थान-स्थान पर बुझती चिताओं से कभी-कभी सहसा लपट फूट पड़ती है। उलूक का भयानक स्वर दिशाओं को झकझोर जाता है। शवों पर लड़ते श्रृंगालों की किच-किच बराबर गूँज रही है।

वायु में चिताओं की चिराँयध, सड़ते शवों की दुर्गन्धि भरी है। नाक फटी जाती है। उसने सर्वाङ्ग में इत्र मल रक्खा है, फिर भी क्या इससे यह दुर्गन्धि दबेगी। यद्यपि जिस शव पर वह बैठा है, उसे उसने इत्र से नहला दिया है, परन्तु उसी से बीभत्स गन्ध निकल रही है।

एक अधजली चिता के समीप उसने शवासन लगा है। चिता की लपटों के रक्तिम प्रकाश में उसका काला शरीर जैसे रक्त से स्नान कर गया है। उसके नेत्र सम्मुख के अंगारों के समान जल रहे हैं। उसकी लट बनी रूखी जटाएँ मानो धूम्रवर्ण सर्प सिर तथा कन्धों पर लटकते हों। गले में हड्डियों की माला है। चिता में वह बराबर

आहुति डाल रहा है। बायें हाथ में उसने किसी मनुष्य के पैर के जंघे की हड्डी इस प्रकार पकड़ रक्खी है, मानो वह कोई महाशस्त्र हो। यद्यपि दाहिनी ओर भयङ्कर खाँड़ा लपटों में चमक रहा है। खाँड़ा उसने शव के दाहिने हाथ पर रख छोड़ा है।

'ह्रां ह्रीं ह्रूं फट' उसका कण्ठ तीव्र से तीव्रतर होता जा रहा है चिता में। सहसा वायु में सुरसराहट प्रारम्भ हुई। मानो चारों ओर सहस्त्रो सर्प श्वास ले रहे हों। एक क्षण को उसका हाथ रूका। उसने वह हड्डी का स्त्रुवा एक ओर रक्खा। पीली सरसो उठायी और कुछ गुनगुनाकर चारों ओर फेंक दी।

सुरसराहट बढ़ती गयी। मानो आँधी आ रही हो। धीरे-धीरे कुछ छायामूर्तियाँ प्रकट होने लगीं। चिता की लपटों के प्रकाश में बड़ी भयावह थीं वे मूर्तियाँ। मानव कङ्काल-मांस, चर्म एवं स्नायुओं से शून्य केवल अस्थि कङ्काल थे वे। अस्थि के हाथों से ताली बजाकर वे नाच रहे थे। खड़खड़ाकर अट्टहास कर रहे थे। उसके चारों ओर थोड़ी दूरी पर ऐसे पिशाचों का एक समुदाय घेरा बनाकर नाच रहा था। उसने उधर देखा ही नहीं। वह तो बराबर आहुति दे रहा था। निर्भय-निष्कम्प-स्थिर।

"ह्रां ह्रीं ह्रूं फट् महाभैरवाय स्वाहा" सहसा उसने शव के मुख में एक आहुति डाल दीं जिस पर वह बैठा था। मानो आकाश फट गया हो। बड़ी विकराल थी वह हँसी। सारे पिशाच भय के मारे सन्न हो गये थे। जैसे वे सचमुच प्राणहीन कङ्काल ही हैं और लाकर खड़े कर दिये गये हैं। शव ने मुख फाड़ दिया था और यह हास्य उसी का था।

वह शव पर से शीघ्रता से उतर गया। पास में की नौ बोतलों का मुख तीव्रता से खोलता गया और उसकी मदिरा शव के मुख में उड़ेलता गया। झट से उसने बकरे को पकड़ा और घसीटकर शवके पास ले आया। भय के मारे बकरे का आर्त क्रन्दन भी बन्द था। खाँडे के एक वार ने मस्तक अलग कर दिया। शव के मुख में रक्त की धारा पड़ी। अन्त में बकरे का सिर उसने शव के मुख पर गिरा दिया। ओह, कच-कच करके शव ने उस सिर को चबा डाला।

'बलि! बलि! महाबलि!' बड़ा भयङ्कर स्वर था। शव बोल रहा था। उसने नेत्र खोल दिये थे। उसके नेत्र-जैसे किसी गुफा के भीतर दो अङ्गारे जल रहे हो। पिशाच स्तब्ध खड़े थे।

'तू ही बुला उसे!' वह कापालिक निर्भय था। उसने शव के उस हाथ में जहाँ से खाँड़ा उठाया था, थोड़ी पीली सर्षप रख दीं।

'बलि! बलि! महाबलि!' शव पुनः चिल्लाया। उसने वह हाथ उठाया और कपालिक की अंजलि में सर्षप डाल दीं। बाकी वह ज्यों-का-त्यों पड़ा रहा। कापालिक ने सरसों में से कुछ एक ओर फेंक दीं और इस बार वह बड़ी भयङ्कर हँसी हँसने लगा। पिशाचों के घेरे के बीच वह महापिशाच जान पड़ता था।

× × ×

[2]

'पिताजी, सिर दर्द कर रहा है। मन जाने कैसा हो रहा है।' युवक जैसे स्वयं सौन्दर्य ही है। लम्बा इकहरा शरीर, गौरवर्ण, बड़े-बड़े नेत्र। खादी की धोती और कुर्ते में उसकी आकृति बड़ी मनोहर जान पड़ती है। आज उसका मुख उदास हो रहा है। जैसे विकच पाटल सूर्य के प्रखर ताप से कुम्हला गया हो। 'भोजन किया ही नहीं जाता। लगता है कोई कहीं से बुला रहा है। तनिक घूमने जाता हूँ।'

पण्डित श्यामसुन्दर जी यहाँ के सम्पन्न व्यक्ति हैं। अच्छी जमींदारी है। नगर में तो केवल रहने के लिए यह विशाल भवन एवं उपवन बना रक्खा है। कई नौकर हैं। माली है। कोई अभाव नहीं। घर में उनकी पत्नी हैं और युवा पुत्र है। पुत्र जितना सुन्दर है, उतना ही सुशील भी। इसी वर्ष वह काशी से आचार्य होकर लौटा है। एकमात्र सन्तान पर वृद्ध दम्पत्ति का असीम स्नेह है। इसी वर्ष उन्होंने अपने कृष्णकुमार का विवाह किया है। नगर में पण्डित जी का सम्मान है। वे आस्तिक हैं, विद्वान् हैं, नम्र हैं। सभी आस्तिक जन उनका आदर करते हैं।

भवन के चारों ओर उपवन है और उपवन के एक कोने में श्रीराधा-कृष्ण का भव्य मन्दिर है। पण्डित जी ने भगवान् के शृगांर में पूरा व्यय किया है। मन्दिर में पुजारी तो केवल मन्दिर की स्वच्छता के लिए है। पूजा तो दोनों समय स्वयं पण्डित ही करते हैं। प्रत्येक पर्वोत्सव बड़ी धूम-धाम से मनाया जाता है। सभी आस्तिक जन आ जाते हैं। नित्य सायं मन्दिर में जमकर दो घण्टे सङ्कीर्तन होता है। स्वयं पण्डित जी जब करताल लेकर खड़े होते हैं तो नृत्य करते समय वे गौराङ्ग महाप्रभु की मण्डली में खड़े अद्वैताचार्यका स्मरण कराते हैं।

आज पत्नी ने सूचना दी कि कृष्ण कुमार ने भोजन नहीं किया। पण्डित जी ने भगवान् का प्रसाद ले लिया था। मन्दिर के प्राङ्गण से ढोल एवं हारमोनियम की ध्वनि आ रही थी। सङ्कीर्तन-प्रेमजी वहाँ पहुँच गये थे। वाद्य ठीक किये जा रहे थे। पण्डितजी की प्रतीक्षा हो रही थी। उन्होंने सङ्कीर्तन के लिए उठते समय पुत्र से बुलाकर उसके भोजन न करने का कारण पूछा।

'नहीं बेटा, आज तो तू कहीं मत जा!' पण्डित जी की पत्नी पुत्र के साथ ही आयी थी। मुझे वह सबेरे का साधु अभी तक नहीं भूला है। पता नहीं क्यों मुझे बहुत भय प्रतीत होता है।'

प्रातः जब भगवान् के पूजन से निवृत्त होकर पण्डितजी पुत्र एवं पत्नी के साथ भवन के बाहर बरामदें में खड़े थे, एक काला लाल-लाल नेत्रोंवाला, भयङ्कर पीली जटाओं वाला साधु पता नहीं कहाँ से उनके सामने आ खड़ा हुआ था। उसके गले में हड्डियों की माला थी और वह घूर-घूरकर कृष्णकुमार को देखता रहा था। उसकी आकृति एवं चेष्टा बहुत ही भयानक लगती थी।

'तू, बस तू ही है!' वह साधु अपने आप बड़बड़ाया था। 'इतने दिनों से मैं तुझे ही ढूँढ रहा था। हाँ, तुझमें चौबीस लक्षण हैं। बस, महाभैरव आज संतुष्ट हो जायँगे। तू धन्य है, महाभैरव तुझे स्वीकार करेंगे।'

'तुम अपना यह लड़का मुझे दे दो!' बड़े भाग्यवान् हो तुम!' सहसा उसने पण्डित जी से कहा।

'महाराज आशीर्वाद दें!' पण्डितजी ने हाथ जोड़कर मस्तक झुकाया। 'मेरे यह एक ही पुत्र है!'

'तू महाभैरव का उपहार रोक लेगा? अच्छा!' बड़े विकट ढङ्ग से अट्टहास करता पागलों की भाँति वह दौड़ता हुआ चला गया।

पण्डित जी ने पत्नी को आश्वासन दिया। 'माता की बात मानो! चलो, अभी तो भगवान् का गुणगान करो!' उन्होंने पुत्र को आदेश दिया और उसको लेकर ही मंदिर-की ओर चल पड़े। कीर्तन उस दिन खूब जमा और मध्यरात्रि के पश्चात् तो पत्नी के पूछने पर उन्हें पता लगा कि पुत्र उनके साथ नहीं है।

बड़ी व्यग्रता से अन्वेषण प्रारम्भ हुआ। पत्नी ने माली को दौड़ा दिया। पुलिस-स्टेशन पास ही था और थानेदार पण्डित जी का आदर करते थे। आध घण्टे में ही वे चार सिपाहियों के साथ आ पहुँचे। पण्डित जी अभी तक नौकरों से पूछ रहे थे। इधर-उधर कुछ को दौड़ा चुके थे।

अन्ततः पता लगा कि कीर्तन समाप्त होने पर माली ने कृष्णकुमार को बाहर जाते देखा है। माली ने बताया 'वे बहुत उदास थे। मस्तक पर पसीनें की बूँदे चमक रही थीं। खम्भे की बिजली बत्ती के प्रकाश में उसने देखा था कि उनका मुख उतरा हुआ था। माली के पुकारने पर भी न तो बोले और न उसकी ओर देखा। बड़ी शीघ्रता से चले गये।'

'ओह!' पण्डितजी ने दीर्घ श्वास ली। 'वह प्रातः का साधु! अवश्य कृष्णकुमार श्मशान ही पहुँचा होगा!'

'क्या बात है?' दारोगा ने पूछा।

'वह एक तांत्रिक साधु के अभिचार में आकर्षित हुआ जान पड़ता है। साधु सम्भवतः उसकी बलि देगा! भगवान् ही रक्षा करें।'

'हम श्मशान जाते हैं!' थानेदार राजपूत थे। भय क्या है, इसे वे जानते ही नहीं। उन्होंने पुलिस की नौकरी में बीस वर्ष भयङ्कर रात्रियों में चोर-डाकुओं का पीछा करने में ही काटा है। उन्हें श्मशान या जङ्गल भय नहीं देते।

'कोई लाभ नहीं! तांत्रिक की शक्ति का सामना कोई भी शरीर या अस्त्र-शस्त्र नहीं कर सकता! व्यर्थ है तुम्हारा जाना! किंतु तब तक तो थानेदार उपवन का फाटक पार कर रहे थे। वे अनुभवी व्यक्ति थे और एक क्षण भी व्यर्थ नष्ट करना उन्हें अभीष्ट नहीं था।

प्रभु! शयन कर चुके! उनके विश्राम में बाधा एक पुत्र के लिए नहीं दी जा सकती।' पण्डितजी ने स्वयं कहा और मन्दिर की ओर मुड़कर भी रुक गये। 'रामाधीन!' सहसा उन्होंने माली को पुकारा। आदेश दे दिया कि पड़ोस के कीर्तनप्रेमियों को वह पुनः बुला ले और पण्डित जी करताल लेकर भवन के हाल में खड़े हो गये। वे सब कुछ भूलकर नेत्र बन्द किये पुकार रहे थे-

कंसारि जय जय पुरारि जय जय।

माधव मुकुन्द हरि बिहारि जय जय।।

× × ×

[3]

जैसे किसी ने गाय के गले में रस्सी बाँध दी हो और उसे पकड़कर आगे खींच रहा हो। कृष्णकुमार खिंचे जा रहे थे। उन्हें पता नहीं था कि उनके पैरों के नीचे चिता-भस्म पड़ रही है, हड्डियाँ दब रही हैं और उनकी ठोकरों-से कपाल लुढ़क रहे हैं। उनके कान मानो उलूक का चिल्लाना, शृंगालों की किचकिच तथा हुआँ-हुआँ नहीं सुन रहे थे। उनके नेत्र उस अंधकार में भी जैसे स्पष्ट मार्ग देख रहे थे। उनकी नासिका मानो वहाँ की दुर्गन्धि का अनुभव नहीं हो रहा था। वे बढ़ते जा रहे थे, बढ़ते जा रहे थे, उसी कापालिका की चिता की ओर बढ़ते जा रहे थे।

पिशाचों के घर में उनके लिए मार्ग बन गया। उन कङ्कालों ने उन्हें भूमि पर मस्तक रखकर अभिवादन किया। उन्हें कुछ पता नहीं। वे तो सीधे गये और जाकर शव के वाम भाग में खड़े हो गये। जैसे एक मूर्ति खड़ी हो। उनकी चलती पलकें उन्हें जीवित बता रही थी। उनका मुख कह रहा था कि वह अत्यन्त व्याकुल हो रहे हैं। सब समझकर भी कुछ कर नहीं पाते। सर्वथा विवश हैं।

कापालिक फिर ठठाकर हँसा। दूसरे ही क्षण पृथ्वी में सिर रखकर उसने आगत को प्रणाम किया। उसके मस्तक पर रक्त चन्दन लगाया। गले में रक्त कनैर पुष्पों की अंजलि दी। अब उसने खड्ग उठाया और उसे एक बार शव के दाहिने हाथ में रख दिया।

उसी समय थानेदार अपने सिपाहियों के साथ वहाँ पहुँचे। कङ्काल पिशाचों की ओर देखकर उनके मुख से चीख निकल गयी । उनके तीन सिपाही मूर्छित होकर गिर चुके थे ओर एक जो सबसे वृद्ध था, आगे बढ़ आया था। उसने बड़ी दृढ़ता का परिचय दिया। थानेदार के कंधों को झकझोरा और उनकी पिस्तौल जो हाथ से छूटकर गिर गयी थी, उठाकर उनके हाथों में दे दी।

पिशाचों की कङ्काल मूर्तियों ने इधर देखा तक नहीं। परन्तु वे घेरा बनाकर खड़े थे। दुहरी-तिहरी पंक्ति नहीं, पूरी भीड़ थी। उनको पार करके जाने की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। कपालिक ने इधर दृष्टि की, वह हँसा। 'एक नहीं, पाँच बलि और।'

जोर से चिल्लाया और पीली सरसों उसने फिर फेंका। मूर्छित सिपाही उठ खड़े हुए। पिशाचों ने मार्ग छोड़ दिया। खिंचे हुए–से पाँचों चल पड़े और जाकर कृष्णकुमार के पीछे पंक्तिबद्ध खड़े हो गये।

पिशाचों ने इनको भी अभिवादन किया था, परन्तु केवल हाथ जोड़कर। कापालिक ने एक ही बार हाथ जोड़कर मस्तक झुकाया। इनकी पेटियाँ खोलकर अलग रख दी। साफे उतार दिये। कमीजें तथा जूते, मोजे, पट्टियाँ और आधे पाजामें (हाफ पाइण्ट) सबने कापालिक के आदेश पर स्वयं इस प्रकार उतार दिये जैसे सैनिक अपने नायक का आदेश पालन करता है। सबके मस्तकों पर रक्तचन्दन लगा कनैर पुष्प की मालाएँ नहीं थीं। कापालिक ने इनके सिरों पर दो–दो कनैर पुष्प रख दिये।

'ह्रां ह्रीं ह्रं फट्' वह शव के दाहिनी ओर बैठ गया एक घुटना भूमि में रखकर वीरासन से। शव के अङ्गार–नेत्र खुले थे। कापालिक ने हाथ फैलाया और शव ने दाहिना हाथ उठाकर खड्ग उसके हाथों पर दे दिया। वह उठ खड़ा हुआ। 'जो तुझे सबसे अधिक प्रिय हो, उसका ध्यान कर लें!' उसने कृष्ण कुमार से कहा। एक क्षण खड्ग लिए वह सचमुख खड़ा रहा।

कंसारि जय जय मुरारि जय जय।

माधव मुकुन्द हरि बिहारि जय जय।।

कृष्णकुमार आश्चर्य से ठक् रह गये। भय पता नहीं क्या हो गया। यह आकाश में सहस्त्र–सहस्त्र कण्ठों से कौन उनके पिताकी प्रिय ध्वनि पुकार रहा है तालस्वर में।

उन्होंने नेत्र बंद कर लिये और उसी स्वर में स्वर मिलाकर गा उठे। तल्लीन हो गये वे।

उन्होंने नहीं देखा कि कापालिकी ने खङ्ग उठाया है। उन्होंने नहीं देखा कि पिशाचों की मण्डली करूण चीत्कार करके सहसा ऐसी लुप्त हो गयी है, जैसे- खरगोश के सिर से सींग। उन्होंने भी नहीं देखा कि वह इतने जोर से चिल्लाया कि श्मशान के शृगाल भी पूँछ उठाकर मील भर दूर भाग गये भय के मारे। उन्होंने नहीं देखा कि शव 'ओह मार डाला दुष्ट ने!' कहता उठा और उसने कापालिक को पकड़कर उसी प्रकार कच–कच करके चबा डाला जैसे कोई मूली खा गया हो। उस कापालिक के शरीर से एक बिन्दु भी रक्त नहीं निकला!

उन्होंने तो सुना कि कोई बड़े मधुर स्वरसे पुकार रहा है, 'भैया, आ मेरे साथ!' वे उसी अज्ञात अदृश्य के पीछे चल पड़े और जब पूर्णतः अपने आपमें आये तो देखा कि भीतर से कीर्त्तन की तुमुल ध्वनि आ रही है और वे अपने भवन के द्वार पर खड़े हैं। वे तो यह सब स्वप्न ही मानते यदि प्रातः सीधे श्मशान से अरूणोदय में ही आकर थानेदार साहब सिपाहियों के साथ रात्रि की घटना का विवरण न सुनाते।

नाम प्रभाव सोच नहिं सपने

'आप समर्थ हैं, अधिकारी हैं, अतः आपको प्रयत्न करना चाहिये!' महर्षि वसिष्ठ के लिए अपने यजमान की यशोवृद्धि-कामना सहज स्वाभाविक है। उनका यजमान भी तो साधारण पुरुष नहीं है। सूर्यवंश का राज-सिंहासन-मनु के वंशधरों में इस सिंहासन पर अब तक तो त्रिलोकपूजित, सुरासुरजय-पराक्रमी ही आसीन हुए हैं; किन्तु नाभाग के पुत्र अम्बरीष-जैसी भक्ति, इतना अकल्पनीय भगवद्विश्वास-स्वयं वसिष्ठ जी चकित रह जाते हैं। इतनी नम्रता, ऐसी धर्मवत्सलता ऋषियों में भी कहाँ दृष्ट होती है। अतः महर्षि चाहते हैं कि उनके यजमान का पराक्रम भी लोकविश्रुत हो। आज वे स्वयं राजभवन पधारे हैं। महाराज ने अर्घ्य निवेदित किया, चरण धोये, चन्दन-पुष्माल्यादि से सविधि अर्चन जब समाप्त हुआ, बद्धाजंलि, नतमस्तक सम्मुख खड़े नरेश से महर्षि ने कहा।

'यह जन तो आज्ञा का अनुगामी है!' बड़ी विनम्रतापूर्वक अम्बरीष कह रहे थे- 'सेवक की क्या सामर्थ्य और कैसा अधिकार- वह तो आपकी अपरिसीम कृपा का प्रसाद है जो अनायास इस अनाधिकारी को प्राप्त हो जाया करता है। आपकी आज्ञा का पालन हो सके, जीवन के वे क्षण धन्य हुए।'

'राजन्! आपके पूर्वज अश्वमेध-पराक्रम हुए हैं। आपमें लोकैषणाकी गंध नहीं है। यह मैं जानता हूँ; किंतु भगवान् श्रीहरि यज्ञमूर्ति हैं। अश्वमेध उनकी अर्चा का श्रेष्ठम् समारोह है।' महर्षि ने गम्भीरतापूर्वक अपनी इच्छा व्यक्त की- मैं चाहता हूँ कि आप इसका सङ्कल्प करें और उचित प्रयत्न में लगें।'

'आपकी इच्छा है, अतः इस सेवक के लिए तो यह कर्त्तव्य ही है।' बिना एक क्षण कुछ सोचे, बिना हिचके नरेश ने स्वीकृति सूचित कर दी। 'श्रीचरण आवश्यक निर्देश करें। महर्षिजनों को आमन्त्रित करने की धृष्टता करूँ तो भी क्या किसी नरपति का निमन्त्रण वे वीतराग तपोधन स्वीकार करेंगे? दूसरी कोई कठिनाई तो ज्ञात नहीं होती।'

सत्ययुग काल नहीं था। त्रेता प्रारम्भ हो गया था। पृथ्वी पर केवल मनुष्य ही नहीं थे। उपदेवताओं की अनेक जातियाँ भी थी पृथ्वी पर- दानव, राक्षस, यक्ष, किन्नर,

नाग, वानर, रीछ आदि। ये सब उपजातियाँ जन्मसिद्ध, अतर्क्य शक्तिशाली और उनमें-से अनेक सुरासुरजयी, महामायावी। अश्वमेध का अर्थ है- सम्पूर्ण पृथ्वी के नरेशों को विजित करके उनसे प्रभुत्व-स्वीकृतिरूप कर प्राप्त करना और अम्बरीष इस अर्थ को न जानते हों, ऐसी बात तो नहीं है। किंतु उनको तो अश्वमेध कर लेना एक सामान्य हवन-जैसा लगता है। इसी सामान्य भावना से स्वीकृति दे दी उन्होंने। उन्हें कठिनाई एक ही दीखती है- 'महर्षिगण कदाचित् उनका आमन्त्रण स्वीकार न करें।'

'ऐसा कोई ऋषि नहीं हैं जो नाभाग-नन्दन के आमन्त्रण का अनादर करने का साहस करें।' वसिष्ठजी भरितकण्ठ बोले- 'महाभागवत के अन्न से परिपूत होने की इच्छा सुर भी करते हैं। आपका दर्शन एवं संलाप तपसों की तपस्या का फल है; किंतु आपका विनय उचित है। ऋषियों को मैं आमंत्रित करूँगा और वे आमन्त्रण पाते ही प्रस्थान करेंगे, इसमें मुझे सन्देह नहीं है।'

'मुझे तो श्रीहरि की इस महती अर्चा का श्रेय मिलना है!' अम्बरीष के नेत्रों में अश्रु आ गये। शरीर पुलकित हो गया। गद्‌गद कण्ठ कह रहे थे- 'प्रभु ही आपके रूप में स्वयं पधारे हैं। ऋषिगण को आमन्त्रित कर दें। समय एवं आवश्यक सामग्री का आदेश दें। यज्ञीय अश्व अलभ्य नहीं है। श्यामकर्ण अश्वों की तो एक विशद संख्या अपने-आप एकत्र हो गयी है। अब देखता हूँ कि प्रभु ने ये अश्व अपनी अर्चना के लिए इस जन को दिये हैं।'

महर्षि वसिष्ठ भी एक क्षण अपने यजमान का मुख देखते रह गये। वे एक ही अश्वमेधयज्ञ की बात कहने आये थे। उन्हें इसी में संदेह लगता था कि अम्बरीष इस विशाल कार्य को करना भी चाहेंगे या नहीं। लेकिन वे तो कह रहे हैं कि उनकी अश्वशाला में जितने श्यामकर्ण अश्व हैं, उतनी बार अश्वमेधयज्ञ उन्हें करना है- अनवरत करना है। श्री हरि की अर्चा है। यह; तो उसमें आलस्य कैसा?

महर्षि भृगु तथा अंगिरा अध्वर्यु बनकर बैठेंगे तो यज्ञशाला की ओर दृष्टि उठाने का साहस भी किसी विघ्न देवता को नहीं होगा। इस सम्बन्ध में चिन्ता का कोई कारण नहीं है। रक्षा तथा विघ्न-वारण सर्वत्र न की जा सके, ऐसी बात भी नहीं है। कोई एक ऋषिकुमार भी रूष्ट हो जाए तो दण्डधर यम के पद भी काँपने लगते हैं; किंतु यज्ञ की एक मर्यादा है यज्ञशाला की सीमा के बाहर विघ्नकर्ता का प्रीतकार स्वयं यजमान के पराक्रमों को ही करना चाहिए। इसमें भी दीक्षित यजमान शस्त्र ग्रहण नहीं कर सकता।

'यज्ञ में अध्वर्यु की अर्चा तो आवश्यक है; किंतु ऋषि पूजनीय होकर पधारेंगे। वे सचिन्त क्यों हों, कहीं भी?' अम्बरीष ने सरलता पूर्वक कह दिया- 'सर्वत्र सब की रक्षा तो 'श्रीहरिका नाम' करता है। उस अनन्त करुणार्णव की उपस्थिति में शिशु पर कहीं कोई विघ्न आवे, इसकी आशङ्का ही कहाँ है?'

'कहीं कोई आशङ्का नहीं राजन्!' सहसा महर्षि वसिष्ठ का स्वर अत्यन्त गम्भीर हो गया। 'तुम-जैसे नामनिष्ठ भगवद्विश्वासी के लिए कहीं तो कोई आशङ्का नहीं। तुम्हारे कार्य में अवरोध उपस्थित करने की शक्ति कभी किसी में हो ही नहीं सकती।

महर्षि ने तत्काल महायज्ञ के लिए आवश्यक निर्देश सचिव-सेवकों को देने प्रारम्भ कर दिये।

× × ×

'महाराज अम्बरीष अश्वमेधयज्ञ करने जा रहे हैं!' समाचार तो प्रसारित होना ही था। इस समाचार ने साधुशील, सात्विक, नरेशों को हर्षित किया। 'हमारे सौभाग्य का उदय हुआ। उन महाभागवत के पदों में प्रणत होकर सुर भी अपना जीवन सार्थक मानते हैं। उनके सम्राट् होने पर उनका चरणाभिवादन हमारा स्वत्व हो जायगा। हम उनके पार्श्व में खड़े होने का गौरव प्राप्त करेंगे। अन्यथा वे अतिशय विनम्र-किसी को कहाँ वे अभिवादन का अवसर देते हैं।'

'महाराज अम्बरीष अश्वमेधयज्ञ करेंगे!' एक समाचार और आया- 'अमुक ने उनके यज्ञीय अश्व को अवरुद्ध करने का निश्चय कर लिया है।'

'हमारा जीवन धन्य हो जाय यदि उस महाभाग की अश्वरक्षा में देहपात हो।' बिना किसी के कहे, बिना किसी संदेश के अनेक राजधानियों में सेना शस्त्र-सज्ज हो गयी। अश्व उनके यहाँ तक आ जाय तो आगे अश्व का अनुगमन वे स्वयं करेंगे। किंतु जब अश्व आया- अश्व-रक्षकों के साथ एक संदेश भी आया उस साधु-सम्राट् का- 'आप सब इस जन को सेवा का सौभाग्य देकर कृतार्थ करें। अश्व तो श्रीनारायण की अर्चा का उपलक्षण मात्र है। उनकी इच्छा का प्रतीक है। उसके साथ जो लोग हैं पर्याप्त हैं वे।'

'अश्वरक्षक पर्याप्त हैं?' - भक्त श्रेष्ठ अम्बरीष कहते हैं तो पर्याप्त हैं; किंतु थोड़े से रक्षक और उनके साथ भी सामान्य धनुष तथा त्रोण हैं। वे सैनिक कम लगते हैं। वे तीर्थ यात्री साधु अधिक हैं। उनके पास हैं करतालें, एकतारें, जपमालिका। अश्व चलता है तो उसके पीछे सशस्त्र सावधान रक्षक नहीं चलते। चलते हैं अम्बरीष के अनुगामी- एक तारे की झंकृति, करताल के शब्द और उच्च स्वर से - 'नारायण हरिगोविन्द!' का गान करती, नृत्य एवं कीर्तन-तन्मय मण्डली। अश्व स्थिर हो जाय तो उसके रक्षक वृक्षों के नीचे जपमालि का लेकर बैठ जाते हैं। अश्वमेधीय दिग्विजययात्रा है यह और ऐसी अद्भुत जिसकी कल्पना तक किसी ने कभी न की हो।

'अरक्षित अश्व!' साधु नरेशों को बड़ा कष्ट होता है। सम्राट् का आदेश टाला नहीं जा सकता- उनकी वह उमङ्ग वह सैन्यसज्जा, उन्होंने तो आदेश की अपेक्षा भी

नहीं की थी। अब अश्व को अपनी सीमा तक सम्मानपूर्वक पहुँचाकर संतोष कर लेना है उन्हें; किंतु अश्व इसी प्रकार सुरक्षित पहुँचेगा भी?

वह तो पहुँचेगा। अम्बरीष जिसके भरोसे निश्चिन्त हो गये हैं, वह प्रमाद करना जो नहीं जानता। अश्व अयोध्या से जिस क्षण चला, क्षीराब्धि में शेष की शय्या पर सिन्धुसुता को लगा, उनके आराध्य के चरण किंचित् काँप गये हैं। 'नाथ!' उन भुवनात्मिका ने पलकें उठायीं।

"अम्बरीष ने अश्वमेध के लिए पूजित अश्वको प्रणिपात किया है। वह कहता है- 'अश्वकी रक्षा तो हरि का नाम कर लेगा।' अतः देवि...." परमपुरुष ने केवल अपने ऊर्ध्व दक्षिण कर की ओर दृष्टि उठायी। इन्दिरा ने देखा कि उसमें सदा उपस्थित रहने वाला चक्र वहाँ नहीं है।

'अम्बरीष यज्ञ करेंगे!' रमा ने मस्तक झुकाया- 'उनको अपार सम्पत्ति भी तो अपेक्षित है इस सम्भार में। महाभागवत की सेवा का सौभाग्य मुझे भी तो मिलना चाहिए।'

परम पुरुष के अधरों पर केवल स्मित लक्षित हुआ।

× × ×

'अम्बरीष सम्राट् बनना चाहता है। उसने बिना दिग्विजय किये ही अश्व छोड़ दिया है।' बहुतों को अपने पौरुष का अपमान लगा- 'उसने धरा को पराक्रमहीन मान लिया है। अश्व के साथ थोड़े-से अनुचर हैं। समझता है कि जगती केवल कापुरुषों से भरी है। कोई प्रतीकार करने वाला है ही नहीं उसका।'

'किसका कोई प्रतीकार करनेवाला नहीं है?' दैत्य नायक बाणासुर अपनी राजसभा में उत्तेजित हो रहा था, इतने में दानवेन्द्र 'मय' पहुँच गये अकस्मात् वहाँ।'

'अम्बरीष का अहङ्कार सीमोल्लङ्घन कर चुका है।' बाण ने क्रोधपूर्वक कहा- 'उसके अश्वमेधयज्ञ का समाचार आपको मिला ही होगा।'

'मुझे चरण वन्दना के पश्चात् यह समाचार भगवान् चन्द्रमौलि ने दिया है।' मय मुस्कराये। 'उन तुम्हारे नगरपाल का एक सन्देश भी ले आया हूँ।'

'आप विराजें!' बाण आदरपूर्वक सिंहासन से उठा- 'भगवान् नीलकण्ठ का आदेश नित्य अनुल्लङ्घनीय है।'

'अम्बरीष का अतिक्रमण करने की बात भी मत सोचना!' मय ने आसन पर बैठते ही कहा- 'भगवान् नारायण स्वयं अश्वरक्षक होते तो पिनाकपाणि तुम्हारी ओर

से युद्ध में उतर सकते थे; किंतु अम्बरीष के अश्व की रक्षा में नियुक्त उनका सहस्त्रारचक्र भक्त-रक्षण में कोई व्याघात दे तो किसी की मर्यादा नहीं मानता। उसकी ज्वाला में त्रिलोकी तूल बन जायगी।'

'अम्बरीष....!' बाण बोल नहीं पा रहा था।

'अम्बरीष के प्रतीकार का प्रश्न नहीं है। न उसमें अहङ्कार का आना सम्भव है।' दानवेन्द्र कह रहे थे- 'वह इस यज्ञ को आराध्य का अर्चन मानकर प्रवृत्त हुआ है और यह कोई अन्तिम अश्व नहीं है। अम्बरीष के यज्ञीय अश्वों का सम्मान करके तुम स्वयं विश्वनाथ का भी सम्मान करोगे। विपक्ष में खड़े होने वाले मूर्ख कम नहीं हैं विश्व में। अश्व के यहाँ आने से पूर्व उनके परिणाम की सूचना तुम तक आ जायगी और महाभाग बलि का पुत्र मूर्ख नहीं बन सकता।

सचमुच दानवेन्द्र मय का कथन अक्षरशः सत्य था। अश्व आया नहीं था अभी शोणितपुर के समीप; किंतु समाचार बहुत पूर्व आने लगे थे- 'कालारण्य में पिशाचाधिप क्रकच ने अश्व की वल्गा पकड़ ली। कोई नहीं जानता कि हुआ क्या; क्योंकि प्रचण्ड तेज के प्राकट्य से ऐसा कोई नहीं था जिसके नेत्र बन्द न हो गये हों। जब क्रकच के सेवक सावधान हुए- अश्व अपने रक्षकों के साथ पर्याप्त आगे जा चुका था और पिशाचाधिप का मस्तक पृथ्वी पर छिन्न पड़ा था। उसका सिर और धड़ दोनों इस प्रकार झुलस गये थे, जैसे तुषाग्नि में भून दिये गये हों।'

'अश्व दण्डकारण्य में आवे, इससे पूर्व दशग्रीव का संदेश आ गया था कि उसके अनुचर अश्व को अवरूद्ध न करे। अश्व सेवकों को कुछ सिंहचर्म दे दिये जायँ करके रूप में।' इस समाचार से बाण हँसा। उसने कहा- 'दानवेन्द्र मय ने लगता है कि अपने जामाता को भी सावधान कर दिया था। दशग्रीव अयोध्या का शत्रु सही, समय समझता है।'

अनेक और उद्धत नरेशों के अवसान-समाचार आये। कुछ ही मानव थे उनमें। यक्ष एक भी नहीं। किसी वानर, रीछ-नाग ने साहस नहीं किया। जब दानवेन्द्र मय ही अम्बरीष के सानुकूल हो- दानव कौन आड़े आता। गन्धर्व और देवता उसके नित्य सहायक हैं। केवल राक्षस, दैत्य तथा कई शापग्रस्त असुर योनि-प्राप्त प्राणी- सबके सम्बन्ध में एक ही बात, एक ही समाचार। उनका उद्यम अश्व की गति में अवरोध उत्पन्न करने में असफल रहा। एक अज्ञात प्रचण्ड ज्योति-मस्तक छिन्न हो गया और देह झुलस उठा।

'हम अश्व का स्वागत करेंगे!' दैत्येश बाण ने सब सभासदों को चौका दिया अपने निश्चय से- 'बाण पराक्रमी से युद्ध करता है; किंतु भक्ति प्राण जन तो उसके बन्धु हैं। अम्बरीष प्रिय है भगवान् नीलकण्ठ का। सिंहवाहिनी का वात्सल्य प्राप्त है

उसे। बाण उसके अश्व को अर्घ्य देगा।'

असाधारण समाचार था यह। अयोध्या पहुँचा तो अम्बरीष ने हाथ जोड़कर भूमि में मस्तक रख दिया- 'वे महाशैव, उनके लिए भगवान् नारायण कहाँ पराये हैं? उनके पिता बलि के द्वारपाल बने हैं वे श्रीहरि! यज्ञमूर्ति श्रीहरि के यज्ञीय अश्व का सत्कार यदि वे पुण्य प्राण करते हैं- उनके लिए कोई आश्चर्य की बात तो नहीं है।'

× × ×

'शूलमुख अत्यन्त नृशंस है। पिशाच तो वह है ही, अब उग्र हो उठा है।' उस दिन महर्षि वसिष्ठ के मुख पर चिन्ता के चिह्न दीखे। उन महर्षि वसिष्ठ के मुख पर, जिनके मुख पर तब भी विषाद नहीं आया था, जब उनके अपने सौ पुत्र मर गये थे।

'क्रकच का वह अनुज-वह बड़ा ही दुरात्मा है।' उग्रतजा महा आथर्वण भृगु भी सचिन्त दीखे उस दिन। भगवान् शूलपाणि का त्रिशूल जिन्हें भयभीत नहीं कर सका था, वे खिन्न थे। 'यज्ञशाला के समीप आने का साहस वह नहीं करेगा, किंतु आथर्वण भृगु अध्वर्यु होकर यज्ञशाला तक ही यजमान की रक्षा कर सकता है।'

'अपने अग्रज के प्रति उसका अतिशय ममत्व था।' महर्षि अङ्गिरा ने कहा- 'क्रकच के मारे जाने से वह क्षुब्ध ही नहीं, उन्मत्त हो गया सुना जाता है। कोई भी अधम प्रयास उसके लिए अशक्य नहीं है।'

'यजमान यदि यज्ञशाला में ही रहें?' महर्षि असित ने एक मार्ग सुझाया।

'ऐसा यदि हो पाता' महर्षि भृगु के स्वर में उत्साह नहीं था- 'कोई आशङ्का भी है उनके लिए, वे स्वीकार ही नहीं करते और अपने आराध्य के मन्दिर की सेवा करने वे न जायँ, ऐसा आदेश उन्हें कोई कैसे दे सकता है?'

'अम्बरीष का शील - वे हम ब्राह्मणों की बात आदेश के रूप में स्वीकार कर लेते हैं।' महर्षि वसिष्ठ अपने यजमान का स्तवन करते बोले- 'अन्यथा तप, त्याग तथा भक्ति को देखते उन्हें आज्ञा देने का अधिकार ही कहाँ है किसी को।'

'आज अकल्पनीय घटित हुआ देव।' अचानक राजसदन के चरने आकर ऋषियों को सुनाया- 'भगवान् नारायण की कृपा से महाराज के प्राण सुरक्षित रहे।'

'क्या हुआ?' एक साथ कई स्वर उठे- 'महाराज सकुशल हैं? उनका मङ्गल हो।'

'वे सकुशल हैं' दूत ने बताया कि भगवान् का नैवेद्य प्रस्तुत हुआ। स्वयं महारानी ने प्रस्तुत किया था उसे। अवश्य ही कुछ क्षण को वे पाकशाला से अनुपस्थित रही थीं। नैवेद्य अर्पित करने को महाराज ने उठाया ही था कि पात्र में ही पल्ली (छिपकली) पतन हुआ।

'श्रीहरि' अनेक ऋषियों ने नामस्मरण किया।

'स्वभावत: नैवेद्यान्न विसर्जित किया गया; किंतु उसका आहार करने जाकर ग्रास लेते ही श्वान ने प्राण त्याग दिये।' दूत ने सूचना पूर्ण की- 'महाराज के लिए किसने विष-प्रयोग किया था, इसके अन्वेषण की आज्ञा राजकर्मचारियों को प्राप्त नहीं हुई। महाराज कहते हैं कि यह प्रभु की लीला है।'

'शूलमुख सक्रिय हो गया है!' महर्षि वसिष्ठ के नेत्र बन्द हुए तो दो क्षण में उन सर्वज्ञ ने सब कुछ जान लिया। 'हम यज्ञदीक्षित विप्र- इस समय शाप देना भी तो वर्जित है हमारे लिए।'

यज्ञ अपने समय पर चलता रहा। यज्ञीय क्रियाओं से अवकाश मिलने पर ऋषियों को अपने यजमान की चिन्ता भी हो ही जाती थी कभी-कभी; किंतु एक दिन आया और वह चिन्ता सदा को समाप्त हो गयी।

समाचार- 'महाराज अम्बरीष देव-सदन का प्रक्षालन करके यज्ञशाला आ रहे थे। वे कभी वाहन नहीं स्वीकार करते देवमन्दिर या यज्ञशाला आने में। कोई सेवक साथ नहीं। चतुष्पथ पर पहुँचते ही एक कृष्णवर्ण, कृशकाय, अतिदीर्घाङ्ग अमानवकृति दौड़ती आती दीखी। पूयगन्ध से दिशाएँ भर गयीं। अनेक नगर-जन समीप थे। भीत-त्रस्त खड़े रह गये लोग। आकृति प्रचण्ड वेग से दौड़ती आयी नरेश की ओर।'

'पुत्तलिका-प्रयोग!' अथर्वा ऋषि चौंके- 'अघोर-तन्त्र का प्रचण्डतम मारण-प्रयोग और अम्बरीष के लिए!'

'नारायण! गोविन्द!' नरेश ने उस आकृति को देखकर इतना ही कहा। उनके पदों की गति शिथिल भी नहीं हुई। समाचार-वाहक ने बताया- 'पता नहीं क्या हुआ, वह आकृति हाहाकार कर उठी। सम्पूर्ण आकृति से लपटें उठने लगीं और वह जिधर से आयी थी, द्विगुणवेग से उसी दिशा में अदृश्य हो गयी।'

'शूलमुख भस्म हो गया।' अथर्वा ने बिना ध्यान किये ही कह दिया। 'जहाँ भगवन्नाम जागता है- नामाश्रयीका अपकार सोचने वाले को समाप्त होना ही था।'

'अम्बरीष अपनी चिन्ता नहीं करता' वसिष्ठ जी बोले- 'करे भी क्यों? नाम का आश्रय लेकर चिन्ता की आवश्यकता भी कहाँ रह सकती है।'

यज्ञीय अश्व लौट रहा था। उसका स्वागत करने के लिए ऋषिगण को भी सीमा तक जाना था।

❑❑

मन्त्र-सिद्धि

मुझे अपनी पर्वतीय यात्रा के समय कुछ पन्ने देखने को मिले थे। उस समय मैं गङ्गोत्तरी जा रहा था। भैरवचट्टी छोटी है और गङ्गोत्तरी पहुँचने के लिए वह अन्तिम चट्टी है। वहाँ प्रातः पहुँचा था। मध्याह्न विश्राम, भोजन करके चल देना था। इस अल्प समय में तीन संन्यासियों के एक यात्री दल से परिचय हो गया। उनमें जो सबसे वृद्ध थे, उन्होंने वे पन्ने दिखलाये थे।

उनको वे पन्ने नैपाल होकर कैलास जाते समय मुक्तिनाथ में एक नैपाली भार-वाहक से मिले थे और उसने बताया था कि कोई भूटानी बकरी चराने वाला कहीं पर्वतीय गुफा से उन्हें उठा लाया था। वह चरवाहा और वह नैपाली दोनों अपठित थे। वृद्ध संन्यासी ने उन्हें सँभालकर रक्खा था।

पन्ने थोड़े ही थे और उनमें भी आगे-पीछे का भाग भींगकर ऐसा हो गया था कि पढ़ा नहीं जा सकता। दैनन्दिनी के अंश वे नहीं थे; क्योंकि उनमें तिथि नहीं थी और क्रमबद्ध कुछ लिखा भी नहीं था। लेकिन लिखने की शैली दैनन्दिनी-जैसी थी। कभी तो वर्षों पश्चात् उसके लेखक को लिखने का स्मरण हुआ जान पड़ता था।

एक बात और- मैं यात्रा में था। मुझे गङ्गोत्तरी पहुँचने की त्वरा थी। वे तीनों संन्यासी गङ्गोत्तरी में मुझसे दूर ठहरे और कब नीचे लौट गये, मुझे पता नहीं। मैंने कोई प्रतिलिपि उन पन्नों की नहीं की केवल स्मृति के आधार पर ही उसका निवारण लिखने बैठा हूँ। प्रयत्न कर रहा हूँ कि उन पन्नों का विवरण उसी ढङ्ग से और जहाँ तक बन पड़े, उन्हीं शब्दों में लिखा जाय, जैसा उन पन्नों में था।

× × ×

माता-पिता बचपन में अनाथ छोड़ गये। मुझे भीख नहीं माँगनी पड़ी, यही क्या कम है। पढ़ता मैं कहाँ से; किंतु अपने इस स्वभाव का क्या करूँ? जो आश्रय देगा, खिलावे-पहनावेगा, वह काम लेगा ही। काम करने में मुझे आपत्ति नहीं है, लेकिन

आश्रयदाता सिर पर बैठाकर तो रक्खेगा नहीं। वह डाँटेगा, तिरस्कार करेगा और भगवान् ने स्वभाव ऐसा दे दिया कि किसी की आधी बात सही नहीं जाती। वे सम्बन्धी थे, बडे थे, विद्वान थे। उन्होंने डाँट दिया तो क्या हो गया? समझता हूँ यह सब; किंतु सहन तो नहीं होता। उनसे झगड़कर आया हूँ। अब वहाँ जाना सम्भव नहीं है।

× × ×

केवल छः पैसे पास थे। तीन दिन चने चबाकर काट दिये। अब! गरमी के दिन हैं। कहीं वृक्ष के नीचे पड़ा रहा जा सकता है। घर के नाम पर तो खँडहर भी नहीं है। करूँ क्या! रोजी-रोजगार कुछ चाहिए पेट के गड्ढे को भरने के लिए। व्यापार के लिए पूँजी न हो तो परिचय अवश्य चाहिए। वह कहाँ से आवे? नौकरी! लेकिन अठारह वर्ष के केवल साधारण हिंदी पढ़े लड़के को जो नौकरी मिलेगी- नौकर का अपमान न हो, हो सकता है? अपमान तो होगा ही। वह सहा जायगा?

एक उपाय सूझता है- किसी साधु का शिष्य बना जा सकता है यदि वहाँ न टिक सका, वहाँ भी अपमान मिला तो? भिक्षा माँगी जा सकेगी? नहीं, यह करने की अपेक्षा उपवास करके मर जाना सरल है।

× × ×

इधर आठ दिन में आम खाकर आनन्द से रहा हूँ। वृक्षों पर चढ़ा न जाये, पत्थर न मारे जायँ तो अपने आप टपके, आँधी से गिरे, आम उठाकर ले लेने में कोई बगीचे का रक्षक बाधा नहीं देता। अब जब तक आम का मौसम है, पेट पालने की चिन्ता तो गयी।

कल मिला वह साधु गँजेड़ी था। उसका प्रलोभन व्यर्थ था। मैं ऐसे व्यक्ति का न शिष्य बन सकता, न उसकी सेवा कर सकता। लेकिन उसकी एक बात ठीक थी कि मन्त्रानुष्ठान के बिना सिद्धि नहीं मिल सकती। सुखी, सम्मानित जीवन बिताने के लिए मन्त्र-सिद्धि मेरे लिए आवश्यक है। कौन दिखलायेगा। इसका मार्ग? साधु ने कुछ नाम लिये हैं, कुछ पते बतलाये हैं। मुझे उन सबके पास भटकना तो पड़ेगा। भटके बिना कोई पारस पाता है कभी?

× × ×

ओह! मैं भी किस प्रपंच में पड़ गया। तीन वर्ष से भटक रहा हूँ। लंबी चौड़ी बातें बहुत बनायी जाती हैं; किंतु भीतर तथ्य कुछ नहीं है। बहुत हुआ तो थोड़ी हाथ की

सफाई, कुछ औषधियों के प्रयोग, कुछ धोखाधड़ी। अधिकांश धूर्त हैं, कामिनी-कांचन के क्रीतदास और अपने नाम रूप की पूजा के भूखे! और वे सिद्ध कहलाते हैं। मेरे पास क्या रक्खा है कि कोई मुझे ठगना चाहेगा। मुझे शिष्य-सेवक बनाने को अवश्य उत्सुक मिलते हैं ये लोग।

मैंने सेवा की है और सेवा ने ही उनका भण्डा फोड़ा है। मैं उनके दम्भ में सम्मिलित हो जाऊँ? छिः! मुझे घृणा है इससे! चोर-डाकू ही तो हैं ये सब एक प्रकार के। इनमें अनेक तो आचारहीन हैं। इनका दम्भ नहीं, इनकी कीर्ति, इनकी पूजा-लेकिन समाज तो मूर्ख है। जो बिना श्रम किये अत्यधिक लाभ चाहते हैं, वे ठगे जायँगे ही।

× × ×

'हे भगवान्!' आज प्राण बच गये, यही बहुत हुआ। और ढूँढ़ो मन्त्र सिद्ध! कितना प्रेम प्रदर्शन किया था इस हत्यारे कापालिक ने। मैं इसकी ख्याति सुनकर इतनी दूर आसाम आया और यह जैसे उल्लास से मिला, मिलना ही चाहिए था, उसको तो अनायास बलि पशु मिल गया था।

स्मरण करके अब भी रोमांच हो आता है। मुझे अर्धरात्रि को श्मशान ले गया था वह। पता नहीं क्या-क्या पूजन-हवन करता रहा और तब एक धागे का सिरा मेरे हाथ में बाँधकर धागे को लेकर दूर कहीं अंधकार में जा छिपा। बड़ा लम्बा धागा था। उसमें एक अण्डा, मुर्गा, बकरा और सबसे अन्त में मैं। मैं धागे को अन्धकार में देख नहीं पाता था; किंतु अण्डा फट् से फूटा तो चौका। कुछ क्षण पश्चात् मुर्गा चीखकर मर गया। मैंने हाथ से धागा खोलकर झट पास के वृक्ष की जड़ में बाँध दिया। मेरे वहाँ से हटते-हटते बकरा चिल्लाया और गिर पड़ा। मैं भागा- दूर से देखा कि वह वृक्ष ऊँची लप्टों में घिर गया है, जिसमें मैंने अपने हाथ का धागा बाँधा था।

श्मशान से भागकर यहाँ आ छिपा हूँ। रात्रि की प्रतीक्षा करनी पड़ेगी यहीं से भागने के लिए। कान पकड़े- अब किसी तान्त्रिक के चक्कर में नहीं पड़ूँगा।

× × ×

भगवान् भी कितने दयालु हैं। मुझे कहाँ पता था इन उदार विद्वान् का। मैं तो विपन्न, क्षुधा-मूर्छित मार्ग पर पड़ा था। ये कृपालु मुझे उठा लाये। तीन दिन से इनके यहाँ टिका हूँ। मन्त्रानुष्ठान का ठीक मार्ग बतलाया है इन्होंने। इतना भटकने के पश्चात् आज लगा है कि मैं अपने मार्ग को देख सका हूँ।

ये शास्त्रज्ञ न मिलते, मुझे कहाँ पता था कि मन्त्रों में इतना झमेला है। अच्छा है कि मुझे अपना राशिनाम स्मरण है। किसे कौन-सा मन्त्र जप करना चाहिये, इसमें उसकी आवश्यकता पड़ती है, यह बात मेरी कल्पना में नहीं थी। पता नहीं इन्होंने क्या-क्या समझाया है। मन्त्रों में ऋणी-धनी आदि जाने कितने निर्णय आवश्यक हैं। मुझे केवल इतने से प्रयोजन है कि मेरे उपयुक्त मन्त्र ये निर्णय करके बतला दें।

× × ×

मैं समझा था, उतनी सरल बात नहीं है। अङ्ग न्यास, करन्यास, अक्षरन्यास, मातृकान्यासादि कितने तो न्यास हैं। मुद्रा है और यन्त्र-कवचादि हैं मन्त्र के साथ। फिर मन्त्र का उत्कीलन, जागरण, सप्राणीकरण है। कितने भी विस्तार हों; कितनी भी उलझन हो, करना है तो यह सब सीखना भी है। मैं सीखूँगा- समय ही तो लगेगा।

बस एक बात अटपटी है। ये श्रद्धेय स्वयं दीक्षा देना नहीं चाहते। मेरा आग्रह-अनुरोध सब व्यर्थ चला गया है। मुहूर्त इन्होंने निकाल दिया है। बिना दीक्षा के मन्त्र सप्राण नहीं होता और दीक्षा लेना है एक साधु से। जब से आसाम के उस तान्त्रिक का सम्पर्क मिला, साधुमात्र से मुझे घृणा हो गयी है। साधुओं से भय लगता है। लेकिन साधु ने दीक्षा देना स्वीकार कर लिया है। दूसरा कोई मार्ग दीखता नहीं है।

× × ×

आज पूरे पन्द्रह वर्ष हो चुके। मेरे अनुष्ठान क्यों फलप्रद नहीं हो रहा है? मैंने कहीं प्रमाद किया हो, स्मरण नहीं आता। यह पर्वतीय प्रदेश पुण्यभूमि है। यहाँ के ग्रामजन श्रद्धालु हैं और उनके इतने श्रम से उपार्जित, श्रद्धार्पित आहार में अन्नदोष भी सम्भव नहीं है। इनका श्रम ईमानदारी का यह पवित्र उपार्जन- तब दोष कहाँ है?

मैं आठ पुरश्चरण पूरे कर चुका हूँ। त्रिकाल-स्नान, एकाहार, लगभग चौदह घण्टे प्रतिदिन की साधना क्या थोड़ी होती है? प्रथम पुरश्चरण के पश्चात् तो मुझे अब अपना आसन भी मध्य में परिवर्तित नहीं करना पड़ता। मैं अभ्यस्त हो चुका हूँ स्थिर बैठे रहने का।

शुद्ध पवित्र देश, पवित्र आहार, प्रमादरहित अनवरत साधना और कोई आचार-दोष नहीं; किंतु मेरा मन्त्र उज्जीवित क्यों नहीं होता? मन्त्र देवता ने अब तक मुझे दर्शन देने की कृपा क्यों नहीं की? कहाँ त्रुटि है मेरे साधन में?

मन्त्रशास्त्र सत्य नहीं है- ऐसी बात मेरा हृदय स्वीकार नहीं करता। मैं अपने मन्त्र का प्लावन, ताडन, दाहनादि सप्त संस्कार भी सम्पन्न कर चुका। अब लौटना पड़ेगा

मुझे। यदि वे परमोदार विद्वान् जीवित हों- दूसरा कोई मुझे दीख नहीं पड़ता।

× × ×

बड़ा सङ्कोच हुआ यहाँ आकर। मैं इन अतिशय वृद्ध एवं विद्वान् को कैसे बतलाऊँ कि केवल केशों की जटा बन जाने तथा दाढ़ी बढ़ने से मैं उनका प्रणम्य नहीं हूँ। कितने श्रद्धालु और उदार हैं ये।

'अश्रद्धया हतो मन्त्रों व्यग्रचित्तो हतो जपः।'

आज यह सूत्र सुना दिया इन्होंने। मन्त्र में श्रद्धा न हो- वह निश्चय फलप्रद होगा, ऐसी दृढ़ आस्था न हो तो मन्त्र अपनी शक्ति प्रकट नहीं करता; किंतु मेरी श्रद्धा तो शिथिल कभी नहीं हुई। बिना श्रद्धा के कोई दीर्घकाल तक इतना श्रम कर सकता है?

एक बात मुझे स्वीकार है- मैं बहुत त्वरापूर्वक मन्त्रोच्चारण करता हूँ। मन्त्र-संख्या पूर्ण करने पर मेरा ध्यान विशेष रहता है। मेरा चित्त, पता नहीं कहाँ-कहाँ जाता रहता है। स्थिर चित्त से, स्वस्थ गति से, मन्त्रार्थ चिन्तन पूर्वक जप मैंने नहीं किया है।

यहाँ भी गङ्गातट है। पण्डित जी का सान्निध्य है। जनपद से बाहर एकान्त में एक झोपड़ी की व्यवस्था वे कल कर देने को कहते हैं। अब एक पुरश्चरण यहीं करना उचित होगा।

× × ×

मुझे चिन्ता नहीं है कि दो वर्ष के स्थान पर ढ़ाई वर्ष इस पुरश्चरण में लगे हैं। मुझसे अधिक चिन्ता तथा निराशा तो पण्डित जी को मेरी असफलता से हुई है। वे इन ढ़ाई वर्षों में मेरे संरक्षक, निरीक्षक, प्रतिपालक सभी रहे हैं। कितने खिन्न गये हैं आज वे यहाँ से। उनके वे भरे-भरे नेत्र, कान्तिहीन मुख-बिना कुछ कहे वे यहाँ से लौट गये हैं। उनके लिए मन में चिन्ता हो गयी है।

× × ×

पण्डितजी तो यहाँ से जाकर सीधे अपने उपासना-कक्ष में बैठ गये हैं। उनका पूरा परिवार चिन्तित है। उन्होंने अन्न-जल कुछ नहीं लिया सायंकाल तक। अजस्र अश्रु झर रहे हें उनके नेत्रों से। किसी की ओर दृष्टि उठाकर वे नहीं देखते हैं। कोई संकेत नहीं किया उन्होंने मेरे वहाँ जाने पर भी।

'हे प्रभो! हे दयामय! उन वृद्धपर दया करो! मुझे इस विप्र को पीड़ा पहुँचाने के पाप से बचाओ!

× × ×

आज प्रात:काल ही पण्डितजी आ गये थे। कितने प्रसन्न थे वे। 'आप मेरे अनुरोध को स्वीकार करके एक पुरश्चरण और कर लें!' 'कितना आग्रह था उनके स्वरों में। मैं तो निराश हो चुका था; किंतु उनका इतना आग्रह है तो ढ़ाई वर्ष और सही। जीवन में बहुत कुछ करना भी तो नहीं है। इतने दिनों के अभ्यास ने ऐसा बना दिया है कि जिह्वा मन्त्र-जप किये बिना मानती नहीं है। अब कोई कामना भी तो नहीं रही। मन्त्र देवता का साक्षात्कार- लेकिन किस लिए? एक कुतूहल मात्र लगता है। मैं क्या माँगूँगा? मन में ढूँढ़कर भी कुछ पाता नहीं हूँ।

वे कह गये हैं- 'आज अच्छा दिन नहीं है। कल शेष विचार करूँगा।' आज वे श्रान्त भी बहुत थे। कल अहर्निश निर्जल व्रत किया उन्होंने। उनका वृद्ध शरीर, व्रत और रात्रि-जागरण उनको थका तो देगा ही। आज उनके लिए विश्राम आवश्यक था।

× × ×

आज पण्डितजी ने एक अपरिचित तथ्य प्रकट किया है। 'मन्त्र-साधन त्रिपाद होता है। मन्त्र, मन्त्रदेवता (इष्ट) तथा गुरुमें दृढ़ श्रद्धा-इस साधन के चरण हैं। एक भी चरण भङ्ग हो तो साधन पंगु होकर असफल हो जाता है।'

मन्त्र और इष्ट में मेरी श्रद्धा कभी शिथिल नहीं हुई; किंतु मन्त्रदाता उन साधु में मेरी श्रद्धा प्रारम्भ में ही नहीं थी। पण्डितजी कहते हैं- 'गुरु का देह एवं दैहिक व्यापार दृष्टि देने की वस्तु नहीं। वह तो चिन्मय वपु मन्त्र-देवता का स्वरूप है। गुरु-देह तो इष्ट का पीठ है। मन्त्र-दीक्षा, नादपरम्परा बीज जहाँ से प्राप्त हुआ, उस उद्गम में श्रद्धा शिथिल हो जायगी तो मन्त्र का शक्तिप्रवाह बाधित हो जायगा।'

'अब उनका शरीर तो रहा नहीं। आप उनके आश्रम में अनुष्ठान करें। उनकी पादुकाएँ वहाँ हैं। उनका पूजन प्रतिदिन करते रहें।' पण्डित जी ने यह बात अपनी ओर से नहीं कही है। उन्होंने मुझे बताया नहीं; किंतु लगता है कि कल अपने आराध्य कक्ष में उन्हें इस आदेश का आभास हुआ है।

× × ×

वह शत-शत चन्द्रोज्ज्वल दिव्य ज्योति-अब भी उसके स्मरण से देह का कण-

कण आनन्दविभोर हो उठता है। मैं पादुका-पूजन करके प्रणत हुआ और सम्पूर्ण स्थान उस स्निग्धोज्ज्वल प्रकाश से परिपूर्ण हो गया।

मन्त्र का वह अकल्पनीय सुधा-सङ्गीत जो उस प्रकाश-राशि में ही झर रहा था, प्राणों को सिंचित कर रहा था। मैंने मस्तक उठाया और कब तक मैं मुग्ध, आत्मविस्मृत देखता रहा, मुझे कुछ पता नहीं है। ज्योतिर्मय मन्ताक्षर और उन्होंने नृत्य करते मानो एक मूर्ति बनायी। किसकी मूर्ति- कहना कठिन है। चन्दमौलि, गङ्गाधर, नीलकंठ, त्रिलोचन, भस्माङ्गभूषित, सर्पसज्जित मेरे मन्त्रदेवता भगवान् शिव और मेरे मन्त्रदाता जटाजूटधारी वे साधु क्षणार्ध में एक और क्षणार्ध में दूसरी मूर्ति में वह प्रकाश परिवर्तित होता रहा।

'वरं ब्रूहि!' जब सुनायी पड़ा, मैं किचिंत सावधान हुआ। मैं क्या माँगता? पूरे अनुष्ठान-काल में जो सोचने-पर मन में नहीं आया, सहसा मुख से निकल गया- 'देव! यह शिशु अज्ञ है। जो आपको परम प्रिय हो, वही दें आप!'...यहाँ अक्षर मिट गये हैं।

× × ×

मेरे वे परम श्रद्धेय आज नहीं रहे। श्मशान की चिताग्नि में उनके शरीर की आहुति का साक्षी रहा मैं। साक्षी ही तो- मुझे इधर कोई सुख-दुःख स्पर्श कहाँ करते हैं। मैं- पर मैं कौन? मेरा पांचभौतिक देह क्या हुआ? यह मन्त्राक्षरों का कण-कण घनीभाव और यह नीलसुन्दर मयूर-मुकुटी-यह आनन्द का उल्लसित सागर, किसने सोचा था कि यह वरदान में मिला करता हैं।

मुझे अब हिमालय की ओर जाना है। हिमालय... इसके आगे के पृष्ठ पढ़ने योग्य स्थिति में नहीं थे।

तीर्थ

सौम्य शान्त स्वभाव वयोवृद्ध एवं विद्वान् थे वे कथावाचक। बड़ा कोमल स्वर था। वे कह रहे थे-

अष्टादशपुराणेषु व्यास्य वचनद्वयम्।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्।।

अष्टादश पुराण भगवान् वेदव्यास की ही रचना हैं। इसलिए उनमें सभी वचन व्यास के ही हैं, किंतु उन सबका सार, सबमें प्रधान ये दो वचन हैं- 1. परोपकार सर्वश्रेष्ठ पुण्य हैं और 2. दूसरों को पीड़ा देने के समान कोई पाप नहीं है।

कथावाचक बड़ी तल्लीनता से व्याख्या सुनाने में लगे थे और ग्राम के सीधे-सादे श्रोता एकाग्रचित्त सुन रहे थे। सबसे पीछे एक प्रचण्डकाय, भयङ्कर-दर्शन, वज्रदेह, बड़ी दाढ़ी-मूँछोंवाला अधेड़ उम्र का पुरुष अपने मोटे लट्ठ को सहारा बनाकर कब आकर खड़ा हो गया, किसी ने नहीं देखा। कोई देखता भी तो दस्यु प्रमुख दुर्दान्तको पहचान सके, ऐसा कोई यहाँ नहीं था; अवश्य ही दुर्दान्त का नाम आतङ्क बनकर पूरे प्रदेश में छा चुका था।

भयानकता की मूर्ति वज्रपुरुष दुर्दान्त, जिसने दया, नम्रता, क्षमा आदि स्वप्न में भी नहीं सीखे, जिसके सम्मुख उसके दल के मुख्य व्यक्ति भी 'भीगी बिल्ली' बने रहते हैं, पता नहीं क्यों आया था इस ग्राम में और फिर सहज ही क्यों खड़ा हो गया था। इस कथा सुनती भीड़ के पीछे।

'परपीड़न सबसे बड़ा पाप' दुर्दान्त के चित्त में एक अन्धड़ उठा- जीवन पूरा उसका इसी पाप में बीता और अब? इस सत्तर वर्ष की अवस्था में इस महापाप से छुटकारा पाने का मार्ग मिलेगा उसे?

कथा समाप्त हो गयी। आरती हुई, प्रसाद बँटा और लोग एक-दो करके चले जाने लगे। वृद्ध कथावाचक ने ग्रन्थ को वस्त्र से लपेट करके मस्तक में लगाया और वे आसन से उठे।

'पण्डितजी !' बहुत नम्र बना लेने पर भी बड़ा कर्कश एवं उग्र स्वर था। ब्राह्मण ने

सामने देखा उस दण्ड हस्त उग्र पुरुष को 'आपने दस्यु दुर्दान्त का नाम सुना होगा।?'

'सुना है भाई!' पीला पड़ गया वृद्ध ब्राह्मण। थरथराते कण्ठ से उसने कहा- 'थोड़े से पैसे मिले हैं कथा की आरती में। यदि तुम चाहो....'

'डरिये मत! पैसे मुझे नहीं चाहिए!'

दुर्दान्त क्या करे, चेष्टा करके भी उसका निसर्ग कर्कश-स्वर कोमल नहीं होता। लेकिन वह अपनी बात कह तो देना ही चाहता है- 'दुर्दान्त ने पन्द्रह वर्ष की आयु से अब तक कि वह सत्तर का है, दूसरों को पीटा, मारा, लूटा, सताया। दूसरों को सताना ही उसका व्यवसाय, विनोद और जीवन रहा। उस जैसे महापापी के भी उद्धार का कोई उपाय है?'

'है ! होगा क्यों नहीं?' वृद्ध क्षणार्ध में स्वस्थ एवं गम्भीर हो गये- 'किसी एक का भी उद्धार असम्भव हो तो भगवान् फिर पतित पावन किस बात के?'

'लेकिन मुझसे भजन-पूजन, जप-तप जो आप बताने वाले हैं, सो कुछ नहीं होने का है।' दस्यु ने स्वयं एक उपाय सुझाया- 'मेरे पास सम्पत्ति का अभाव नहीं। मेरा गुप्त कोष स्वर्ण-रत्न से भरा है। यदि वह काम दे सके....।'

'नहीं भैया!' ब्राह्मण ने सिर हिला दिया।

'वह पाप की कमायी-कीचड़ से कीचड़ धोया नहीं जा सकता। अपने पसीने का उपार्जन होता तो भले कुछ काम आता। उसे तो अपने साथियों को बाँट दो और उनको धन लेकर इस अन्याय से अलग होने के लिए समझा दो, यदि वे समझ सकें।'

'वे समझ जायँगे; किंतु मैं क्या करूँ?' दस्यु के किसी जन्म के पुण्य आज जागे थे।

'तुम तीर्थयात्रा करो। दो क्षण सोचकर ब्राह्मण ने कहा- 'पूरे भारत के तीर्थों का दर्शन करो। तीर्थयात्रा में पैदल चलोगे। भूख-प्यास सहोगे। तप होगा अपने-आप। नियम-संयम का पालन होगा। भगवान के श्री विग्रह के तथा संत-महापुरुषों के दर्शन होंगे। शरीर से ही हो सके ऐसा सुगम साधन तो तीर्थयात्रा ही है।'

'मैं पवित्र हो गया, यह मुझे कैसे पता लगेगा' दस्यु ने जिज्ञासा की।

'जब दूसरे दीन-दुखियों पर चित्त में स्वयं दया आवे।' ब्राह्मण ने बतलाया- 'और अब अपना अपराध-अपमान करने वाले पर भी मन में क्रोध न आवे, तब समझ लेना कि तुम पवित्र हो गये।'

दस्यु ने हाथ जोड़कर प्रणाम किया ब्राह्मण को।

× × ×

दस्युराज दुर्दान्त का शरीर अब भी गठा हुआ है; किंतु दुर्बल हो गया है। लाठी

अब भी रखता है वह हाथ में; किंतु उसकी लाठी से तो अब कुत्ते भी कदाचित् ही डरते हैं। सिर एवं दाढ़ी-मूँछ के केश प्रायः सब श्वेत हो गये हैं? फटे, वस्त्र, नंगे बिवाई के भरे पैर, उलझे केश- कोई तपस्वी लगता है देखने में अब दुर्दान्त। बिना माँगे कोई कुछ दे तो भूख मिटे, अन्यथा कहीं जल पीकर वृक्ष अथवा निर्जन मन्दिर में रात्रि बिता देता है। बहुत कम बोलता है; किंतु स्वर में अब भी कुछ रूक्षता है।

'माता-पिता सबसे बड़े तीर्थ हैं। उनकी सेवा और उनके लिए श्राद्ध सबसे श्रेष्ठ पुण्य है।' गया में पहुँचने पर एक तीर्थपुरोहित मिल गये दुर्दान्त को और उन्होंने इस निर्धन यात्री पर कृपा की। सिकता से पिण्ड का विधान ऐसे ही अकिंचन जनों के लिए तो शास्त्र ने किया है।

'कोई सेवा नहीं कर सका यह नीच माता-पिता की।' फूटकर रो पड़ा आज। सम्भवतः वह पहिली बार रोया होगा।

'दुखी मत हो भाई ! माता-पिता नहीं रहे; किंतु उनके ही समान गुरु, गौर और संत सजीव श्रेष्ठतम तीर्थ हैं।' तीर्थपुरोहित बोले- 'और तुम्हारा यह पश्चात्ताप- पश्चात्ताप से श्रेष्ठ पाप-क्षालक तीर्थ दूसरा कोई नहीं है।'

दुर्दान्त अब दुर्दान्त कहाँ है? लोग उसे बाबाजी कहते हैं। वह अद्‌भुत यात्री हो गया है? गायें दीख जायँ तो घास उखाड़ने में लगेगा और कुछ तृण प्रत्येक को देकर तब तक आगे बढ़ेगा। कोई भिखारी, रोगी मिल जाय तो दस-पाँच दिन ही नहीं, महीने-दो-महीने बिता देगा उसकी सेवा में। अवश्य ही वह साधु-सन्तों के समीप टिकता नहीं। उनकी ज्ञान-चर्चा उसकी मोटी समझ में नहीं आती; किंतु बड़ी श्रद्धा से प्रणाम करता है। सुयोग मिले तो सूखी लकड़ी तोड़कर रख आता है साधूओं के पास और किन्हीं के पैर भी दबाता कुछ देर बैठता है। लेकिन वह यात्री कहीं टिकना नहीं सीखा उसने। उसकी तीर्थ-यात्रा चल रही है।

'परम तीर्थ है अपना पवित्र चित्त !' एक संत मिल गये उत्तराखण्ड की यात्रा करते समय दुर्दान्त को। कई दिनों-तक मार्ग में उनका साथ रहा। उनका आसन इसने अपने कंधे पर लटका लिया था। वे संत कह रहे थे- 'तुम्हारा चित्त तो तीर्थ हो चुका है ऐसे पवित्र हृदय परोपकारी संत-सेवी पुरुष तीर्थों में जाकर उन्हें भी तीर्थ बनाते हैं।'

विनम्र, तितिक्षु, क्षमामूर्ति दुर्दान्त- वह कई महीनों से निरन्तर भगवन्नाम लेने लगा था। श्री बद्रीनाथ के श्रीविग्रह के सम्मुख जब वह पहुँचा, उसके पैर लड़खड़ाये। वहीं से संतों ने उसका देह उठाया और अलकन्दा में समाधि मिली। उस देह को वह तीर्थीभूत तीर्थयात्री....

❑❑

तीर्थयात्रा

'भगवन्! हम लोग आज कहाँ हैं?' एक काषाय-वस्त्रधारी तरुण ने पूछा। यात्रियों के इस दल में संन्यासी कोई नहीं है; किंतु तीर्थयात्री होने के कारण सभी काषाय-वस्त्र पहनते हैं; सबके मस्तक तथा दाढ़ी-मूँछ के बाल बढ़ गये हैं, नख लंबे हो गये हैं और वस्त्र मलिन हो रहे हैं, घर से सब सम्पूर्ण केश मुण्डित कराके चले थे; किंतु केश तो घास की भाँति बढ़ते हैं और ये ठहरे तीर्थ-यात्री, घर छोड़े इन्हें कई मास हो गये। अभी तो कई मास और लगने हैं इन्हें। तीर्थयात्रा में न क्षौर कराया जा सकता, न वस्त्र धुलवाये जा सकते और न तैल-मर्दन ही उपयुक्त है।

'भगवान् के मार्ग में भद्र! तुम आकुल क्यों होते हो? हम मार्ग भूल गये हैं; किंतु ऐसा कौन-सा मार्ग है जिसमें वह नहीं है। वह जानता है कि हम उसकी ओर चल रहे हैं, बड़ा स्थिर स्वर, बड़ी भव्य शान्ति थी त्रिपुण्डमण्डित भव्य भाल पर। हाथ में लाठी और कमण्डलु, कंधे पर झोला और कटि के वस्त्रों को समेटकर ऊपर बँधा एक वस्त्रखंड। सबसे वृद्ध होने पर भी यात्रा में वे सबसे आगे चल रहे थे।

'बाबा! आज हम कहाँ ठहरेंगे?' कृषक-जैसे दीखते एक व्यक्ति ने पूछा, जो सम्भवतः थक चुका था। उसकी आधी पकी मूँछों पर धूलि जम रही है और भौंहों के केश ललाट के बहे पसीने और धूलि से मिलकर कीचड़ में लथ-पथ-से लगते हैं, इसकी और उसका ध्यान नहीं था। उसके श्वास की गति बढ़ी हुई थी। दूसरों की भाँति उसके पैर भी बिवाइयों से चिथड़े हो रहे थे और उन बिवाइयों-में से निकली रक्त की बूँदें धूलि में सनकर जम गयी थीं।

'जहाँ कहीं जल मिलेगा, वहीं हम आज रात्रि-विश्राम करेंगे। तनिक पैर दबाये आओ भाई!' आगे चलनेवाले वृद्ध ने केवल क्षणभर के को गति मन्द की और फिर वे शीघ्रता से चल पड़े। उसकी त्वरा समझ में आने योग्य है। भगवान् भास्कर पश्चिम क्षितिज पर पहुँच चुके हैं। घंटे भर में वन में अँधेरा हो जायगा और तब आगे बढ़ना शक्य नहीं रहेगा 'रात्रि के आगमन के पूर्व एक जलस्रोत मिल जाय या सरोवर.....' वृद्ध के चरण बढ़ते जा रहे थे।

'हम इस वन में रात्रि व्यतीत करेंगे? वृद्ध के पीछे चलने वाले तरुण ने चारों ओर देखा। उसे स्मरण आया- चलते समय उसके दोनों पुत्र फूट-फूटकर रोये थे। दोनों पुत्र वधुएँ घूँघट के भीतर हिचकियाँ ले रही थीं और उसका नन्हा पौत्र उसकी गोद से उतरना ही नहीं चाहता था। यह घोर कानन-आज दिन में ही चीते की गन्ध मिली है। रीछ दीखा है समीप के बेर के वृक्ष पर बेर खाता और वाराहयूथ आगे-आगे जा रहा है, यह बात तो रौंदे तृणों तथा तत्काल खोदी भूमि से सहज अनुमान की जा सकती है। इस वन में रात्रि-विश्राम-परंतु दूसरा कोई मार्ग तो दीखता नहीं।

'भद्र! भय का तो कोई कारण नहीं है। जिसने आह्वान किया है, वही अपने श्रीचरणों के समीप पहुँचायेगा। वह ग्राम में है और वन में नहीं, ऐसा क्यों सोचते हो?' आगे चलने वाले वृद्ध की श्रद्धा अडिग थी। उनकी श्रद्धा का ही बल है, जो यह दल अब तक चला आ रहा है।

'जो कुछ था डाकुओं ने ले लिया और मार पड़ी वह ऊपर से। अब तो मृत्यु ही रही है, उसे आना है तो वह भी आ जाय!' एक यात्री कुछ स्थूल शरीर है। स्वभावतः चलने में उसे अधिक श्रम होता है। वह झुँझला उठा है। इधर उसके स्वभाव में चिड़चिड़ापन भी अधिक आ गया है।

'डाकू आये, यह तो हमारा ही पाप था।' आगे चलने वाले वृद्ध ने तनिक रुककर पीछे देखा- 'तीर्थयात्री स्वर्णमुद्रा लेकर चलेगा तो दस्यु आयेंगे ही। हमारे पास कल के लिए भी संग्रह रहे तो हम विश्वम्भर पर विश्वास कहाँ करते हैं। संग्रह न हो तो छीनने कोई क्यों आये?'

'महाराज! वैसे तो यह शरीर भी संग्रह है और वन में उसे छीनकर पेट भरने वाले प्राणी भी आ ही सकते है!' स्थूलपुरुष ने व्यंग किया।

'भैया! भगवान् मल्लिकार्जुन मृत्युंजय है। उनके चरण का दर्शन करने जो चला है उसकी आयु पुरी हो जाय मध्य में, तो भी मृत्यु को प्रतीक्षा करनी पड़ेगी।' वृद्ध कुछ पद लौट आये और स्नेहपूर्वक उन्होंने उस पुरुष के कंधे पर हाथ रख दिया- 'तीर्थयात्रा का अर्थ कहीं जाकर जल में डुबकी लगा लेना और किसी प्रतिमा मात्र के दर्शन कर लेना नहीं है। यात्रा का अर्थ है तितिक्षा-कष्ट-सहिष्णुता, त्याग, भगवत्स्मरण और एकमात्र प्रभुका आश्रय। जो प्रभु श्रीशैलपर विराजमान हैं, वे ही प्रत्येक प्राणी में, प्रत्येक वन्य पशु में हैं। हम पर आपत्ति आती है तब, जब हम प्रमाद करते हैं, जब हम यात्रा के नियम भङ्ग करके कोई सुख-सुविधा की व्यवस्था करते हैं अथवा संग्रह करने लगते हैं। यदि हम प्रमत्त न हों तो प्रलयङ्कर के आश्रितों की ओर रोग, शोक आदि कोई नेत्र उठाकर देखे नहीं सकता।'

× × ×

बात कई शताब्दी पहले की है। देश में सड़कें नहीं थीं। रेल और मोटरों का स्वप्न में भी मनुष्य ने नहीं देखा था। फलतः मनुष्य आज-जैसी धोखा-धड़ी एवं छल प्रपंच से भी अपरिचत था और आज के रोगों से भी। उसका शरीर स्वस्थ था, सुदृढ़ था और उसका मानस श्रद्धा परिपूत था।

मध्यप्रदेश के एक छोटे से ग्राम के वृद्ध ब्राह्मण के मन में लालसा जाग्रत हुई तीर्थयात्रा की। उन्होंने अपनी इच्छा व्यक्त की और कई सहयोगी मिल गये। लगभग डेढ़ वर्ष लगा यात्रा के लिए प्रस्तुत होने में। सभी सगे-सम्बन्धियों से मिल लेना था। घर की व्यवस्था कर देनी थी। सबसे विदा ले लेनी थी। तीर्थयात्रा का अर्थ था घर न लौटने को प्रस्तुत होकर जाना। मार्ग में वन थे- लंबे-चौड़े व्यापक अरण्य। वनों में हिंस्र जन्तु भरे थे और उनसे भी हिंस्र दस्यु तथा वन्य मानव मिलते थे। जब दीर्घकाल तक अनिश्चित भटकना हो तो कौन कह सकता है कि कोई कब अस्वस्थ हो जायगा। तीर्थयात्री तो मृत्यु को चुनौती देकर ही यात्रा प्रारम्भ करता है।

मुहूर्त निश्चित हुआ। यात्रियों ने अपने वस्त्र गैरिक कर लिये, झोले सिलवा लिये, मुण्डन कराया और हवन हुआ। अन्त में ग्राम-परिक्रमा करके पूरे ग्राम के लोगों ने ग्राम सीमा तक जाकर जय जयकार करते हुए उन्हें विदा दी।

हाथों में लाठियाँ और जलपात्र, कंधे पर झोले, मुण्डित मस्तक, नंग पैर यात्रियों का दल चल पड़ा। जहाँ तक ग्राम-सभा मिलती रही, बड़ा उत्साह रहा सबमें। प्रत्येक ग्राम में उनका स्वागत हुआ, उनकी पूजा हुई, सोल्लास उनका आतथ्यि हुआ; परन्तु वन आना था और वह आया। वन की यात्रा चलती रही और एक दिन दस्युओं ने उन्हें घेर लिया। बिना पूछे तड़ातड़ डंड़े पड़ गये दो-दो चार-चार सब पर।

'अरे ! किसी के पास कुछ हो तो दे क्यों नहीं देते।' अग्रणी वृद्ध ने अपने साथियों को पुकारा। साथ में एक कुछ स्थूलकाय श्यामवर्ण वैश्य यात्री थे। उनकी धोती में दो स्वर्ण मुद्राएँ छिपी थीं। डाकुओं की मार भी अधिक उन पर ही पड़ी। अन्त में वे मुद्राएँ डाकुओं को प्राप्त हो गयी।

'धन्यवाद बन्धुओं !' वृद्ध ब्राह्मण ने दस्युओं को हाथ जोड़कर प्रणाम किया- 'तुम हमारे प्रभु के भेजे आये हो। यह पाप था हमारे साथ, जिससे तुमने हमें मुक्त कर दिया। आओ भाई ! अब हमारी यात्रा निरुपद्रव हो गयी। अमङ्गल बहुत कम उपद्रव करके विदा हो गया।' स्थूल-काय वृद्ध को उन्होंने आश्वासन दिया।

इस धमाचौकड़ी में यात्रियों के साथ जो मार्गदर्शक था, वह भाग चुका था। दस्यु स्वर्ण मुद्राएँ लेकर ऐसे अदृश्य हुए जैसे शशक के सिर से सींग। यात्रियों को अब अपने अनुमान के आधार पर आगे बढ़ना था। घोर वन में कोई क्या अनुमान करे। वे भटक गये और भटकते ही चले गये। वन के कन्दों तथा पत्तों और सरोवर था निर्झर के जल

पर कई दिन काट दिये इन्होंने और तब एक दिन ऐसा आया जब मध्याह्नोत्तर चलने पर उन्हें जल मिलना भी कठिन हो गया था।

× × ×

'हम श्रीशैल की हो ओर जा रहे हैं?' तरुण भी अत्यन्त श्रान्त हो चुका था। उसकी श्रान्ति इतनी अधिक थी कि आगे भटकने की अपेक्षा वन्य पशुओं द्वारा आखेट हो जाना उसे कम भयप्रद प्रतीत होने लगा था।

'भगवान् आशुतोष जानते हैं कि हम श्रीशैल जाना चाहते हैं, इसलिए हम श्रीशैल ही जा रहे हैं और वहाँ निश्चय पहुँचेंगे।' अग्रणी वृद्ध का विश्वास अलौकिक था। वैसे न वे मार्ग जानते थे और न उन्हें यही पता था कि श्रीशैल उनके सम्मुख है या पीठ की ओर।

'इस जन्म में तो पहुँचते नहीं।' स्थूलकाय व्यक्ति के लिए चलना अब अत्यन्त कठिन हो रहा था। वह खड़ा हो गया और देखने लगा कि 'कोई बैठने योग्य वृक्ष की जड़ भी मिल जाय तो उसी पर बैठ जाय।'

'हम इसी जीवन में पहुँचेंगे और....।' किन्तु वृद्ध को अधिक बोलना नहीं पड़ा। कोई आ रहा था उनके सम्मुख की दिशा से। सबका ध्यान आगन्तुक की ओर आकृष्ट हो गया था।

'आप सब श्रीशैलपर ही हैं।' दूर से ही आगन्तुक ने यात्रियों की थकावट, व्याकुलता तथा उत्सुकता समझ ली और आश्वस्त करने के लिए बोला- 'वन में भटक जाने के कारण आप विपरीत दिशा में आये हैं। कुछ दूर आगे बढ़ते ही आपको शिखर की ध्वजा के दर्शन होंगे।'

'भगवान् मल्लिकार्जुन की जय!' यात्रियों में नवीन उत्साह आ गया। उन्हें यह पता नहीं लगा कि उनको मार्ग बताने जो कृपा करके पधारे थे, वे थे कौन और उत्साह के इन क्षणों में सहसा किधर अदृश्य हो गये।

तीर्थवास

'देव! लगभग बीस वर्ष हो गये मुझे आपके इस पवित्र धाम में निवास करते; किंतु तीर्थ की प्राप्ति मुझे नहीं हुई! मैं तीर्थवासी नहीं बन सका!' कोई दूसरा यह बात सुनता और उपहास करता उनका; किंतु अवकाश किसे था उनकी बात सुनने का। यात्री आते थे- सैकड़ों यात्री आते थे और गरुड़ स्तम्भ को प्रणाम करके, उससे मस्तक लगाकर आगे बढ़ जाते थे श्रीजगदीश्वर की ओर। किसे पड़ी थी यह देखने की कि एक सफेद दाढ़ी-वाला, गौरवर्ण, वलीपलित वृद्ध, पता नहीं कब से, गरुड़-स्तम्भ के एक ओर ऐसे बैठा है, जैसे गिर पड़ा हो और फिर उठने में असमर्थ हो गया हो। उसके नेत्रों की बूँदें नीचे के सुचिक्कन पाषण को धो रही थीं और उसके हिलते अधरों से जो अस्फुट शब्द निकलते थे, उन्हें या तो वह सुनता था या सुनते थे एक साथ उसके हृदय में और उससे पर्याप्त दूर आराध्य पीठ पर विराजमान श्री जगन्नाथ जी।

'आप जगन्नाथ हैं और मैं आपके जगत् का ही एक प्राणी हूँ। आपका हूँ और आपके द्वार पर आ पड़ा हूँ।' बार-बार वृद्ध का कण्ठ भर आता था। बार-बार वह रुकता था, हिचकियाँ लेता और फिर-फिर मस्तक उठाकर बड़े कातर नेत्रों से आगे आराध्य पीठ पर स्थित देवता की ओर देखता था। 'आप मुझे मुक्त कर देगें यह जानता हूँ- मुक्त होना कहाँ चाहता हूँ मैं? मुक्त तो वह श्वान भी हो जाता है, जिस पर पुरी की पावन रज उड़कर पड़ जाती है। मैं आपके धाम में आया था तीर्थवास करने और वह आपके श्रीचरणों में आकर भी मुझे प्राप्त नहीं हुआ।'

'तुम तीर्थ में ही हो भद्र!' जगद्‌गुरु शङ्कराचार्य पधारे थे श्रीजगन्नाथजी का दर्शन करने। मुझे स्मरण नहीं है कि पुरी के शांकर पीठ पर आदि शङ्कराचार्य के पश्चात् कितनी पीढ़ियाँ तब तक बीत चुकी थी, किंतु थे वे पुरी पीठ के श्री शङ्कराचार्य और जगद्‌गुरू पीठ तो एक महान परम्परा सदा से रखता आया है। आत्मनिष्ठ, शास्त्रपारदर्शी, साधनसम्पन्न लोकोत्तर महापुरुष पाये हैं संसार ने इस पावन पीठ से। उस समय के शङ्कराचार्यजी उस वृद्ध की अपेक्षा तरुण थे; किंतु उनमें जो विवेक, वैराग्य, आत्मनिष्ठा तथा शास्त्रीय ज्ञान का अद्‌भुत तेज था- वृद्ध ने अवकाश नहीं

पाया उठने का, उसने घूमकर जगद्गुरु के चरणों पर मस्तक रख दिया और उसके नेत्र जल से आचार्य के श्रीचरण प्रक्षालित हो गये।

प्रभो ! इस नीलाचल-धाम की भुवनपावनता में मुझे कोई सन्देह नहीं है।' कुछ क्षण में वृद्ध ने आश्वस्त होकर दोनों हाथ जोड़ लिये।' किंतु मैं इतना अधम हूँ कि बीस वर्ष यहाँ रहने पर भी श्रीजगदीश की कृपा का अनुभव नहीं कर सका। तीर्थवास मुझे अब भी प्राप्त नहीं हुआ।'

'यह तीर्थ में है, पुरी की पावनता में विश्वास रखता है, फिर?' जगद्गुरु के पीछे जो अनुगत वर्ग था- था वह भी शास्त्रज्ञ विद्वानों का वर्ग, किंतु उनमें से कइयों के मन में यह प्रश्न उठा।

'भावुकता के आधिक्य ने मस्तिष्क को कुछ अव्यवस्थित कर दिया है।' एक युवक ने, जिनके शरीर पर गैरिक वस्त्र थे और जो सम्भवतः अभी अध्ययन करते होंगे, अपने साथ के अन्तेवासी से धीरे से कहा।

'भद्र ! मैं श्री जगन्नाथजी के दर्शन करके शीघ्र लौट रहा हूँ।' जगद्गुरु ने किसी की ओर ध्यान नहीं दिया। लगता था कि आज वे इस वृद्ध पर कृपा करने ही मन्दिर पधारे हैं। वृद्ध के कन्धे पर उनका करुण करकमल रखा था। 'तुम मेरे साथ आज आश्रम चलोगे?'

आचार्यचरण उत्तर की अपेक्षा किये बिना आगे बढ़ गये। वृद्ध स्थिर नेत्रों से उनके आगे बढ़ते चरणों की ओर देखता खड़ा रहा।

× × ×

'मैं पिता का कर्त्तव्य पूरा कर चुका, अब तुम लोगों को पुत्र का कर्त्तव्य पूरा करना चाहिए।' ठाकुर समरसिंह आदर्श पिता रहे हैं, आदर्श जमींदार हैं और आदर्श क्षत्रिय हैं। पुत्रों को उन्होंने शिक्षा दी, केवल पुस्तकों को ही नहीं, व्यवहार का भी विद्वान् बनाया और अपनी नैतिक दृढ़ता उनमें लाने में सफल हुए। पुत्र अब युवक हो गये हैं। दोनों पुत्रों का विवाह हो चुका है और जमींदारी उन्होंने सम्हाल ली है। प्रजा के लिए यदि समरसिंह सदा स्नेहमय पिता रहे हैं तो उनके पुत्र सगे भाई हैं, पंरतु अब समरसिंह पुरी जाकर तीर्थवास करना चाहते हैं। उन्होंने निश्चय कर लिया और उनका निश्चय जीवन में कभी परिवर्तित हुआ हो तब तो आज हो। पुत्रों, पुत्रवधुओं और प्रजा के सैकड़ों लोगों को जो व्यथा आज हो रही है- उनका यह देवता-जैसा पिता क्या सचमुच इतना निष्ठुर है कि उनको छोड़कर चला ही जाएगा?

'पिता को पुत्रों का तब तक रक्षण-शिक्षण और पालन करना चाहिए जब तक पुत्र

स्वयं समर्थ न हो जायँ और पुत्रों को समर्थ हो जाने पर पिता को अवकाश दे देना चाहिए कि वह भगवान् की सेवा में लगे।' समरसिंह स्थिर स्वर में कहे जा रहे थे- 'मैं अपना यह कर्त्तव्य कर चुका जो तुम्हारे प्रति था। अब मुझे परम पिता के प्रति अपना कर्त्तव्य पूरा करने दो।'

'आप यहाँ रहकर भजन करें तो....' पुत्र अपने पिता को जानते थे, वे साहस नहीं कर सकते थे यह बात कहने का। एक प्रजा जन ने – एक युवक ने किया था यह प्रस्ताव। यद्यपि सभी के हृदय यही प्रस्ताव करना चाहते थे; किंतु वाणी अवरुद्ध हो रही थी।

'तुम बच्चे हो न' समरसिंह उस युवक की ओर देखकर हँस पड़े 'पुरी-श्रीनीलाचलधामकी पावन महिमा अभी समझ नहीं पाते हो तुम और यह भी नहीं समझ पाते कि यहाँ रहने के लिए जितनी शक्ति चाहिए हृदय में, वह इस क्षुद्र प्राणी में नहीं है। मैं श्री नीलाचल नाथ के श्रीचरणों में गिर जाना चाहता हूँ।'

बात बहुत बढ़ाने-जैसी है नहीं। प्रजाजनों को, परिजनों को, पुत्रों को दुःख तो होना था ही; किंतु समर-सिंह अपने निश्चय पर दृढ़ रहे। वे घर छोड़कर पुरी आ गये। अवश्य ही उन्होंने पुत्रों का यह अनुरोध स्वीकार कर लिया था कि शरीर-निर्वाह का व्यय वे पुत्रों से ले लिया करेंगे और पुरी में उनके निवास के लिए समुद्र की ओर बस्ती से दूर एक छोटी कुटिया भी उनके पुत्रों ने ही बनवा दी थी। बहुत अनुरोध करने पर भी कोई सेवक साथ उन्होंने नहीं लिया।

प्रातः समुद्र-स्नान करके समरसिंह श्री जगन्नाथजी के मन्दिर चले जाते थे और रात्रि में प्रभु के शयन होने तक वहीं रहते थे। लौटते समय निश्चित पुजारी उन्हें महा प्रसाद दे देता था और इसके लिए उसे समरसिंह के पुत्र मासिक दक्षिणा दे दिया करते थे। कुटिया पर लौटकर भगवत्प्रसाद लेते थे समरसिंह।

भगवद्धाम में निवास, भगवन्नाम का जप, केवल एक बार भगवत्प्रसाद-ग्रहण- किसी दूसरे से कुछ बोलने का कदाचित् ही अवकाश मिलता था समर सिंह को; परन्तु वे बोलते बहुत थे, जप कम करते थे और बोलते अधिक थे यह कहना अधिक उपयुक्त होगा। बोलते थे- प्रायः बोलते रहते थे गरुडस्तम्भन के पास बैठे-बैठे। रोते थे और बोलते थे- प्रार्थना करते थे, उलाहना देते थे, अनुरोध करते थे- परन्तु उनका यह सब केवल जगन्नाथ के प्रति था।

'तुम कृपण हो गये हो! मुझ एक प्राणी को तीर्थवास देने में तुम्हारा क्या बिगड़ा जाता है? मेरे लिए ही तुम इतने कठोर क्यों हो गये?' पता नहीं क्या-क्या कहते रहते थे समरसिंह। लेकिन उनका विषय एक ही था- तीर्थवास चाहिए उन्हें।

× × ×

'जो दूसरे को अपनी सन्निधि मात्र से पावन कर दे वह तीर्थ।' समरसिंह की यह परिभाषा उनकी अपनी नहीं है। तीर्थ की यह परिभाषा तो सभी शास्त्र करते हैं; किंतु समरसिंह की मान्यता है कि जब तक हृदय में काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, अहङ्कार आदि का लेश भी है, तीर्थ में रहकर भी तीर्थ की प्राप्ति नहीं हुई। यह समरसिंह की परिभाषा है, आप भी इसे मान लें यह मेरा कोई आग्रह नहीं; किंतु वह भला आदमी तो कहता है- 'देवता हुए बिना देवता नहीं मिलता। तीर्थस्वरूप बने बिना तीर्थ की प्राप्ति नहीं होती। केवल शरीर तीर्थ में चला गया या रहा, यह तीर्थवास नहीं है। तीर्थस्वरूप श्री जगन्नाथ जी के श्रीचरण हृदय में प्रकट हो जायँ तो तीर्थवास प्राप्त हुआ।'

एक अड़ियल ठाकुर ने एक भारी भरकम परिभाषा बना ली और उस पर अड़ा है। श्री जगन्नाथ जी तो हैं ही ऐसे कि उनके साथ उलटी-सीधी, सबकी सभी हठ निभ जाती है; किंतु जगद्‌गुरु श्रीशङ्कराचार्य इस बूढ़े क्षत्रिय को अपने सिंहासन के पास इतने आदर से बैठाकर उसकी बातें इतनी एकाग्रता से सुन रहे हैं, यह क्या कम आश्चर्य बात है-

'ठाकुर, तुममे काम, क्रोध, मोह आदि कोई दोष है कहाँ?' एक बार समस्त विद्वद्वर्ग चौंका। उनके सम्मुख जो यह पागल-सा बूढ़ा बैठा है वह वासनाशून्य-क्षीण-कल्मष है? जगद्‌गुरु तो कह रहे हैं- 'तुम तीर्थ में हो, कब से तीर्थवासी हो।'

'मुझे अभी भूला नहीं कि मैं क्षत्रिय हूँ, मैं जमींदार था। कोई अपमान करें तो कदाचित् मैं सहन नहीं कर सकूँगा और मेरे हृदय में श्रीजगन्नाथजी के दिव्यचरण...'

'नित्य विराजमान हैं वे दिव्यचरण तुम्हारे हृदय में। यह दूसरी बात कि उनकी उपलब्धि पिपासा को बढ़ाती रहती है।' आचार्यचरण वात्सल्यपूर्ण स्वर में कह रहे थे- 'समर सिंह! संयम, सदाचार, तितिक्षा, इन्द्रिय एवं मन का दमन तथा सतत भगवत्स्मरण जिसमें है, उसी ने तीर्थ को पाया है। उसी का तीर्थवास सच्चा तीर्थवास है, यह तुम ठीक कहते हो और इसीलिए तुम तीर्थवास कर रहे हो। तुम तीर्थ में हो और तीर्थ तुममें है। तुम्हारा दर्शन दूसरों को पवित्र करता है।'

'देव! प्रभो!' वृद्ध जैसे हाहाकार कर उठा। असह्य हो गया उसके लिए अपनी प्रशंसा को सुनना।

'श्री जगन्नाथ जी तुम्हारे हैं न?' जगद्‌गुरु ने प्रसङ्ग मोड़ लिया।

'नहीं क्यों होंगे।' समरसिंह के स्वर में क्षत्रिय का ओज आया- 'वे जगत् के नाथ हैं और मैं उनके ही जगत् का हूँ- मेरे नाथ तो वे हैं ही।'

'वे तुम्हारे हैं- इसीलिए तुम्हें तीर्थ नित्य प्राप्त हैं।' जगद्‌गुरु की व्याख्या समर सिंह से भी अद्‌भुत थी- 'भगवद् - विश्वास है तो तीर्थं सर्वत्र प्राप्त हैं और उन तीर्थरूप में विश्वास न हो तो प्राप्त तीर्थ भी अप्राप्त ही है।'

❑❑

पाठ

'मैं आज यह विवरण लिखने बैठा हूँ। क्यों बैठा हूँ? इसका एक ही उत्तर है कि यह उस महाशक्ति के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन का एक प्रयत्न है जिसने मुझे इस योग्य बनाया है कि मैं आज यह विवरण लिख सकता हूँ। अन्यथा इस विवरण को लिखने का कोई प्रयोजन मुझे दीख नहीं रहा है- न अपने लिए, न किसी ओर के लिए।

एक ग्रामीण कृषक का पुत्र। आप उसे अशिक्षित भले न कहें, सुशिक्षित वह नहीं था। अवश्य ही जन-गणना अधिकारी शिक्षा वाले कोष्ठक में उसमें नाम के सम्मुख भी कुछ लिख सकते थे, मात्र इतना ही। कोई प्रमाण पत्र उसके समीप किसी परीक्षा में उत्तीर्ण होने का नहीं। मातृ भाषा को प्रारम्भिक शिक्षा को शिक्षा कहने से आपका संतोष होता हो तो आप संतुष्ट अवश्य हो सकते हैं।

बात आज की नहीं है। वैसे आज भी कंगाल की संतति न शिक्षा पाने की अधिकारिणी है और न ठीक रीति से चिकित्सा प्राप्त करने की। रसरहित शिलाओं के मध्य भी कुछ तृण-तरुओं को बढ़ते-पनपते मैंने देखा है। विधाता का विधान जिसे जीवन-पोषण देना चाहता है, झंझा के प्रचण्ड थपेड़े भी उसका उन्मूलन नहीं कर पाते। केवल वृक्ष तृण-वीरुधों के लिए ही यह सत्य नहीं है, यह सत्य सभी प्राणियों के लिए है। वह स्वयं इस सत्य के प्रतीक रूप में ही जीवित था। अन्यथा निर्धन, एकाकी, अनाश्रित और उस पर भी जिसने झुकना न सीखा हो, संसार के निष्ठुर थपेड़े उसे अवश्य तोड़ फेंकते।

धन नहीं, स्वजन नहीं, उपार्जन नहीं और गर्व- भले कोई उसे आत्माभिमान कह ले, अन्य का आश्रय लेने नहीं दे तो क्या होगा? वही सब जो ऐसी अवस्था में सम्भाव्य है, हुआ।

तुम मुझे नहीं पढ़ाते? अच्छी बात! मैं तुम्हें पढ़कर दिखा दूँगा!' इस चर्चा में उद्धत गर्व है, उसे आप स्पष्ट देख सकते हैं।

पढ़ने की बहुत रुचि है। किंतु साधन तो नहीं ही थे, समझ भी नहीं थी- यही कहना चाहिये; क्योंकि कोई प्रारम्भिक शिक्षा भी प्राप्त न किये हो और उस विषय का उच्चतम ग्रन्थ ही पढ़ना चाहे तो उसमें समझ है, ऐसा आप मानेंगे?

उसने महाग्रन्थ पढ़ने की अभिलाषा की थी। एक विद्वान् से मित्रता थी। कहना

यह चाहिये कि वे उस पर अनुकम्पा करते थे। स्वाभाविक था कि पढ़ाने की प्रार्थना पर विद्वान् यही सम्मति देते- 'शिक्षा का प्रारंभ व्याकरण की सामान्य पुस्तक से कीजिये! धीरे-धीरे कुछ समय के श्रम के पश्चात् यह ग्रन्थ भी आप पढ़ सकेंगे।'

'मुझे तो यही पढ़ना है।' कोई बालक ऐसा हठ करे, आपके समीप क्या उपाय है? किसी विज्ञान की आठवीं कक्षा के विद्यार्थी को आप परमाणु-विज्ञान अथवा आइन्सटीन सिद्धान्त पढ़ा सकेंगे?

'अभी तो यह ग्रन्थ मैं नहीं पढ़ा पाऊँगा। इस उत्तर में कहीं अशिष्टता, उपेक्षा दीखती है आपको? कहा तो यह जाना चाहिये था कि 'तुम अभी इसे पढ़ने-समझने योग्य नहीं हो।'

उसका उद्धत 'अहं' वह अत्यन्त शिष्ट अस्वीकृति भी सहन करने को प्रस्तुत नहीं था। उसकी उत्तेजना- एक साधन एवं समझ से रहित की उत्तेजना का क्या अर्थ है? उसकी उत्तेजना पर लोग हँस दे, इसके अतिरिक्त और हो भी क्या सकता है।

× × ×

बात समाप्त नहीं हुई, बात समाप्त ही हो गयी होती तो यह विवरण ही क्यों लिखा जाता। सामान्यतः असमर्थ, साधन हीन की उत्तेजना पर लोग हँस देते हैं और बात समाप्त हो जाती है। वह कुछ दूसरी धातु से बना है। कुछ ऐसी धातु से, जिससे वे पौधे बनते हैं जो मरुस्थल में चट्टानों के - तपती चट्टानों के मध्य उगकर भी बढ़ते ही जाते हैं। जो लू में झुलसते नहीं और अधंड़ में टूटते नहीं।

'मैं तुम्हें इसका पाठ सुनाऊँगा। तुम मुझे इसे पढ़ा देना।' किसी से पूछना-सीखना तो उसके स्वभाव में ही नहीं। मनमानी विधि और उसने मनमाना फल चाहना-सर्वथा असङ्गत बात है; किंतु किसी का यह स्वभाव ही हो गया हो तो आप उसका क्या कर लेगें? आप उसकी सफलता-असफलता के कोई ठेकेदार हैं?

कहीं से वह एक छोटा-सा चित्र ले आया था। चित्र श्रीकृष्ण का था और वह उस चित्र में जो चित्रित था, उससे-निश्चय ही उससे एक अनुबन्ध कर रहा था। चित्र से अनुबंध नहीं किया जा सकता, इतनी समझ उसमें थी। अब आप पूछें कि चित्र में जो चित्रित था, उसने ऐसे किसी अनुबन्ध की इच्छा की थी? उसे ऐसे किसी सौदे की आवश्यकता थी? उसने स्वीकृति दी। इस अनुबन्ध को? इस सबकी उसने आवश्यकता ही नहीं समझी। उसने अनुबन्ध सुनाया और मान लिया कि वह पक्का हो गया।

आप बुद्धिमान् हैं, विद्वान हैं, शास्त्रज्ञ हैं। आपसे कोई ऐसा अनुबन्ध करने आये तो उसे फटकार कर भगा देंगे, यह ठीक है। आप ऐसे अनुबन्ध की एक पक्षीयता के कारण उसे सर्वथा अनुचित मान लें, यह योग्य ही है। किंतु आप कदाचित् नहीं जानते

कि गोप का बालक इतना चतुर, विद्वान् नहीं हुआ करता। बाबा नन्द का लड़का इस सम्बन्ध में बहुत भोला है। उससे कोई अनुबन्ध- नहीं, वह कहाँ मिलेगा कि आप उससे अनुबन्ध करेंगे। उसको देखा किसने है कि उसका वास्तविक चित्र या मूर्ति बनेगी। किसी चित्र, किसी मूर्ति को अपना मान ले कि वह उसका चित्र या मूर्ति हैं- वह झट 'हाँ' कर देगा। आप कहिये- 'यह तू है।' वह यशोदा का लाड़ला इतना सरल है कि झट कह देगा- 'हाँ यह मैं हूँ।'

अनुबन्ध की बात- उस भोले बालक से अनुबन्ध कर लेना क्या कठिन है। किसी चित्र-मूर्ति के साथ आप अनुबन्ध कर लें। आपका मन पक्का तो अनुबन्ध पक्का।

'यह अनुबन्ध मैंने किया तेरे साथ। स्वीकार है तुझे?

यह भी पूछने की आवश्यकता कहाँ है। आपने स्वीकार किया तो उसे पता लगता है कि उसको स्वीकार करना ही पड़ेगा। अस्वीकार करना उसे केवल तब आता है, जब अस्वीकृति में आपका सिर हिलता है। कहा न कि वह बालक है- बहुत भोला गोप-बालक, अतः उसे तो केवल अनुकृति आती है। वह आप अनुकरणमात्र करता है।

उसने उस चित्र में जो चित्रत था, उससे अनुबन्ध कर लिया। उसने अनुबन्ध कर लिया। अतः अनुबन्ध तो हो गया। पक्का था वह, अनुबन्ध भी पक्का। उसे आवश्यकता थी पढ़ने की, पाठ सुनने वाले को आवश्यकता थी सुनने की या नहीं, यह उसने नहीं सोचा। क्या यह सोचना आवश्यक नहीं है?

महाग्रन्थ का पाठ-एक अध्याय को सामान्य स्वर से शीघ्र गति से चार-छः मिनट में पढ़कर सुना देना उसने प्रारम्भ किया उस दिन से। बस, पढ़कर सुना देना-सुना देने का ही तो उसने अनुबन्ध किया था। पढ़ा देने का काम तो पाठ सुनने वाले का था। दूसरे के कर्त्तव्य का भार वह अपने सिर क्यों ले? उसने पाठ किया और ग्रन्थ बन्द करके धर दिया। वह अर्थ समझकर पाठ करें, पीछे टीका, व्याख्या देखे, पीछे समझने का प्रयत्न करे - क्यों करे यह सब? यही सब वह करे तो पढ़ाने वाला क्या करेगा? उसने यह सब कभी नहीं किया।

आपको कोई ऐसा छात्र मिल जाय तो? डरिये मत! ऐसा छात्र अपने योग्य शिक्षक ढूँढ़ लेता है। जैसा गर्विष्ठ,अनुत्तरदायी छात्र, वैसा ही निपट सरल शिक्षक। वह पाठ तो अब भी सुनाता ही जाता है।

'मैं पाठ कहाँ करता हूँ। एक बार किसी ने उससे उसके नित्य पाठ का प्रयोजन-फल तथा पाठ करने की विधि पूछी तो बोलो- 'मुझे पाठ करने की विधि क्यों चाहिए? मैं तो पाठ सुनाता हूँ। पाठ की कोई विधि है तो सुनने वाला उसे कर लिया करेगा।'

उसके पाठ सुननेवाले के लिए कोई विधि कहीं आपको मिली है?

× × ×

पाठ स्थिर बैठकर, बिना सिर या शरीर हिलाये स्पष्टोच्चारणपूर्वक किया जाना चाहिये। मौन पाठ, गाकर पाठ, सिर हिलाकर पाठ, अर्थ न समझकर पाठ, अशुद्ध पाठ, आतुरता पूर्वक या उपेक्षा से पाठ- ये दोष हें पाठ करने के। ये बातें उसे बहुत पीछे ज्ञात हुईं। वैसे वह पाठ सुनाता है, अतः स्थिर बैठकर, स्पष्ट उच्चारण करके सुनाता है। मौन पाठ करेगा तो सुनायेगा कैसे? गायन उसे आता नहीं और पाठ सुनाना है तो शुद्ध पढ़ना चाहिए। अवश्य अर्थ समझने की उसने चिन्ता नहीं की। अर्थ पाठ सुनने वाला समझ लें, ये क्या पर्याप्त नहीं है?

'मेरे आचार्य जी यह ग्रन्थ पढ़ा नहीं पाते। आप क्या पढ़ा देंगे मुझे?' एक दिन एक विद्यार्थी आ गया उसके समीप। उच्च कक्षा का एक ग्रन्थ था उसके हाथ में। पता नहीं क्यों विद्यार्थी ने उसे विद्वान समझ लिया था।

'कल से आइये।पढ़ा दूँगा।' बिना हिचके उसने विद्यार्थी को समय दे दिया। जो ग्रन्थ आचार्य नहीं पढ़ा पाते, उसे वह कैसे पढ़ा देगा? उसने तो उस देवभाषा का कभी श्रीगणेश भी नहीं जाना। किंतु यह सब उसने सोचना आवश्यक नहीं समझा।

'मैं तुझे वर्षभर से पाठ सुना रहा हूँ और तू मुझे इतना भी नहीं पढ़ा सका कि यह जरा-सी पुस्तक मैं इसे पढ़ा दूँ?' बड़ी झल्लाहट-बड़ा क्रोध अन्तर में उबला।

जिसे परीक्षा देना था, वह विद्यार्थी तो पढ़ने आता ही। पुस्तक लेकर वह समय से कुछ पहले आ धमका था। पुस्तक हाथ में ली और खोलकर देखी। कुछ समझ में नहीं आया तो वह झल्ला उठा। नेत्र बन्द करके वह मन-ही-मन बिगड़ा- यह कोई बात है कि वह वर्ष भर से एक अनुबन्ध का दृढ़ता से पालन कर रहा है और दूसरा उसके अपने अंश का पालन न करें! उसका क्रोध अनुचित था, यह कोई कह कैसे देगा।

'अरे!' उसने दो क्षण में नेत्र खोले। उसे झल्लाहट में ही उस पुस्तक के खुले पृष्ठ पर दृष्टि गयी और वह चौंक गया। उसने जिससे अनुबन्ध किया है, उसने अपने कर्तव्य-पालन में तो कहीं भी शिथिलता नहीं की है। व्यर्थ ही उस पर रूष्ट हो रहा था। यह पुस्तक तो वह बड़ी सरलता से पढ़ा सकता है। पुस्तक पढ़ाने में जुट गया वह। मत कहिये कि उसने पढ़ा नहीं। उसको पढ़ाने वाला अद्भुत है, केवल यह आप कह सकते हैं।

× × ×

'रामायण, गीता, भागवत तो कल्पवृक्ष हैं!' एक महापुरुष ने एक बार कहा- 'ये ग्रन्थ नहीं हैं। ये तो भगवान् के साक्षात् स्वरूप है! उनका वाङ्मय श्रीविग्रह इन रूपों में है। जो जिस इच्छा से इनका आश्रय लेता है, उसकी वह इच्छा इनसे पूर्ण होती है।'

इस विवरण के संदर्भ में महापुरुष का यह वाक्य सहज स्मरण हो आया। कल्पवृक्ष का आश्रय-अच्छा, उसने कल्पवृक्ष का आश्रय लिया तो आपके लिए भी तो वह कल्पवृक्ष अलभ्य नहीं है।

❑

भाग –5

पूजा

'यह तुम क्या कर रह हो?'

'पूजा कर रहा हूँ।'

'किसकी पूजा ?'

'बाघ देवता की।'

'बाघ भी देवता होता है?'

'क्यों? क्या भवानी बाघ पर बैठती नहीं? मैंने तो अपने बूढ़े बाप से ऐसा ही सुना है।'

'बैठती तो हैं।'

'तब फिर?'

'तुम भवानी की ही पूजा क्यों नहीं करते?'

'उनकी पूजा तो पण्डित करते हैं। मैं तो भील हूँ। भवानी तो संसार की महारानी हैं। मेरा बाप कभी राजधानी जाता था तो बड़ी कठिनाई से उसे महाराज के घोड़े के पैर मलने को मिलते थे।'

'लेकिन तुम तो बाघ भी पाल सकते हो। बाघ की मूर्ति क्यों पूजते हो?'

'जङ्गल के जीव को बाँधकर रखूँगा तो वह दुःखी होगा। उसके लिए रोज-रोज बकरा या हिरन मारना पड़ेगा। भवानी का बाघ कैसा है, मैंने यह देखा तो है नहीं। जङ्गल का कोई बाघ बाँध लेने से लाभ भी क्या?'

'बाघ की इस मूर्ति की पूजा करने से क्या लाभ होगा?'

'बाघ-बाघ सब देखने में एक-जैसे होते हैं। भवानी सुना है कि पर्वत की पुत्री हैं। बाघ पर बैठती हैं तो नगर में तो घूमती नहीं होगी। जङ्गल-पहाड़ में घूमने वाली वे देवी कभी इधर से भूले-भटके निकलेंगी तो उन्हें लगेगा अवश्य कि यहाँ कोई दीन जङ्गली उनके बाघ की मूर्ति पूजता है।'

'वे प्रसन्न हो जायँ तो तुम उनसे क्या माँगोगे?'

'मैं भला क्या माँगूँगा उन सारे संसार की महारानी से, उनका दिया ही तो है मेरा

यह देह। इस नीच जात को एक बार दूर से वे दीख जायँ- मैं उनके चरणों को दूर से पृथ्वी में सिर रखकर प्रणाम कर लूँ, बस !'

'किंतु तुम्हारी यह पूजा कैसी है? तुम तो बाघ पर चढ़े बैठे हो !'

'महाराज ! मैं इस पर बैठा कहाँ हूँ? वर्षा का पानी पड़ते रहने से काई लग गयी है इस पर। इसकी पीठ रगड़कर साफ कर रहा हूँ। राजा के घोड़े को भी रगड़कर साईस नहलाता है, यह मैंने देखा है। इसे साफ कर लूँ तो फिर पत्ती, फूल, चिड़ियों के पङ्ख और गुंजा से इसे ऐसा सजा दूँगा कि भवानी देखें तो प्रसन्न हो जायँ ! कहीं वे एक पल इस बाघ पर बैठ जायँ तो मैं सब पा गया।'

'भाई ! तुम एक कृपा करोगे मुझ पर?'

'महाराज ! आप मुझे क्यों नरक में डालते हैं? मैं नीच भील आप महात्मा पर भला कृपा करूँगा? आप साधु-महात्मा हो। आप कोई आज्ञा करो तो अभी दौड़कर पूरा करूँगा। आपको कोई कन्द चाहिए? कोई जड़ी चाहिए? कोई हिरन या बाघ का चमड़ा चाहिए तो आज्ञा करो।'

'यह सब तो मुझे नहीं चाहिए। मुझे लगता है कि देर-सवेरे जगन्माता भवानी यहाँ आयेंगी अवश्य। वे यहाँ आये बिना रह नहीं सकतीं।'

'हाँ महाराज ! वे जङ्गल में ही घूमती हैं तो कभी-न-कभी इधर भी आयेंगी, मुझे यह पक्का भरोसा है।'

'वे आयेंगी और तुम्हारे इस बाघ पर बैठेंगी भी।'

'सच महाराज? आप महात्माओं की बात झूठी नहीं होती। अब मैं इस बाघ को सजाया करूँगा। रोज-रोज सजाऊँगा।

'सो तो तुम करोगे, किंतु वे आयें तो उनसे प्रार्थना करना कि वे मुझे भी दर्शन देने का अनुग्रह करें।'

'महाराज ! वे सारे संसार की महारानी- उनके सामने मुझसे बोला जायगा? मैं तो दूर से छिपकर उनके चरण देखूँगा। इस नीच के ऊपर उनकी दृष्टि पड़े, इतना साहस मैं कैसे करूँगा?

'तुम मन में ही प्रार्थना कर लेना !'

'हाँ, यह कर लूँगा। वे मन की बात जान लेती हैं, यह बापू कहता था।'

× × ×

मल्लिकार्जुन का वन कुछ वर्षों पूर्व तक अगम्य था, आज भी उस वन में शेरों की

उन्मुक्त क्रीड़ा चलती है। इक्का-दुक्की की बात छोड़िये, दस-बीस यात्री भी वहाँ नहीं जा सकते थे। वहाँ की यात्रा तो केवल शिवरात्रि पर होती थी, जब सशस्त्र पुलिस पूरे मार्ग में नियुक्त होती थी। यह कथा तो शताब्दियों प्राचीन है। तब तो वह और भी गहन था। बस तो वहाँ अब जाने लगी है, जब कुछ वर्ष पूर्व पक्की सड़क बनी है।

भील सदा से अरण्य-पुत्र है। घोर कानन में उनके झोंपड़े आज भी हैं। वन के हिंस्र पशुओं से उनका पारिवारिक-जैसा सम्बन्ध होता है। वन में खाली हाथ भील उतना निर्भय होता है, जितना राइफल भरा निपुणतम शिकारी भी नहीं होता।

सूखे पशुओं की ढेरी के समान गुम्बद के आकार वाले परस्पर सटे थोड़े-से झोंपड़े होते हैं भील-पल्ली में। कोई ऊपर हवाई जहाज से देखे तो लगे कि भेड़ों का झुण्ड परस्पर सटा बैठा है। मिट्टी की कच्ची दीवारें, कहीं-कहीं अनगढ़ पत्थर चुनकर वे बनी होती हैं; किंतु इतनी नीची कि आधी से अधिक ढालुवाँ फूस के छप्पर से छिपी रहती हैं। पूरे ग्राम को घेरकर एक ऊँची, घनी कँटीली बाड़ अवश्य होगी और उनमें प्रवेश का एक एक संकीर्ण मार्ग होगा, जो रात्रि में टट्टर बन्द किया जाता होगा। वन में रहना है तो वन के रात्रिचर क्रूर पशुओं से अपनी, अपने परिवार की, अपने पशुओं की रक्षा की व्यवस्था तो रखनी चाहिए।

मल्लिकार्जुन के वन में ऐसी ही एक भील-पल्ली के बाहर मिट्टी के ऊँचे चबूतरे पर पत्थर से बनी एक बाघ की मूर्ति थी। मूर्ति इतनी बड़ी थी कि एक ऊँचा पूरा बाघ भी उससे तनिक छोटा ही होगा; किंतु भीलों के हाथों ने उसे गढ़ा था। आप मूर्तिकला की बात करें तो वह वहाँ नहीं चलेगी। अवश्य ही वह मूर्ति चाहे जितनी भद्दी हो, बाघ की मूर्ति है- यह देखने वाले को लग जाता था।

उस दिन एक भील युवक मूर्ति की पीठ पर बैठा उसे रगड़-रगड़कर धो रहा था। उधर से एक साधु निकले तो उन्हें कुतूहल हुआ।

निकटतम नगर, जो इस वन के समीप है, लगभग पाँच-छः योजन दूर है। ये महात्मा लोग बड़ अटपटे होते हैं। अब देखिये कि ये साधु महाराज सिंह, बाघ, भेड़िये, चीते और उनसे भी भयानक, क्रूर भीलों से भरे इस वन में नगर से दो योजन दूर आ टिके हैं एक पहाड़ी पर। भील अब इन्हें सिद्ध मानें तो आश्चर्य क्या। सुना यह है कि इनकी उस टेकरी पर बाघ-चीता कोई नहीं चढ़ता। जङ्गल के कंद, फल, पत्ते छोड़कर वहाँ धरा क्या है। अवश्य ही भील इन्हें मधु, कंद आदि पहुँचा दिया करते हैं।

'यहाँ पूजा ठीक हो जाती है।' साधुओं की बात वे ही जाने। वैसे कभी इन महात्माजी जी को किसी ने पूजा करते देखा नहीं। ये तो प्रायः वन में, और वह भी नगर की दिशा से आने वाला मार्ग जहाँ ऊँचे पठार पर लुप्त हो गया है, घूमते रहते हैं।

'बाबा! आप रात्रि में पूजा करते हो?' एक बूढ़े भील ने एक दिन पूछा था। दिन में जो पूजा नहीं करता और अच्छी पूजा की बात करता है, वह रात में पूजा करता होगा, यही तो कोई सोचेगा।

'बड़े दयामय हैं भगवान् शिव। वे नाना रूपों में पूजा लेने आ जाते हैं।' भील की समझ में कुछ नहीं आया। उसे बस लगा कि रात्रि में अवश्य शिव भगवान् साधु के समीप आते होंगे।

साधु तो दिनभर भटकते हैं। प्राय: पठार पर भूले-भटके यात्री मिल जाते हैं उन्हें। उनको वे अपनी कुटिया पर ले आते हैं। रात्रि में कोई भूल जाय पठार पर मार्ग-भील भी रात्रि में तो वहाँ बचे रहने की आशा नहीं कर सकता। ये महात्मा जी ही आश्रय हैं ऐसे मार्गच्युत पथिकों के। बड़े स्नेह-सम्मान से सत्कार करते हैं। यही उनकी पूजा है; किंतु भील इस पूजा को कैसे समझ सकता था।

× × ×

'महाराज! आपका आशीर्वाद सफल हुआ! ढ़ेर से कंद, फल और पूरा बड़ा छत्ता मधु का लिये भील युवक महात्मा की टेकरी पर उस दिन पहुँचा। उसके पैर ठिकाने नहीं पड़ते थे। वह जैसे उन्मत्त हो रहा था।

'क्या? कैसा आशीर्वाद?' महात्मा किसी को आशीर्वाद देते नहीं। इस युवक को उन्होंने कब आशीर्वाद दिया, उन्हें स्मरण नहीं।

'माता भवानी आयी थीं कल! वे मेरे उस बाघ पर कूदकर बैठ गयीं। देर तक बैठी रहीं।' वह जैसे हर्षोन्माद में कह रहा था।'वे अपना बाघ, लगता है, घर छोड़ आयी थीं। मेरा बाघ दीखा तो प्रसन्न हो गयीं।'

'भवानी आयी थीं? वे आयी कैसे थीं?

'वे क्या अकेली आयी थीं? उनके साथ तो तीन आँखवाले, चन्द्रमा सिर पर पहने, सर्प लपेटे बाबा भी थे। दोनों बैल पर चढ़े आये थे। मेरा बाघ दीखा तो महारानी बैल पर से कूदकर उस पर बैठ गयी।'

'तुम कहाँ थे?'

'मैं क्या इस नीच देह को लेकर उनके सामने जाता? मैं तो पेड़ के पीछे छिपा देख रहा था। महारानी हँस रही थीं।' सहसा चौंककर वह बोला- 'मैंने मन में प्रार्थना तो की थी कि वे आपके यहाँ आयें। वे इधर आये भी थे। आप मिले नहीं क्या?'

'वे उमा-महेश्वर थे' साधु अब चौंके। कल सायं एक वृद्ध दम्पत्ति उनको पठार पर

मिले थे। उनके साथ एक बूढ़ा बैल था। रात्रिभर वे इस कुटिया में रहे। यह वन और उसमें वृद्ध दम्पत्ति! इस घोर वन में बूढ़ा बैल साथ में– क्यों इन बातों पर ध्यान नहीं गया?

'अतिथि मात्र उन महेश्वर के रूप हैं, यह मानकर मैं पूजा कर रहा था। वे अतिथि होकर आये; किंतु....' देर लगी साधु को प्रकृतिस्थ होने में। भरे कण्ठ से वे बोले– 'तुम्हारा सहज विश्वास कहाँ था मुझमें कि मैं उन श्रद्धा–विश्वास स्वरूप को पहचान पाता?'

× × ×

मैंने अनेक वन्य ग्रामों के बाहर व्याघ्रमूर्ति देखी है। ग्रामीण उस मूर्ति की पूजा करते हैं। नहीं जानता कि व्याघ्र मूर्ति की पूजा–परम्परा उस भील युवक की श्रद्धा से प्रारम्भ हुई, अथवा इसमें कोई और भी रहस्य है।

जप

'जपात्सिद्धिर्जपात्सिद्धिर्जपात्सिद्धिः कलौ युगे।'

महात्मा ने इतना कहा और चुप हो गये। उनका स्वभाव ही बोलने का नहीं है। धन के कृपण तो बहुत सुने-देखे; किंतु ये वाणी के कृपण हैं। पता नहीं, इन्हें बोलने में क्या जोर लगता है। नीम के नीचे बने कच्चे चबूतरे पर गुमसुम बैठे रहेंगे या लेट जायँगे। पता नहीं, नीम की पत्तियों में इनके नेत्र क्या ढूँढ़ते रहते हैं।

'शीतल छाया नीम की' सुना मैंने भी है। नीम में बहुत गुण हैं, यह भी बहुतों से सुना है। इतना ही नहीं, बचपन में मैंने अपने द्वार पर बहुत बार नीम का पेड़ लगाया। उनमें लग गया एक खूब सघन हुआ। मुझे बहुत प्रिय था वह; किंतु अब मुझे नीम से चिढ़ हो गयी है। यह वृक्ष वर्ष में कई महीने कूड़ा किया करता है। पतझड़ में पत्ते झड़ेंगे, फिर फूल, सींकें और तब निमौलियाँ। कहीं इससे कभी आसवस्राव होने लगा तो दूर तक कड़वी गन्ध बैठने नहीं देगी।

इन साधुओं को तो सब सहने में कुछ मजा आता है। पत्ते झड़ें ऊपर, वहाँ तक तो एक बात है; किंतु पटापट निमौलियाँ कौवे खोपड़ी और शरीर पर गिरा रहे हैं और बाबाजी हैं कि उन्हें उधर ध्यान देने की आवश्यकता ही अनुभव नहीं होती। चुपचाप दृष्टि लगाये पत्तों में कुछ देखते रहेंगे। कोई आवे, कोई जाय, इनकी बला से।

लोग आर्त हैं, संसार में दुःख ही तो अधिक है। जहाँ हरियाली दीखती है, क्षुधातुर पशु उधर ही भागता है। सब शोक-चिन्ता से मुक्त साधु के समीप क्लेश से निवृत्ति पाने का उपाय नहीं होगा तो कहाँ होगा? लोग आते हैं, अपना दुःख रोने ही आते हैं। ये महाराज सुनते भी हैं या नहीं, पता नहीं; किंतु लोग तो अपनी कह ही लेते हैं। घण्टों लोग बैठे रहते हैं कि ये कुछ बोले। एक दिन, दो दिन में कहीं एक बार इनका मुख खुलता है। कोई आवश्यकता नहीं कि किसी की ओर देखकर, किसी की बात का उत्तर ही दें। कुछ कह देंगे दो-चार शब्द और फिर चुप। गाँव के लोगों ने इनका नाम गुमसुम बाबा ठीक ही रक्खा है।

धूलि से लिपटा गौर वर्ण, स्थूल काया, बड़े-बड़े तनिक अरुणाई लिये नेत्र, उलझे केश, जिनमें एक-तिहाई श्वेत हैं और जो शेष हैं वे भी काले नहीं, भूरे हो गये

हैं। खूब सघन दाढ़ी-मूँछ से मुख का अधिक अंश ढक गया है। कमर में एक मैली कौपीन पड़ी है।

गाँव के लोग रोटी, दाल, छाछ, जो जी में आया, ले आते हैं। इच्छा हुई तो खा लेंगे, न इच्छा हुई तो पड़ा रहेगा। कुत्ते या कौओं का भाग है वह। गाँव के लोग ही आस-पास सफाई कर देते हैं। एक करवा अवश्य समीप पड़ा रहता है। उसे लोग जल से भरा रखते हैं।

दिन-रात में एक बार उठते हैं चबूतरे से। बड़े सवेरे, अँधेरा रहते ही उठते हैं और बच्चों के समान भागते-भागते दौड़ते चले जाते हैं। गाँव से लगभग मीलभर दूर एक छोटा सरोवर है। वहीं इनका नित्यकर्म पूरा होता है। सरोवर में डुबकी लगाकर गीली लंगोटी ही पहने दौड़े आयेंगे और फिर चबूतरे पर जम जायँगे।

कभी कोई भूला-भटका परमार्थ का जिज्ञासु भी आ जाता है। संसार के लोगों को वैसे ही 'नून-तेल-लकड़ी' की चिन्ता से अवकाश नहीं। पशु प्राय मनुष्य क्षुधा, शरीर के रोग और संतति से आगे बढ़ा तो अटक गया। मान-अपमान को लेकर। इस पशुता की निद्रा से जगने वाले थोड़े ही होते हैं; किंतु होते तो हैं ही। कभी-भी इस ग्रामीण क्षेत्र में भी ऐसे एकाध प्रबुद्ध पहुँच जाते हैं। जो माया की मोहिनी को ठेंगा दिखा चुका है, उसी के समीप तो भवाटवी में भटका पान्थ पथ पूछने पहुँचेगा।

'जपात्सिद्धिः' ये महात्मा हैं कि पूरा श्लोक भी बोलने का कष्ट नहीं करेंगे। कोई योग पूछे या वेदान्त, भक्ति पूछे या ध्यान- ये एक ही उत्तर जानते हैं। यही क्या कम कृपा है कि जिज्ञासु आवे तो इतना बोल देना चाहिए, यह इनकी समझ में आ गया है। अन्यथा तो ये ठहरे गुमसुम बाबा

× × ×

'मन तो जप में लगता नहीं।' एक दिन एक जिज्ञासु ने इनके पैर पकड़ लिये। साधु यदि अक्खड़ होता है तो जिज्ञासुओं में भी एक-से-एक बीहड़ निकल आते हैं। पैर खींचा, झटका, किंतु नहीं छोड़ा उसने। अब क्या कर लोगे उसका?

'किसने कहा कि मन लगना ही चाहिए?' अन्ततः गुमसुम बाबा बिगड़कर बोले- 'मन तेरे हाथ में नहीं तो उसे लगा देने को तुझसे कहे, वह मूर्ख! उसे लगाने का प्रयत्न ही तू कर सकता है। जीभ लगाता है? जीभ को चैन से मत बैठने दे! भाग जा!'

मुझे यह जिज्ञासु अच्छा लगा। शौर्य किसे अच्छा नहीं लगता। गुमसुम बाबा से भी जो लोग इतना कहला ले सके, उसमें शौर्य नहीं है, यह कोई कैसे कह देगा। इच्छा हुई कि उससे बात की जाय। बुलाने पर वह मेरे समीप आ गया। बहुत सरल, सुप्रसन्न

और भला लगा मुझे।

'ये संत हैं। संत क्रोध नहीं करते और कभी करें भी, उससे प्राणी का हित ही होता है।' उसने कहा– 'संतों से भय कैसा? इनके द्वारा किसी का कोई अमङ्गल हो ही नहीं सकता।'

'जीभ को चैन से मत बैठने दे।' गुमसुम बाबा की यह बात मुझे अटपटी लगी थी। 'तुम्हें चैन से रहना है तो जीभ को बेचैन बनाये रक्खो।' यही तो इस वाक्य का दूसरा रूप हुआ? किसी-न-किसी को बेचैन रहना चाहिए और बाबाजी को इसके लिए मिली बेचारी जीभ।

'यही बात बूढ़े तिब्बती लामा ने भी कही थी।' वह जिज्ञासु बोला– 'उसके कहने का ढंग दूसरा था; किंतु बात यही कहीं उसने भी।'

'आप तिब्बत गये थे?' मैंने पूछा।

'अब तिब्बत नहीं जाया जा सकता और जाया भी जाय तो चीनी सैनिकों की संगीनों का आतङ्क क्या वहाँ किसी को सत्सङ्ग करने देगा? वहाँ अब किसी सिद्ध या साधन निष्ठ को पा लेना अशक्यप्राय है।' उसने बताया– 'मैं ग्रीष्म में कुलूघाटी में गया था। घूमने के विचार से आगे स्पीति तक चला गया। उस ओर तिब्बत के प्रवासी इन दिनों बहुत आ गये हैं।'

'ॐ मणि पद्मे हुं' यह तिब्बती लामाओं का मन्त्र है। पत्थरों पर, सींगों पर, धातु के टुकड़ों पर– जहाँ-तहाँ यही मन्त्र लिखा, खुदा तिब्बत में दीखता था कुछ वर्ष पूर्व। अब जहाँ तिब्बती प्रवासी आ गये हैं, वहाँ इसे उनकी भाषा में लिखा देखा जा सकता है।

ताम्र-गौर रङ्ग, कपोल की उभड़ी अस्थि, छोटे नेत्र, भ्रू पर नाममात्र के केश, ऐसे ही दाढ़ी-मूँछ के नाम थोड़े-से बाल, सिर के केशों की रङ्गीन उनके सहारे गूँथी गयी चोटी, यह वर्णाकृति तिब्बती की चर्चा आते ही मन में आ जाती है। कोई लामा है तो उसके हाथ में एक चर्खी हो सकती है– आवश्यक नहीं कि सदा रहे। उसे वह प्रायः घुमाता रहेगा। उस चर्खी पर उनके मन्त्र 'ॐ मणि पद्मे' की कुछ आवृत्तियाँ लिखी होती हैं। वृद्ध तिब्बती का ललाट और मुख गहरी झुर्रियों से भरा होगा। पता नहीं क्यों तिब्बत के वृद्धों के मुख पर इतनी गहरी झुर्रियाँ होती हैं, जो भारत में बहुत ही कम देखने में आती हैं।

'मुझे स्पीति में वह लामा मिल गया। झुर्रियों ने उसके लम्बे ताम्रमुख को भव्य बना दिया था। वह अपने हाथ की चर्खी घुमाए जा रहा था।' उस जिज्ञासु ने मुझे बतलाया– 'मैंने पूछा तुम यह क्या कर रहे हो?'

लामा बहुत कम हिंदी जानता था। लगता था कि भारतीय लोगों के सम्पर्क में पहले भी रहा है; क्योंकि हिंदी समझ लेता था। अपनी टूटी भाषा में आकाश की ओर

संकेत करके बोला– 'उसके लिए करता हूँ।'

'उसे तुम्हारे यह करने से क्या लाभ?'

'कुछ नहीं' यह हाथ के संकेत से समझाकर फिर हाथ–की अंगुली अपनी वक्ष पर रखकर संकेत भूमि की ओर किया गया। वह कहना चाहता था– 'मैं बहुत छोटा हूँ।' कहा उसने यह– 'उसके लिए जो कर सकता करता।'

'मैं क्या करूँ उसके लिए?'

लामा एक क्षण चकित–सा देखता रह गया। उसे आशा नहीं थी कि कोई भारतीय उससे ऐसा प्रश्न करेगा। उसने हाथ जोड़े, सिर झुकाया और हाथ हिला दिया। मैं समझ गया कि वह अपना पिण्ड छुड़ाने के लिए कह रहा है– 'आप बड़े हैं, प्रणम्य हैं, मैं आपको कुछ नहीं कह सकता।'

'लामा जी, ऐसा मत कीजिये! मुझे बतलाया गया है कि आपमें बहुत शक्ति है। आप हिमपात और अन्धड़ को कई–कई दिन के लिए रोक सकते हैं। यह शक्ति आपने कैसे पायी?'

लामा ने आकाश की ओर संकेत करके फिर अपनी चर्खी की ओर संकेत कर दिया। यह क्या विश्वास करने योग्य बात है कि कोई केवल चर्खी घुमाते रहने से इतना सिद्ध हो जागया? अतः मैंने पूछ लिया– 'केवल इसे घुमाते रहने से उस ऊपर वाले ने आपको यह शक्ति दे दी?'

लामा ने फिर ऊपर की ओर संकेत किया, सिर झुकाया। लेकिन इसके साथ उसने अपनी जीभ भी हिलाकर दिखायी। चर्खी के साथ जीभ भी हिलायी गयी है, यह बात वह कहना चाहता था।

'आप पर उसकी कृपा है। आप मुझे कुछ बतलाइये। मैं भी इसी प्रकार की चर्खी ले लूँ?'

'नहीं!' उसने हाथ हिलाकर मना किया। जीभ दिखाकर, हिलाकर उसने हाथ से संकेत किया– 'जीभ हिलाना पर्याप्त है!' फिर जीभ दिखाकर बोला– 'बंद नहीं!'

'यह कैसे हो सकता है? भोजन करना होगा, पानी पीना होगा, सोना होगा और लोगों से बोलना भी होगा।'

'खाना, पानी' लामा ने संकेत से भोजन, जल पीने सो जाने का समर्थन कर दिया और बोला– 'बोलना कम!'

अर्थात् भोजन करो, पानी पीओ, सोओ और लोगों से कम बोलो। शेष समय जीभ हिलती रहे, यह उसने संकेत से समझाया।

'जीभ केवल हिलाना है या कुछ बोलते रहना है?'

'नाम' ऊपर संकेत करके बतला दिया कि उनका नाम लेते रहो।

'कौन-सा नाम?'

'इससे मुझे आप-जैसी सिद्धि मिल जायेगी?'

'कुछ नहीं' संकेत से कहा गया था कि यह कुछ नहीं है। 'मत' अर्थात् इसे मत चाहो। 'वह' दोनों हाथ ऊपर करके फिर उसने ऐसे बाँधे जैसे किसी को अङ्कमाल दे रहा हो।

'मन हमारे वश में न सही, जीभ हमारे वश में है।' वे जिज्ञासु महोदय जाने की शीघ्रता में थे। उन्होंने अपनी बात यह कहकर समाप्त कर दी- 'ये महापुरुष भी यह कहते हैं कि जीभ को निष्क्रिय मत रहने दो। जब भी दूसरा काम न हो, जीभ भगवन्नाम लेती रहे। इस जपसे ही सिद्धि- अभिलषित की प्राप्ति हो जायगी।

❑❑

कथा

कृपया जो जहाँ हैं, वहीं बैठ जायँ! आगे आने का प्रयत्न न करें!'

बार-बार यह घोषणा होती थी और यह आवश्यक भी है; क्योंकि श्रद्धा के आवेग में लोग व्यासपीठ तक पहुँचकर वक्ता को स्वयं पुष्प, पुष्पमाला चढ़ाना, अपनी भेंट व्यासपीठ पर अर्पित करना और कुछ न हो तो वक्ता को समीप जाकर प्रणाम करना आवश्यक मानते हैं।

'पुण्य लूटने के प्रयत्न में पाप मत कीजिये! आप कथा में बाधक बनेंगे तो पाप होगा। आप दूसरों को धक्का देते, पैर से स्पर्श करते आगे आयेंगे तो पाप होगा।' बीच-बीच में जब आवश्यक लगता, वक्ता स्वयं भी यह घोषणा कर देते थे।

व्यासपीठ तक पहुँचने, वक्ता को प्रणाम करने, वहाँ भेंट या पुष्प चढ़ाने के आवेश में लोग देखते ही नहीं कि उनके इस प्रयत्न से कथा-प्रवचन में बाधा पड़ती है। दूसरो-को धक्का देते, कुचलते आगे बढ़ना भी दोष है, यह वे समझना ही नहीं चाहते।

कुछ लोग आवश्यकता से अधिक चतुर होते हैं। चतुर वे अपने को मानते हैं, केवल इसलिए चतुर; अन्यथा ऐसी चतुराई तो अज्ञता है। जिससे अपनी हानि हो, उसे चतुराई कोई कहे, उसको क्या कहा जाय? कथा में, मन्दिर में आप किसी छल-बल से आगे पहुँच गये- ठीक है कि दर्शन, श्रवण की सुविधा अधिक मिली; किंतु सात्त्विकता प्रथम ही नष्ट हो गयी और दूसरों को वंचित करने का पाप ले आये यह अलग। जहाँ गये थे पुण्य प्राप्त करने, वहाँ से क्या लाये?

थोड़े-से पुष्प, एकाध माला या दो फल लेकर इसलिए भी लोग कथा-प्रवचन में जाते हैं कि पीछे पहुँचने पर भी उसे चढ़ाने भीड़-से आगे व्यासपीठ तक पहुँच जायँ और तब वहीं धक्का-धुक्की करके बैठ सकें।

'आप प्रणाम करेंगे, माला-पुष्प या और कुछ चढ़ायेंगे बड़ी कृपा आपकी! आपका प्रसाद मेरे मस्तक पर; किंतु अभी नहीं।' वक्ता ने सब चतुराइयों का द्वार बन्द कर दिया था। वे कह रहे थे- 'कथा-समाप्ति के पश्चात् मैं थोड़ी देर बैठा रहूँगा यहाँ, आप उस समय यह सब कर सकते हैं। अभी जहाँ हैं, वहीं बैठकर श्रवण करें।'

'कोई रुपये-पैसे नहीं चढ़ायेगा। आप फल-मेवे-मिठाई व्यासपीठ पर चढ़ा सकते हैं; किंतु यह जानकर चढ़ाइये कि उसे हम सबमें बाँट दिया जायगा। व्यासपीठ पर चढ़ायी गयी कोई वस्तु, कोई वस्त्र, कोई धन वक्ता स्वीकार नहीं करते। वे उनमें-से-कुछ नहीं लेंगे!' कथा की समाप्ति के साथ ही यह घोषणा की गयी और कई बार की गयी।

'कथा पर चढ़ी कोई वस्तु नहीं लेते?' बड़ा अद्‌भुत लगा। ऐसा कथा वाचक कथा ही क्यों करता है?

बहुत कम ऐसी कथा सुनने को मिलती है। बड़ा हृदयग्राही प्रवचन था। बड़ी मार्मिक व्याख्या की गयी थी। श्रीमद्भागवत के श्लोक की कथा सुनकर ही वक्ता में श्रद्धा हो गयी थी। वे कुछ लेंगे नहीं कथा पर चढ़े पदार्थों में से, यह जानकर श्रद्धा विशेष पुष्ट हुई।

'इनसे पृथक् मिलना है!' मन में निश्चय करके उस समय उठ आया। लोग उनकी पद-वन्दना करने, उन्हें माला पहिनाने व्यास पीठ के समीप भीड़ किये थे। ऐसे भभ्भड़ में प्रवेश करना मुझे प्रिय नहीं है। वह अपने और दूसरों के लिए-प्रणम्य के लिए भी सुविधाजनक नहीं है। वह भी तो भीड़ से छुटकारे को ही उत्सुक होगा।

× × ×

'मैं कल कथा में आया था।' उनके ठहरने के स्थान पर मैं गया तो वहाँ एकान्त नहीं था। एकान्त की न सम्भावना लेकर गया था और न मुझे कोई गोपनीय चर्चा करनी थी। दस-बारह लोग बैठे थे। चरण-वन्दन करके एक ओर बैठते हुए मैंने कहा।

'बड़ी सुन्दर कथा लगी। ऐसी कथा कम सुनने को मिलती है। मैं बहुत बड़ा विद्वान् और अत्यत निपुण कथावाचक हूँ। है न?' मैं हतप्रभ हो गया। उनके मुख से यह सुनकर और वे खुलकर हँस रहे थे।

'केवल विद्वान् होने से'

'ऐसी कथा नहीं की जा सकती।' उन्होंने मुझे फिर नहीं बोलने दिया। 'मैं भक्त हूँ।' आत्मसाक्षात्कार-सम्पन्न हूँ। अनुभवी हूँ। भगवद्‌दर्शन मुझे हुए हैं। अनेक चमत्कार मुझमें हैं क्यों?'

मैं क्या उत्तर देता। मैंने संकोच से सिर झुका लिया।

'मैं विद्वान् हूँ और बहुत अच्छी कथा कहता हूँ, यह सत्य मुझसे अविदित नहीं है।' उन्होंने हँसते हुए कहा। 'मैं ईमानदारी से पूरा श्रम करता रहा हूँ और अब भी करता हूँ। कथा में जाने से पूर्व उस श्लोक पर जो टीकाएँ, उत्प्रेक्षाएँ तथा अन्य उपलब्ध साहित्य है, वह पूर्व पठित होने पर भी एक बार देखकर जाता हूँ। जो श्रम करता है,

उसे अपनी सफलता का ज्ञान रहे, यह अस्वाभाविक कहाँ है।'

'वाग्वैखरी शब्दझरी शास्त्रव्याख्यानकौशलम्'

दो क्षण रूककर बोले- 'यह तो मेरे समीप है; किंतु भावुकता में मत बहिये! इसमें भक्ति, भगवद्दर्शन, आत्मा-साक्षात्कार या चमत्कार कहाँ आता है कि उसे आप मुझमें आरोपित करते हैं!'

'जो सूक्ष्म व्याख्या आपने की.....।'

'वह एक अनुभवी ही कर सकता है।' फिर उन्होंने मुझे बोलने नहीं दिया। 'वे बातें आपने सुन तो ली ही हैं। अब दूसरों से आप उन्हें कहेंगे तो आप भी अनुभवी हुए। इतना भोलापन ठीक नहीं। वे बातें कही अनुभवी महापुरुषों ने ही हैं, यह ठीक है; किंतु मैं उनके ग्रन्थों से उन्हें पढ़कर क्यों जान नहीं सकता? मैं तो उनकी बातें दुहराने वाला ही हूँ।'

'आप कथा क्यों करते हैं?' प्रश्न इतना अटपटा था कि मुख से निकलने के पश्चात् स्वयं मुझे सङ्कोच हुआ।

'यह मेरा साधन है।' वे बहुत गम्भीर हो गये। 'मेरी कुल-परम्परा कथा-वाचकों की है। बहुत छोटा था, तबसे मुझे यह कार्य सिखलाया गया। पहले यह कार्य आजीविका के रूप में मैंने अपनाया और अब भी यही मेरी आजीविका है।'

'आप कथा पर चढ़ा तो कुछ लेते नहीं।'

'हाँ, मैं कथा-विक्रय नहीं करता।' वे बोले। 'कुछ दक्षिणा निश्चित करके कथा-प्रवचन की बात तो कभी कल्पना में भी नहीं आयी थी। लोग ऐसा भी करते हैं, सुना तो बड़ा क्लेश हुआ पहले ग्रन्थ पर चढ़ौती होती थी। जब समझ आयी, इस कथा को ही जब से साधन बनाया। कैसे सम्भव है कि मैं अपना साधन ही बेच दूँ?'

'तब कथा से आजीविका?'

'सो तो चलती ही है।' वे कह रहे थे। 'अन्तर यह अवश्य पड़ गया है कि ग्रन्थ पर लोग पुण्य बुद्धि से जो यथा शक्य अधिक दक्षिणा चढ़ाते हैं, वह नहीं मिलती; किंतु बहुत-से श्रोता व्यक्तिगत रूप से कुछ दे जाते हैं। पर्याप्त है वह मेरे लिए।'

'कथा को आपने साधन बनाया है।'

'हाँ- केवल आजीविका का साधन बनाकर चला था बचपन में, अब यही मेरी आध्यात्मिक साधना भी है।' वे सीधे बैठ गये और स्थिर दृष्टि से मेरी ओर देखते हुए बोले- 'कथा-श्रवण साधन है, यह तो आप-जैसे सत्सङ्गी को बतलाने की आवश्यकता नहीं है। श्रोता भगवतकथा सुनता है, तब उसका मन भगवतचरित्र में लगता है। वक्ता को अध्ययन करना पड़ता है, बहुत कुछ स्मरण रखना पड़ता है और सुनाना पड़ता है। उसे मन को कहीं अधिक लगाना पड़ता है।'

'इससे पूर्व भी मैं कथा-वाचकों के सम्पर्क में आया हूँ।' मैंने तनिक विरक्त स्वर में कहा।

'उनकी कुछ समस्याएँ हैं।' वे गम्भीर बने रहे। 'जिसे सदा ही नवीन स्थान नवीन लोगों में रहना है, वह अपनी आवश्यकताओं के प्रति सङ्कोची नहीं रह सकता। उसे कुछ माँगने-आज्ञा देने, हठ तक करने में सङ्कोच नहीं होता। परिस्थिति उसे निःसंङ्कोच कह सकते हैं कि स्वार्थी बना देती है। अपनी सुविधा ही उसे प्रधान जान पड़ती है। कितने लोग हैं जो यात्रा में दूसरे की सुविधा पर ध्यान दे पाते हैं?'

मैं कुछ बोला नहीं; किंतु स्पष्ट था कि मुझे इस उत्तर से कोई सन्तोष नहीं हुआ। 'आज कल फैशन हो गया है आत्मस्वीकृति का- मैं इसे बुरा समझता हूँ; किंतु त्याग नहीं पाता। मेरी दुर्बलता है।' दुर्बलता है तो सिर पटको और छोड़ो उपदेश, कथा बन्द करो। अपने सार्वजनिक जीवन का त्याग करो। तुम्हारा जीवन जितना सार्वजनिक-व्यापक होगा, तुम्हारी दुर्बलता भी उतनी व्यापक होगी।

जो त्याग-वैराग्य का उपदेश करते हैं, उनकी दृष्टि पैसे पर ही टिकी रहे, जो अमानी होने का उपदेश करें, वे मंच पर बैठकर तनिक-से अपमान की गन्ध से लाल हो उठें, तो ज्ञान-भक्ति की लम्बी-चौड़ी व्याख्या करें, वे अत्यन्त देहासक्त, स्वसुख-परायण पाये जायँ- ऐसे लोगों को उपदेशक, कथावाचक बनने का अधिकार है? रामराज्य होता, तो हो पाता, ये उपदेशक पूजित होते या कारागार में होते? श्रीबलराम ने कथावाचक सूत रोम-हर्षण को मार दिया था। उस समय वह घटना भ्रम वश हुई; किंतु उसके पीछे जो तथ्य हैं, वह तो भ्रम नहीं है। उन्होंने कहा था-

'वध्या में धर्म ध्वजिनस्ते हि पातकिनोऽधिका:'

मैंने यह सब कहा नहीं। लेकिन मेरे मन में ये बातें अवश्य आयीं। मेरे मुख पर वितृष्णा भाव आये हों तो आश्चर्य नहीं है।

'तुम्हारा आक्रोश उचित है।' वे बोले। 'ऐसा आक्रोश आज के युवकों में है और मैं उसे शुभ लक्षण मानता हूँ।

'जो यश या धन के लिए भगवत कथा का आश्रय लेते हैं, उन्हें इस कल्पवृक्ष से वह प्राप्त होता है।' वे गम्भीर बने रहे। 'वे केवल दूसरों को सुनाने के लिए पढ़ते, स्मरण करते हैं। उनका पठन-स्मरण सुना देने के लिए है। वे तो रिकार्ड हैं। रिकार्ड कुछ भी बजे, उससे यन्त्र की स्वच्छता तो नहीं होती, उनका पठन-स्मरण उनके अपने चित्त को स्पर्श नहीं करता। वे तो त्याग, सेवा, तप, भक्ति, ज्ञानादि की बातों को केवल सुनाने की बातें मानते हैं।'

'केवल सुनाना भी बुरा नहीं है। मैं भी केवल सुनाता ही हूँ।' तनिक हँसकर वे

फिर गम्भीर हो गये। 'बात इतनी है कि मैं किसी सेठ, साहूकार, मन्त्री, पदाधिकारी बाबूजी को कुछ सुनाने में उत्साह नहीं रखता। कथा के लिए जाना है, इस बात के मन में आते ही आता है कि जिसकी कथा सुनानी है, वही बुला रहा है। वह नाना रूप नाना वेश धारण करके बैठेगा सुनने के लिए। उसे अपनी कथा सुनने में रस आता है। उसे सुनना है, अतः श्रम करो! पूरी योग्यतासे सुनाओ!'

मैंने उनके चरणों पर मस्तक रक्खा। अब उनसे कुछ कहने के लिए मेरे समीप कोई शब्द नहीं था।

कीर्तन

कलेर्दोषनिधे राजन्नास्ति ह्येको महान् गुणः।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत्।।

(श्रीमद्भा० 12।3।51)

संकीर्तन की चार पद्धतियाँ हैं- 1. हनुमदीय, 2. शाम्भवी, 3. नारदीय और 4. वैयासकीय।' उन्होंने स्वयं इनकी व्याख्या की- 'प्रेमान्मत्त होकर स्वर-ताल की बात भूलकर, उछलते-कूदते, उद्दाम नृत्य करते जो कीर्तन किया जाता है, वह हनुमदीय पद्धति का कीर्तन है। आप मेरा शरीर देख ही रहे हैं, इस पद्धति का श्रम सँभालने-की शक्ति मुझमें नहीं है।'

श्रोताओं को सहज हँसी आ गयी। बहुत कृशकाय हैं वे और लम्बे कुर्ते के ऊपर दुपट्टा डालकर अधिक दुर्बल ही दीखते हैं। वैसे ही सिर छोटा है और मुख लम्बा, उस पर जब महाराष्ट्र पण्डितोंवाली गोल पगड़ी रख लेते हैं, उन्हें देखकर लोग प्रायः मुस्करा देते हैं। अब इस सूखे शरीर से वे उछल-कूदकर उद्दाम कीर्तन करने लगें, यह कैसे बनेगा? उनकी देह तो ऐसी है कि डर लगता है, झटका लगा और टूटी अथवा आँधी में पड़े तो उड़ जायँगे।

'स्वर-ताल के साथ लास्य या ताण्डव नृत्य करते हुए, नृत्य के नियमों का पालन करते जब संकीर्तन किया जाता है, तब वह शाम्भवी पद्धति होती है।' उन्होंने बतलाया 'इस पद्धति से संकीर्तन के लिए नृत्य-संगीत दोनों का प्रशिक्षण आवश्यक है। कुशल नर्तक ही यह पद्धति अपना सकते हैं।

'बंगाल तथा उत्तर भारत में प्रायः नारदीय पद्धति से संकीर्तन होता है।' वे कह रहे थे- 'बाजों के साथ अथवा बिना वाद्य के, बैठे हुए अथवा खड़े होकर भवन्नाम का संकीर्तन नारदीय पद्धति है। इसी में जब लोग प्रेमोन्मत्त होकर उछल-कूद करने लगते हैं, वह हनुमदीय पद्धति हो जाती है।'

'एक भूल मत कीजिये!' वे खुलकर हँसते होंगे कभी, ऐसा उनके मुख को देखकर लगता नहीं। ओष्ठों में ही मुस्कराये- 'जान-बूझकर हाथ-पैर पटकना, उछल

कूद करना और चश्मा बचाकर मूर्च्छित होकर गिरना कोई स्वस्थ पद्धति नहीं है। यह तो रुग्ण पद्धति है। मानसिक रोगी ही दम्भ करते हैं। वे दया के पात्र हैं।'

'महाराष्ट्र के वारकरी सम्प्रदाय ने संकीर्तन की वैयासकीय पद्धति अपना रक्खी है। मैं इसी पद्धति का अनुसरण करता हूँ।' वे बोले- 'बीच-बीच में नाम-ध्वनि, पद-कीर्तन और भगवान् एवं उनके भक्तों की कथा चलती रहे, यह भगवान् व्यास की पद्धति है। इसमें प्रमुख कीर्तनकार कथा सुनाता है, तब दूसरे श्रोता होते हैं और जब वह नाम-ध्वनि या कोई पद्यांश कीर्तन करता है तो सब उसका साथ देते हैं।'

एक हाथ में करताल और एक में एकतारा लेकर वे खड़े थे श्रोताओं के मध्य। कभी एकतारे का तार झंकार करता था और कभी करताल। इतनी व्याख्या संकीर्तन की करके उन्होंने प्रारम्भ किया-

'गोपाल गोविन्द कृष्ण, गोपाल गोविन्द कृष्ण,
गोपाल गोविन्द कृष्ण गोपाल।'

× × ×

एक सज्जन थे- उन्हें सज्जन ही कहना चाहिये; क्योंकि किसी को दुर्जन तो वह कहता है, जो स्वयं दुर्जन होता है। महाराज युधिष्ठिर दुर्योधन को भी 'सुयोधन' कहते थे। इतनी बात अवश्य थी कि वे सज्जन भटक गये थे- कहीं मेले-ठेले या जंगल में नहीं, जीवन के पथ में। बहुत लोग भटक जाते हैं इस पथ में। बड़ा ही बीहड़ है यह जीवन-पथ!

'सँभाल के चल रे बटोही! बटमार लगे इस मग में।'
तेरी गठरी में लागा चोर बटोही क्यों सोवै।'

बेचारे भटक गये थे और जब कोई भटक जाता है तब क्या होता है? बिना मार्ग के चलना पड़ता है। दुःख उठाता है और ठोकरें खाता है। सुमार्ग की बात तो बहुत स्पष्ट है-

एष निष्कण्टकः पन्था यत्र सम्पूजयते हरिः।
कुपथं तद्विजानीयाद् गोविन्दरहितागमम्।।

हरि नारायण गोविन्द गोविन्द!
हरि नारायण गोविन्द गोविन्द!

वे सज्जन मार्ग से भटक गये और तब क्या हुआ? हुआ वही जो भवाटवी में भटकने वाले का होता है। उन्होंने मान लिया-

टका धर्मः टका कर्म टका हि परमं तपः।
टका हि जीवनं सर्वं बिना टका टकटकायते।।

रात्रि में स्वप्न ठनाठन, नारायण और दिन में प्रयत्न यही कि कैसे किससे क्या छीन लें, झपट लें, ठग लें।

थोड़े दिनों तो यह गाड़ी खूब चली। पाप की गाड़ी पहले दौड़ती है। ऐसी दौड़ती है, जैसे सरपट भाग रही हो; किंतु वह तो भारी खड्डे में गिरने की गति है। दौड़ी-दौड़ी और धड़ाम! गोविन्दाय नमो नमः!

उन सज्जन की गाड़ी भी दौड़ी। कोठियाँ खड़ी हुईं, मोटरें दौड़ने लगीं और पेट का घेरा बड़ा होता गया। भला वे मेरे-जैसे दुर्बल क्यों रहते? साथ ही खोपड़ी के भीतर सूजन बढ़ती गयी - अहंकार बढ़ता गया। दृष्टि मोटी होती गयी और व्यसन तथा मोह बढ़ते गये।

घर धन आया पाप का लाया संगी साथ।
रोग, लड़ाई, मोह-मद, व्यसन लगेंगे हाथ।।

घर के लड़के-लड़कियों का पूछना क्या। उन सज्जन को बाहर कोई भले आँख न दिखा सकता हो, घर में तो श्रीमतीजी और मुन्ने-मुन्नी बात-बात पर झिड़क देते थे। शरीर पहले से रोगी था, रोग बढ़ता गया और एक नियम तो आप जानते ही हैं-

क्षतेः प्रहाराः प्रपतन्त्यभीक्ष्णं छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति।

उन सज्जन को व्यापार में घाटा लग गया। मोटर, कोठी बिक गयी थी। अब घर में तो सम्मान पहले से नहीं था, बाहर के ठुकुरसुहाती कहनेवाले भी आँख चुरा गये।

अपबल तपबल और बाहुबल चौथो है बल दाम।
सूर किसोर कृपा तें सब बल हारे को हरिनाम।।
भजो राम सीताराम सीताराम सीताराम।
जय जय राम सीताराम सीताराम सीताराम।।

उन सज्जन के लिए एक बात अच्छी हुई, उनके पूर्व-जन्म के पुण्य जागे और उन्हें सत्संग में जाने का स्मरण हुआ। मनुष्य में जब जन्म-जन्म के पुण्य जागते हैं, तब उसे सत्संग, भजन, कीर्तन अच्छा लगता है। नहीं तो स्वयं मर्यादा पुरुषोत्तम ने कहा है-

पापवंत कर सहज सुभाऊ।
भजन मोर तेहि भाव न काऊ।।

वे सज्जन सत्संग में जाने लगे। उन्हें संतों की खोज रहने लगी और-

'जिन खोजा तिन पाइयाँ।'

एक विरक्त फक्कड़ संत एक बार उस बस्ती में आये। भगवान् की कृपा हुई और उन सज्जन को संत मिले।

बिनु हरि कृपा मिलहि नहि संता।
सतसंगति संसृति कर अंता।।
संत बिसुद्ध मिलई पुनि तेही।
राम सुकृपा बिलोकहिं जेही।।

वे सज्जन दुखी हो गये थे रोग से, निर्धनता से, और घरवालों के तिरस्कार से। अब कोई उनकी सुनने वाला नहीं था। संत के समीप वे रो पड़े-

हुआ निराश-उदास, मिटा विश्वास जगत के भोगों का।
जिनके लिये खो दिया जीवन पता लगा उन लोगों का।।

वे सज्जन रोकर बोले- 'लेकिन महाराज! इतना अधम हूँ कि अब भी मोह जाता नहीं। घर-परिवार के लोगों का क्या होगा, इसी चिन्ता में रात-दिन घुलता रहता हूँ। तृष्णा से जल रहा हूँ।

'तृष्णा तू न गई मेरे मन तें।'

'कोई उपाय बताइये! मुझे-जैसे पापी, रोगी के उद्धार का कोई कोई उपाय बतलाइये।'

संत हृदय नवनीत समाना।
कहा कबिन पर कहइ न जाना।।
निज दुख दाह द्रवइ नवनीता।
पर दुख द्रवहिं संत सुपुनीता।।

संत को दया आ गयी। उन्होंने सोचा-विचारा और वे बोले-

कलिजुग केवल हरि गुन गाहा।
सुमिरत नर पावहिं भव थाहा।।
नाम लेत भव सिंधु सुखाहीं।
करउ विचार सुजन मन माहीं।।

इसलिए तुम केवल कीर्तन करो! दम्भ-छल छोड़कर केवल रट लगाये रहो-

राम राघव राम राघव राम राघव रक्ष माम्।
कृष्ण केशव कृष्ण केशव कृष्ण केशव पाहि माम्।।

बात और बाण सदा निशाने पर नहीं लगते। जब लगते हैं, बस पार हो जाते हैं। उन

सज्जन को संत की बात लग गयी। बात लगी और धुन चढ़ी। अब उनकी चढ़ी धुन से कोई चिढ़े या प्रसन्न हो, कोई हँसे या रोवे, उन्होंने तो एक नन्हीं करताल मँगा ली और वह खटकती है–

जय नँदलाल जय गोपाल जय मधुसूदन बनमाली।
राधा मोहन कंसनिषूदन वंशीधर गिरिधारी।।

घर-बाहर के लोगों ने कहा- रोग और आर्थिक हानि ने इसे पागल कर दिया है।

लोग कहैं मीराँ भई बावरी।

लोग तो ऐसों को पागल कहते ही हैं। घर के लोग निराश हो गये। कह-सुनकर तो दोनों बड़े लड़कों ने कारोबार सँभाला। अब उन सज्जन ने जो नामधुन में मन लगाया, धीरे-धीरे तन स्वस्थ होने लगा। रोग भागने लगा और मन से मोह भी भाग खड़ा हुआ।

राम रटन में मन रमा, माया नासी हूह।
काम क्रोध मद लोभ का हुआ मकबरा ढूह।।

उन सज्जन को संसार भूलता जा रहा था, लोगों के लिये वे मरे-जैसे हो गये थे; क्योंकि जो संसार को भूले, उसे संसार क्यों स्मरण करें; किंतु उनको स्मरण करने वाला एक नया निकल आया था। द्वारिका में वह मोर-मुकुटवाला वनमाली महारानी रूक्मिणी से कहता था-

जो भूला संसार, उसे भूले संसार,
नंदलाल उसे भूल नहीं सकता।
जिसने त्यागा सब भार, जिसे मुझसे है प्यार,
गोपाल उससे दूर नहीं रहता।।

अतः-आप सब मन से कहें! वाणी से कहें! प्रेम से कहें!'

जय जय गोपाल, जय जय नँदलाल,
गिरधारी मुरारी की जय जय जय।

× × ×

प्रायः वे भगवत्प्राप्ति के समीप लाकर ही कीर्तन समाप्त करते थे। जयध्वनि के साथ संकीर्तन उन्होंने समाप्त किया और समस्त श्रोता आरती के लिये खड़े हो गये।

अधिदेवता

'हमने यहाँ आकर भूल की। हमें यहाँ नहीं रहना चाहिये।' उनके मुख पर किंचित् क्षोभ के भाव थे। 'मैंने यहाँ बहुत बुरा स्वप्न देखा। स्वप्न में बहुत भय लगा।'

उन्हें स्वप्न में ही भय लगा हो, यह बात नहीं; वह भय जाग्रत् में भी इस प्रकार मन में बैठ गया कि एकाकी कुछ क्षण भी उस भवन में आगे वे नहीं रहीं। वे संन्यासिनी हैं, वर्षों से एकाकिनी रहती हैं बस्ती से पर्याप्त दूर; किंतु अन्ततः महिला जो ठहरीं।

'क्या देखा तुमने जीजी!' उनके मामा के पुत्र संन्यासी हो गये हैं, वे भी साथ आये थे। अब स्मरण नहीं कि उन्होंने भी कोई स्वप्न देखा था या नहीं। स्वप्न का विवरण अनावश्यक है; एक काला, मोटा, काना पुरुष- उसकी चेष्टा ने उन्हें डरा दिया।

'स्वप्न तो मैंने भी देखा है।' मैं बता दूँ कि मुझे बहुत कम स्वप्न दीखते हैं; किंतु उस रात्रि उस सुनसान पड़ी रहनेवाली कोठी में मैंने भी स्वप्न देखा था। कोई विशेष बात नहीं थी, जैसे कोई पहाड़ी वृद्धा स्त्री सिर के पास आ बैठी थी। 'डरने की तो कोई बात नहीं है। कल हम लोग यहाँ देर से आये थे। अब आज यहाँ स्वभावतः आज का भागवत तथा गीता का पाठ होगा। आगे कोई दुःस्वप्न दीखे, इसकी कोई सम्भावना नहीं।' सचमुच हम आठ दिन उस भवन में रहे; किंतु किसी को कोई स्वप्न-दुःस्वप्न फिर नहीं दीखा।

कुछ दिन पहिले मैं नीलकण्ठ आया था, ऊपर भुवनेश्वर को जाते समय वह कोठी देख गया था। नीलकण्ठ कुछ दिन रहने का विचार था और रहने के लिये ऐसा एकान्त, खुला भवन भला किसे पसंद नहीं होगा। दो-चार दिन बाद जब हम कुछ दिन रहने के लिये आये, तब इस कोठी में आ गये।

ऋषिकेश से लगभग सात-आठ मील दूर पर्वतों से घिरा यह नीलकण्ठ तीर्थ अपनी अनोखी सुषमा रखता है। यहाँ का शान्त, पवित्र वातावरण- नीलकण्ठ की चर्चा फिर कभी। यह कोठी नीलकण्ठ से लगभग एक फलाँग ऊपर है। नीलकण्ठ आते समय यही पहिले दृष्टिपथ में आती है।

कभी बड़ा वैभव रहा होगा यहाँ का। किसी रानी ने अपने एकान्तवास तथा भगवद्‌भजन के लिए इसे बनवाया था। उस समय के उपवन की मात्र कल्पना देने

वाले कुछ फल वृक्ष तथा मल्लिका की जंगली-सी बन गयी लताएँ अब बच रही हैं।

दो विशाल कोठियाँ हैं। उनमें मुख्य कोठी तो अब रहने योग्य नहीं। सूने भवन से कुछ मिल जाने के लोभ में अपनी मानवता से च्युत मनुष्यों द्वारा उसकी साँकले-कूंडे इस प्रकार तोड़ दिये गये थे कि अब उसका कोई द्वार बंद करके आप बाहर जा सकें, ऐसी स्थिति नहीं। उसमें श्रावण मेले के समय अवश्य यात्री रात्रि-निवास करते होंगे; क्योंकि एक बड़े कमरे में जले बीड़ी के टुकड़ों की ढ़ेरी पड़ी थी।

दूसरी कोठी उससे कुछ कम सज्जित है; किंतु अपेक्षाकृत स्वच्छ और सुरक्षित है। दूसरी कोठी में स्नान-घर भी है और उसके पाइप में अब भी जल आता है। हम इस दूसरी कोठी में ही ठहरे थे। वैसे अब ये कोठियाँ नैपाल के अधिकार में हैं। सर्वथा उपेक्षित होने से जीर्ण हो गयी हैं और उनके अंश गिर रहे हैं। नौकरों के भवनों में से बहुत-से गिर चुके हैं; जो हैं भी, वे रहने योग्य नहीं।

दोनों कोठियों के मध्य सम्भवतः पुराना रसोईघर है। उसमें एक पर्वतीय वृद्धा रहती है। वहीं कोठियों की चौकीदार है। उसने भैंस, गाय, भेड़ें पाल ली हैं। कोठी के पास की भूमि में कुछ बो लेती है। भूले-भटके मेरे-जैसे यात्री आ टिके तो कुछ पारितोषिक मिल जाता है, बस। अब कोठी के स्वामी या उत्तराधिकारी तो सम्भवतः यह भूल ही गये हैं कि उनके यहाँ कोई कोठी भी है।

हम कोठी में आनन्दपूर्वक रहे। अबाबीलों के लिए पर्याप्त कमरे खाली पड़े थे। हमने उन्हें बाधा नहीं दी और वे भी रात्रि में यदा-कदा देखने ही आती थीं हमारे कमरे में उनके यहाँ के तीन द्विपाद् पक्षहीन अतिथि कैसे आ गये हैं।

× × ×

'यहाँ का अधिदेवता मर गया है।' मेरे वे बन्धु स्वर्गाश्रम में पधारे थे। उनकी व्यवस्था न होती तो हम इस पर्वतीय स्थान में इस प्रकार रह नहीं पाते। वे मुझसे मिलने ही आये थे। यह कठिन चढ़ाई पार करके और भोजनोपरान्त मध्याह्न विश्राम करने हमारे समीप कोठी में आ गये थे। 'यहाँ आप लोगों को नहीं रहना चाहिये। आप नीचे धर्मशाला में ऊपर के कमरे में निवास करें।'

उन्होंने पता नहीं क्या अनुभव किया। अवश्य उन्हें कुछ मानसिक उद्वेग अनुभव हुआ होगा। रात्रि-विश्राम उन्होंने वहाँ न करके नीचे किया और हमारे लिये भी नीचे की धर्मशाला में एक कमरे का प्रबन्ध करके तब दूसरे दिन प्रातः लौट गये।

'अधिदेवता मर जाता तो यह भवन टिकता नहीं।' मैं मन-ही-मन सोच रहा था-

प्रत्येक पदार्थ का अधिदेवता होता है, यह हिंदू-शास्त्र बतलाते हैं। वह भवन हो या छोटा कलश अथवा कुर्सी- पदार्थ बनता है और उसका अधिदेवता उसमें आ बसता है, जैसे शरीर माता के गर्भ में आया तो जीव उसमें आ जाता है। अधिदेवता प्रसन्न रहे तो पदार्थ का उपयोग करने वाले को वह पदार्थ सुख, शान्ति, लक्ष्मी और सुयश देनवाला होता है और अधिदेवता अप्रसन्न हो जाय तो पदार्थ दु:ख, अशान्ति, रोग, दरिद्रता, अयशादि का हेतु बन जाता है।

घर बनाकर क्षेत्रपालक का पूजन तथा प्रत्येक पदार्थ का उसके उपयोग से पूर्व पूजन का विधान-परिपाटी सनातन धर्म में उसके अधिदेवता की तुष्टि के लिये ही है।

'अधिदेवता मर जाता तो भवन टिका कैसे रहता।' अधिदेवता भी मरता तो है। ग्राम का अधिदेवता मरता है तो ग्राम, घर का मरे तो घर और नगर का मरे तो नगर नष्ट हो जाता है। वहाँ दूसरा ग्राम, घर या नगर बसाने के प्रयत्न निष्फल जाते हैं। और ऐसे प्रयत्नों में बहुत हानि होती है धन तथा जीवन की भी।

'जीव न रहे तो शरीर टिका कैसे रहेगा। वह सड़ जायगा।' किंतु एक विचार साथ ही आया- 'मनुष्य बहुत दिनों तक अकेला रहे तो जनसम्पर्क में जाना नहीं चाहता। सूने भवन का अधिदेवता भी तो एकान्तप्रिय हो जाता होगा। उसे उद्वेग होता होगा लोगों के आने से और तब वह उन्हें उद्विग्न करता होगा।'

'आज यहाँ का अधिदेवता दु:खी होगा।' हम जब उस कोठी को छोड़कर नीचे जाने लगे, तब उन संन्यासिनी महिला ने कहा- 'हमारे रहने से यहाँ दीपक जलता था, पाठ-पूजा होती थी ओर कम-से-कम दो-तीन कमरों में स्वच्छता तो रहती थी।'

'अवश्य वह दुखी होगा।' मुझे भी यही लगा। हम कोठी जब छोड़ना चाहते थे, तब छोड़ नहीं सके थे। दो दिन का विलम्ब हुआ था और वह भी नाममात्र के कारण से लगता था कि अधिदेवता को हमारा वहाँ से जाना अच्छा नहीं लगा था।

हम कोठी छोड़ देने को उत्सुक थे; क्योंकि उसमें फुदकनेवाले छोटे कीड़े-पिस्सू बहुत थे और हमारे यहाँ आ जाने से उन्हें उद्वेग हो रहा था। उद्विग्न होकर वे हम सबको उद्विग्न करते थे। उनके काटने से लाल फफोले उठ जाते थे और उनमें खाज तथा जलन होती थी। ऐसे फफोलों की संख्या दस-बीस प्रतिदिन शरीर पर बढ़ जाय, इतनी सहन शीलता हममें नहीं थी।

'हम यहाँ आये और रहे। यहाँ के अधिदेवता को हमने आने पर न तो प्रणाम किया और न उसके निमित्त एक धूपबत्ती जलायी, न दो पुष्प अर्पित किये।' जाते-जाते मुझे यह स्मरण आया। यह भी मन में आया कि प्रथम दिन जो स्वप्न दीखे, उसमें यह भी हेतु हो सकता है।

'लगता है वह भी उदासीन हो गया है इस भवन से।' जब भवन के वर्तमान स्वामी ही उसकी खोज खबर नहीं रखते तो ऐसी जीर्ण, अस्वच्छ, धूलि, पक्षियों की बीट तथा गंदगी से भरे, नित्य अन्धकार पूर्ण भवन में उसके अधिदेवता को क्या प्रसन्नता होगी। एक दिन वह इसे छोड़ देगा और भवन नष्ट हो जायगा।

'मैं उसे प्रणाम करूँगी।' सन्यासिनी महिला ने कहा। सचमुच भवन से उतरकर उन्होंने नीचे की सीढ़ी पर मस्तक रखा और भवन के अधिदेवता से क्षमा माँगते हुए विदा ली।

हम नीचे धर्मशाला में चले आये; क्योंकि हमें पिस्सुओं के मध्य रहना स्वीकार नहीं था। उस भवन के अधिदेवता-उन्हें मेरा प्रणाम! हम जहाँ रहते है, जिन वस्तुओं का उपयोग करते हैं, उनके भी तो अधिदेवता हैं। उनकी ओर हमने कभी ध्यान दिया? उन्हें हमारी केवल प्रणति ही तो अपेक्षित है।

इस विराट् विश्व का अधिदेवता- वह परम पुरुष, अच्छा अब उसकी चर्चा रहने दें। वह प्रत्येक का अपना है- उसे तो प्रणति भी नहीं, केवल यह अपेक्षित है कि उसे अपना अनुभव किया जाये।

❑❑

अभ्युदय

(१)

आपने कभी अपने अभ्युदय का स्वप्न देखा है? आप जानते होंगे कि यह स्वप्न भी कितना सुखदायी, कितना भव्य होता है। लेकिन कितनों का वह स्वप्न पूरा होता है? फिर वह स्वप्न है, स्वप्न पूरा हो जाय, वही एक स्वप्न बना रहे तो फिर स्वप्न क्या। एक स्वप्न पूरा होगा, यह आशा भी जान पड़े , इससे पहले तो दूसरा स्वप्न सजीव हो उठता है और, और और- किसी के मन की भूख कभी पूरी हुई है।

आपको आश्चर्य होगा- एक है जो कहता है- 'मेरा स्वप्न पूरा हो गया। भले मेरा वही स्वप्न ज्यों-का-त्यों पूरा नहीं हुआ; किंतु मेरे स्वप्न की सीमा हो गयी। मेरा जो कुछ होना-हवाना होगा हो रहेगा। मैं अपने अभ्युदय का शिखर देख चुका। रही वहाँ पहुँचने की बात सो आज या दस दिन पीछे। जो मेरा काम नहीं, उसके लिए मैं व्याकुल नहीं बनता।'

आपको और अधिक आश्चर्य होगा- उसके सारे स्वप्न नष्ट हो गये हैं। उसका एक भी स्वप्न सफलता की ओर बढ़ा नहीं। लेकिन वह तो ऐसा मौजी है, जैसे वही इस सारे विश्व का सम्राट् है।

एक दूसरा भी है। उसके स्वप्न सत्य ही होते रहे हैं। उसने स्वप्न देखा और जुट पड़ा। सफलता की देवी उसके आगे जैसे हाथ बाँधे खड़ी रहती हैं। वह ऐसा है कि उसके समकक्ष बैठने का स्वप्न भी बहुतों के लिये असम्भव-सा स्वप्न है। वह उन्नत है, यशस्वी है, सबल है। अधिकांश की दृष्टि में वह अभ्युदय के शिखर पर पैर रखकर खड़ा है।

आपको फिर भी आश्चर्य होगा- वह कहता है- 'मेरा स्वप्न यदि सत्य हो पाता! मैं अभी अभ्युदय के महापर्वत के नीचे ही तो खड़ा हूँ। मस्तक उठाने पर उसका शिखर देख तक नहीं पाता मैं।'

वह चाहे जितना गर्विष्ठ दीखें, चाहे जितना झल्लाये, यह सब तो अपनी दुर्बलता छिपाने के लिए उसके प्रयत्नमात्र हैं। वह कितना दीन, कितना लघु, कितना दुर्बल है

अपने-आप में, यह वही जानता है। यह सब मिलकर उसे निरन्तर अशान्त, क्षुब्ध, चिन्तित बनाये रखते हैं। उसका क्या दोष है यदि वह झल्ला उठता है अथवा बाहर से अपने को गर्विष्ठ दिखाकर संतुष्ट होने का प्रयत्न करता है।

आपने कभी पर्वतों की चोटी पर चढ़ने का मन किया है? एक चोटी पर चढ़ो तो दूसरी उससे ऊँची दीखती है। दूसरी पर चढ़ो तो तीसरी और तीसरी पर चढ़ो तो चौथी। चलता रहता है यही क्रम। उन्नति, अभ्युदय- उसके स्वप्न नये-नये होते रहते हैं। वह जब मस्तक उठाता है, उसे प्रत्येक क्षेत्र में बड़े-अपने से बहुत बड़े दीखते हैं। वह बढ़कर उन्हें छूने का प्रयत्न करता है, छू लेता है और सिर उठाता है; किन्तु वहाँ तो बड़े-बहुत बड़े दूसरे सामने खड़े दीखते हैं। उसका मस्तक झुक जाता है। वह फिर उद्योग में लगता है।

नीचे-नीचे बहुत नीचे तक लोग हैं उसके। वे भी मनुष्य हैं। उनका भी जीवन है। उनके भी स्वप्न होंगे। उनका भी सुख-गौरव होगा ही। उनका भी काम चल जाता है। लेकिन पर्वत पर चढ़कर नीचे देखा जाय- कितने तुच्छ दीखते हैं नीचे के पदार्थ। वह क्यों नीचे देखे? नीचे के तुच्छ समुदाय पर वह क्यों ध्यान दें। वहाँ वह अपना स्थान देखने की कल्पना करें- छिः।

उसे ऊपर जाना है। अभ्युदय प्राप्त करना है- महत्तर अभ्युदय। वह बड़ा होना चाहता है- ऐसा बड़ा, जिससे बड़ा और कोई न हो। कम-से-कम अपने क्षेत्र में उसे सर्वोच्च होना ही चाहिये। वह प्रयत्न कर रहा है- निरन्तर प्रयत्न कर रहा है।

यह तो संसार है। यहाँ क्या महत्ता की कोई सीमा बनी है? एक से बड़ा दूसरा ओर दूसरे से बड़ा तीसरा, यहाँ क्या इसकी कोई इयत्ता हो सकती है। उसका स्वप्न, उसका अभ्युदय, उसकी महत्ता- लेकिन कोई अनन्त आकाश को माप लेने चल पड़े तो उसका कार्य कब समाप्त होगा, यह आप बता सकते हैं?

उसकी अशान्ति, उसकी उलझन, उसकी व्यग्रता, उसका असंतोष बढ़ता जा रहा है। यह तो कहावत है न कि 'पैसे वाला रोवे पैसे को रुपये वाला रोवे रुपये को।' सो पैसे वालो के पास दुःख पैसे भर और रुपयों वाले के पास दुःख रूपये भर तो रहना ही ठहरा।

अभ्युदय के - सांसारिक ऐश्वर्य के क्षेत्र में वह बढ़ता जा रहा है, चढ़ता जा रहा है और साथ ही बढ़ता-चढ़ता जा रहा है उसका दुःख, उसका असंतोष, उसकी व्यग्रता। वह आज किसी शिखर पर खड़ा है तो वह अशान्ति का शिखर है। आप बाहर से उसे कैसा भी देखें और कोई भी नाम दें, सत्य तो सत्य ही रहता है।

× × ×

(२)

आपको आश्चर्य तो होना ही ठहरा। दोनों मित्र थे। दोनों एक ही पाठशाला की एक ही कक्षा में पढ़ते थे। दोनों साधारण स्थिति के किसानों के पुत्र थे। दोनों के घर एक ही गाँव में पास-पास थे। क्या हुआ जो दोनों के आकार में कुछ था, दो मनुष्यों के आकार में कुछ अन्तर था, दो मनुष्यों के आकार में अन्तर तो होता ही है। ब्रह्मबाबा तो जैसे एक साँचा दो बार काम में लेना जानते ही नहीं। लेकिन दोनों के स्वभाव प्रायः एक-से थे। दोनों तीक्ष्णबुद्धि थे। दोनों परिश्रमी थे और सबसे बड़ी तो यह कि दोनों के स्वप्न प्रायः एक-जैसे ही थे।

'खूब बड़ा-सा ईंटों से बना मकान, अच्छा-दालान, द्वार पर नीम का पेड़, चार बड़े-बड़े बैल, दो मुर्रा भैसें, एक गाय। दोनों कभी-कभी बैठ जाते कहीं एकान्त देखकर और अपने स्वप्नों का विनिमय करते। दोनों मिलकर उसमें थोड़ा बहुत सुधार करते- 'चार बड़े-बड़े निवार के पलंग, एक तख्ता, एक छोटी चौकी, दस-बारह मोढ़े (पुआल बने आसान), कुछ मचिया, एक हुक्का- नहीं-नहीं एक चमकता काँसे की बड़ी भारी नली वाला गड़गड़ा और हुक्का भी। गड़गड़े के बिना द्वार की कहीं शोभा बनती है।'

दोनों ने अपने ग्राम के मुखिया को अपना आदर्श मान रक्खा था। बालक ही थे दोनों। मुखिया के घर में द्वार पर उन्हें जो कुछ जैसे दीखता था, वह वैसे ही उनके स्वप्न में सम्मिलित हो जाता था। उनके लिये मुखिया ही संसार का सर्वश्रेष्ठ पुरुष था। केवल एक बात में थोड़ा-सा मतभेद था दोनों में - 'द्वार पर घोड़ा रहे या हाथी।' मुखिया के द्वारा पर घोड़ा था; किंतु उन्होंने हाथी देखा था। सुना था कि जिसके द्वार पर हाथी झूमे, वह बहुत बड़ा आदमी माना जाता है। लेकिन उनका मन झिझकता था- इतनी बड़ी कल्पना उन्हें करनी चाहिए या नहीं।

दोनों में बहुत मित्रता, बहुत एकता सही; किंतु दोनों प्रारब्ध तो एक थे नहीं। एक के पिता-माता उसे छोड़कर परलोक चले गये। उसकी पढ़ाई छूट गयी। उसके घर जो कुछ था, दूसरों ने अवसर देखकर दबा लिया। उसका घर तक धीरे-धीरे खँडहर होता गया। घर छोड़कर उसे बाहर जाना पड़ा और फिर घर धरा क्या था जो वह लौटकर आता। प्रारब्ध ने जहाँ जैसे भटकाया, भटकता रहा।

दूसरे को ननिहाल की सम्पत्ति मिली, पढ़ाई का सुयोग मिला। अवसर अनुकूल आते गये, वह बढ़ता गया। गाँव उसने भी छोड़ दिया है। नगर के बाहर उसकी बड़ी विख्यात कोठी है। बगीचा है, मोटरे हैं, नौकरों की भीड़ है। अब उसे कहाँ अवकाश है कि गाँव जाय। गाँव पर उसके कोई चचेरे भाई रहते हैं। उन्होंने वहाँ पक्का मकान बनवा लिया है। अब वहाँ एक तो क्या कई गड़गडे रहते हैं। हाथी और घोड़ों दोनों साथ

रहे वहाँ और अब तो दोनों का स्थान मोटर ने ले लिया है। 'लेकिन उसे कहाँ अवकाश है यह सब जानने का।' वह एक नन्हे-से गाँव की बात कहाँ सोचता बैठ सकता है। वह गाँव उसे कब तक भूल चुका है।

जीवन की दिशा बदलती है, उसके स्वप्न बदलते हैं। जब घर ही नहीं रहा, घर के स्वप्न समाप्त हो ही जाना था। वह पहले घर छोड़ने को विवश हुआ, स्थान-स्थान पर भटकता रहा, उसके स्वप्न छोटे होते गये। कभी बढ़े भी तो बढ़ने को आगे स्थान न देखकर संकुचित हो गये। निराशा, विफलता, प्रतिकूलता ने उसे दी- उदासीनता, दृढ़ता, तटस्थता। क्या कठिनाई आवेगी या आ सकती है, इसे सोचना अब उसे व्यर्थ जान पड़ता है। इतनी कठिनाइयाँ, इतने संकट वह झेल चुका है कि अब और क्या नया होना है। क्या सुख, क्या सुविधा मिलेगी या मिल सकती है, इससे उसे रस रहा ही नहीं है। जब उन्हें दो दिन में नष्ट ही होना है, वे आवें या जायँ। उसने अनुभव कर लिया है इस भटकने-भटकाने में कि सुख-सुविधा बने रहना भी कोई अर्थ नहीं रखता। बहुत शीघ्र उनका रस बासी पड़ जाता है। वे फीके पड़ जाते हैं।

सुख न चाहे ऐसा प्राणी हो कैसे सकता है। दुःख सभी को उद्विग्न करते हैं, सुख सभी को लुभाते हैं। लेकिन दुःख भोगते-भोगते भी एक 'टेव' पड़ जाती है। आप कह सकते हैं कि उसे 'टेव' पड़ गयी है। लेकिन बात ऐसी नहीं है। उसके मन ने उससे कभी पूछा था- 'ऐसा नहीं हो सकता कि कठिनाइयाँ आती रहें और हम मौज में बने रहें। सुख का स्वाद बासी और फीका पड़ जाता है तो दुःख का स्वाद तीखा ही क्यों बना रहे। वह क्या बासी नहीं पड़ेगा? दुःख भी बासी पड़ता है। दीर्घ रोगी अपने रोग के कष्ट को उतना अनुभव नहीं करता, जितना नया रोगी अनुभव करता है। जो विपत्ति भाग्य में लाया हो, उसे दुःख का बासी होना जानते कितने दिन लगने थे।

वह भी अभ्युदय चाहता था। परिस्थिति ने उसे विचार का स्वभाव दिया था। विचार के अतिरिक्त कुछ करने को था ही नहीं उसके पास। वह अपने विचार में ही अभ्युदय का स्वप्न देखने लगा था- 'दुःख यदि मन को स्पर्श ही न करे? आने के पहले ही वह बासी हो जाय?' सुख बासी होकर दुःख हो जाता है, यह तो सबका नित्य का अनुभव है। 'सुख ताजा किया ही न जाय तो?' उसे लगा कि उसने दुःख को सदा के लिए बासी बना देने का मर्म देख लिया है।

पर्वत की टेढ़ी-मेढ़ी, आड़ी-तिरछी शिलाएँ धारा के प्रवाह में पड़कर बराबर हो जाती हैं, चिकनी हो जाती हैं, गोल हो जाती हैं। बहुत लुढ़कना पड़ता है उन्हें, बहुत टक्कर खानी पड़ती है। कभी कोई ग्रामीण उन्हें उठाकर यदि पीपल के नीचे या वेदी पर रख दे तो वे भगवान् शंकर की प्रतिमा बन जाती है। वह कहता है- 'मैं लुढ़का और

टकराया, गोल तो हो चुका। सुख आवे या दुःख– दोनों मुझे छूते चले जाते हैं । मेरा अभ्युदय तो हो चुका। मन्दिर की मूर्ति बनना कुछ मेरे बस की बात है नहीं। जिसे जब बनाना होगा, बना देगा।'

× × ×

(३)

'तुम इसे अभ्युदय कहते हो? इन ईंट और पत्थरों– को? इन चाटुकारों के समुदाय को?' वह आज अपने पुराने मित्र से मिलने आया है। उसके मित्र की महानता आपको स्वीकार करनी होगी। उन्होंने अपने पहरेदारों को नहीं कहा– 'मुझे अवकाश नहीं है। कह दो, फिर कभी आवें।' उन्होंने नहीं सोचा कि एक कंगाल, अप्रख्यात साधारणतया अपठित जैसे व्यक्ति के लिये वे क्यों अपना मूल्यवान् समय नष्ट करें। वे गये स्वयं द्वार तक, उसे ले आये। उसका स्वागत किया। उसे जलपान कराया। उसके संतोष के लिये उसके साथ एकान्त में बातें करने बैठे हैं लेकिन वह भी अदभुत है। वह तो ऐसे बोल रहा है, जैसे अपनी पाठशाला के उसी पुराने छात्र से बोल रहा हो। 'सचमुच तुम्हारे पास अब कोई स्वप्न नहीं? तुम सुखी और संतुष्ट हो?'

'कहाँ की बात करते हो तुम!' उन्होंने एक लंबी श्वास ली। 'अभ्युदय की तो बात ही दूर है। अभी तो ठिकाने से उसका श्रीगणेश भी नहीं हुआ है। लेकिन मैं प्रयत्न में लगा हूँ। मेरा अभ्युदय– मेरा अभ्युदय तो वह कि विश्व के लोग शताब्दियों तक मुँह में अँगुली दबाये रह जाया करें।

'कुछ लोग तुम्हारे वैभव पर अब भी चकित रह जाते हैं।' उसने कहा– 'चकित रहने वाले दस हों, दस हजार हों या दस करोड़ हों। दस दिन वे चकित रहें या दस शताब्दी, बात तो वह–की वह रहेगी न?

'तुम अब अद्‌भुत हो गये हो।' उन्होंने उसकी ओर हँसकर देखा।

'तुमसे अद्‌भुत नहीं।' वह हँसा नहीं– 'तुम तो ईंट, पत्थर और मूर्खों द्वारा की गयी प्रशंसा में अभ्युदय मान बैठे हो। तुमने कभी सोचा है कि अभ्युदय का अर्थ होता है सुख, शान्ति और संतोष? कितना मिला है वह तुम्हें अपने उद्योग में?'

'तुम्हें मिला है वह?' उन्हें अच्छा नहीं लगा कि यह कंगाल उनका इस प्रकार परिहास करे। ये अपने उद्योग–में नितान्त विफल लोग दूसरों का उपहास करके ही संतोष करते हैं।

'कभी तुम पर कोई संकट आया है?' उसने उनके प्रश्न का उत्तर न देकर एक नया ही प्रश्न कर दिया।

'संकट किस पर नहीं आता।' अब उनके स्वर में उपेक्षा मात्र थे।

'कभी तुम्हें संकट पर किसी अज्ञात शक्ति को पुकारना पड़ा है? कभी तुम्हें लगा है कि संकट तुम्हारी बुद्धि या शक्ति से नहीं, किसी अज्ञात के संकेत से दूर हो गया है।' वह उपेक्षा का तो सदा का अभ्यस्त ठहरा। कोई नवीनता उसे उपेक्षा में लगी नहीं थी। वह तो अपनी बात अपने ढंग पर कहने का अभ्यासी है।

'मैं आस्तिक हूँ। भगवान् में मेरा विश्वास है।' उन्होंने स्थिरता पूर्वक कहा।

'सो तो है, लेकिन तुमने कभी यह भी सोचा है जीव का अभ्युदय उस भगवान् से भी कुछ सम्बन्ध रखता है या नहीं?' वह गम्भीर होता जा रहा था।

'मुझे धार्मिक अध्ययन का अवकाश नहीं मिलता।' उन्होंने यह कहना अपने गौरव के अनुकुल नहीं समझा कि वह इस विषय में उनसे अधिक जानता है।

'जो विपत्ति में अकारण हमें सहायता देता है, हमारे अभ्युदय में उसकी सहायता हमें अपेक्षित नहीं होनी चाहिये?' वह जो कुछ कहना चाहता है, उसके निकट आता जा रहा है।

'उसकी सहायता तो हमें सदा ही अपेक्षित है।' अब सहसा उनके स्वर में फिर स्नेह आया। बड़े-से बड़ा व्यक्ति भी दुर्बल होता है। संसार तो है ही दुर्बलता का क्षेत्र। जहाँ दुर्बलता है, वही दैन्य है और अपेक्षा है। वे जैसे अनुरोध कर रहे हों- 'तुम मेरे लिये प्रार्थना नहीं करोगे?'

'माता-पिता से प्रार्थना नहीं करनी पड़ती। शिशु का कल्याण किसमें हैं, यह वे स्वयं जानते हैं। शिशु के अभ्युदय में वे उसके नित्य सहायक होते हैं। वे मना करें, उधर न जाय; वे प्रोत्साहित करें, उधर बढ़ने का प्रयत्न करे शिशु का अभ्युदय तो उनके हाथों में सुरक्षित है। अब की बार उसने अपनी पूरी बात जैसे समाप्त कर दी। उठकर खड़ा हो गया विदा लेने के लिये।

'अद्भुत पागल है।' उन्होंने रोका नहीं। उनके पास व्यर्थ नष्ट करने को समय नहीं था। उसकी बातें सोचने-समझने के स्थानपर अनेक योजनाएँ थीं और उनमें सफलता प्राप्त करने के लिय तत्काल उन्हें व्यस्त हो जाना चाहिये था। उसे द्वार तक विदा करके वे अपने कार्य में लग गये।

× × ×

दोनों मित्रों को अपने-अपने मार्ग से जाना ठहरा। दोनों के अभ्युदय के आदर्श भिन्न हो चुके हैं अब। दोनों के स्वप्न, किंतु अब एक के पास तो कोई स्वप्न नहीं है। वह कहता है- 'जो अचानक अज्ञात रहकर भी आपत्ति में मुझे बचा लेता है, मेरा

अभ्युदय उसके हाथ में सुरक्षित है। क्या है वह, मैं इस झमेले में नहीं पड़ता। आज या कल, मेरे पिताजी के पास जो है, वह मेरा नहीं है, ऐसा कहने वाला ही मूर्ख है।'

पानी का प्रवाह आता है, प्रवाह में पड़ा पत्थर कभी हिलता है, डोलता है, कभी गीला होता है, कभी तट पर पड़कर धूप में गरम हो उठता है। वह घिसघिसकर गोल हो गया- बस। मन्दिर में आराध्य-पीठ पर उसे धरना न-धरना तो धरने वाले की इच्छा; किंतु अब उसे प्रवाह से कुछ लेना नहीं, तट पर पड़ती धूप में तपते रहने में कुछ बिगड़ता नहीं। वह कहता है- 'मैं तो अब गोल-पत्थर हो गया।'

पानी का प्रवाह आता है, पर्वत की बड़ी शिला पर टकराता है, शिला का कण-कण टूटता, गिरता रहता है। घिसती, टूटती क्षीण होती रहती है शिला। 'मैं इतने प्रवाह से ऊपर खड़ी हूँ।' उसका यह गर्व उसे तृप्त करता हो तो भले करे। लेकिन उसकी दो ही गति है- कण-कण टूटकर रेत बन जाना या प्रवाह में लुढ़कर गोल होने के लिए अपने को छोड़ देना। किसमें अभ्युदय है उसका?

एक के पास स्वप्न है। स्वप्न सत्य करने की धुन है। सबके पास स्वप्न होते हैं। सबके स्वप्न सत्य नहीं होते। सबमें वह धुन नहीं होती। लेकिन स्वप्न सभी के पास हैं। जो जैसा है, वैसा हैं उसके स्वप्न। चोर विश्व का सर्वश्रेष्ठ चोर बनना चाहे, तपस्वी विश्व का सर्वोत्तम तपोनिष्ठ होने का विचार करे, कवि विश्व कवि की उपाधि की आकांक्षा करे- यह तो अब चल ही रहा है। प्रत्येक विषय में रेकार्ड स्थापित करने की प्रतिद्वन्द्विता चल रही है। अभ्युदय है रेकार्ड स्थापित कर देने में?'

एक के पास के स्वप्न ही समाप्त हो गये हैं। उसे न सुख-सुविधा की बहुत लालसा है, न अभाव-आपत्ति का कोई विशेष भय। वह तो जैसे पत्थर है। जो आता हो आ जाय। उसका कहना है- 'अभ्युदय तो वह जहाँ सुख का सागर उमड़-घूमड़कर चरणों में चुप बैठ जायें और दुःख का झंझावत फुंकार मारता-मारता सिर पटककर स्वयं थक जाय। सुख-शान्ति और सन्तोष-अभ्युदय तो इनकी पूर्णता में है और वह पूर्णता कुछ मनुष्य के बस की नहीं। वह तो जो नित्य पूर्ण में हैं, उसके ही श्रीचरणों में सुरक्षित है। मनुष्य तो उन चरणों की ओर देखे-बस हो गया।'

आप भी तो अभ्युदय चाहते हैं? कैसा है आपका अभ्युदय। अपने अभ्युदय के विचारों को आप इन दोनों मित्रों में से किसके साथ रखना पसन्द करेंगे?

एक विख्यात व्यापारी ने विष खाकर आत्महत्या कर ली। उनके सिरहाने एक बन्द लिफाफा पाया गया। उसमें लिखा मिला– 'मुझे बहुत बड़ा घाटा हुआ है। सब हिसाब चुका देने पर अब मेरे पास कुल दो करोड़ रुपये बच रहेंगे। मैं दरिद्र हो गया। दरिद्रता के इस जीवन से बचने के लिए मैं मर रहा हूँ।' समाचार-पत्रों में बड़े मोटे अक्षरों में शीर्षक-उपशीर्षक देकर समाचार छपा था। पूरा नाम-पता दिया गया था। संसार की इतनी असाधारण घटना– केवल दो करोड़ रुपये बच रहते हों जिसके पास ऐसा धनी या कङ्गाल अपनी कङ्गाली की कल्पना से व्यथित होकर मर गया था। समाचार-पत्रों के कालम भरने के लिए तथा समाचार-पत्रों के पाठकों के लिए यह कौतूहलप्रद समाचार था और आप इस समाचार को उत्साह प्रद भी कह सकते हैं; क्योंकि इसे भेजनेवाले संवाददाता, छापनेवाले सम्पादक एवं पढ़नेवाले पाठकों में से सबने उत्साह दिखलाया। इस समाचार से समाज का या पाठकों का क्या हित हुआ? यह प्रश्न पूछना सभ्यता नहीं है। समाचार-पत्र का काम समाचार छापना है– उत्साह प्रद समाचार। पाठक उससे हित के लिए उत्साह प्राप्त करेगा या अहित के लिए, यह ठेका उसने नहीं ले रक्खा है।

'वज्रमूर्ख था यह करोड़पति।' निरञ्जन के पास इतने पैसे नहीं हैं कि वह समाचार पत्र खरीदकर पढ़ सके। उसे व्यसन है पढ़ने का, सो एक दुकान पर जाकर पढ़ लेता है। समाचार देखकर वह स्वयं बड़बड़ाने लगा– 'एक करोड़पति, इतना उपार्जन करनेवाला, व्यवहार तथा व्यापार में अत्यन्त चतुर और इतना मूर्ख निकला।'

'क्या मूर्खता की उसने?' दूकान जिनकी है, वे पढ़े-लिखे सुसभ्य पुरुष हैं। मिलनसार तो है ही, विचारशील एवं उदार हैं। उन्होंने निरञ्जन की ओर देखते हुए कहा– 'हम सभी ऐसी मूर्खता नित्य कर रहे हैं। हममें से किसे अपनी स्थिति पर सन्तोष है? अपनी स्थिति यदि सहसा गिर जाय, हममें से कितने हैं, जिन्हें धक्का नहीं लगेगा? उस व्यापारी के पास दो करोड़ बच रहे थे, आप यही सोचते हैं। एक भिखमंगे के लिए किसी की जेब में दो रुपये पड़े हों, यह भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है, जितना

हमारे आपके लिए किसी के पास दो करोड़ बच रहना।'

'और वह दो रुपये जेब में रखकर व्याकुल होनेवाला भी उतना ही मूर्ख है?' निरंजन घूम पड़ा दूकानदार की ओर।

'हम सब अपने से ऊपर की ओर ही देखते हैं। हमारी अशान्ति का यही कारण है।' दूकानदार ने स्वस्थ चित्त से कहा- 'हम अपने से नीचे की ओर देखें तो अशान्ति का कारण कभी मिले ही नहीं। अन्ततः नन्हीं-सी झोपड़ी में पूरे परिवार को लेकर पड़े रहनेवाले, फटे चीथड़ों में जीवन व्यतीत कर देने वाले, ज्येष्ठ की दोपहरी में सड़क पर कङ्कड कूटनेवाले भी तो मनुष्य ही हैं। उनका काम जैसे चलता है, हमारा वैसे चल ही नहीं सकता, ऐसी क्या विशेषता है हममें?'

'क्या विशेषता है मुझमें? मेरे सामने ही तो ननकू रहता है। स्त्री है, तीन बच्चे हैं और कितनी छोटी, कितनी टूटी झोपड़ी है उसकी।' निरंजन के हाथ से समाचार पत्र गिर गया। 'वे स्त्री-पुरुष मजदूरी करते हैं। भला क्या मिलता होगा उन्हें? कितने प्रसन्न रहते हैं वे। मैं भी कितना मूर्ख हूँ। मैं भी जो आज उस व्यापारी की भाँति आत्महत्या करने जा रहा था। मेरी जेब में अब भी दो रूपये हैं और ......।' उसके नेत्र भर आये। उसके तो आगे-पीछे कोई है नहीं। इतने बड़े संसार में जब इतने मनुष्य जीवित हैं, वही क्यों बहुत अधिक सुविधा चाहता है? क्यों उसका जीवन सादगी से नहीं चल सकता। वह अध्यापकी कर लेगा और इतना पर्याप्त है उसके लिए।

'वह व्यापारी इसलिए मूर्ख नहीं था कि रुपये की चिन्ता से वह मर गया।' दूकानदार ने कहा- 'उसकी मूर्खता यही थी कि इतना अधिक धन एकत्र करने में वह लगा रहा। इतने धन की चिन्ता लिए वह इतने दिन जीवित रहा। ऐसा धन, जिसका कोई उपयोग नहीं था उसके लिए और जिसके पीछे वह ठिकाने से सो भी नहीं सकता था।'

'उसके भोजनालय में तो टेलीफोन था ही, शयनागार तथा शौचालय में भी टेलीफोन लगे थे। वहाँ भी वह शान्ति से खाना, बैठना या सोना नहीं चाहता था- चाह नहीं सकता था।' समाचार पत्र में मृत व्यक्ति के विषय में बहुत कुछ छपा है और उसे निरंजन पढ़ चुका है। 'डॉक्टरों ने उसके केवल शाक के रस पर रहने की सलाह दी थी और कई वर्षों से वह दूसरा कोई भोजन कर नहीं सका था।'

'हम सभी एक-से हैं। हम सबके मन को व्यर्थ- निष्प्रयोजन कार्य प्रालुब्ध करते हैं और हम सदा उन्हें पूर्ण करने के प्रयत्न में रहते हैं। अवसर न मिले और हम उन्हें पूर्ण न कर सकें, यह दूसरी बात है।' दूकानदार गम्भीरता से कह रहे थे- 'हम सबको पेट भरने को थोड़ा-सा अन्न चाहिए और बैठने-सोने को थोड़ी-सी छाया। लेकिन हममें से कितने हैं जो बहुत बड़ी रकम एकत्र करना नहीं चाहते! कौन नहीं सोचता कि उसका घर भी विशाल एवं भव्य बने।'

'ओह, यदि हम इस प्रकार सोचने लगें- कितनी चिन्ताएँ घट जायँ। कितनी शान्ति मिले मनुष्य को।' निरंजन ने मस्तक झुका लिया। 'क्यों मनुष्य सोचता नहीं! पूरे कुएँ में ही भाँग क्यों पड़ी है?'

'इसलिए कि हम मूर्ख हैं!' दूकानदार खुलकर हँस पड़े।

'सब-के-सब मूर्ख!' निरंजन चौंका और आप भी चौंकेंगे। जो व्यक्ति सारे संसार को- एक ओर से वैज्ञानिक, दार्शनिक, राजनीतिज्ञ, समाजशास्त्री आदि बड़े-बड़े सभी विद्वानों को मूर्ख कहे, उसका सिर ठिकाने है, ऐसा मानने-को क्या आपका चित्त चाहेगा? आप नहीं सोचते कि उसे अपने मस्तिष्क का कहीं परीक्षण करना चाहिए? लेकिन निरञ्जन आज इन बातों को उड़ा देने की मनःस्थिति में नहीं है। उसका मस्तिष्क इतना व्यापक भी नहीं कि चाहे जितना वह सुनता जाय। उसके दोनों कानों को छिद्र ब्रह्माजी ने ठीक सीध में नहीं बनाये। एक कान से सुनी बात दूसरे से फुर्र-से निकल नहीं पाती, कुछ गले से नीचे-ऊपर हो जाती है। आज जो उसने सुना है, उसे मस्तिष्क में ठिकाने से जमा देने या फिर वहाँ से निकाल बाहर करने के लिए उसे अवकाश चाहिए।

× × ×

'मैं दर्शन करने जा रहा हूँ।' निरञ्जन नियम से यहाँ मन्दिर में दर्शन करने जाता है। आज उसका मन समाचार पत्र पढ़ने में नहीं लगा, अतः शीघ्र उठ खड़ा हुआ।

'आप दो मिनट रूकें तो मैं भी चलता हूँ।' दूकानदार को दूकान बन्द करने का अवकाश चाहिए। दूकान पर कोई नौकर तो है नहीं, कहीं जाना हो तो ताला बन्द करके ही जाना पड़ता है।

'आप ऐसे ही चलेंगे?' ये महोदय बड़े विचित्र प्राणी हैं। जो धोती पहन रक्खी है, उसी का एक छोर कंधे पर डाले ये दूकान में दिनभर डटे रहते हैं। अब मन्दिर जाते समय भी गले में एक कुर्ता डाल लेना इनको आवश्यक नहीं प्रतीत होता।

'इस गरमी में इतना क्या पर्याप्त नहीं है?' हँस पड़े वे। 'कुछ पहन लेने से मुझे तो कोई सुख मिलेगा नहीं और दूसरे क्या कहेंगे, यह केवल धोखा है। क्या हम आप यह देखते चलते हैं कि किसके शरीर पर कैसे वस्त्र हैं और किसका वेश कैसा है?'

'हम कहाँ देखते हैं कि किसके वस्त्र मैले हैं, किसके उज्जवल हैं। किसके कपड़े फटे हैं और किसके कपड़ों पर धब्बे हैं। किसका जूता चमकता है और किसके जूते में टुकड़े जुडे हैं। किसकी दाढ़ी घुटी है और किसकी चिकनी है।' निरंजन सोचने लगा- 'घर से चलते समय हम अपने वस्त्र, जूते आदि कितना देखते हैं। शीशे में कितनी बार

मुख देखते और केश ठीक करते हैं। दाढ़ी पर किस प्रकार हाथ फेरते हैं। हमें लगता है कि सारा बाजार हमें और हमारे वस्त्रादि को ही देखगा। जबकि हम दूसरों की ओर तनिक भी ध्यान नहीं देते।'

'बहुत गन्दा या बहुत उत्तम वेश दृष्टि खींचता है।' दूकानदार ने चलते-चलते कहा- 'हम असाधारणता की ओर आकर्षित होते हैं; किंतु इससे हानि-लाभ क्या? किसी ने हम को देखा तो और न देखा तो। कोई हमारे विषय में क्या सोचता है, इससे हमें क्या हानि-लाभ। हम दूसरो को देखने या सोचने की चिन्ता से कितने अधिक व्यस्त बनते हैं? कितने व्यग्र होते हैं इसके लिए और क्या अर्थ है इसका?'

'ऐसे तो हम बहुत-से काम व्यर्थ ही करते है।' निरंजन ने कहा।

'प्रायः अधिकांश काम व्यर्थ करते हैं।' दूकानदार ने और स्पष्ट किया- 'और उन व्यर्थ कामों के लिए चिन्तित रहते हैं, क्लेश उठाते हैं तथा अनेक बार उन्हें करके हानि भी उठाते हैं। इतने पर भी जान-बूझकर हम उन्हें करते हैं।'

'जान-बूझकर हानिप्रद कर्म कोई क्यों करेगा?' निरंजन ने शङ्का की।

'सब जानते हैं कि पर स्त्री की ओर कुप्रभाव से देखना पाप है और इससे मानसिक तथा कुछ अंशों में शारीरिक हानि भी होती है। इस देखने से किसी प्रकार का कोई लाभ नहीं होता। दूकानदार सहज भाव से कह रहे थे- 'ऐसे और भी बहुत से कार्य हैं। गर्मियों में शरीर पर वस्त्रों का भार लादे रहना क्या लाभ पहुँचाता है किसी को?'

'फैशन' निरञ्जन कहते-कहते रुक गया। उसे स्वयं लगता है कि मूर्खता का ही दूसरा नाम कदाचित् 'फैशन' है और कितने मजे की बात है कि इसे सभ्यता का चिह्न माना जाता है। फैशन के नाम पर पार्टियों में अल्लम-गल्लम भोजन, अस्त-व्यस्त वार्तालाप, असङ्गत चेष्टाएँ- क्लब-जीवन तथा सुसभ्य पार्टियों के बहुत अधिक संस्मरण हैं उसके पास। स्वास्थ्य एवं चरित्र दोनों की बलि के अतिरिक्त और क्या मिलता है उसमें?

'शिक्षा बढ़ रही है, सभ्यता बढ़ रही है, समाज प्रगति कर रहा है।' निरंजन ने दूसरे प्रकार से सोचना चाहा। समाज के उर्वर-मस्तिष्क मनुष्य के इस अज्ञान को भी मिटावेंगे ही, ऐसी सम्भावना थी उसके स्वर में।

'साथ-साथ मूर्खता भी बढ़ रही है, यह कह देने से वर्णन पूरा हो जाता है।' दूकानदार के स्वर में व्यङ्ग नहीं, खेद था। 'समाज आज प्रगति तो कर रहा है; किंतु वह प्रगति है प्रकाश से अन्धकार की ओर। ज्ञान से अज्ञान की ओर हमारी गति तीव्र होती जा रही है। हम मूर्ख से वज्रमूर्ख बनते जा रहे हैं।'

'आप पूरे विद्वद्वर्ग को मूर्ख कह रहे हैं।' निरंजन ने चेतावनी दी।

'विश्व के उच्चतम मस्तिष्क आज इस प्रयत्न में लगे हैं कि ऐसे साधन प्राप्त किये जायँ जिनमें कम-से-कम समय और व्यय में अधिक-से-अधिक प्राणियों का संहार सम्भव हो।' दूकानदार को कुछ अधिक नहीं कहना था। उन्होंने कहा- 'मुझे उनकी प्रतिभा एवं विद्या में कोई सन्देह नहीं है; किंतु वह प्रतिभा प्रकाश में दौड़ रही है या अन्धकार में भटकती जा रही है, यह भी क्या तर्क से सिद्ध करना होगा?'

'विज्ञान का चरम लक्ष्य समाज की सेवा है।' निरंजन ने पुस्तकों में रटे शब्द दुहराये।

'अर्थात् आवश्यकता की वृद्धि करना!' दूकानदार शान्त बने रहे। 'अनावश्यक पदार्थों की वृद्धि और उनके संग्रह की प्रवृत्ति मनुष्य में उत्पन्न करना। मनुष्य के जीवन एवं मन में अशान्ति तथा अस्थिरता को बढ़ाना।'

'आपकी विचार-शैली ही विचित्र है!' निरंजन की बात ही सम्भवतः आप भी कहेंगे।

'शैली का आग्रह कहाँ करता हूँ मैं। मैं तो विचार का आग्रह करता हूँ। हम क्या कर रहे हैं? क्यों कर रहे हैं? क्या परिणाम प्राप्त होगा इससे? वह परिणाम न हो तो क्या बिगड़ जाय? इन बातों को हम विचार लिया करें- बस, इतने से ही सारी उलझनें सुलझ जायँ।' दूकानदार ने कहा- 'लेकिन हम विचार नहीं करना चाहते। विचार करने की बात भी सुनना नहीं चाहते और फिर भी हम विद्वान् हैं, बुद्धिमान हैं- पता नहीं क्या-क्या हैं!'

'सब लोग एक ओर से बुद्धू हैं!' निरञ्जन मुँह में ही बुदबुदाकर रह गया। अब मन्दिर आ गया है। मन्दिर के भीतर कोई भी बातचीत न करने का नियम बना लिया है उसने। भगवान् के इस दिव्यपीठ के सम्मुख वह अपने को एकाग्र रखना चाहता है।

× × ×

ये दूकानदार महोदय भी अद्भुत प्राणी हैं। पिता की आज्ञा से एम०ए० पास करने के पश्चात् इन्होंने वकालत पढ़ी और जब वकालत करने का समय आया तो कहने लगे- 'यह तो धूर्त बनाने की विद्या है।' पिता की मृत्यु के पश्चात् घर में जो कुछ था, उससे जोड़-बटोरकर यह कागज, कापी, स्लेट, पेन्सिल आदि 'स्टेशनरी' की दूकान कर ली इन्होंने। अभी युद्धकाल के पिछले वर्षों में जब दूसरे दूकानदार इधर-उधर से माल एकत्र करने और बिक्री बन्द रखने में व्यस्त थे, जबकि वस्तुओं के दाम पर इस प्रकार बढ़ते जा रहे थे कि बेचने की अपेक्षा बचाने में ही बहुत लाभ था, इनकी दूकान पर भीड़ लगी रहती थी।

'इस पेन्सिल का बाजार में 6 पैसे भाव हो गया है और आप जब तक खरीदने

जायँगे सात पैसे भी हो सकता है!' एक हितैषी ने एक बार सावधान करना चाहा। ऐसे अकारण कृपालु बहुत मिलते हैं। बिना पूछे ऐसी शुभ सम्मति प्राप्त होती ही रहती है।

'मैंने इसे चार पैसे के भाव में खरीदा था। अब पाँच के भाव से बेच रहा हूँ।' बड़ी निश्चिन्तता से इन्होंने उत्तर दिया– 'यदि आगे सात के भाव से खरीदना पड़ा तो आठ के भाव बेचूँगा।'

'अभी तो महँगी के दिन हैं। आप चाहे जैसा कर सकते हैं।' कहने वाले ने व्यङ्ग्य किया– 'जब मन्दी के दिन आयेंगे कोई ग्राहक नहीं सुनेगा कि आपने सात पैसे के भाव खरीदा है।'

'मैं जानता हूँ कि मन्दी आवेगी एक दिन और यह भी जानता हूँ कि जनता कृतज्ञ नहीं हुआ करती; किंतु मैं किसी से कृतज्ञता कहाँ चाहता हूँ। मैं अपना कर्त्तव्य पालन करता हूँ, किसी पर उपकार तो करता नहीं।' इनका ऐसे अवसरों पर बँधा उत्तर है– 'सस्ती आवे या महँगी, मेरा प्रारब्ध तो जो है, वही रहेगा।' आप जानते ही हैं कि ऐसे दूकानदार की दूकान में बहुत माल भरा नहीं रह सकता। जब मन्दी आयी–दूसरों के लिए ही वह आयी। इन्होंने तो जैसे उसका कभी अनुभव किया ही नहीं।

ऐसी विचित्र प्राणी को निरंजन उस दिन प्रस्तुत कर सका किसी प्रकार अपने यहाँ भोजन करने के लिए। 'मिर्च नहीं, खटाई नहीं, यह नहीं, वह नहीं– अनेक सूचनाएँ' निमन्त्रण स्वीकार करने के साथ दी इन्होंने।

'मना करने पर भी आपने परस दिया! इसे छोड़ना पड़ रहा है, क्षमा करेंगे।' बड़ी नम्रता से कह रहे थे। भोज़न करने वालों का स्वभाव अभ्यागत को हठ पूर्वक अधिक खिलाने का होता है। निरंजन ने भी ऐसा ही किया था, किंतु इन्होंने तो उसमें से ग्रास ही नहीं तोड़ा। 'मैं इसे हठपूर्वक पेट में पहुँचा तो सकता हूँ, लेकिन ऐसा करने से पेट और पदार्थ दोनों खराब होंगे। पदार्थ बाहर रह गया तो किसी पशु–पक्षी के काम आ ही जायगा।'

'आप स्वाद को कोई महत्त्व नहीं देते?' निरञ्जन ने भोजन के पश्चात् पूछा।

'स्वाद लेने में भी विचार की आवश्यकता होती है।' निरंजन को लगता है कि अत्यधिक दार्शनिकता ने इन बेचारे को अजीब बना डाला है।

'पदार्थ का स्वाद तब तक, जब तक वह गले से नीचे नहीं उतर जाय। लेकिन यदि अविचार पूर्वक कोई स्वाद लेने लगे तो पेट खराब हो जायगा और स्वाद लेना सर्वथा बन्द हो जायगा।' उस व्यापारी को शाक के रस पर रहना पड़ता था, यह स्मरण दिलाकर वे बोले– 'यही दशा प्रत्येक इन्द्रिय के स्वाद की है। जिसका अविचार पूर्वक सेवन होगा, उसी की स्वाद शक्ति नष्ट हो जायगी।'

'एक महन्त जी को इत्र का अत्यधिक व्यसन था।' निरञ्जन ने बताया– 'वे काले

कपड़े पहनते थे पर्याप्त इत्र मलने की सुविधा के लिए; किंतु उनकी नासिका ने अन्त में गन्ध ग्रहण करना ही छोड़ दिया।'

'ऐसे लोग अब भी हैं, जिन्होंने कामुकता वश अधिक विवाह किये अथवा अनाचार का आश्रय लिया। उनकी क्या गति होती है, जानते हो?' पूछा उन्होंने।

'वे प्रायः नपुंसक हो जाते हैं और औषधियों के पीछे पड़कर अपना पूरा स्वास्थ्य नष्ट कर लेते हैं।' निरञ्जन स्वयं इस विषय में कठोर संयम का पक्षपाती है और मित्रों को भी संयम के लिए प्रेरित किया करता है।

'इन्द्रिय कोई भी हो, उसके विषय का अत्यधिक सेवन उसे असमर्थ बना देता है।' उन्होंने अपने मूल विषय पर आते हुए कहा– 'समाज की विषयोन्मुख प्रवृत्ति विचार पूर्वक नहीं है। विषय-सुख की वृद्धि और उसके अधिकाधिक सेवन की लोलुपता मूर्खता है। आज पूरा समाज इस मूर्खता से ग्रस्त है, जिसका परिणाम रोग, शोक, अशान्ति एवं विनाश के अतिरिक्त और कुछ नहीं।'

'पूरा समाज मूर्ख!' यह बात गले से नीचे नहीं उतरती। निरञ्जन यहाँ पहुँचकर झुँझला उठता है। अब अतिथि को भी अपनी दूकान जाने की शीघ्रता है। ताम्बूल तो उन्हें चाहिए नहीं, दो दाने इलायची और....

× × ×

'आप सबको मूर्ख क्यों कहते हैं?' निरञ्जन आज उनकी दूकान पर जमकर बैठ गया है। जब इनकी बातें बुद्धि पूर्वक होती हैं तो भूल कहीं इनके तर्क में है या अपनी झल्लाहट में, इसे आज वह समझ लेना चाहता है।

'आप क्या समझते हैं कि सब लोग ज्ञानी हैं?' वे हँसे। उन्हें पता है कि निरञ्जन क्यों झल्लाता है और इस झुँझलाहट में बचपन कहाँ छिपा है।

'नहीं तो।' चौंका वह – 'ज्ञानी संत तो संसार में बहुत थोड़े होते हैं।'

'सामान्य मनुष्य अज्ञानी हैं।' उन्होंने केवल व्याख्या की– 'चाहे वे कितने भी बड़े विद्वान् या लोक नेता क्यों न हों।'

'यह संसार ही अज्ञान जन्य है।' निरञ्जन ने पुस्तकीय भाषा प्रयुक्त की– 'इसलिए संसार के व्यवहार अज्ञान-प्रवृत्त हैं और संसारी पुरुष अज्ञानी हैं, इसमें तो कोई सन्देह है नहीं।'

'अज्ञान का ही दूसरा नाम मूखर्ता है!' वे हँस रहे थे– 'हम लोग पुस्तकीय भाषा को बोलते हुए भी उसको समझना नहीं चाहते– समझते नहीं, यही हमारी कठिनाई का कारण है।'

'अज्ञान का क्या अर्थ करते हैं आप?' निरञ्जन को एक अद्‌भुत प्रकाश प्राप्त हुआ। 'वह दर्शन-शास्त्र का छात्र रह चुका है और इतनी साधारण बात आज तक उसकी समझ में नहीं आयी!'

'अज्ञान का अर्थ है विचार हीनता, मूर्खता, न जानना या ऐसा ही जो कोई और नाम तुम दे सको।' उन्होंने कहा- 'अज्ञान कोई ऐसा हौआ नहीं है, जो समाधि लगाने या किसी असाधारण स्थिति में पहुँचने से दूर होता हो। वह तो मूर्खता है हमारी और उसे विचार करने का स्वभाव अपनाकर दूर किया जा सकता है।'

'शास्त्र कहते हैं कि यह संसार अज्ञान जन्य है!' निरञ्जन की शङ्का अनेक हृदय में उठ सकती है।

'संसार के अधिकांश व्यवहार इसीलिए चल रहे हैं कि उनके करने वाले मूर्ख हैं। वे विचार नहीं करते अपने कार्य के विषय में।' बड़ी स्थिरता से उन्होंने कहा- 'आप देखते ही हैं कि विषय-प्रवृत्ति हानिकर है और आँख मूँदकर सभी उसी ओर दौड़ रहे हैं। यदि लोग अपने कार्यों के विषय में विचार करने लगें तो क्या रूप रहेगा संसार का?'

'इतने बड़े-बड़े विद्वान्, विचारशील और सब अविवेकी!' निरञ्जन चिन्तन की गहराई से बोल रहा था- 'क्यों ऐसा होता है?'

'आपके प्रश्न का अर्थ है कि अज्ञान का स्वरूप क्या है? और कारण क्या है?' वे फिर हँसे- 'अरे भाई! विचार-से जिसका पता लगे, स्वरूप बोध हो, वह अज्ञान नहीं हुआ करता। जिसका कोई युक्ति संगत कारण नहीं है, विचार करने पर जो नहीं टिकता, वही तो अज्ञान है।'

'आप ज्ञानी हैं?' निरञ्जन के नेत्रों में उल्लास आया। वह कितना भाग्यवान् है कि एक छिपे हुए ज्ञानी महापुरुष से उसका परिचय है।

'नहीं भाई!' उन्होंने दृढ़ स्वर में कहा- 'मैं भी मूर्ख ही हूँ। विचार करने पर भी स्पष्ट प्रतीत होता है कि शरीर के सुख-दुःख, मान-अपमान और एक लकड़ी या पत्थर के खम्भे के सुख-दुःख, मान-अपमान, एक-जैसे ही हैं। शरीर भी जड़ है। इतने पर भी शरीर के सुख-दुःख, मानापमान आदि का मुझे पूरा अनुभव होता है और सुख तथा मान की प्राप्ति तथा दुःख एवं अपमान से बचने के लिए मैं प्रयत्न करता रहता हूँ। विचार के विपरीत आचरण करने वाले ही तो मूर्ख कहे जाते हैं?'

'तो ज्ञानी क्या कोई काम करता ही नहीं?'

'ज्ञानी काम करता है या नहीं करता, यह तो ज्ञानी जाने।' उन्होंने दूसरे ढङ्ग से उत्तर दिया- लेकिन कोई विचारशील न तो दूसरे के काम को अपना मानेगा और न

धूप में पड़े पत्थर के गरम होने से ताप का अनुभव करके हाय-हाय करेगा। हवा चलती है, पेड़ के पत्ते हिलते हैं, टहनियाँ टूटती हैं, कोई पत्ते हिलने और टहनियों के टूटने से हँसे या रोवे तो उसे आप क्या कहेंगे? वृक्ष की भाँति, बाहर पड़े पत्थर की भाँति यह शरीर और इन्द्रियों के साथ मन भी जड़ है। स्थूल और सूक्ष्म दोनों शरीर जड़ हैं। इनके दुःख से संतप्त होना, इनके सुख के लिए व्यस्त रहना, इनके कार्यों को अपना कार्य मानना ही तो अज्ञान है।'

निरञ्जन को गीता का एक श्लोक स्मरण आया-

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते।।

और तब उसे फिर स्मरण आया-

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते।।

उसने पूछा- 'यह अज्ञान कैसे दूर हो?'

'मनुष्य सदा सावधान रहे। विचारशील रहे। अपने को मूर्ख न बनावे।' उन्होंने कहा- 'जो कुछ भी करना है, उसके विषय में पूरा-पूरा विचार करें। विचार न करना या अधूरा विचार करना ही मूर्खता है- अज्ञान है। अज्ञान तो ज्ञान-से-विचार से ही दूर होता है।'

विचार से अज्ञान दूर होता है। हम आप में से कोई भी क्या अपने को विचारहीन समझता है? लेकिन क्या हम सचमुच विचार करना प्रारम्भ करना चाहते हैं?

❑❑

परीक्षा

वे थे तो संन्यासी विरक्त महात्मा, पर मुझ पर उनका बड़ा स्नेह रहता था। पुत्र की भाँति वे मुझसे प्रेम करते। उनकी उस जीर्ण कुटिया की एक-एक वस्तु मैं आते ही उलट-पुलट करने लगता। उसमें था भी क्या? कुछ कौपीन के टुकड़े और दो-चार पुस्तकें। मुझे पुस्तकों से विशेष स्नेह था।

पहले इन महात्माजी को जब देखा तभी उनके तेजोमय प्रसन्न मुख मण्डल तथा वैराग्य के बाह्य चिह्नों से आकर्षित हो गया। शरीर पर उनके एक कौपीन एवं करों में मिट्टी का कमण्डलु। कुटिया में भी कोई ऐसी वस्तु न थी, जिसे संग्रह कहा जा सके।

बालकों का-सा सरल स्वभाव था। बोलते-बोलते हँसते रहते थे। कभी उनके मुख पर क्रोध या उदासीनता के चिह्न दीख ही नहीं पड़े। दोपहर में अपना कमण्डलु लेकर भिक्षा को जाते। कुछ घरों से मधुकरी करके ले आते। मधुकरी के अन्न को पुण्यसलिला जाह्नवी में धोकर पा लिया। बस, यही एक समय उनका भोजन था।

आसपास के लोगों की उन पर अपार श्रद्धा थी। सभी लोग उनकी सेवा करने को प्रस्तुत रहते थे। लेकिन उनकी सेवा ही क्या थी। किसी को भी वे कुछ करने का अवसर ही न देते। कुटिया में भी जब कोई झाड़ू लगाने लगता तो मना कर देते।

कोई भी आवे, कुछ भी पूछे, महात्माजी उसे आत्म संयम तथा भजन करने का ही उपदेश देते। अपनी अपूर्व प्रतिभा से वे किसी भी चर्चा को पारमार्थिक बना लेते। उनके यहाँ कभी सांसारिक बातचीत चल ही नहीं सकती थी। उन्हें पता भी नहीं रहता था कि मेरी कुटिया के पास की बस्ती में क्या होता है।

समीप रहने के कारण तथा स्नेह पाकर मैं कुछ ढीठ हो गया था। उस दिन महात्मा जी मन के संयम पर मुझे समझा रहे थे। मैंने बीच में रोककर कहा- 'मन का संयम तो तब समझा जाय जब प्रसङ्ग आने पर भी वह संयत रहे। जो जङ्गल में मनुष्यों से दूर रहता है, उसमें भला काम-क्रोध आवेंगे किस प्रसङ्ग से? संयमी तो वह है जो इनके प्रसङ्गों के मध्य में रहता हुआ भी निर्विकार रहता है।'

महात्माजी तनिक गम्भीर हो गये। कुछ सोचकर उन्होंने कहा–'तुम कहते तो ठीक हो, मैं अपने मन का विश्वास करता हूँ। आज तक अपने इसी विश्वास पर मैं निश्चिन्त था। अब तुम्हारी बात से परीक्षा आवश्यक हो गयी। देखना है कि प्रसङ्ग आने पर मैं स्थिर रह सकता हूँ या नहीं?'

मैं तनिक हँसकर कहा– 'परीक्षा कैसी होगी? क्या मैं भी उस समय रह सकूँगा?' महात्मा जी की यह नित्य प्रसन्न मुद्रा गम्भीर हो चुकी थी। वे वैसे ही बोले, 'सोच रहा हूँ, परीक्षा कैसे हो। तुम रह सकोगे उस समय।'

मैं महात्मा जी को प्रणाम करके लौट आया। कई दिन हो गए, पर महात्माजी की वह गम्भीरता दूर न हुई। मन–ही–मन मुझे अपने शब्दों के लिए खेद हो रहा था। एक महापुरुष के जीवन में मैंने चिन्ता का अनजान में प्रवेश करा कर घोर अपराध किया।

बहुत साहस करके मैंने कहा, 'महाराज जी! आज कल पता नहीं क्यों आप इतने गम्भीर रहते हैं। क्या आप- लोगों को भी कुछ चिन्ता होती है?' उत्तर मिला– 'चिन्ता तो कोई नहीं, पर मन की परीक्षा का उपाय सोच रहा हूँ। एक बार परीक्षा करके देखना चाहता हूँ।'

वर्षा के दिन थे, घटाएँ घिरी हुई थीं। बीच–बीच में बूँदें भी पड़ रही थीं। एक परिचित यात्री महात्मा जी की कुटी में आया। शहर में उसका कोई भी परिचित नहीं था। सन्ध्या हो चुकी थी, उसे रात्रि–विश्राम के लिए स्थान नहीं मिला था। उसने महात्मा जी से कुटिया में ही रात्रि व्यतीत करने की आज्ञा चाही।

बहुत आग्रह करने पर भी महात्माजी ने मुझे कभी कुटिया में नहीं रहने दिया था। वे रात्रि को किसी को वहाँ नहीं रखते थे। पर आज उन्होंने उस यात्री को अनुमति दे दी। मुझे बहुत आश्चर्य हुआ। वह आदमी कुछ विचित्र–सा लगता था। उसके पास अंग्रेजी ढङ्ग के वस्त्र तथा पण्डिताऊ पगड़ी दोनों थीं।

मैं प्रणाम करके चलने लगा तो महाराज जी कुटिया से मेरे साथ बाहर तक आये। उन्होंने बाहर आकर कहा, 'यदि तुम्हें मेरे मन की परीक्षा देखनी हो तो आज रात्रि को यहीं सो रहो। भोजन करके चले आना।' कुटिया के बाहर एक स्त्री खड़ी थी। वह उसी यात्री के साथ थी। मैंने कुतूहल वश रात्रि को वहाँ आना स्वीकार कर लिया।

भोजन करके मैं महात्माजी की कुटिया पर पहुँचा। वे दोनों यात्री स्त्री–पुरुष कुटिया में थे और महात्मा जी मुझे द्वार के पास ही मिले। वे या तो कहीं बाहर गये थे, या मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे। मैं शीघ्र ही लौट आया था।

कुटिया के भीतर एक छोटा–सा स्थान कोठरी की भाँति बना था। उस पर एक पट लटकाकर महात्माजी ने उसे ध्यान–पूजा के योग्य बना लिया था। उसमें बाहर से जाने

का भी एक मार्ग था। मार्ग तो क्या था, वहाँ से दीवार टूट गयी थी। उसी मार्ग से उस स्थान में जाकर मुझे रात्रि-जागरण की आज्ञा हुई।

महात्माजी ने यात्री से कहा, 'तुम भोजन बना सको तो बनाओ। मेरी प्रतीक्षा मत करना, कुटी बन्द करके सो रहना।' उसी टूटी दीवार के मार्ग से वे भी मेरे पास आकर बैठे रहे। भोजन बनाने की सामग्री यात्री के पास थी, वह पहले से ही चावल, दाल प्रभृति अपने बक्स से निकाल रहा था। हम अब तक भी कुछ न समझ सके कि क्यों वह स्त्री उस यात्री के कार्यों में सहयोग नहीं दे रही है।

कुछ लकड़ियाँ कुटी में पड़ी थीं। वर्षा की गीली लकड़ियाँ सहसा क्यों जलने लगीं? इधर-उधर कुटी में ढूँढ़कर वह यात्री पुस्तकें उठा लाया। वह इन्हें फाड़कर जलाने लगा। मैंने महात्माजी की ओर देखा। एक क्षण के लिए उनके चेहरे पर कुछ रोष की झलक आयी, पर दूसरे ही क्षण उन्होंने मुख पर अँगुली रखकर मुझे चुप रहने का आदेश दिया।

भोजन बना, यात्री ने भोजन किया। स्त्री चुपचाप एक ओर बैठी रही। उसने भोजन करना अस्वीकार कर दिया। भोजन करके उसने कुटिया का द्वार बन्द कर दिया। अपने ट्रंक से बिछाने के लिए एक वस्त्र निकालकर उसने बिस्तर लगाया। उसके लैम्प के प्रकाश में हम सब कुछ देख रहे थे।

अब उसने स्त्री के साथ बलात्कार करने की चेष्टा की। वह रो रही थी, छीना-झपटी में उसके वस्त्र फट गये। वह नग्नप्राय हो गयी। हमें उन दोनों की बातचीत से पता चल गया कि यह इस व्यक्ति के भाई की स्त्री है। इसे यह तीर्थयात्रा कराने ले आया है।

महात्मा जी मेरा हाथ पकड़कर रोक रहे थे। मैंने उनसे हाथ छुड़ाकर दो-तीन ईंटे फेंकी। एक ईंट के लगने से लैम्प फूट गया। हमें ऐसा लगा कि अन्धेरे में वह स्त्री द्वार खोलकर कहीं बाहर चली गयी। यह पूर्ण निश्चय भी तत्काल हो गया, क्योंकि पीछे वह पुरुष उसे खोजने तथा पुकारने लगा।

मैं सो गया था। मुझे पता नहीं कि रात्रि को क्या हुआ। प्रातःकाल उठते ही मैंने अपने पास या कुटी में महात्माजी को नहीं देखा। उस समय मुझे घर आना था। सीधे घर आकर मैं नित्यकर्म से निवृत्त हुआ। दोपहर के पश्चात् भोजनादि करके महात्मा जी की कुटी पर पहुँचा।

कुटी में वह रात को बना हुआ ईंटों का चूल्हा, राख, जूँठे बर्तन तथा टूटा लैम्प ज्यों-का-त्यों पड़ा था। महात्मा जी ध्यानमग्न अपने आसन पर बैठे थे। मैंने उन्हें प्रणाम किया। कुटिया स्वच्छ करने चला तो उन्होंने रोक दिया। उनके संकेत से मैं पास ही बैठ गया।

महात्मा जी बोले, 'देखो परीक्षा तो हो गयी। मैं परीक्षा में उत्तीण और अनुत्तीर्ण दोनों ही रहा। पुस्तकें फाड़कर जब वह जलाने लगा तब मुझे दुःख हुआ और क्रोध भी आया। जब मैं तुम्हें उत्तेजित होने से रोक रहा था तो उस नग्न दृश्य के प्रति कुछ आकर्षण था ही। सबसे बड़ी बात तो यह कि इस समय चित्त में शान्ति नहीं है। वही बातें चित्त में घूम रही है। यह चञ्चलता और अशान्ति ही इसका प्रमाण है कि मन विकृत हो गया था। तुम्हारी उपस्थिति तथा भगवान् की दया से मैं बच गया।'

मैं चुपचाप सुन रहा था। महात्मा जी कुछ रूककर बोले, 'देखो मैं तुम्हें अपना निश्चय बताता हूँ। इसे कभी भूलना मत। कोई भी मन को पूर्णतया वश में नहीं कर सकता। मन कब धोखा दे देगा, इसका कुछ पता नहीं। जान–बूझकर ऐसे प्रसङ्गों को उपस्थित करना, जिसमें मन के विकृत होने का भय हो, अपने पैरों में आप ही कुल्हाड़ी मारना है। जितेन्द्रियपने का गर्व करके कभी भी ऐसी भूल नहीं करनी चाहिये। यही बहुत है कि संसार से दूर रहकर विकारों से बचे रहा जाय। भगवान् ही चाहें तो अकस्मात् उपस्थित हुआ प्रसङ्गों पर विकारों से रक्षा कर सकते हैं। निरभिमान होकर सदा उन्हीं की शरण में रहना और संसार से दूर रहना, यही सुरक्षित पथ है।'

मुझे पता लगा कि उस स्त्री ने पुलिस को सूचना दे दी और पुलिस ने उस यात्री को बन्दी कर लिया है। यह बात बतलाने के उद्देश्य से मैं सन्ध्या के समय पुनः महात्मा जी की कुटी पर गया। कुटिया सूनी थी। महात्मा जी कहीं चले गए थे। बहुत देर तक प्रतीक्षा करके फिर मैं लौट आया। मुझे फिर वहाँ महात्मा जी के दर्शन नहीं हुए।

कई वर्ष बाद मैं अयोध्या गया। सरयू से स्नान करके लौट रहा था, तो बस्ती के किनारे वाले खँडहर से एक पागल निकला। वह ईंटें उठाकर अपने पास आने वालों की ओर फेंक रहा था। मुझे ऐसा लगा कि वह पागल तो वही महात्मा जी हैं।

लोगों ने कहा, 'आप उसके पास न जावें। वह पत्थर फेंककर मारता है।' डर तो मुझे भी लग रहा था, पर साहस करके मैं आगे बढ़ा। मुझे देखते ही वह पागल खँडहर में घुस गया। निकट जाने पर संकेत से उन्होंने मुझे बुलाया।

खँडहर चिथड़ों से भर रहा था। इन चिथड़ों को यही पागल देवता उठा लाये थे। सचमुच वे मेरे वही पूर्व परिचित महात्माजी थे। मुझे आज्ञा मिली 'पानी पिला।' सरयू जी से लाया हुआ जल मैंने उन्हें पिलाया। फिर बोले 'अच्छा, भाग जा यहाँ से, मुझे मनुष्यों से भय लगता है।' मैंने हठ करके उनकी शान्ति में बाधा देना ठीक नहीं समझा। प्रणाम करके चला गया।

द्वार खोलो

'अरे सतीश, बोल तो भाई!' अनेक बार पुकारने, किवाड़ों को हिलाने और कुंडी खटखटाने पर भी कोई शब्द भीतर सुनायी नहीं पड़ रहा था।

'बाबू!' धर्मशाला के चौकीदार ने घबराहट से रमा कान्त की ओर देखा। यदि कोई दुर्घटना हुई तो पुलिस उसे तङ्ग करेगी। 'अभी सवेरे तो नल पर देखा था इन बाबू को। बढ़ई सामने रहता है, बुला लाता हूँ!' यदि यात्री इस प्रकार चिल्लाने और द्वार पीटने पर भी न बोले तो बढ़ई से किवाड़ खुलवाने के अतिरिक्त उपाय क्या रहता है।

'और कोई उसके पास आया था क्या?' आशङ्का सहज थी?

'एक छोटा-सा कुत्ता है- बस!' चौकीदार ने बताया। 'वह इनके साथ ही रहता है। दूसरा कोई इन सात दिनों में यहाँ इनके पास आया हो, ऐसा मुझे नहीं लगा। कहीं बाहर भी जाते मैंने नहीं देखा। केवल सामने की दुकानों से कुछ पूड़ियाँ ले आते हैं और बन्द हो जाते हैं इसी कमरे में। बड़े दुखी जान पड़ते हैं।' बिखरे बाल, अस्त-व्यस्त वस्त्र, सूखा-सा मुख, चौकीदार जब इस स्वस्थ सुन्दर युवक को देखता, उसके मन में सहानुभूति जाग्रत हो जाती। किसी बड़े घर का लड़का है, वह कुछ पूछता यदि उसे तनिक भी आशा होती कि युवक उत्तर देगा, पर वह तो कमरे से निकलता ही कम है। निकलता है तो जैसे किसी की ओर न देखने का नियम लिया हो।

'हीरा!' रमाकान्त द्वार की पतली सन्धि पर नेत्र लगाकर भीतर देखने का प्रयत्न कर रहा था। उसका ध्यान चौकीदार की ओर नहीं था।

'वह जाग रहा है! कुत्ते को उसने पकड़ रक्खा है।' भीतर अपना नाम सुनकर कुत्ता कूँ-कूँ करने लगा था। वह द्वार के पास नहीं आ सका, इसका कारण समझना कठिन नहीं था। 'तुम एक पतला तार ले आओ!' धीरे से चौकीदार को उसने समझाया।

'उमा एक ऐसा ही पिल्ला ले आया है।' रमाकान्त ने द्वार खोल लिया तार से। 'इससे कुछ अधिक झबरा। अब तुम दो कुत्तों को सोते-सोते पकड़े नहीं रख सकोगे।'

'मेरे लिए एक ही बहुत है।' कुछ अप्रसन्नता के स्वर में सतीश बोल रहा था। उसे

इस प्रकार का किसी का आना बहुत अरूचिकर हुआ था– वह अपने मित्र का आना भी। 'मैंने नियम पढ़ लिए हैं। आज धर्मशाला खाली कर दूँगा। तुम्हें कहना नहीं पड़ेगा।' चौकीदार की ओर देखा उसने।

'उससे सात दिन की बात लिखी तो है।' चौकीदार संकुचित हुआ। उसके मन में भी यह बात नहीं आयी थी। 'लेकिन खाली ही पड़ी है न सब धर्मशाला। कौन आता है यहाँ। आप कमरा छोड़ें, इसकी क्या जल्दी है।' यहाँ इतनी दूर कोने की धर्मशाला में कदाचित् ही कोई यात्री आता है। चौकीदार के लिए तो सूनी धर्मशाला सायँ-सायँ करती है। कोई रहे तो कुछ तो जनशून्यता कम रहेगी।

'जल्दी तो मुझे है!' सतीश ने कहा और मुँह फेर लिया। चौकीदार धीरे से कमरे से निकल गया। 'तुमने द्वार खोल दिया, वह हीरा भी मेरे पास से भाग जाना चाहता है।' कुत्ते को उसने एक प्रकार से दबा रक्खा था। बेचारा पिल्ला– वह कूँ-कूँ करता और अपने को छुड़ा लेने के प्रयत्न में था।

'उसे छोड़ दो, सम्भव है उसे शौच की आवश्यकता हो या वह केवल मेरे पास आना चाहता हो। वह शीघ्र तुम्हारे पास लौट आवेगा।' रमाकान्त ने पास के आले पर कुछ देखा। वह उधर ही बढ़ा। 'मुझे कई दिनों से तुम्हारी आवश्यकता है। बड़ी कठिनाई से तुम्हें पा सका हूँ। केवल कुछ समय के लिए मेरे साथ चलो।'

'तुम इसे ले जा सकते हो। या फिर यह जहन्नुम जाय।' कुत्ते को उसने फेंक दिया और झपटकर आले से छोटी नारङ्गी रंग की शीशी उठा ली। 'मुझे क्षमा करो! मैं नहीं नहीं जाऊँगा।'

'मैं तुम्हें रोकूँगा नहीं। अपनी शीशी का उपयोग तुम जैसे अभी कर सकते हो, वैसे ही सायङ्काल भी।' जिस शीशी को सतीश ने उठाया था, उस पर लगे लेबिल पर लाल स्याही से कुछ छपा है। 'विष' होना चाहिए उसे। परीक्षा में अनुत्तीर्ण, माता-पिता से तिरस्कृत छात्र और क्या करेगा। 'तुम जानते हो कि मेरा छोटा भाई केवल तुम्हें मानता है। उसकी आँखें दुखने को आयी हैं और यह किसी को कोई औषधि लगाने नहीं देता।' रमाकान्त ने एक बात निकाल ली।

'मैं डाक्टर नहीं हूँ, वह चाहे जो करे' पर उसे वह छोटा बच्चा स्मरण आया। हँसता, खेलता सुन्दर-सा लड़का। उसकी आँखे दुखने को आयी हैं। दोनों हाथों से नेत्रों को मलकर और भी पीड़ा बढ़ा लेता होगा। रोता होगा। हुआ करे– उसे क्या। वह तो मरने वाला है। संसार में उसका कोई नहीं। 'मैं कुछ कर नहीं सकता।' उसने कठोरता से ओष्ठ दबा लिए।

'तुम ऐसा कैसे कर सकते हो। विद्यालय में किसी की तनिक-सी चोट, जरा-सा

सिर-दर्द तुम सह नहीं सकते थे। तुम्हारा अधिकांश व्यय औषधियों पर होता है। वह बच्चा तुम्हें प्रिय है।' रमाकान्त ने तनिक भी ध्यान उपेक्षा पर नहीं दिया। 'चलो उठो! एक बार उसे देख लो। यदि कुछ न करने की इच्छा तुम्हारी होगी तो मैं स्वयं यहाँ या जहाँ कहोगे तुमको पहुँचा दूँगा। उसने हाथ पकड़ा और मस्तक को सहारा दिया।

'महा असभ्य और उजड्ड है यह।' मन-ही-मन झल्लाया वह। उठकर बैठ गया और घूरने लगा। ऐसे व्यक्ति से झगड़ना भी आज उसके मन के विपरीत था।

'तुम्हारी चप्पलें सुन्दर हैं। जूता आवश्यक नहीं। मैं नीचे रिक्शा छोड़ आया हूँ।' रमाकान्त ने चप्पलें सम्मुख खिकसा दीं और हाथ पकड़कर उठा लिया उसे। 'बालों में आज बिना कंघी किये भी चलेगा।' दोनों कमरे से बाहर हुए। द्वार बन्द कर दिया गया और फिर जैसे उनका परस्पर कोई परिचय न हो। चुपचाप दोनों रिक्शे पर बैठ गए।

धर्मशाला का चौकीदार एक बार ध्यान से उनकी ओर देखता रहा। उसे नवीन आगन्तुक की सफलता पर प्रसन्नता हुई। 'अवश्य जब दोनों लौटेंगे, वे प्रसन्न होंगे।' मन-ही-मन उसने कहा- 'मैं उनके लिए एक कमरा और स्वच्छ कर लूँगा तब तक और वे यहाँ एक महीने आनन्द से रहें तो अच्छा ही है।' गर्मियों में पढ़ने वाले सम्पन्न घरों के लड़के घूमने की छुट्टी पाते हैं, इतना इसे पता है।

× × ×

[2]

'हम जानते ही थे कि तू कुछ पढ़ता-लिखता नहीं है।' पिता ने समाचारपत्र उसके सम्मुख फेंक दिया। उसमें परीक्षा के उत्तीर्ण छात्रों के नम्बर निकले हैं। वह स्वयं देख चुका है कि उसका नम्बर नहीं। 'इधर-उधर मटरगश्ती से तो पास हुआ नहीं जा सकता।'

'मैं पहले कहती थी न कि इसके लिए रुपये नष्ट न करो।' विमाता पता नहीं क्यों उससे सदा रूष्ट रहती है। छोटा था तभी जननी परलोक चली गयीं। एक बार पिता का स्नेह मिला, पर जैसे ही विमाता आयीं, वे भी खिंचे-से रहने लगे। आज सबको उस पर झल्लाहट है। वह कभी घर में किसी से खुलकर नहीं बोलता। अवकाश में भी किसी मित्र के यहाँ ही समय काट लिया करता है। आज तो बोलेगा ही क्या। 'यह आवारा और मूर्ख है, यह बात मैंने तुमसे कितनी बार कहीं।' विमाता की बात ठीक ही होगी। मूर्ख न होता तो श्रम करके भी अनुत्तीर्ण क्यों होता। वह अपनी चिन्ता में डूबता ही गया।

'तुम्हें श्रम करना चाहिए था।' किसी प्रकार घर से दृष्टि बचाकर निकल सकता तो मार्ग में पण्डित जी मिल गये। सहानुभूति प्रकट करते हुए उन्होंने कहा 'स्थूल-बुद्धि

लड़के भी पर्याप्त श्रम से सफल होते हैं। पिता का ध्यान तो करना ही चाहिए तुमको।'

'वह स्थूलबुद्धि है, श्रम नहीं करता।' सब यही तो कहते हैं। तब यही बात ठीक होगी। विमाता बराबर कहती हैं- 'वह मूर्ख है, आवारा है, घमण्डी है।' कालेज-के अध्यापक और सहपाठी भी उसे चिढ़ाते ही हैं।' 'वह अब पढ़े भी तो सफल नहीं होगा। उसकी किसी को क्या आवश्यकता है। कोई उसे नहीं चाहता। व्यर्थ है उसका जीवन।' मनुष्यों से दूर हो जाना चाहता था वह। कोई ऐसा स्थान, जहाँ वह चुपचाप रो सके।

नगर के एक कोने में वह धर्मशाला आज उसे स्मरण हुई। किसी दिन वह हँसा था उसके निर्माता पर। 'कितना भोंदू होगा यहाँ इसे बनवाने वाला। भला यहाँ कौन आवेगा।' उसने अपने एक साथी मित्र से कहा था। प्रत्येक तीन वर्षों पर जब पुरुषोत्तम मास में यात्री पञ्चकोशी के लिए निकलते हैं, धर्मशाला उनके लिए कितनी उपयोगी है, यह उसे कौन बतावे; किंतु आज वही धर्मशाला उसे आश्रय प्रतीत हुई।

हीरा-उसका छोटा कुत्ता, पता नहीं कैसे घर से उसके साथ हो गया। एक दरी उसे खरीदनी पड़ी थी और एक लोटा। जब मरना ही है तो सुविधा से, एकान्त देखकर व्यवस्था करनी चाहिए। अनेक योजनाएँ आयीं मन में; सब में कुछ-न-कुछ आशङ्का थी। धर्मशाला में कमरा बन्द रहेगा। विष को गले से नीचे उतारकर सो रहेगा वह। कुत्ता-पहले उसने उसे भगा देना चाहिए।

'यह रहेगा तो पिताजी को सूचना मिल जायगी। विमाता को सन्तोष हो जायगा।' कुत्ते के गले के पट्टे पर उसने चाकू की नोक से घर का नाम-पता कुरेद लिया।

'कोई मुझे ढूँढ़ने न निकला होगा।' धर्मशाला के कमरे में उसे पता नहीं क्या-क्या सूझता है। 'किसी को मेरे लिए क्यों चिन्ता होगी?' उसने शीशी की ओर देखा- 'एक नींद ले लूँ और फिर...।' आज जेब खाली हो गयी थी। जब भूख लगे, ऐसी स्थिति ही क्यों आयेगी।

'आज सात दिन हो गये। चौकीदार कमरा खाली करने को कहने आया है।' कोई द्वार खटखटा रहा था। 'यह तो कहने आया है।' कोई द्वार खटखटा रहा था। 'यह तो रमाकान्त है। होने दो, मैं अब नहीं उठूँगा। किसी से अब नहीं मिलना है। दुष्ट कहीं का, आज सात दिन पर आया है। पीटने दो द्वार!' कुत्ता भी बोलने लगा था। उसे उसने पकड़ लिया। वह यह मूक पशु भी दूसरे से स्नेह करे, आज उसे यह सह्य नहीं।

× × ×

[3]

'मैं दवा नहीं डालूँगा। मेरी आँख ठीक नहीं होगी।' वह पाँच वर्ष का बालक गोद

में छटपटा रहा था। अपना सिर और हाथ हिलाता तथा रोता जाता था।

'तुम अच्छे लड़के हो! तुम्हारी आँखे अच्छी हो जायँगी!' सतीश ने बच्चे को गोद में ले लिया था। बच्चे-को देखते ही उसकी उदासीनता कम हो गयी थी।

'इतनी बार तो दवा लगायी!' बालक के स्वर में झल्लाहट घट रही थी।

'मैं अच्छी दवा डालूँगा!' उसने पुचकारा। किसी प्रकार दवा डाली जा सकी।

'तुम जाओ मत! मैं तुम्हारे साथ चलूँगा!' लड़का दोनों हाथ उसके गले में लपेटकर चिपक गया था। वह नेत्र खोल नहीं पाता था।

'मैं कहीं नहीं जाता हूँ।' आश्वासन देना आवश्यक था।

'तुम स्नान करो! भोजन का समय हो चुका है!' रमाकान्त ने धोती और तौलिया स्नानघर में रखने के पश्चात् कहा। 'अब आज तो दूसरी बार दवा तुम्हें ही लगानी है!'

'गले से लिपटा यह बालक, उसका यह मित्र और बालक के माता-पिता, सभी उससे स्नेह करते हैं। सभी उसका सत्कार करना चाहते हैं। क्या यह सत्कार सच्चा नहीं है?' वह चुपचाप मित्र के मुख की ओर देखता रहा। बच्चे को पृथक् करना सरल नहीं था; परन्तु समझा-बुझकर स्नान भी करना ही था।

'तुम कितने निपुण हो!' मित्र ने भोजन करते समय उससे कहा 'कितने पीड़ितों का परित्राण करने में तुम समर्थ हो सकते हो यदि साहस करो! आज ऐसे ही युवकों की जनसेवक-संस्था को आवश्यकता है!' यह निश्चित प्राय था कि सतीश अब आगे बढ़ नहीं सकेगा। उसके पिता आर्थिक सहायता देने को तत्पर न होंगे। स्वयं रमाकान्त की आर्थिक स्थित ऐसी नहीं कि वह इसका भार वहन कर सके।

'महीनों के पश्चात् आज मैं प्रसन्न हूँ!' सतीश ने मित्र की ओर देखा। 'तुम्हारी योजना पर विचार करने को जी चाहता है!'

'माधव के नेत्र अच्छे होने तक विचार करने का पूरा समय है तुम्हारे पास।' रमाकान्त हँसते हुए बोले-

'अपने कमरे की चाभी मुझे दे दो! मैं उसे खोल आऊँगा! तुम्हारी नयी दरी मुझे पसन्द है। उस मनहूस शीशी को जिसे तुम दरी के नीचे छिपा आये हो, अब तुम पा नहीं सकते!'

'आवश्यकता हुई तो दूकानों में वह फिर मिल जायगी!' सतीश हँस पड़ा। 'मैं सायङ्काल फिर आ जाऊँगा और शीशी तुम्हें दे दूँगा।' वह कैसे बराबर कई दिनों यहीं टिके रहने का निमन्त्रण स्वीकार कर ले!

'तुम माधव को अधिक रुलाना पसन्द नहीं कर सकते!' रमाकान्त का आग्रह सकारण था। 'चाभी मुझे दो! मैं तुम्हारी दरी के लिए झगडूँगा नहीं!' सतीश भी

समझता है कि अब उसके लिए धर्मशाला जाना आवश्यक नहीं।

× × ×

[4]

'पिताजी ने मुझे बुलाया है!' सतीश को आश्चर्य था कि स्वयं विमाता उसे लेने आयी थीं। वह अपने मित्र से विदा हो रहा था। 'उनका आग्रह है कि मैं पुनः परीक्षा में बैठूँ।'

'तुम घर जाओ!' रमाकान्त ने उसे समझाया। 'पिताजी को तुम्हें सन्तुष्ट करना ही चाहिये!'

'वे इस प्रकार कभी मुझे पत्र न लिखते!' स्वयं सतीश को बार-बार इधर घर का स्मरण हुआ है।

'तुमने कभी, उनको या माता जी को प्रसन्न करने का प्रयत्न भी किया'

'कदाचित् कभी नहीं!' अब उसे स्मरण आ रहा है, जब यह नवीन की माताजी आयी थीं। उन्होंने उसे गोद में लेकर पुचकारा था। भाग गया था वह। बराबर वह माता से पृथक् रहता था। पिता जी से भी पता नहीं क्यों उसे चिढ़ हो गयी थी। धीरे-धीरे वह उनकी अवज्ञा करने लगा था।

'लेकिन मैं घर से चला गया और किसी ने मेरी कोई खोज-खबर नहीं ली!' सतीश को यही बात सबसे अधिक खटकती है। जितना शारीरिक कष्ट उसे उन सात दिनों में मिला है, उससे कहीं अधिक मानसिक कष्ट भोगता रहा वह।

'तुमने स्वयं द्वार बन्द कर लिए और चाहते हो कि लोग तुम्हारे पास आवें!' रमाकान्त ने संकेत से समझाया। पता लगाने का कोई सूत्र सतीश ने छोड़ा ही कहाँ था। यदि अचानक उनके नौकर ने घर से काम पर आते समय उसे धर्मशाला में जाते न देख लिया होता!

'रमा बेटा! तू अब इसे छुट्टी दे दे! सतीश की विमाता ऊपर आ गयी थीं। 'सतीश, चल भैया! अब हम कुछ न कहेंगे! तू माता-पिता से इतना अप्रसन्न हो जायगा यह तो हमने कभी सोचा ही नहीं था। तेरी इच्छा हो तो फिर परीक्षा देना, न हो तो कोई बात नहीं!' जैसे सतीश छोटा बच्चा ही हो अभी। वे उसके सिर पर पीछे खड़ी होकर हाथ फेर रही थीं।

'यह पिता को प्रसन्न नहीं करेगा तो जगत्पिता इस पर प्रसन्न रहें, ऐसी आशा ही कैसे कर सकता है।' सतीश इधर धर्म के प्रति आस्था खो बैठा हे। रमाकान्त को यह बात बहुत खटकती है।

'तू अपनी तोतारटन्त रहने दे!' सतीश ने कृत्रिम रोष दिखाया।

'तुम दोनों लड़ो मत!' माता तो माता ही है 'अभी तो घर चलो!' उन्होंने दोनों मित्रों को आमन्त्रित किया!

'चलो मैं तुम्हें पहुँचा आऊँ!' रमाकान्त उठे। 'तुमने पिता के लिए धर्मशाला पहुँचने का मार्ग बन्द कर दिया था और परम पिता के लिए हृदय का द्वार अब तक बन्द कर रक्खा है!' जैसे कोई चेतावनी दी जा रही हो।

'पिता का द्वार पुत्र के लिए सदा खुला रहता है।' रमाकान्त की माता आ रही थी! उन्होंने ही कहा था।

'बहिन, मैं रमा को लिए जा रही हूँ! सतीश की माता ने अनुमति ली।

'मैं धर्मशाला के कमरे का द्वार बन्द करके बैठने तो जा नहीं रहा हूँ।' हँसकर रमाकान्त ने सबको हँसा दिया।

× × ×

[5]

'यह सब कब तक समाप्त होगा!' अखण्ड कीर्तन-भवन को देखकर सतीशचन्द्र जी ने एक ही प्रश्न पूछा था। कहीं कीर्तन, कहीं पाठ। एकान्त शान्त झोपड़ियों में सीधे सरल साधक मौन रहते हैं, साधारण भोजन करते हैं, जप, पाठ, पूजा में ही उनका समय व्यतीत होता है। भवन के व्यवस्थापक ने इतने प्रसिद्ध नेता के आगमन पर हर्ष प्रकट किया। उनका स्वागत हुआ। सब स्थान उन्हें दिखाये गये। पूरी व्यवस्था समझायी गयी। 'यहाँ के लोग हैं तो अच्छे, पर व्यर्थ समय नष्ट करते है। समाज की सेवा में लगें तो देश का कुछ लाभ भी हो।'

'जीवन में शान्ति न हो तो समाज को शान्ति दी नहीं जा सकती!' व्यवस्थापक अपने अतिथि से विवाद नहीं करना चाहते थे। सतीश ने उनके प्रतिवाद पर ध्यान नहीं दिया।

'जीवन में शान्ति?' वहाँ से आने पर भी उसके मन में यह वाक्य बराबर खटकता है। उसने लोगों के लिये कष्ट उठाया, जेल गया, पीटा गया और अनेक यातनाओं के पश्चात् अब उसे नेतृत्व प्राप्त हुआ। अधिकार मिला उसे। अब लोग उसकी समालोचना करते हैं। उसे स्वेच्छाचारी बताया जाता है। उसके पक्ष में बहुमत को अल्पमत में बदलने का प्रयत्न करते हैं लोग। कहाँ तक वह लोगों के लिए ही कष्ट सहे। वह भी मनुष्य है, उसकी भी सुविधा है, उसे भी सुख चाहिये।

'सुख-सुख कहाँ है?' कितना अशान्त, कितना चिन्तित रहना पड़ता है उसे। पहले लोग उसे चाहते थे, उससे प्रेम करते थे। अब लोग उसके विरोधी होने लगे है। 'शान्ति-ईश्वर?' पर ईश्वर हो तो क्या वह उस परीक्षा में अनुत्तीर्ण हो गया होता। कितनी प्रशंसा की थी उसने। कितना रोया था। हनुमानजी को लड्डू चढ़ाये, शङ्कर जी को दूध चढ़ाया, पाठ किये और जप किया। सब व्यर्थ - वह उत्तीर्ण नहीं हुआ। 'यह पूजा-पाठ कुछ नहीं। कोई ईश्वर नहीं!' एक प्रतिक्रिया उठ खड़ी हुई उसी दिन उसके मन में।

'यदि उस समय उत्तीर्ण हो गया होता? आज किसी के यहाँ नौकरी करता!' आज उसे अपनी स्थिति पर सहसा आश्चर्य हुआ। इस उच्चपद को पाने में उसका अनुत्तीर्ण होना और पिता के आग्रह पर भी फिर परीक्षा न देना कारण हुआ। उसी असफलता ने तो सेवा-मार्ग में प्रवृत्त किया। 'क्या भगवान् हैं?' उसे लगता है, उस अज्ञात शक्ति ने उसे कितना बड़ा वरदान दिया। 'मैं मूर्ख हूँ!' मैं कृतघ्न हूँ!'

'कहाँ हैं भगवान्?' पर उसका हृदय आज बदल गया है। 'भगवान् कहाँ नहीं हैं?' स्वयं अपने व्याख्यानों में वह यही तो बार-बार कहता है। 'किन पर शासन करता है वह? किन पर अधिकार प्रकट करता है?'

'पिता का द्वार पुत्र के लिए सदा खुला रहता है!' रमाकान्त की माता के शब्द उसे स्मरण आते हैं और स्मरण आते हैं रमाकान्त के शब्द- 'परमपिता के लिए द्वार खोलो! तुम अपने कुत्ते के भगाने के डर से द्वार बन्द करोगे तो मित्र आवेंगे कैसे? हृदय के द्वार खोलो! सेवा, स्नेह दो दूसरो को! प्रभु के लिए उन्मुक्त करो उसे! आनन्द और शान्ति उसमें तभी आवेंगे!'

'मैंने द्वार बंद कर दिया अधिकर लेकर!' वह सोचता है 'दुःख, अशान्ति धर्मशाला के बन्द कमरे में भी तो मुझे मिले थे! द्वार खोलना है। जगत्पिता! तू मेरे हृदय में आ और मुझे अपनी मङ्गल शान्ति में आने दे!' देश का एक उच्च नेता इस प्रकार रो सकता है, यह उसका निजी मन्त्री आश्चर्य से देखता रहा; किंतु आज उसे किसी की चिन्ता नहीं थी। द्वार उन्मुक्त हो गया था और शीतल वायु की भाँति सुखद अनुभूति वहाँ व्याप्त हो रही थी।

मुझे कोई पुकारता है

'मुझे कोई कष्ट नहीं है, कोई भय नहीं है, कोई रोग भी नहीं है।' किसी चिकित्सक के पास, चाहे वह मनोवैज्ञानिक चिकित्सक ही क्यों न हो, ऐसा व्यक्ति कदाचित् ही आया होगा। 'मुझे केवल जानना है। मनोविज्ञान का एक अन्वेषक होने के कारण मैं आपसे सहायता पाने की आशा करता हूँ।'

'आप भी मनोवैज्ञानिक हैं?' चिकित्सक में आदर का भाव आ गया। पहिले वे इस प्रकार मिले थे, जैसे अपने किसी नवीन रोगी से मिलते हैं। परन्तु अब तो स्थिति बदल गयी थी। उनके सामने उनके समान ही मनोविज्ञान का एक ज्ञाता था- उनका सहव्यवसायी न सही; किंतु उनका मित्र तो वह अपने को कह ही सकता था। नम्रता से डा० उपाध्याय बोले- 'मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूँ?'

'मैं मनोवैज्ञानिक तो नहीं हूँ; किंतु मनोविज्ञान का विद्यार्थी अवश्य अपने को मानता हूँ।' उसने बताया- 'मैंने पाश्चात्य मनोविज्ञान के अतिरिक्त भारतीय मनोविज्ञान का भी कुछ अध्ययन किया है और मुझे तो भारतीय मनोविज्ञान अधिक पूर्ण लगता है। परन्तु इस समय तो मैं एक दूसरे विषय में आपकी सम्मति और सहायता चाहता हूँ।'

'हम सभी विद्यार्थी हैं।' डा० उपाध्याय ठीक कह रहे हैं। विज्ञान विषय ऐसा है कि बड़े-से-बड़ा वैज्ञानिक आजीवन उसका नन्हा छात्र ही रहता है।

'मुझे कोई पुकारता है- जब मैं गाढ़ निद्रा में होता हूँ तो कोई मेरा नाम लेकर स्पष्ट मुझे पुकारता है।' उसने बतलाया- 'सदा वह मुझे केवल दो बार पुकारता हैं, उत्तर की ओर से लगभग बीस-पचीस फीट दूर से पुकारता है।'

'आपको स्मरण है, आप उस समय कैसे स्वप्न देखते है!' डा० उपाध्याय ने पूछा।

'मैं कोई स्वप्न नहीं देखता महोदय!' वह हँसा- 'आप मेरी पूरी बात सुन लें, यह अच्छा होगा। यह अन्तर्मन का कार्य नहीं है। मैंने इस विषय में बहुत सोचा है।'

'अच्छा!' डॉक्टर का स्वर स्पष्ट कह रहा था कि उनसे जो कुछ कहा जा रहा है, उस पर वे पूरा विश्वास नहीं करते। वे मानने को प्रस्तुत नहीं कि यह अन्तर्मन का कार्य नहीं है।

'मैं वैसे भी बहुत कम स्वप्न देखता हूँ। परन्तु यह पुकार प्रायः तब आती है, जब मैं गाढ़-निद्रा में होता हूँ। उसने विवरण दिया- 'मुझे अच्छी निद्रा आती है। इतनी गाढ़ी नींद सोता हूँ कि सिर के पास ढोल बजता रहे तो भी मेरी निद्रा में बाधा नहीं पड़ती। आवश्यकता पड़ने पर मुझे पुकारकर जगाने वाले पुकारते-पुकारते प्रायः झल्ला उठते हैं।'

डॉक्टर कुछ बोले नहीं! वे चुपचाप सुन रहे थे। अवश्य ही अपने सदा के अभ्यास के अनुसार उनके हाथ में पेन्सिल थी और मेज पर पड़े कागज पर वे कुछ शब्द नोट कर लेते थे बीच-बीच में।

'मुझे स्वयं आश्चर्य है, जब यह पुकार आती है, मेरी गाढ़ी निद्रा पहिली ही पुकार में टूट जाती है। उसने बताया 'परन्तु नेत्र खोलने या फिर उठाने से पूर्व ही दूसरी बार पुकार आती है। दूसरी बार का पुकारना मैं सदा जागकर पूरी सावधानी से सुनता हूँ।'

'जब आप उठते हैं, आपको कैसा लगता है?' डाक्टर ने बीच में पूछा।

'अच्छी निद्रा से उठने पर एक स्वस्थ व्यक्ति को जैसी स्फूर्ति तथा ताजगी का अनुभव होता है।' डाक्टर की आशा के सर्वथा विपरीत उसने बताया- 'मुझे उस पुकार से उठने पर न कभी भय लगा, न आलस्य जान पड़ा। मन प्रसन्न रहता है, शरीर में स्फूर्ति रहती है, जैसे मैं जगाया नहीं गया हूँ, निद्रा पूरी होने पर स्वयं उठा हूँ।'

दुबारा नींद आने में कितना समय लगता है?' डाक्टर ने फिर पूछा।

'यह सर्वदा मेरी इच्छा पर रहता है।' उसने फिर डॉक्टर की आशा के विपरीत उत्तर दिया - कभी मैं लघुशंकादि कर दस-पंद्रह मिनट बाद सोता हूँ, कभी केवल सिर उठाकर देखकर एक मिनट बाद सो जाता हूँ और कभी तो नेत्र भी नहीं खोलता; क्योंकि अभ्यस्त होने से यह बात तुरन्त मन में आ जाती है कि यह वही पुकार है। नेत्र बंद करके सो जाने का प्रयत्न करते ही निद्रा आ जाती है- पहले की भाँति स्वप्नरहित प्रगाढ़ निद्रा।'

'समस्या टेढ़ी है।' डाक्टर ने गम्भीरता से कहा- 'मैं पूरा इतिहास सुनना चाहता हूँ।'

'मैं लगभग पाँच वर्ष का होऊँगा जब पहली बार यह पुकार मुझे सुनायी पड़ी' उसने बतलाना प्रारम्भ किया- 'ग्राम में अपने घर के बाहर सो रहा था। मेरे द्वार पर चहार दीवारी से घिरी पर्याप्त भूमि थी। पिताजी के साथ उनके पलंग से लगी मेरी छोटी खाट थी। सामने 20-25 फीट दूर उत्तर की ओर दूसरे मकान की पिछली दीवार पड़ती है, जिसमें कोई खिड़की नहीं। गाँव के लोग घरों की पिछली, बाहरी दीवारों में खिड़कियाँ नहीं बनाते। चोरी से रक्षा के लिये यह पद्धति ठीक ही है। रात्रि के तीसरे

प्रहर में सामने के मकान की दीवार से सटकर जैसे किसी ने मुझे पुकारा।'

डॉक्टर उपाध्याय चुपचाप सुनते रहे और नोट करते रहे। 'स्पष्ट स्वर में केवल मेरा नाम लेकर पुकारा गया। मेरे नेत्र खोलने से पहले दूसरी बार मेरा नाम लिया गया। मैं उठ बैठा। पिताजी को जगाकर मैंने बताया। उन्होंने केवल आश्वासन दिया कि 'डरने की कोई बात नहीं।' परंतु भय तो मेरे मन में उस समय तनिक भी नहीं था। वैसे मैं बचपन में अँधेरे में जाते बहुत डरता था; किंतु उस पुकार से जगने पर मुझे कभी भय नहीं लगा।'

डाक्टर इस प्रकार देख रहे थे जैसे अभी और कुछ सुनना चाहते हों। वह कहता गया– 'पहली पुकार पर मैं प्राय: 'क्या है? कौन है?' आदि बोल पड़ता था। परंतु धीरे-धीरे अभ्यस्त हो जाने के कारण अब तो केवल 'हूँ' या 'जी' कहकर रह जाता हूँ। पुकार का वह स्वर मुझे कभी नहीं भूलेगा। मैं इतना ही कह सकता हूँ कि वह नारी का कण्ठ स्वर नहीं है। परंतु पुरुष का कण्ठ स्वर गम्भीर और कोमल भी होता है– यह उस पुकार के अतिरिक्त मैं सोच ही नहीं सकता। वैसा स्वर कभी नहीं सुनने को मिलेगा, ऐसी आशा नहीं।'

× × ×

[2]

'आपके कुल में किसी को सोते-सोते चलने का रोग रहा है? डाक्टर उपाध्याय ने बहुत देर मस्तक झुकाकर सोचा और तब वह अद्भुत प्रश्न किया।

'रहा है' उसने बताया– 'मेरे पिताजी बतलाते थे कि पहले किसी समय कुछ महीनों तक उनकी यह अवस्था रही कि पलंग पर सोते थे और सवेरे उठने पर देखते थे कि गायों के सामने घास-भूसा डालने की चरनी (लम्बे कच्चे हौदे) में लेटे हैं?'

'यह रोग कैसे दूर हुआ?' डाक्टर ने पूछा।

'पिताजी तो इसे रोग मानते ही नहीं थे। वे भगवती दुर्गा के उपासक थे और मानते थे कि देवी का ही यह कोई चमत्कार है।' उसने नि:संकोच बतालाया– 'उनका रोग जैसे अकस्मात प्रारम्भ हुआ था, वैसे ही अकस्मात् अपने आप चला भी गया और दुबारा फिर कभी नहीं लौटा।'

'आप जानते हैं कि मनोविज्ञान भूत-प्रेत तथा देव-चमत्कारों में विश्वास करके नहीं चलता।' डाक्टर ने उसकी ओर देखा।

'मैं भी सोचता हूँ कि किसी प्रकार का निर्णायक मन उनका स्वप्नावस्था में जाग्रत् हो जाता था।' उसने कहा।

'आपकी बात मैं ठीक समझ नहीं सका।' डाक्टर ने बाधा दी।

'पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक मन के दो भाग करते हैं- बहिर्मन और अन्तर्मन। परन्तु भारतीय मनोवैज्ञानिक चार भाग मानते हैं- मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार।'

उसने अपनी व्याख्या सुनायी- 'जाग्रत् अवस्था में हम सङ्कल्प करते हैं और उसके अनुसार कार्य करें या न करें, यह निर्णय भी करते हैं। पाश्चात्य मनोविज्ञान इन दोनों को ही बहिर्मन का कार्य मानता है; किंतु भारतीय मानते हैं कि सङ्कल्प करना मन का कार्य है और निर्णय करना बुद्धि का। इस बुद्धि का ही नाम आधुनिक मनोविज्ञान के शब्दों में से मेल बैठाने के लिये मैंने 'निर्णायक मन' रख लिया है।'

डाक्टर को अभी कुछ बोलना नहीं था। वह कहता गया- 'अन्तर्मन को भारतीय चित्त कहते हैं। उसकी व्याख्या और कार्य की मान्यता में कोई मतभेद नहीं। वह संस्कारात्मक-स्मृतियों का कोषागार है। स्वप्न के समय वही कार्य करता है परन्तु उसमें निर्णय की शक्ति न होने से स्वप्नों में कोई क्रम, कोई ठीक व्यवस्था नहीं रहती। स्वप्न में ऊँट के धड़ पर बकरी का सिर या बकरी के हाथी-जैसी सूँड, इसी अव्यवस्था के कारण दीखती है।'

अब भी डाक्टर कुछ बोले नहीं। वे गम्भीरता से सुन रहे थे। उसने बताया- 'यही भारतीय मनोविज्ञान की मान्यता कि मन के चार भाग हैं- बहुत महत्त्व की जान पड़ती है। सामान्य अवस्था में बहिर्मन (मन) और निर्णायक मन (बुद्धि) दोनों सो जाते हैं साथ ही। यदि अन्तर्मन भी सो जाय तो गाढ़ निद्रा आ जायगी। अन्तर्मन जागता रहे तो स्वप्न दीखेंगे परंतु किसी कारण केवल बहिर्मन सो जाय और अन्तर्मन के साथ निर्णायक मन (बुद्धि) भी जागता रहे तो मनुष्य जाग्रत् के समान व्यवस्थित रूप में कार्य करने लगेगा। अन्तर्मन में संस्कार तो हैं ही, निर्णायक मन उन्हें व्यवस्था देकर शरीर को उनके अनुसार चलाने लगता है।'

'मैंने ऐसी घटनाएँ बहुत पढ़ी हैं कि लोगों ने निद्रा से उठकर लेख या पत्र लिखे हैं, दुर्गम यात्राएँ की हैं। यह सब उन्होंने अनजाने में सोते-सोते किया है।' डाक्टर उपाध्याय अब बोले- 'इससे आपकी व्याख्या-आपका मनोविभाजन तो ठीक लगता है; परंतु अंहकार आप किसे कहते हैं?'

'वैज्ञानिक के लिये- विशेषतः यूरोपीय वैज्ञानिक के लिए इसे समझना बहुत कठिन है। वह यही जानता है कि शरीर में रक्त का प्रवाह तथा हृदय की गति अपने आप होती है। मन का इनसे कोई सम्बन्ध नहीं।' उसने समझाया- 'परंतु आप भारतीय हैं, आपने देखा भले न हो; किंतु यह सुना होगा कि योगी जब समाधि लगा लेता है, तब हृदय की गति तथा रक्त का प्रवाह भी बंद हो जाता है। समाधि का अर्थ है- सम्पूर्ण

मनोनिग्रह अर्थात् मन के सब कार्यालयों को बंद कर देना। मन के निरोध से जो कार्य रूक जाते हैं, उनका संचालन मन के द्वारा होता है, यह समझना कठिन है। शरीर का पूरा अन्तर्बहिः-संचालन मन के द्वारा ही होता है। मन के इस संचालक भाग को, जो गाढ़ निद्रा में भी सदा जाग्रत् रहता है, अहंकार कहते हैं। आप सुविधा के लिये चाहें तो इसे संचालक मन कह सकते हैं।'

'हम अपने वास्तविक विषय से दूर चले आये, यद्यपि मुझे इससे लाभ ही हुआ।' डाक्टर उपाध्याय बोले- 'मैं आपके इस विवेचन को और समझना चाहूँगा यदि आप समय देंगे।'

'परन्तु मेरी समस्या इससे किसी प्रकार सुलझती नहीं।' उसने कहा- 'मैं बहुत सोचकर थक गया हूँ। जो पुकार आती है, वह मानव-कण्ठ से इतनी भिन्न होती है कि उसके संस्कार मेरे भीतर होंगे, यह विश्वास करने की बात नहीं। मैं स्वप्नावस्था में उसे सुनता तो वह मेरे अन्तर्मन का कार्य हो सकता था, पर मैं तो घोर निद्रा में उसे सुनता हूँ। कब सुनुँगा यह समय भी निश्चिन्त नहीं। चार दिन से लेकर महीनों तक के अन्तर पड़े हैं उसे सुनने में।'

'मेरी समझ में कुछ नहीं आया, यह कहने में मुझे कोई लज्जा नहीं है।' डाक्टर उपाध्याय ने बड़ी सरलता से कह दिया। परंतु यहाँ गङ्गा-किनारे एक विरक्त संत आये हैं दो दिन से। मुझे तो अच्छे साधु लगते हैं। आप उनके दर्शन कर आयें। जहाँ विज्ञान असफल होता है- इन महात्माओं की शरण वहाँ अनेक बार सफल होते देखी गयी।'

× × ×

[3]

'महाराज! मुझे कोई पुकारता है।' वह आस्तिक है और जब एक अच्छे मनोवैज्ञानिक किसी साधु की प्रशंसा करते हों, तब उन महापुरुष के दर्शन की उत्कण्ठा किसको नहीं होगी। वह सायंकाल महात्मा के दर्शन करने पहुँच गया। वे एक वटवृक्ष के नीचे बैठे थे। एकान्त देखकर उसे प्रसन्नता हुई। प्रणाम करने के पश्चात् अपनी समस्या उसने सुना दी।

'विश्व का कण-कण चञ्चल हो रहा है।' संत ने अपने ढंग से बात प्रारम्भ की- 'प्रत्येक कण अणु गतिशील है। प्रत्येक प्राणी आकुल है कुछ करने के लिए कुछ पाने के लिए। इस गति का, इस क्रिया का, इस आकुलता का एक ही अर्थ है- कोई पुकार रहा है। उसके पास तक जाना है। उसे पाये बिना विश्राम नहीं है। उस तक पहुँचे बिना सुख से सोया नहीं जा सकता।'

'परंतु मुझे तो कोई नाम लेकर पुकारता है। मैं उसकी पुकार सुनता हूँ।' उसने फिर पूछा– 'वह क्या चाहता है? क्यों पुकारता है मुझे? कौन है वह?'

वह तो सभी को पुकार रहा है। यह सारी व्याग्रता उसकी पुकार की ही प्रतिध्वनि है।' संत ने अपनी ही बात कही– 'उसकी पुकार कहाँ प्राणी सुनते हैं। वह पुकारता है, वह चाहता है कि इस अपूर्णता से उस परम पूर्ण की गोद में लोग पहुँचे। वह कौन है, यह तो जानना है। उसे जान लो बस, काम पूरा हो गया।'

'महाराज!' उसका समाधान नहीं हो रहा था। परंतु संत ने बीच में ही रोककर बात समाप्त कर दी– 'उसकी पुकार सुनो! इसमें तुम्हारा परम सौभाग्य है कि यह स्मरण रक्खों कि तुम्हें कोई पुकारता है।'

बड़े अद्भुत होते हैं ये साधु। बाबाजी तो उठे और चल खड़े हुए। वह दो क्षण खड़ा रहा उनको जाते हुए देखता। व्यर्थ था अब उनके पीछे जाकर कुछ पूछना। वे अपनी मस्ती में चले जा रहे थे। लौट आया वह; किंतु.....।

❑❑

सहिष्णुता

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत।।
यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृत्वाय कल्पते।।

उलझे शुष्ककेश, बढ़ा श्मश्रुजाल, शीत से झुलसा काला पड़ा सर्वाङ्ग। देह का चर्म स्थान-स्थान से चकत्तों के रूप में फट रहा है। पैरों में दो स्थान पर हिमदंश के घाव हैं और वे अभी भरे नहीं हैं। कौपीन और मैली कन्था, परिग्रह के नाम पर एक कमण्डलु भी है और यात्रा सहायिका के रूप में एक वन्य काष्ठ की टेढ़ी बेडौल लकड़ी भी।

सुविस्तृत भाल, सघन बंक भ्रू मण्डल, पद्मदलायत अरुणाभ नेत्र, उच्च नासिका, पतले अधरपुट, प्रलम्ब देह, प्रशस्त स्कन्ध एवं वक्ष, आजानु लम्बायमान भुजाएँ, दुर्बल कटिदेश- हिमपीड़ित, प्रसाधनविहीन, उपकरण-रहित वे ऐसे दीखते हैं कि कोई भी देखते ही उनके सम्मुख सहज मस्तक झुका देगा। यह दूसरी बात है कि इस निर्जन प्रदेश में सृष्टिकर्ता के इस कालनैपुण्य का कोई दर्शक ही नहीं है।

'मृत्योर्मामृतं गमय!' श्रुति अनेक बार श्रवण में पड़ी थी; किंतु शब्द का कर्ण विवरों में प्रवेश ही तो श्रवण नहीं है। चित्त जब किसी विशेष शब्द को ग्रहण करने की उपयुक्त स्थिति में होता है, कर्णरन्ध्र में शब्द के प्रवेश के साथ ही हृदय में एक प्रकाश हो जाता है। अर्थ का यह अद्भुत प्रकाश जब होता है- उसी को श्रवण संज्ञा दी है शास्त्रकारों ने। उस दिन उन्हें श्रुति का श्रवण हुआ- ठीक श्रवण और अमृत्व की खोज में घर-परिवार, सुख-सम्पत्ति, वैभव-विलास सब छूट गये।

पूरे तीन वर्ष हो गये उन्हें भटकते। सुना था कि हिमालय आत्मदर्शियों का देश है। यहाँ आये तो किसी ने बता दिया- मंगोलिया के मरुस्थल में कोई सिद्ध योगी हैं।' पैदल भटकते रहे और ऐसे भटकने के साथ जो पीड़ा-यन्त्रणा, अभाव-अपमान

अनिवार्य रूप से प्राप्त होते हैं, सब प्राप्त होते रहे।

अपरिचित देश, अपरिचित भाषा- सभी कुछ तो अपरिचित था। न मार्ग का ज्ञान न पूछने का साधन। अपने आप मौन व्रत चलता रहा। जब कोई अपनी भाषा समझे ही नहीं, बोलते किससे? संकेत भी सदा समझे नहीं गये। समझ लेने पर भी एक कंगाल भिक्षुक के संकेत का सर्व साधारण कितना सम्मान करते हैं, आप क्या जानते नहीं। जिधर पैर उठा, चलते गये।

पैरों में छाले पड़े, बिबाइयाँ फटीं, घाव हुए; किंतु यह देह अतिशय निर्लज्ज है। सब संकट सह लेगा और सरकता रहेगा। प्रत्येक परिस्थिति के अनुरूप परिवर्तित होता रहेगा। पैर का चमड़ा इतना कड़ा हो गया। क्रमशः कि काँटे भी उसमें चुभना कठिन। शरीर का वर्ण काला पड़ गया और चमड़ा मोटा हो गया।

अनेक-अनेक दिन व्रत हुए। अनेक बार प्यास से मूर्छा आयी। प्रारब्ध शेष हो तो मृत्यु आती नहीं। कोई-न-कोई निमित्त रक्षा का बन ही जाता है। उनके लिए भी निमित्त बनते रहे। कण्ठ सींचने को जल तथा उदर की ज्वाला में झोंक देने को इतना ईंधन मिलता रहा कि शरीर चल रहा है।

बच्चे तो बच्चे ही हैं सभी देशों के; किंतु अकारण ही उत्पीड़ित करने वाले दुर्जनों की भी सर्वत्र बहुलता है। धूल और पत्थर मारकर जहाँ बार-बार सत्कृत होने का अभ्यास हो गया, वहाँ समझ में न आने वाले कर्मश शब्दों का क्या महत्त्व था। वे कुत्सित गालियाँ हैं, जान भी लेते तो क्या बनना-बिगड़ना था। उनके देह पर थूका भी गया और गंदगी भी फेंकी गयी अनेक बार। चार बार संदेह में स्थानीय अधिकारियों ने पिटवाया तथा कई-कई दिन कारागार में भी रक्खा।

जहाँ मनुष्यों का ही यह व्यवहार था, कुत्ते भूँकते हैं तो क्या विचित्र बात है। लेकिन उनके किसी सदस्य ने कभी काटा नहीं। मच्छर, मक्खी, कीड़े-इनका जो स्वभाव है, उसे क्षमा कर देने के अतिरिक्त उपाय भी क्या।

'अमृत्व क्या है? कहाँ है वह? कैसे मिलेगा?' जब पिपासा तीव्र होती है, दूसरी ओर देखने का अवकाश ही नहीं मिलता। दूसरे सब कष्ट अपने-आप उपेक्षणीय हो जाते हैं वे न तपस्या, कर रहे थे और न त्यागतितिक्षा-में उनकी निष्ठा थी। प्राणों में एक प्यास जाग उठी थी। उसे परितृप्त करने के प्रयत्न में लगे होने से देह की ओर देखने का अवकाश ही नहीं था।

'तू सहष्णिुता सीख।' इतने श्रम, इतने कष्ट-सहन के पश्चात् एक जनशून्य मरुस्थल में अकस्मात् मिल गए एक दिगम्बर अवधूत। तेजोमय देह, जैसे

शरत्कालीन चन्द्र पर धवल मेघ का झीना आवरण पड़ा हो। परिचय न उन्होंने पूछा, न पूछने का अवसर दिया। दो-तीन वाक्य कहकर मरुस्थल के अंधड़ से जैसे अकस्मात् प्रकट हुए थे, वैसे ही उसमें अदृश्य हो गय। स्पष्ट संस्कृत भाषा थी उनकी- 'अमृत्व तेरे अन्तर में ही है। अनित्य स्पर्शों को सहन करना सीख, वह प्रकट होगा। भटकना व्यर्थ है।'

'भटकना व्यर्थ है!' यह आदेश स्वीकार करके वह लौट पड़ा था और हिमालय तक पहुँच गया था। कहाँ किधर से आया, कौन-कौन से प्रदेश पड़े मार्ग में, यह उसे स्वयं पता नहीं।

× × ×

'सहिष्णुता सीख!' उस अमानव-प्राय लगते अद्भुत अवधूत के शब्द मस्तिष्क में गूँजते नहीं, घनाघात करते हैं। उसने क्या-क्या नहीं सहा है। 'अब और ऐसा क्या है, जो उसे सहना है? अभी तक उसे सहिष्णुता सीखना ही शेष है?'

जब उत्साह शिथिल होता है, समस्त श्रान्ति एक साथ दबा लेती है। इतने कष्ट, इतने अभाव, इतनी यन्त्रणा में कभी न हारने वाला उसका चित्त आज हारने लगा है। 'अब इस हिमदेश में अस्थियाँ गलती हों तो गल जायँ। इतना तो संतोष रहेगा कि पुण्य प्रदेश में देहत्याग हुआ है।' वह एक हिमशिला पर ही बैठा और फिर लुढ़क गया।

'वत्स!' अमृत-सिञ्चन करनेवाली स्निग्ध वाणी श्रवण में पड़ी- 'अमृत का पुत्र है तू। अमृत्व तेरा स्वत्व है। उठ! इस प्रकार पराजय स्वीकार करना तुझे शोभा नहीं देता।'

'भगवान्' उसने पड़े-पड़े ही नेत्र खोले और फिर हड़बड़ाकर उठा तथा चरणों पर लुढ़क गया। पिंगल वर्ण जटाएँ मस्तक से पादतल तक लम्बायन थीं, भस्म-भूषित देह था और नेत्रों में अद्भुत करुणा थी। इतनी ही वह एक झलक में देख सका था।

'उठ, समीप ही गुहा है। तुझे अभी उष्णता एवं आहार की आवश्यकता है।' सहारा देकर उन्होंने उठा दिया। वह उठकर खड़ा हो गया। चलने की शक्ति जान पड़ी उसे अपने में। उन अपरिचित कृपालु के पीछे उसे बहुत दूर नहीं जाना पड़ा।

पर्वत के भीतर एक साधारण गुफा। उसमें सीधे खड़े होने का अवकाश नहीं था। बैठकर ही भीतर जाना पड़ा। वहाँ की उष्णता ने उसे सुखा दिया। सम्पूर्ण गुफा काली हो गयी थी धुआँ लगते रहने से। भीतर पाषाण शिलाएँ अनेक स्थानों पर उभड़ी थीं। एक धूनी थी मध्य में और किसी हिम प्रदेशीय पशु का चर्म बिछा था।

'वहाँ एक पार्श्व में जलस्रोत है। तू ये कन्द ग्रहण कर।' धूनी में से मोटे-मोटे

लम्बे गोल दो कन्द उन्होंने निकालकर बाहर रख दिये और बोले– 'आहार करके विश्राम कर। मैं कल दिवस के प्रथम प्रहर में आऊँगा।'

उसने कन्द जल में धो लिए। उसे लगा, इतना स्वादिष्ट भोजन जीवन में पहली बार मिला है। उस चर्माम्ब पर सोया तो सम्पूर्ण रात्रि कैसे समाप्त हुई, पता ही नहीं लगा। सूर्योदय होते ही नित्यकर्म से निवृत्त होकर, गुफा स्वच्छ करके वह प्रतीक्षा कर रहा था अपने उन आतिथेय की।

'व्यक्ति परिचय की उत्कण्ठा व्यर्थ है!' आकर आसन स्वीकार करते ही उन महापुरुष ने कहा– 'व्यक्ति क्या? एक चर्मावरण से परिसीमत का प्रतीयमान श्रम, इसके पीछे मत पड़।'

'हिम प्रदेश में तुझको बहुत अधिक ग्राम मिले हैं।' तनिक रुककर वे बोले– 'मरुस्थल प्रदेश में भी जनपद हैं। इनके निवासी तपोधन नहीं हैं, यह तू जानता है।'

'सहिष्णुता क्या?' उसने अब सीधे पूछ लिया।

'हिम प्रदेशीय निवासी शीत सहिष्णु हैं और उष्ण-देशीय ऊष्मा सहिष्णु, किंतु हिम या ऊष्मा सहिष्णु हो जाना तितिक्षा नहीं है।' वे इस प्रकार बोलते जा रहे थे, जैसे प्रश्न उन्होंने सुना ही नहीं– 'तुम्हारे पूर्वज तितिक्षा समझते थे। वानप्रस्थाश्रमी शीतकाल में शीतल जल में आकण्ठमग्न दिवस व्यतीत करे, ग्रीष्म में संतप्त भूमि पर बैठकर पञ्चाग्नि सेवन करे और वर्षा में मेघों को अपना निरन्तर मूर्धाभिषेक करने दे।'

'तितिक्षा इस जन ने जानबूझकर तो नहीं की; किंतु.....।' उसने कुछ कहने का प्रयत्न किया; लेकिन फिर चुप हो गया।

'तितिक्षा तप है। तप तेज एवं सिद्धि का जनक है। परंतु तप अन्तःकरण को निर्वासन नहीं करता। विक्षेप का निवारण तप का कार्य नहीं।' वे बोलते जा रहे थे– 'तप महासिद्ध बना दे सकता है अमृतपद की प्राप्ति नहीं करा सकता। यह कार्य सहिष्णुता करती है।'

'सहिष्णुता?' यह चौंका। उसे अब लगा कि उसने अब तक जो कुछ सहा है, वह तितिक्षा तो है; किंतु सहिष्णुता? इस सहिष्णुता को तो वह अभी तक समझ ही नहीं पाया है।

'तितिक्षा केवल एक पार्श्व है सहिष्णुता का।' उन महापुरुष ने इस बार तनिक दृष्टि उठाकर उसकी ओर देखा था– 'मात्रास्पर्श समझता है? रूप, रस, गन्ध, शब्द और स्पर्श– ये तन्मात्राएँ तो तू जानता ही है। तपस्वी अथवा तितिक्षु इनमें अप्रिय का – दुःख का, प्रतिकूलवेदना का आह्वान करता है। उसके उपयुक्त परिस्थिति प्रस्तुत करके उसे सहता है। अधिकांश तपस्वी शब्द और स्पर्श की प्रतिकूलता को वह सह लेना ही तप की सम्पूर्णता मानते हैं। कठोर स्पर्श, अत्यन्त शीतल या अत्यन्त ऊष्मा में

शरीर को डाले रहना तथा निन्दा-अपमान को सह लेना- इतना ही तो तितिक्षा का क्षेत्र नहीं है। रूप, रस और गन्ध- इनका प्रतिकूल स्पर्श भी तितिक्षा के क्षेत्र में ही है।'

'अब सहिष्णुता पता नहीं क्या होगी?' वह बोला तो नहीं; किंतु उसके चित्त में प्रबल मन्थन चलने लगा। ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच ही हैं और पाँचों के प्रतिकूल विषयों को सह लेने की बात आ गयी। मानापमान शब्द या चेष्टाजन्य ही तो होगा। इतना सब तितिक्षा है, तपस्या है और यह सष्णिुता का केवल एक पार्श्व है- अद्‌भुत बात लगती है उसे यह। जो अपरिचित महापुरुष उसके सम्मुख बैठे हैं, उन्होंने अकस्मात् बोलना बंद कर दिया है। उनके नेत्र बंद हो गये हैं। लगता है कि वे ध्यानावस्थित हो गये हैं। एक-एक क्षण उसे भारी लग रहा है। वह अत्यन्त उत्सुक हो उठा है।

'प्रतिकूलवेदनीयं दुःखम्, अनुकूलवेदनीय सुखम्' में से तू आधे भाग को भूल क्यों रहा है? तन्मात्राओं का स्पर्श केवल दुःख ही नहीं देता, सुख भी देता है। ये स्पर्शज सुख-दुःख दोनो अनित्य हैं। दोनों आने-जाने वाले हैं, दोनों को अविचलित अन्तःकरण से सह लेना सहिष्णुता है।' सम्भवतः उनके अन्तर्द्वन्द्व को उन महापुरुष ने जान लिया था। इसलिए इस बार उन्होंने सम्पूर्ण बात एक साथ ही कह दी- 'केवल दुःख ही व्यथा नहीं देता। सुख भी एक व्यथा ही है। वह भी मन को उन्मथित करके उद्विग्न करता है। हर्षावेश रहित, उद्वेगहीन स्थिर भाव से सुख को झेल लेनेवाला साधक क्या तुझको किसी घोरतर तितिक्षु- तपस्वी से कम महत्त्वपूर्ण लगता है?'

'ओह!' दीर्घ निःश्वास निकल गया उसके सुख से। वह इतना चौंक गया था कि उसकी कल्पना तक करना कठिन है। तपस्वी स्थिर, नीरव, एकटक देख रहे थे उसकी ओर और उसने मस्तक झुका लिया था।

'गुरुदेव!' सहसा उसने दोनों चरण पकड़ लिए महापुरुष के।

'नहीं!' उन्होंने उसे स्नेहपूर्वक उठाया। 'वज्रयान का साधक अनङ्गवज्र चाहे जितना दीर्घायु एवं प्रज्ञापारमिता भवगती का कृपापात्र हो, तेरा पथ-दर्शक नहीं हो सकता। तू हमारे कुल का नहीं है। अपने कुल में, अपने अधिकारानुरूप पथ से ही साधक की प्रगति होती है। भगवान् पद्म-पाणि ने आदेश दिया था कि उनके इस दिव्य देश में आये सहज तापस को मैं अपनी वाणी का आतिथ्य देकर अर्चन करूँ। मैंने यह आतिथ्य का अल्प प्रयास किया है।'

'आप अब पधारें!' उसे अवरुद्ध-कण्ठ देखकर महापुरुष ने ही कहा- 'आपने अनायास तितिक्षा को परिपूर्ण कर दिया है। अब अपने गृह को लौटें। सुख को सहन करने का अभ्यास करें। सहिष्णुता जिस दिन परिपूर्ण होगी अमृतत्व तो आप का स्वत्व है ही। सम दुःख-सुख धीर पुरुष सहज अमृतत्व का स्वरूप है।'

❑❑

नेत्र खुले रखो

'आपने यह व्यसन पालकर अच्छा नहीं किया।' वे मेरे मित्र थे, कांग्रेस-आन्दोलन के सहकर्मी थे। आन्दोलन का समय समाप्त हुए तब अधिक समय नहीं बीता था। दूर के सम्बन्ध में सम्बन्धी भी लगते थे और सबसे बड़ी बात यह कि वे मुझसे स्नेह रखते थे। अतः उनके हाथ में हुक्का देखकर मुझे खेद हुआ था।

उत्तर-प्रदेश में हुक्का व्यापक है पर्याप्त दिनों से और ब्राह्मणों के अतिरिक्त अन्य वर्णों में उसका इतना सम्मान है कि जाति बहिष्कृत व्यक्ति को 'हुक्के-पानी से बाहर' कहा जाता है। आगत का सम्मान हुक्के के बिना सम्पन्न नहीं हुआ करता।

समाज में रहना है तो उसके शिष्टाचार भी मानने ही पड़ते हैं। हम हुक्का पीते हैं या नहीं, यह भिन्न प्रश्न है; किंतु जो अपने यहाँ आयेंगे, उनके हाथ में ताजी चिलम चढ़ा हुक्का न देने से तो काम चलेगा नहीं; वे असन्तुष्ट होकर जायँ- अकारण लोक निन्दा हो, यह किसी को प्रिय नहीं हो सकता। अतः क्षत्रिय होने के कारण मेरे उन सम्मान्य मित्र के यहाँ हुक्का-चिलम तो रहते ही थे। उनके द्वार का गौरव था- 'सेर-सवा सेर तम्बाकू प्रतिदिन जल जाती है।' सेवक न हो तो अभ्यागत के सम्मान में स्वयं चिलम चढ़ा देने में उन्हें सङ्कोच नहीं होता था।

'बड़े-बूढ़े आग्रह करते हैं, तुम्ही जगा दो।' उन्हें आज स्वयं तम्बाकू पीते पहली बार मैंने देखा था। वे कुछ संकुचित हुए और बहाना बनाया उन्होंने।

उनका बहाना- इसे बहाना कहना कठिन है। मुझे स्वयं इस परिस्थिति का पर्याप्त अनुभव है। ताजी भरी चिलम का तम्बाकू सुलगने न लगे, वहाँ तक सम्भवतः पीने वाले को पूरा स्वाद नहीं आता। प्रत्येक चाहता है कि दूसरे ताजी चिलम को 'जगा' दें। जो बड़े होते हैं, उनका छोटों से यह आग्रह साधारण बात है। ग्रामों के सरल स्वभाव वृद्ध- वे अनेक बार अत्यधिक आग्रह पर उतर आते हैं- 'नहीं पीते तो आज से सही। अच्छा, केवल दो फूँक।' अनेक बार अपने नियम की रक्षा के लिए मुझे दुराग्रही बनना पड़ा है।

'आप दूसरों के आग्रह के कारण एक दुर्व्यसन ग्रहण कर लेंगे, ऐसी आशा तो नहीं

थी।' मैंने असन्तोष व्यक्त किया। वे सुशिक्षित हैं, सुसंस्कृत हैं, अनेक बार स्वयं मादक द्रव्यों की हानि पर प्रवचन करते हैं। शराब-गाँजा-की दूकानों पर धरना देने के स्थानीय आन्दोलन का उन्होंने संचालन किया है। उन्हें इतना शिथिल-चरित्र क्यों होना चाहिये।

'इधर पेट में वायु रहने लगी है।' उन्होंने अब दूसरा बहाना बनाया। 'इससे आराम मिलता है। मैं अभ्यस्त नहीं बनने जा रहा हूँ। दिन में केवल भोजन के पश्चात्- वह भी दस-पाँच दिनों के लिए ही है। छोड़ देने का निश्चय कर रखा है।'

'पेट की वायु में लाभ की बात आप मुझसे अधिक जानते हैं।' मैं स्वीकार करता हूँ कि मैं आवश्यकता से अधिक रूक्ष हो गया था- 'लाभ अधिक है या हानि और स्वास्थ्य मिलेगा या अस्वास्थ्य- यह भी क्या आपको बताना है?'

'मैं हानि की बात मानता हूँ।' उन्होंने नम्रतापूर्वक कहा- 'हानि की बात समझाता हूँ लोगो को; किंतु मुझे उसका कोई अनुभव नहीं। एक हल्का-सा अनुभव कर लेना ठीक लगता है मुझे। थोड़ी हानि सही। आप विश्वास मानिये- दस-पन्द्रह दिनों के बाद मैं अवश्य छोड़ दूँगा।'

मैं जानता हूँ- प्रत्येक व्यसन प्रारम्भ करते मन इसी प्रकार भुलावा दिया करता है। ये निश्चय- ये सङ्कल्प कभी पूरे होने वाले नहीं होते।

× × ×

'आप यहाँ?' उस दिन वे अचानक मिल गये। नगर में। उन्होंने मुझे देख लिया था सड़क पर जाते और मोटर रोक कर उतर पड़े थे। बड़े उल्लासपूर्वक मिले। 'घर चलिये!'

बहुत दिनों पर- वर्षों के पश्चात् हम दोनों मिले थे। उनका आग्रह मैं टाल नहीं सका। उन्होंने मुझे मोटर में बैठा लिया। मैंने सङ्कोच पूर्वक पूछा- 'आप किसी काम से जा रहे थे?'

'काम तो जीवन भर साथ लगे रहेंगे।' मैंने देख लिया कि उनके स्वभाव में अब कर्त्तव्य दक्षता नहीं, एक निश्चिन्तता का भाव आ गया है।

अब वे एक उच्चपदस्थ सरकारी कर्मचारी हैं। विवाह, बच्चे-यह सब तो स्वाभाविक बात है। मेरा अच्छा स्वागत हुआ। बच्चे 'चाचाजी, चाचाजी' करते गोद में आ बैठे और उनकी पत्नी जिन्हें भाभी कहकर मैंने प्रणाम किया था, जलपान प्रस्तुत करने में व्यस्त हो गयीं।

'आप अभी वैसे ही हैं?' उन्होंने पूछा।

'वैसे ही, एकाकी-निर्द्वन्द्व।' मैंने हँसकर कहा और तभी मेरी दृष्टि पलङ्ग के

सिरहाने रखी तिपाई पर गयी। 'इसे जेब में तथा अलमारी में रखने से ही काम नहीं चला करता। सिर पर भी रखना ही पड़ता है।'

'रात्रि में जब नींद खुल जाती है, इसकी आवश्यकता पड़ती है।' उन्होंने मेरे विनोद का उत्तर गम्भीर स्वर में ही दिया। 'गृहस्थी में उलझा जीवन कितना चिन्तित होता है, इसे आप कैसे समझ सकते हैं। यह तनिक चिन्तित चित्त को सहारा देती है।'

'केवल सिगरेट का एक पैकेट तथा माचिस की डिबिया रखी थी वहाँ तिपाई पर। इस सुसंस्कृत नागरिक जीवन में ग्राम के हुक्के का प्रवेश असभ्यता होती।

कुछ लोग स्वभाव से विवश होते हैं। जहाँ जायँगे पुस्तकें देखीं और उलट-पुलट करने लगे। कम-से-कम नाम देख लेने का लोभ- यह लोभ मैं भी रोक नहीं पाता। अपने स्वभाव के अनुसार उनकी रैक में लगी पुस्तकें उलटने लगा था मैं और कुछ अधिक मिल जाने की आशा से मैंने समीप की अलमारी खोल दी।

'चिन्तित चित्त को सहारा देने का यह दूसरा साधन-सम्भवतः पहिले से अधिक प्रबल!' झटपट अलमारी के किवाड़ लगाकर मैं कुर्सी पर आ बैठा। वे हतप्रभ हो उठे थे। भाभी उसी समय जलपान लेकर आयीं और शीघ्रतापूर्वक उसे रखकर लौट पड़ीं। मैंने इस क्षणार्ध में उस महिला के भरे नेत्र देख लिए। पति शराबी हो गये हैं- कितनी व्यथा इस स्मरण से ही एक आदर्श गृहिणी को होती है।

'विवाह न करके आपने अच्छा नहीं किया।' वे अब जलपान के लिए मेरे साथ मेज के समीप आ गये थे। मेरा चित्त दूसरी ओर ले जाने का प्रयत्न करने लगे थे। मेरे निजी जीवन में रूचि प्रदर्शित कर रहे थे। जलपान में मेरा उत्साह रह नहीं गया था; किंतु इतने वर्षों के पश्चात् मिले मित्र के प्रति उनके ही घर पर अशिष्ट होना मैं नहीं चाहता था। उनका आतिथ्य स्वीकार करना था और उनके प्रश्नों के उत्तर भी देने थे।

'आप श्रीमद्भागवत का पाठ करते हैं और उसे समझते भी हैं।' उन्होंने इस बार अपने तर्क के समर्थन में एक श्लोकार्द्ध सुना दिया-

'नानुभूय न जानाति पुमान् विषयतीक्ष्णताम्।'

× × ×

मित्र से विदा होकर मैं चला आया। एक मन्दिर में ही मैं टिका था। रात्रि-शयन के लिए लेटकर भी निद्रा नहीं आ रही थी। जो लेटते ही पाँच मिनट में खुर्राटे भरने लगे, उसके लिये नींद न आना- बड़ी उलझन लगती थी। वह श्लोकार्द्ध सिर में चक्कर काट रहा था-

'नानुभूय न जानाति पुमान् विषयतीक्ष्णताम्'

पता नहीं कब पलकें बन्द हो गयीं। मैं किसी दिव्य देश में पहुँच गया था। चारों

ओर उतुङ्ग शिखर-उज्ज्वल हिमखण्डित उन शिखरों के मध्य सुविशाल समतल प्रशस्त भूमि और उस भूमि में स्थान-स्थान पर पाषाण-कुटीरें।

कपिश जटाजूट, विशाल शरीर, आजानुलम्बित भुजाएँ, तेजोदीप्त भाल- उन कुटीरों में एक-से तेजोमय, वल्कल-कौपीन तपोधन निवास करते थे। कोई ऋषियों-का ग्राम-आश्रम की अपेक्षा ग्राम कहना मुझे ठीक लगता है। मैंने वहाँ शिशु देखे मृगशावकों के साथ क्रीड़ा करते और जगन्माता का गौरव जिनके पाद पद्मों में गौरवान्वित हो उठे, ऐसे वे ऋषि-पत्नियाँ देखीं। वे तपोधन गृहस्थ थे- गृहत्यागी नहीं।

यज्ञीय कुण्डों से कुण्डालाकार उठता सुरभित यज्ञधूम-दिशाएँ पवित्र हो रही थीं। और उन्हें निष्कल्मष कर रहा था स्थान-स्थान से उठता हुआ सस्वर श्रुतिघोष।

मैं समीप चला गया एक कुटीर के। शिलातल पर मर्गचर्म पड़ा था और उस पर आसीन थे एक तेजोमय। लगभग दस वर्ष के एक मुनिकुमार उनके समीप मेरे देखते-देखते उटज में आकर बैठ गये।

'तात!' अद्भुत स्वर था मुनिकुमार का। वे पूछ रहे थे- 'श्रुति-शास्त्रों में अत्यधिक विचित्रता है। उनका समन्वय प्राप्त करना सहज नहीं है। तर्क सत्य का ही निर्णय करेगा, इसका भी विश्वास नहीं और ऋषिगण भी भिन्न-भिन्न मार्गों के प्रतिपादक हैं। ऐसी अवस्था में अपना अनुभव ही तो प्रमाण का निर्विवाद आधार होगा?'

'वत्स! विस्मृत हो रहे हो कि जीवन अति अल्प है और अनुभूति का क्षेत्र अनन्त है!' स्नेह-स्निग्ध सान्द्र गम्भीर स्वर था उन तेजोमय का।' 'असत् की दुःख रूपता की प्रत्येक अनुभूति एक आघात देती है। जीवन चूर्ण हो जायगा यदि वह स्वतः की अनुभूतियों से ही प्रकाश-प्राप्ति का आग्रह करें।'

'तब?' स्वर में नहीं, ऋषिकुमार के नेत्रों में ही यह प्रश्न आया।

'विष मारक होता है- स्वतः के अनुभव से ही जो इसे जानना चाहेगा, अनुभूति को सार्थक करने के लिए क्या वह शेष रहेगा?' एक क्षण रूककर वे बोले। 'पुरानुभूति शिक्षा का सुलभ साधन क्यों नहीं वत्स? दूसरे जिनसे हानि उठाते हैं- हम देखकर ही जान लेते हैं, हमारे लिए भी वह हानिकर है। नेत्र खुले रखो। देखो और ज्ञान का आलोक तुम्हें स्वयं प्रकाश देगा।'

'नेत्र खुले रखो!' मेरी निद्रा किस कारण भङ्ग हो गयी, यह अब स्मरण नहीं; किंतु उन तेजोमय के वे शब्द अब भी स्मरण हैं और श्रीमद्भागवत का वाक्य- **'नानुभूय न जानाति....'** यह पुत्र-स्नेहातुर प्रजापति दक्ष का वाक्य- आदर्श तो नहीं बन सकती किसी ममतासक्त की आसक्तिमयी उक्ति!

❑❑

भगवान् की कृपा

त्रैवर्गिकायासविघातमस्मत्पतिर्विधत्ते पुरुषस्य शक्र।
ततोऽनुमेयो भगवत्प्रसादो यो दुर्लभोऽकिञ्चनगोचरोऽन्यैः।।

(श्रीमद्भ० 6।11।23)

'मुझे तुम्हारी कृपा-भिक्षा नहीं चाहिये।' मुनीन्द्र ने क्रोध एवं घृणा से लाला जी की ओर देखा और लौट पड़ा। तेरह वर्ष के इस बालक ने यह भी नहीं सोचा कि इस विदेश में वह स्वयं अपने से दो वर्ष छोटे भाई के साथ अनाश्रित हो गया है और आज तेजस्विता का समय नहीं है। आज कौन है जो उसको मान करने पर मनायेगा?'

'नन्हा-सा छोकरा और इतनी शान!' लाला जी भुनभुनाये और फिर अपनी बही उलटने लगे। उन्हें डरने का कोई कारण नहीं था। मुनीन्द्र के पिता यहाँ अपरिचित थे। कहीं काशी के आसपास के रहने वाले थे वे। किसी कारण से घर छोड़कर स्त्री-बच्चों के साथ दिल्ली में यहाँ पिछले दो वर्ष हुए आये थे। एक छोटी लड़की पहले ही चल बसी, स्त्री ने अपनी पुत्री का अनुगमन किया। अब सुना कि घर जाकर लौटते हुए ट्रेन में सन्निपात हुआ और कानपुर अस्पताल में पुलिस ने पहुँचा दिया। अस्पताल से उनका शरीर श्मशान पहुँचाना पड़ा। अब ये दो लड़के रह गये हैं। मुनीन्द्र के पिता ने उसे बताया था कि वे कुछ बचा पाते हैं, लाला जी के पास जमा करते हैं। अब तक उनके आठ सौ रूपये जमा हो चुके हैं। पितृहीन मुनीन्द्र भाई के साथ घर लौट जाना चाहता है। वह अपने पिता के जमा रूपये माँगने आया था। लालाजी ने आश्चर्य के साथ कहा- 'कैसे रूपये? तुम्हारे पिता के कोई रूपये यहाँ जमा नहीं है।' पता नहीं कहाँ से फिर सहानुभूति जग पड़ी और स्नेह से बोले- 'तुम लोग बच्चे हो। घर जाना चाहो तो दस-बीस रूपये ले जाओ।'

मुनीन्द्र क्रोध से तमक कर चला गया था। लालाजी को भला उसकी क्या चिन्ता हो सकती थी। वह नन्हा लड़का कर ही क्या सकता था। रही पश्चात्ताप की बात, सो यदि आजकल का व्यापारी इस प्रकार सोचा करे- उँह, छोड़िये भी इन बातों को।

मुनीन्द्र ने अपने वस्त्र, बर्तन एवं पुस्तकें बेची और छोटे भाई को लेकर वह घर लौटा। यह घटना आज की नहीं, इसे बीते तो आज पूरे सत्ताईस वर्ष हो चुके हैं। अब

आज इसका कोई महत्त्व नहीं; किंतु ऐसा कहना भी ठीक नहीं। इसी घटना का महत्त्व है; क्योंकि मुनीन्द्र आज बड़ी मस्ती से कहता है– 'उन लालाजी के रूप में पहले-पहल श्यामसुन्दर ने मुझ पर कृपा की। मैं मूर्ख था, उस समय समझ नहीं सकता था।'

अच्छा तो इसे कृपा का क्रम कहिये या आपत्तियो का, क्रम यहीं से प्रारम्भ हुआ। यह तो केवल श्रीगणेश था। इसके पश्चात् घर की रही-सही चल एवं अचल सम्पत्ति बिक गयी या लोगों ने दबा ली, कभी इसके यहाँ और कभी उसके यहाँ इस प्रकार परिचितों एवं सम्बन्धियों के यहाँ रहकर किसी प्रकार दोनों बच्चों को जीवन के वर्ष व्यतीत करने पड़े। इस कष्ट-कथा को बढ़ाने में हमारा आपका कोई लाभ नहीं, अतः इसे यही समाप्त होने दीजिये।

पिता भगवती सिंहवाहिनी के उपासक थे। बिना दुर्गापाठ किये उनके कण्ठ के नीचे जल रुग्णावस्था में ही उतर सकता था। मुनीन्द्र से उनका मोह बहुत था। फलतः मुनीन्द्र जब बहुत छोटा था, उसे दुर्गा कवच रटना पड़ा। बड़े सवेरे स्नान करके पिता को जब वह कवच का पाठ सुना देता, तब वे अपने पूजा के आसन पर बैठते और नन्हा बालक छिपकर फिर सो जाता। पिता के परलोक पधारने के साथ उसका कवच-पाठ भी छूट गया और छूटा सो छूटा। लेकिन वे श्यामसुन्दर मयूर मुकुटी त्रिभङ्गसुन्दर तो सीधे देवता नहीं हैं। इन्होंने कब मुनीन्द्र को पकड़ा, वह स्वयं नहीं जानता। एक बार एक चित्र सुन्दर लगा, खरीद लाया। अब इन व्रजराजकुमार को क्या कोई छोड़ सकता है? ये किसी को पकड़ भर लें- पकड़ना ही सीखा है इन्होंने। पकड़ने को हाथ फैलाये ही रहते हैं। लेकिन छोड़ने का पाठ पढ़ाने वाला गुरु इन्हें नहीं मिला। सो नहीं मिला।

मुनीन्द्र कहता है- 'कन्हाई उस पर सदा कृपालु रहा है।' आप इसका समर्थन नहीं कर सकते थे और वह भी इस कृपा से पिन्ड छुड़ाने के लिये कम छटपटाया हो, कम रोया हो सो बात नहीं। उसकी छाती में भी मांस का कलेजा ही धुक-पुक करता है और कलेजा है तो उमंगें भी रहेंगी ही। कौन धन नहीं चाहता? किसे बड़प्पन काटने दौड़ता है? ऊँची कोई, उत्तम सामग्री, शरीर का सुख किसे अभीष्ट नहीं है? बहुत हाथ-पैर मारे मुनीन्द्र ने। उसे लगकर काम करना आता है ! उसे आज तक किसी ने बुद्धू नहीं कहा। जहाँ भी वह लगा दूसरों को उसकी सदा अपेक्षा रही। इनते पर भी वह सदा असफल रहा। सदा उसके उद्योग फलहीन होते गये और वह अब कहता है- 'ठीक समय पर मेरा श्याम मुझे सम्हाल लेता है।'

संसार केवल श्रम नहीं चाहता, बहुत कुछ चाटुकारी चाहता है। मुनीन्द्र के कृपालु ने उसे कदाचित् 'मान' का ही वरदान दिया है। जहाँ सफलता सामने दीखती है, उसका मान उसे कहीं-न-कहीं भिड़ा देता है। श्रम उसका और परिणाम के समय उसे पृथक् होना रुचने लगता है। तुच्छता उसे रुचती नहीं। वह कुत्ता नहीं जो पूँछ

हिलावे या टुकड़ों के लिये लड़े।

अनेक स्थलों पर उसे 'मान' मिला है। उस पर कृपा करने वाला हारना नहीं जानता। 'कर्म का मारा खेती करै। बैल मरै या सूखा परै।' कारणों का कहीं अभाव होता है किसी को असफल बनाने के लिये?

आपने सफल होकर कौन-सा तीर मार लिया है?' उस दिन जब एक मित्र मुनीन्द्र को समझाने लगे, तब उसने अद्‌भुत तर्क किया। वह निश्चिन्त रहता है, मस्त रहता है, यह सब तो ठीक; किंतु कंगाल है वह और यह निर्धनता- कौन इसका समर्थन करेगा?

× × ×

'मैं पतित हूँ। अधम हूँ। मेरे-जैसा निकृष्ट पापी कोई नहीं हो सकता।' मानधनी मुनीन्द्र आज फफककर रो रहा है। इधर दो सप्ताह से एकान्त में पहुँचते ही उसके नेत्र झरने लगते हैं। हिचकियाँ बँध जाती हैं। उसका मुख पीला पड़ गया है। भोजन में रूचि नहीं हो रही उसकी। आजकल उसकी सहज हँसी दुर्लभ हो गयी है।

'क्या किया है उसने? कौन-सी भूल उससे हो गयी?' लेकिन ऐसा कुतूहल ही क्यों? हजरत चिरकीन की बात तो मैं नहीं करता। वे मानवरूचि के एक अद्‌भुत अपवाद हो गये हैं। लेकिन क्या, आपको मनुष्य के मल-मूत्र के रंग-रूप एवं गन्धादि की व्याख्या सुननी पसंद है? नहीं है तो फिर मनुष्य के मानसिक स्खलन की विवेचना में ही कौतूहल क्यों? विकार भी तो जीवन के मल ही हैं। उनकी विवेचना से वक्ता-श्रोता को विकृति के अतिरिक्त और क्या मिल सकता है।

'मेरा कोई प्रायश्चित नहीं। मरकर भी मुझे शान्ति नहीं मिलेगी।' मुनीन्द्र आज एक महापुरुष के चरणों में गिरकर क्रन्दन कर उठा है। मैंने ....।'

'तुमने कुछ नहीं किया है।' महात्मा ने स्नेह से मस्तक पर हाथ रक्खा उसके और उससे बोलने से रोक दिया। किसी से क्या भूल हुई, यह जानने से तो कोई लाभ नहीं। संत ने समझाया- 'तुम मुझे एक प्राणी बता दो जो तुम्हारे ही जैसा या तुमसे भी अधिक अपराध न कर चुका हो। कोई कितने जन्मों से पुण्यात्मा है? सर्वज्ञ परमात्मा के लिये आज के पापी और सौ जन्म पहले के पापी में क्या समय का अन्तर होता है?

जैसे ग्रीष्म ऋतु की दोहपरी में प्यास से सूखे कण्ठ में एक नन्हा-सा बरफ का टुकड़ा पहुँच गया हो- मुनीन्द्र ने मस्तक उठाकर संत की ओर देखा। अब भी उसकी पलकें और कपोल भीगे हुए थे और उन्हें पोंछने का उत्साह अभी लौटा नहीं था।

'भगवान् दयासागर हैं। वे इसीलिये पुण्यश्रवा कहे जाते हैं कि जीवों के पाप को वे न देखते और न सुनते।' संत ने समझाया- किसने कब क्या किया, यह कोई महत्त्व

की बात नहीं। कौन कब से भूल न करने का निश्चय करके उन परम कृपालु की ओर चल पड़ा, बस इतनी बात महत्त्व की है। तुम इसे आज और अभी कर सकते हो।

मुनीन्द्र लौट आया उस दिन आश्वस्त होकर। लेकिन यदि मन इतना शीघ्र मान लिया करता तो श्यामसुन्दर स्वयं उसे 'मनो दुनिग्रहं चलम्' क्यों कहते? वासना में, विकार और चञ्चलता। बालक के डगमग पैरों में चलने की शक्ति नहीं और मायादेवी का यह आँगन फिसलन से भरपूर भरा है। चलना, उठना और गिरना- लेकिन चले बिना तो पैरों में शक्ति आयेगी नहीं। बालक गिरकर उठना न चाहे तो चलना आयेगा कैसे?

कहते हैं कि युवावस्था, स्वाधीनता, अविवेक एवं धन हो तो पतन अनिवार्य हो जाता है। वैसे इनमें से कोई एक ही पतन के लिए पर्याप्त है। मुनीन्द्र कंगाल है- बस, यही एक सुविधा है उसे। बुद्धि का निर्णय, बुद्धि का विवेक मन के प्रवाह में टिक सके, ऐसा तो धीर पुरुषों में ही होता है। सामान्य जन मन के प्रवाह में बहते हैं।

'मैं अनुष्ठान करूँगा।' कामनाओं की बाढ़ रुकना नहीं जानती और बुद्धि कहती है कि मर्यादा से रहना ही चाहिये। अब लौकिक साधन नहीं रह जाते, तब मनुष्य आकाश की ओर देखता है। मुनीन्द्र पर अनेक प्रसिद्धि प्राप्त सिद्ध पुरुषों की कृपा है। उसने थोड़ी संस्कृत पढ ली है और खींच-तानकर अभीष्ट ग्रन्थों का उलटा-सीधा अर्थ भी निकाल लेता है। अब वह अपनी कामनाओं को आराधना से पूरा करेगा।

'ये सब शास्त्र झूठे हैं। कोई देवी-देवता नहीं है। व्यर्थ में लोगों को ठगने का ढोंग फैलाया है। धूर्तों ने।' आप मुनीन्द्र पर रुष्ट हो सकते हैं, किंतु उसे दोष नहीं दे सकते। वह आधी रात श्मशान में गया है। उसने अंधरकारपूर्ण स्थान में घंटों नग्न रहकर जप किया है। आज तीन वर्ष से वह प्रेत-यक्षिणी, छाया-पुरुष और देवताओं की आराधना में लगा है। कई अनुष्ठानों को वह तीन-चार बार दुहरा चुका है। उसे भय नहीं लगता। प्रमाद उससे हुआ नहीं। विधि जानने और पूर्ण करने में वह असाधारणरूप से सावधान है। इतने पर भी उसे कोई लाभ नहीं हुआ। देवता तो दूर, प्रेत भी उसे स्वप्न में नहीं दीखा कभी। अब वह जो अविश्वास करता है- क्या दोष है उसका।

'तुम क्या प्रत्यक्ष को भी स्वीकार नहीं करते?' आज एक गुदड़ीधारी सिद्ध मिल गये हैं। उन्होंने मुनीन्द्र को एक मुट्ठी किसमिस दी है अपने खाली हाथ को सामने ही बंद करके।

'मेरी समझ में कुछ नहीं आता।' मुनीन्द्र के नेत्र भर आये। वह ऐसे चमत्कार और भी स्थानों पर देख चुका है। अनेक देखी या सुनी घटनाएँ ऐसी हैं, जिन पर वह अविश्वास कर नहीं सकता। 'मुझे कुछ क्यों नहीं होता? मैंने ही ऐसा क्या पाप किया है?'

'तुम धन्य हो। बड़े सौभाग्यशाली हो तुम।' पता नहीं दो क्षण नेत्र बंद करने के

पश्चात् उन संत को क्या हो गया। उनके नेत्रों से आँसू झर-झरकर झरने लगे। और मुनीन्द्र से लिपट पड़े वे। 'हम तो अभागे हैं। जिस श्रम से हीरा मिल सकता था, हमने उससे काँच खरीद लिया। हमने अपने-आप अपनी चुटिया नन्हीं शक्तियों के हाथों में दे दी। तुम्हारा रक्षक ऐसा नहीं है कि उसके सेवक की और कोई ऐरा-गैरा आँख उठाकर देख सके।'

मुनीन्द्र की समझ में कुछ नहीं आया। संत बहुत देर तक पता नहीं क्या-क्या कहते रहे। स्वस्थ होने पर उन्होंने कहा- 'भैया! तुम क्यों सकाम उपासना में इधर-उधर भटकते हो। जो बच्चा माता की गोद में बैठा है, वह चाहे जिससे चाहे जितना रोकर माँगे, पर किसमें साहस है जो बच्चे को अग्नि का लाल-लाल अँगारा दे देगा। जिसने श्यामसुन्दर के हाथों अपने को सोंप दिया, उसके सकाम अनुष्ठान सफल ही होंगे- ऐसा आश्वासन कोई नहीं दे सकता।

आप आश्चर्य करेंगे, मुनीन्द्र अब बहुत प्रसन्न होता है। वह न रोता और न रुष्ट होता। वह बड़ी प्रसन्नता से कहता हे- 'कन्हाई अपने नन्हें करों से मेरी आराधना अस्त-व्यस्त कर देता होगा। बेचारे देवता क्या करें, वह चपल स्वयं ही सारा नैवेद्य मुख में धर लेता होगा।'

उसकी कामनाएँ सदा अपूर्ण रहीं। उसके उद्योग नष्ट होते रहे और वह कहता है- 'बड़े मजे की बात है।' ऐसा मजा क्या आपमें से कोई पसंद कर सकता है?

× × ×

मैं आपके लिए नाथद्वारे का प्रसाद ले आया हूँ।' ग्रीष्म की तपती दोपहरी में लगभग दो मील चलकर केवल प्रसाद देने वे आये थे। उनके बड़े भाई नाथद्वारा रहते हैं। वहाँ से जब आते हैं, प्रसाद ले आते हैं। मित्रता होने के कारण उस प्रसाद में से वे मुनीन्द्र को थोड़ा देते हैं। लेकिन इस प्रकार उसकी कुटिया पर तो कभी प्रसाद पहुँचाया ही नहीं जाता। वह जब प्रातःकाल नगर में जाता है, उसका भाग सुरक्षित मिल जाता है उसे। 'भैया! अभी नौ बजे ही आये। मैंने सोचा कि आपको अभी दे आऊँ।' लाने वाले के सौहार्द की प्रशंसा तो करनी ही पड़ेगी।

'प्रसाद से तो व्रत भङ्ग होता नहीं; किंतु....' श्रद्धा से मस्तक झुकाकार प्रसाद स्वीकार किया गया, लेकिन एक समस्या भी आ गयी सामने। आज मुनीन्द्र का निर्जला एकादशी व्रत है। प्रसाद से भले व्रत भङ्ग न हो, प्रसाद पेट में पहुँचा देने पर बिना जल पिये कैसे रहा जा सकेगा? स्वयं जल पीने से निर्जल व्रत का नियम तो रह सकता नहीं।

'आज घर पर ठाकुर जी को पञ्चामृत से स्नान कराया गया।' लगभग ढाई पाव पञ्चामृत ले आये थे वे मित्र। बड़ा संकोच हो रहा था उन्हें भी। बड़ी नम्रता से उन्होंने कहा- 'मुझे स्मरण ही नहीं रहा कि आप आज व्रत से होंगे। आप सदा एकादशी का व्रत करते हैं, यह मैं जानता हूँ और आज तो मैं स्वयं भी व्रत हूँ; किंतु प्रसाद ले आते समय व्रत का कुछ ध्यान ही नहीं आया।'

आज वर्षों बाद भी उस दिन का स्मरण होने पर मुनीन्द्र के नेत्र गीले हो जाते हैं। उसका एकादशी व्रत तो चलता है; किंतु निर्जल व्रत तो उसी दिन चला गया। कन्हाई को उसकी भूख-प्यास की इतनी टेढ़ी-सीधी व्यवस्था करनी पड़े, इसे उसके प्राण सह कैसे सकते हैं।

एक निर्जला की ही तो बात नहीं है। उसे धुन चढ़ी थी उन दिनों तपस्वी बनने की। वैसे न शारीरिक और न मानसिक व्यायाम ही उससे होते; किंतु कोई खटपट उसे करना पडे, यह भी उसके स्वभाव के विपरीत है। अपने खटपट की या अपने लिए दूसरों ने खटपट की, बात तो एक ही है। उसने सोचा था, पर्वत में किसी झरने के पास रहने लगे तो भोजन बनाने तथा वस्त्रादि की बड़ी खटपट छूट जाय। सारे बन्धन, सारे झमेले समाज के ही तो हैं। वह समाज में रहे ही नहीं तो? लेकिन- 'मेरे मन कछु और है, कर्ता के कछु और।'

'जंगलों में जायँगे, गुफा में रहेंगे, कन्द-मूल-फल खायँगे और डटकर भजन करेंगे।' ऐसे स्वप्न तो वे अनुभवहीन लड़के देखते हैं, जिन्होंने जंगल का मुख ही नहीं देखा। कन्द-मूल फल के नाम पर जिनके मन में सदा आम-अमरूद, सेव-अंगूर का स्वाद जागता है। भजन का जिन्होंने नाम तो सुना है, पर किया नहीं है। मुनीन्द्र को अवसर मिलने पर वनों या पर्वतों में घूम आने का व्यसन है। वह जानता है कि आज वनों एवं पर्वतों में वर्ष में छिट-फुट दिनों को जोड़-बटोरकर तीन मास के लगभग भले घटिया श्रेणी के आम आदि फल मिलें; पर कोई उनसे जीवन-निर्वाह की आशा नहीं कर सकता। गुफाओं में प्रायः चमगीदड़ों के अड्डे या वन-पशुओं के आवास होते हैं। वे न भी होंतो भी मच्छर, दीमक, चीटियाँ, ऊमस आदि बाधाएँ तो सर्वत्र हैं। झरनों के पास वन-पशुओं का आवागमन प्रायः रहता है और भजन तो जो घर पर नहीं कर सकता, एकान्त में बिल्कुल ही नहीं कर सकेगा। वहाँ तो निद्रा, आलस्य, भय तथा उद्विग्नता और बढ़ जाती है।

मुनीन्द्र की योजना दूसरी ही थी। वह वन के छोटे-छोटे घटिया किस्म के बहुतायत से मिलने वाले बेल के फल एकत्र कर लेगा। उदुम्बर (गूलर) पकने पर उसे सुखाकर रख लेगा। आँवले के द्वारा पोषण तत्त्व मिल जायगा उसे। कुछ कड़वे-कषैले कन्द भी मिलते ही है। चार तथा तेदूं की ऋतु में दस-पंद्रह दिन वे काम चला देंगे। इस प्रकार स्वाद की चिन्ता सर्वथा छोड़ देने पर पर्वतों में जीवन किस प्रकार बिताया तो जा

ही सकता है। वन-पशुओं से उसे भय नहीं लगता; क्योंकि वह जिस दिन पर्वत में पहुँचे, उसी दिन उसे कोई अपने पेट में पहुँचा दे, इसमें भी हिचकने का कारण नहीं देखता, मच्छर, चींटी तथा गुफाओं की ऊमस एवं दुर्गन्धि-अनेक बार वह पर्वतों में घूमकर अनुमान कर चुका है कि इनको किसी प्रकार सह लेगा। भजन-यहीं एक प्रश्न है। भजन होगा या नहीं, इसमें उसे सदा सन्देह रहा है; किंतु परीक्षण तो करना चाहिये।

जहाँ वह रहता है वहाँ से तीन-चार मील दूर एक वनों से ढ़का पर्वत है। दो-तीन बार घूमने से उसमें अच्छा झरना एवं समीप सिर छिपाने योग्य गुफा मिल गयी है। बिना किसी को कुछ बताये वह चला गया पर्वतों पर। यदि परीक्षण सफल हो गया तो ठीक, नहीं तो दो दिन बाद लौट जाने में तो कोई बाधा है नहीं।

'मैंने आपको पर्वत पर आते देखा था। यहाँ आपको कष्ट होगा, इसलिए भोजन ले आया हूँ।' सूर्यास्त के पश्चात् कोई उसके लिए दो मील नीचे गाँव से भोजन तो ले आयेगा और रात्रि के अन्धकार में वन-पशुओं से भरे पर्वतीय मार्ग से लौटने की आशङ्का मोल लेगा यह कोई कैसे अनुमान कर सकता था।

'आपको यहाँ एक लकड़िहारे ने देख लिया था। वह इधर लकड़ी तोड़ने आया था। उसने बताया कि एक बाबू पहाड़ पर अकेले बैठे हैं।' मैं आपके लिए दूध और थोड़ी-सी पूड़ियाँ शाक के साथ ले आया हूँ।' यह एक रही। वह पहले दिन के स्थान से दो मील दूर चला गया तो, वहाँ दूसरे सज्जन को आज किसी लकड़िहारे ने भेज दिया।

'आप यहाँ कुछ दिन रहें तो मैं आपके लिए भोजन पहुँचा दिया करूँगा। कल तो मेरी एक गाय भाग गयी थी। उसे ढूँढ़ते मैं नीचे नाले की ओर आया तो देखा कि आप इधर आ रहे थे। इस ओर यही एक झरना है। मैंने समझ लिया कि आप यही रुकेंगे।' यह तीसरे दिन की घटना है। मुनीन्द्र अब क्या कहे? उसके लिए जब विश्वम्भर को ही खटपट करनी है तो लकड़िहारों, भागी गायों, घूमने निकले खेतिहरों से वह कहाँ-कहाँ छिपता फिरेगा। वह उसी दिन लौट आया पर्वत से।

बहुत संस्मरण हैं, आज उसे पता नहीं क्या-क्या याद आ रहा है। वह धनी नहीं कङ्गाल है और उसके पास ये ब्राह्मण देवता माँगने आये हैं। इन्हें धन नहीं चाहिए, किसी ने इन्हें बहका दिया है कि मुनीन्द्र अपने कुछ पुण्य सङ्कल्प कर दे तो इनका बीमार पुत्र अच्छा हो जायगा। कहाँ पावे मुनीन्द्र पुण्य को? वह कहता है- 'मैंने जब कुछ करना चाहा, कन्हाई ने मेरे घरौंदे अपने चञ्चल चरणों से उलट-पुलट दिये। मेरे धर्म-कर्म तो कबके उसे भेंट हो गये। मेरे पास पुण्य है कहाँ महाराज?

× × ×

'आज आप मेरे यहाँ प्रसाद पावें!' मुनीन्द्र आज बहुत प्रसन्न है। बड़ी उमङ्ग में है वह।

'आज कोई नयी बात है क्या?' ब्रह्मचारी जी ने हँसते हुए पूछा।

'आज माला लाया हूँ, फल लाया हूँ, अपने भगवान् को खूब सजाया है और ढेर से फल उनके सामने धर दिये हैं। आपको भरपेट मिठाई खिलाऊँगा।' जब यह मस्ती में आता है, पूरा बालक बन जाता है।

'किस बात का उत्सव है?' उत्सव की साज-सज्जा बताकर भी कारण न बताया जाय तो कौतूहल बढ़ना ही चाहिए। आज कोई विशेष पर्व तो है नहीं। वैसे तो हमारे ऋषियों ने इतने पर्व बताये हैं कि वर्ष में कोई दिन ऐसा नहीं, जो पर्व न हो।

'आपने तो मेरी पुस्तक देखी थी न?' मुनीन्द्र उल्लासपूर्वक बोला। वह गत दो वर्षों से लगातार चार-पाँच घण्टे श्रम करता रहा। ढ़ेरों ग्रन्थ उलट-पलटकर बहुत रूचि से उसने एक बड़ा-सा ग्रन्थ लिखा है। उसके अनेक परिचित्तों ने उसके ग्रन्थ की प्रशंसा की है। उसे आशा रही है और उसके मित्र कहते हैं कि उसके ग्रन्थ का पर्याप्त सम्मान होगा। उसने योजना बना रक्खी है कि ग्रन्थ प्रकाशित होने पर उनके परिश्रमिक से वह एक लम्बी पर्वतीर्य यात्रा करेगा।

'तुम्हारी पुस्तक छप गयी क्या?' अभी छः महीने पहले एक अच्छे प्रकाशक ने देखने के लिए पुस्तक मँगायी थी। इतनी उत्तम पुस्तक को यदि प्रकाशक ने शीघ्रता से प्रकाशित कर दिया तो कोई आश्चर्य की बात तो है नहीं; किंतु अभी परसों तक तो मुनीन्द्र कहता था कि वह प्रकाशक पत्रों के उत्तर भी नहीं देता है। ग्रन्थ छापकर उसने मुनीन्द्र को चमत्कृत कर दिया- यह अनुमान करना ब्रह्मचारी के लिए भी बड़ा सुखद प्रतीत हुआ।

'मेरी पुस्तक आ गयी है।' मुनीन्द्र उसी उल्लास में कह रहा था।

'तुम ले क्यों नहीं आये? कैसी छपी है? क्या मूल्य रक्खा है उसका?'

'छपी कहाँ है, वैसे ही लौट आयी है।' मुनीन्द्र के मुख पर जो हर्ष है, उसे देखते हुए उसकी बात पर विश्वास करना कठिन ही है।

'लौट आयी है?' ब्रह्मचारी को ऐसा लगा जैसे उनके लिखे ग्रन्थ को ही किसी प्रकाशक ने अस्वीकृत करके लौटा दिया हो।

'प्रकाशक कहते हैं कि ग्रन्थ सुन्दर तो है; किंतु युग की माँग अनुरूप नहीं है।' मुनीन्द्र हँसते हुए कह गया- 'वे ठीक तो कहते हैं।'

'क्या ठीक कहते हैं?' ब्रह्मचारी जी खिन्न हो गये।

'आप उदास न हों, मैं आपको आज मिठाई खिलाऊँगा- दूसरे मित्रों को भी बुलाना है। आप नहीं आयेंगे तो सबको बुरा लगेगा।' वह हँसता हुआ वहाँ से चला गया।

'इसने ठीक बात नहीं कही है। पुस्तक लौट आयी हो सकती है; पर कोई अच्छा सुझाव या आश्वासन होना चाहिये उसके साथ।' ब्रह्मचारी जी सोचने लगे कि ऐसी

क्या बात हो सकती है, जिसे मित्र-गोष्ठी में सहसा प्रकट करके मुनीन्द्र सबको चौंका देने के प्रयत्न में लगा हुआ है।

'तुमने पूरी बात तो अभी बतायी ही नहीं!' पुस्तक लौट आयी है, वह मित्रों ने देख लिया। प्रकाशक के पत्र पर टीका-टिप्पणी हो चुकी। सबने भोजन कर लिया। अब तो घरों को लौट चलने का समय हो गया और यह उत्सव-आयोजन किसलिए हुआ, सो किसी की भी समझ में कुछ नहीं आया।

'मैने तो कोई बात छिपायी नहीं है।' मुनीन्द्र के पास कुछ रहस्य है नहीं तो बतावे क्या?

'तुमने यह आनन्दोल्लास क्यों प्रकट किया, यह कहाँ बताया तुमने।' मित्रों को थोड़ी झुँझलाहट हुई। प्रतीक्षा भी एक सीमा तक ही मधुर होती है।

'ओह।' खूब खुलकर हँसा मुनीन्द्र। 'मेरे श्यामसुन्दर की इच्छा पूर्ण हुई, इससे बड़ी प्रसन्नता की बात मेरे लिए और क्या है? इच्छा तो मेरी पूरी होती या फिर विश्वात्मा की पूरी होती। जहाँ मेरी इच्छा पूरी होती है, वहाँ मेरा स्वार्थ है या विश्वात्मा की इच्छा, सो तो मुझे कुछ पता लगता नहीं; **किंतु जहाँ मेरी इच्छा नहीं पूरी होती, वहाँ तो यह निश्चय हो गया कि मेरे कन्हाईकी इच्छा पूरी हुई है।** '

मित्रों की मनोदशा का अनुमान आप भी कर सकते हैं, किंतु क्या मुनीन्द्र ठीक नहीं कहता? क्या हमारी इच्छा की विफलता नहीं बताती कि प्रभू की इच्छा पूर्ण हुई है? प्रभु के अनुग्रह का यह साक्षात्कार हमारे हृदय को प्रफुल्लित नहीं करता- यही तो अज्ञान है।

❑❑

आचार और विचार

'जो जल में दीखता है, जो घृत में दीखता है, जो दर्पण-में दीखता है, वही आत्मा है।' सृष्टिकर्त्ता ब्रह्माजी ने अपने पास तत्वज्ञान की इच्छा से आये इन्द्र और विरोचन को यह उपदेश किया था।

'शरीर का ही प्रतिबिम्ब जल में दीखता है, शरीर ही घृत में दीखता है और शरीर ही दर्पण में भी दीखता है, अत: शरीर ही आत्मा है।' दोनों सन्तुष्ट होकर लौट पड़े।

श्रुति कहती है कि 'आत्मा एकरस और नित्य है। शरीर पर आभूषण हों तो जल में आभूषण दीखेंगे, न हों तो नहीं दीखेंगे। शरीर आहत हो तो घृत में भी आहत ही दीखेगा वह। यदि मुख विकृत बना लें तो दर्पण में भी मुखाकृति विकृत दीखेगी। यह बदलनेवाला, आहत होने वाला, विकृत होनेवाला शरीर आत्मा कैसे हो सकता है?' इन्द्र के मन में सन्देह हो गया। वे ब्रह्माजी के पास लौट आये।

'इन्द्र मूर्ख तो है ही, अश्रद्धालु भी है।' विरोचन ने एक बार मुख बनाया और वे सीधे रसातल चले आये अपने असुर, दानव, दैत्यों को को शरीरात्मवाद के तत्त्वज्ञान का उपदेश करने।

'मैं शरीर नहीं हूँ, क्षत्रिय हूँ, मन नहीं हूँ। शरीर, इन्द्रिय एवं मन के धर्म मुझे स्पर्श नहीं करते। ये रोग-शोक तो शरीर एवं मन के धर्म हैं।' वे महापुरुष बहुत रुग्ण थे। उनके शरीर में बहुत पीड़ा थी। उन दिनों एक सन्तरे या मौसम्बी का रस भी उन्हें कठिनता से पचता था। उनके शरीर में केवल हड्डियों का ढाँचा रह गया था। आसन से उठकर खड़े होने के लिए उन्हें सहारे की आवश्यकता होती थी। इतने कष्ट में भी उनका नित्य प्रफुल्ल मुख वैसा ही खिला हुआ था। उनकी प्रसन्नता मलिन नहीं हुई थी। उनके लिए शरीर का रोग ऐसा था जैसे पास पड़ी लकड़ी में दीमक लग गयी हो।

मैं नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्मा हूँ। शरीर, इन्द्रिय, मन सब मिथ्या हैं। इनके व्यवहार मेरी दृष्टि में नहीं हैं। जो दीखता हे, वह तो देखनेवाले को दीखता है। भेदबुद्धि से जो मुझमें व्यवहार देखते हैं, उनकी कल्पना मुझमें नहीं आ सकती।' वे भी महात्मा हैं। अच्छा स्थूल शरीर है। सेवकों की एक भीड़ घेरे रहती है उन्हें। पूजा करने वाले

उनकी आरती-पूजा करते रहते हैं। सुकोमल रेशमी वस्त्र पहिनाते हैं। उत्तम-से-उत्तम नैवेद्ध। भक्तजन भोग लगाते हैं। सेवकों से कोई थोड़ी त्रुटि हो जाय तो उन्हें कसकर फटकार मिलती है। दूसरी भी बहुत-सी बाते हैं; किंतु उनके वर्णन से लाभ क्या?

उमेश ने इन्द्र और विरोचन की कथा पढ़ी है। उसने दर्शनशास्त्र लेकर एम०ए० किया है और उसके पश्चात् भी वह स्वतन्त्र अध्ययन में लगा है। उसमें विरोचन की भाँति श्रद्धा नहीं है। वह आचार तथा विचार के इस असामञ्जस्य को समझ नहीं पाता है।

उमेश एक महात्मा को जानता है। उनका शरीर भी स्थूल है। उनके भी सेवक हैं। उनकी भी यदा-कदा पूजा होती है। उनके श्रद्धालु भी उन्हें उत्तम वस्त्र एवं नैवेद्य अर्पित करते हैं। वे भी सुसज्जित भवन में आधुनिक परिच्छदों का उपयोग करते हैं और वे हैं भी वेदान्त में निष्ठा रखने वाले। लेकिन उनमें पदार्थों से, व्यक्तियों से जो निरपेक्षता है, जो असङ्गता है उनके जीवन में, वह उमेश समझ सकता है। वहाँ उसे कोई उलझन नहीं होती। उसे उलझन तो हुई है तब, जब वह सर्वथा साधारण आचार एवं संसक्त मन के साथ निरपेक्षता के लम्बे-चौड़े सिद्धान्त की बात सुनता है।

'शरीर ही आत्मा है' विरोचन की बात थी। उस पुरानी बात को दुहराने का साहस तो चार्वाक को भी नहीं हुआ। देह को सर्वस्व मानना, जड़ का विकार मानना पड़ा चेतना को उन्हें। उमेश तो दार्शनिक है। उसने अध्ययन के साथ मनन किया है। मरने के बाद जो पड़ा रह जाता है, उसे भला वह आत्मा कैसे मान ले। इन्द्रियाँ शरीर से कितनी भिन्न हैं और कितनी अभिन्न हैं, यह दो दिन के उपवास में पता लग जाता है। मन जो कि अन्न के सूक्ष्मांश से बना है, शरीर ही तो है एक प्रकार का। अन्न और अन्न का सत-स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर का भेद ऐसा न सही; पर कुछ-कुछ ऐसा तो है ही। आत्मा शरीर नहीं है, मन नहीं है, इन्द्रिय नहीं है, यह बात उमेश क्या समझता नहीं है।

'आत्मा तो कहीं भी शरीर, मन या इन्द्रिय नहीं है।' उमेश की उलझन बढ़ती जाती है। 'आत्म ज्ञान से मुक्ति का अर्थ क्या है? यदि मन विषयों में आसक्त है, इन्द्रियाँ भोग-लोलुप हैं, शरीर के सुख-दुख, मान-अपमान का ही चिन्तन, उद्विग्न बनाये रहता है तो?'

'रस्सी में सर्प जान पड़े तो क्या और न जान पड़े तो क्या? वह सर्प किसी को काट तो सकता नहीं। मृगतृष्णा के जल को मान भी लिया तो क्या उससे कपड़े भीग जायँगे?' उमेश ऐसे तर्क बहुत सुन चुका है। पता नहीं क्यों ये तर्क उसके गले से नीचे नहीं उतरते।

'रस्सी में सर्प तो नहीं है, यह जाननेवाला क्या भय से काँपेगा? मृगतृष्णा में जल

नहीं है, यह जान लेने पर प्यास से नितान्त व्याकुल होने पर भी क्या वह उधर जल के लिए दो पद भी चलना चाहेगा?' आप उमेश के तर्कों को कैसे अस्वीकार कर सकते हैं।

'शास्त्रों में जो विधि-निषेध, पाप-पुण्य, जन्म-मृत्यु का वर्णन है।' उमेश का हृदय कहता है कि शास्त्र को अस्वीकार कर देने पर तो ब्रह्मज्ञान भी अस्वीकृत हो जायेगा शास्त्र ही तो अद्वैत तत्त्व का भी प्रतिपादन करते हैं।

'घड़े में धूल भरी है या चन्दन, इससे घटाकाश का क्या बिगड़ता है?' उमेश को यह वेदान्त शान्ति के बदले उत्तेजना देता है। 'घटाकाश तो महाकाश ही है। उसका तो कहीं भी कुछ नहीं बिगड़ता।' इसका अर्थ उसे अनास्था प्रतीत होता है। उसे लगता है कि यह तर्क चार्वाक के देहात्मवाद का दूसरा संस्करण है और बहुत भयानक संस्करण है; क्योंकि इसमें समस्त उच्छृङ्खलताओं एवं अनाचार का समर्थन है।

'**ऋतु ज्ञानान्न मुक्तिः**' उमेश कैसे सुलझावे इस पहली को?

× × ×

'तुम्हारे दर्शन के प्रोफेसर मुक्तपुरुष हैं?' महात्माजी ने उमेश की शङ्का सुनी और खुलकर हँस पड़े। बात-बात में खिलखिला पड़ना उनका सहज स्वभाव है।

'मैं यह तो जानता हूँ कि बौद्धिक ज्ञान से कोई मुक्त नहीं होता। यदि बौद्धिक ज्ञान से कोई मुक्त हो सकता तो हो गये होते।' उमेश आज हँस नहीं पा रहा है। वह बहुत गम्भीर है।

'तब कोई कैसे मुक्त होता है?'

'अपरोक्ष साक्षात्कारसे।'

'अपरोक्ष का क्या तात्पर्य?'

'अपरोक्ष.....' अब यहाँ उमेश की गाड़ी अटक गयी। मन एवं इन्द्रियों की अपेक्षा से ही परोक्ष-अपरोक्ष की बात होती है। जहाँ मन-इन्द्रियों की गति नहीं, वहाँ अपरोक्ष कौन करेगा?

'यह तो सब दीख रहा है, यह क्या है?'

'है तो यह भी सब ब्रह्म ही; किंतु.....' उमेश फिर रुक गया।

'तुम आत्मा, ब्रह्म, अपरोक्ष, परोक्ष, बद्ध, मुक्त आदि शास्त्रीय शब्दों को छोड़ दो।' महात्माजी ने समझाया- 'लोग समझते कुछ नहीं, अपने मन में और बाहर दूसरों से भी शब्द के स्थान पर पर्यायवाची शब्द दे देना ही ज्ञान मान लेते हैं। शब्दों के जाल से निकलकर अर्थ की बात सोचो।'

'शब्दों को छोड़कर कोई कैसे सोचेगा?' उमेश ने पूछा।

'अपने शब्दों में, अपने ढङ्ग से सोचो। आत्मा में अनात्मा की भ्रान्ति अज्ञान है और इसी अज्ञान से बन्धन है, यह तुमने बहुत सुना-सोचा है। तुम अपने ढङ्ग से सोचो कि बन्धन क्या है? तुम कहाँ कैसे बँधे हो।' महात्मा जी की वाणी अब गम्भीर हो चुकी थी।

'बन्धन तो आसक्ति का ही है। आसक्ति के कारण ही शरीर या पदार्थों से अन्तःकरण बँधा है।' उमेश यह बात बहुत पहले सोच चुका है।

'केवल राग ही बन्धन नहीं है, द्वेष भी बन्धन है।' महात्मा जी ने संशोधन किया- 'तुम या तो राग से किसी का चिन्तन करते हो या द्वेष से। अच्छा, अब सोचो कि मुक्ति क्या है?'

'बन्धन न रहे तो मुक्ति ही है।' भला इसमें क्या सोचने की बात है- 'संसार में राग-द्वेष न रहे, चित्त इन दोषों से मुक्त हो जाय, बस यही मुक्ति है। लेकिन क्या यह भी सम्भव है कि किसी में राग-द्वेष भी हो अर्थात् उसका चित्त बँधा भी हो और वह मुक्त भी हो?' उमेश अपने वास्तविक प्रश्न पर आ गया।

'उकताओं मत!' महात्मा फिर हँस पड़े। 'एक क्रम से चलो! शरीर तथा संसार के पदार्थों में यह राग क्यों है?' द्वेष की बात जान-बूझकर छोड़ दी गयी; क्योंकि वह तो सदा राग की अपेक्षा से ही होता है।

'इसलिए कि हम शरीर को अपना मानते हैं और पदार्थों की प्राप्ति में सुख अनुभव करते हैं।' सच्ची बात यही है कि उमेश कुछ उकता रहा है। ये बातें तो वह अनेक बार घोंट चुका है।

'हमें सुख चाहिये- दुःखरहित स्थिर सुख। हमारे समस्त प्रयत्नों का यही मूल है। सभी धर्म एवं अध्यात्म-मार्ग इसी उद्देश्य से प्रवृत्त हुए हैं। अब इस मूल उद्देश्य को भूलना मत; क्योंकि जो इसे भूल जाते हैं, वही तर्क के जाल तथा मन के भुलावे में भूलते हैं।' बड़ी शान्ति से महात्मा जी समझा रहे थे। 'अब यह देखो कि ये सुख-दुःख किसे होते हैं? किसे सुख चाहिए? कौन आसक्ति-के बन्धन में बँधा है? ब्रह्म या आत्मा तो बँधा है नहीं और न उसे सुख की अपेक्षा है। वह तो आनन्द स्वरूप है। उसके लिए तो साधन-शास्त्र की प्रवृत्ति है ही नहीं।'

'सुख-दुःख चित्त को होते हैं। चित्त ही राग-द्वेष का मूल है।' उमेश को प्रकाश की एक हल्की आभा प्रतीत होने लगी है।

'चित्त का ही पुनर्जन्म है और उसी की मुक्ति भी होगी?' महात्मा जी ने विचित्र भाव से देखा उसकी ओर। 'हिचको मत! सत्य को स्वीकार करने में भय का कोई कारण नहीं होना चाहिए। मुक्ति आकाश की नहीं होती, घट की होती है। घड़े का फूट

जाना ही मुक्ति है उसकी। दीपक के बुझ जाने का नाम ही निर्वाण है।'

'चित्त का लय- समाधि होनी चाहिए तब।' उमेश बहुत अधिक गम्भीर हो उठा।

'यह तो साधन भेद की बात है।' महात्माजी ने आश्वासन दिया- 'चित्त का लय या समाधि भी हो सकती है और चित्त से ऊपर भी उठ जाया जा सकता है।'

'चित्त से ऊपर उठ जाया जा सकता है?' उमेश इसे ही तो ठीक समझना चाहता है।

'मैं चित्त नहीं हूँ, यह बात दूसरों से कह भर देना तो कुछ अर्थ नहीं रखता।' महात्मा जी फिर हँस पड़े- 'इसकी धारणा होनी चाहिए। जैसे लाठी मुझसे भिन्न है, वैसे ही मुझसे भिन्न हैं शरीर और चित्त तथा दोनों लाठी के समान जड़ हैं।'

'अर्थात् आरम्भ में 'मैं चित्त नहीं हूँ' यह धारणा भी आराधना या भावना ही है?' उमेश के नेत्र स्थिर हो गये।

'काँटे से ही काँटा निकलता है।' महात्मा जी के स्वर में स्नेह उमड़ पड़ा- 'यह समस्त संसार भावमय है। अनन्त काल से जन्म-मृत्यु का जो चक्र चल रहा है, वह भी भावरूप ही है। भाव ही इसे निवृत्त कर सकता है।'

'तब ज्ञान से ही मुक्ति का क्या अर्थ है?' उमेश का संकेत उपासना की ओर है, यह समझना बहुत कठिन नहीं था।

'तुम यह दुराग्रह क्यों करते हो कि केवल एक मार्ग ने ही मुक्ति या जीव के परम कल्याण का ठेका ले लिया है।' महात्मा जी इतने उदार होंगे, यह उमेश ने कभी सोचा नहीं था। 'सभी मार्ग हैं- केवल मार्ग। कोई अपने को ही लक्ष्य कहे तो झूठा है वह और वह भी झूठा है जो मार्गों को भ्रान्त कहे। जितने सिद्धान्त हैं, सब एक ही सत्य का प्रतिपादन करना चाहते हैं।'

'इतना भेद, इतना विवाद और....।'

'इसलिए कि लोग तर्क से ही सब कुछ समझ लेना चाहते हैं।' महात्मा जी ने बीच में ही उमेश को रोका- 'कौन क्या मानता है, इसका कोई विवाद नहीं, यदि वह इस स्थूल नश्वर को ही सब कुछ नहीं मानने लगा है। कौन क्या करता है- अपनी आस्था को शास्त्रीय साधना पर रखकर वह कितना चलता है, बस, यही मुख्य बात है। सभी मानते हैं कि चित्तशुद्धि के बिना तत्त्व का साक्षात्कार नहीं होता। ऐसी दशा में केवल तर्क से उसे समझ लेने का दुराग्रह एवं विवाद का क्या अर्थ रखता है?'

उमेश जिज्ञासु है। उसके भीतर अभीप्सा जाग पड़ी है। उसका समाधान तर्क से नहीं हो सकता तो जैसे होगा, वैसे ही करेगा वह। महात्माजी के भिक्षाटन का समय हो गया है। उसे चलना चाहिये इस समय यहाँ से।

× × ×

'जपात्सिद्धिर्जपात्सिद्धिर्जपात्सिद्धिरिह ध्रुवम्।'

उमेश को चित्तशुद्धि करनी है। सगुण-साकार में उसकी आस्था नहीं है। निर्गुण निराकार का ध्यान तो होता नहीं, निरालम्ब चित्त को रखना पड़ता है और ऐसा हो नहीं पाता। अष्टाङ्गयोग का तो अधिकारी ही वह है, जो पूर्ण ब्रह्मचारी हो। प्राणायाम का दबाव स्नायुओं को विकृत करके साधक को रोगी बना देगा यदि उसके स्नायु वीर्यस्खलन से दुर्बल हो चुके हैं। लय योग के अनेक मार्ग हैं- शब्द मार्ग, स्पर्श योग, लययोग, रसानुभव या अमृतपान, गन्धानुभूति, किंतु सबमें मन की एकाग्रता आवश्यक है। उमेश को न ज्योति देखनी है, न गन्ध या रस में उसे आकर्षण है। उसे चमत्कार नहीं, एकाग्रता चाहिये। वह कहता है- 'सूर्य एवं चन्द्र-जैसी ज्योति तो बाहर ही हैं। नेत्र बन्द करके दीपक-जैसा प्रकाश दिखा तो क्या और न दिखा तो क्या। स्पर्श के नाम पर वह गुलाब का पुष्प दिखा देता है और गन्ध के नाम पर कोई इत्र। जिसे तख्ते पर शयन करना रूचता है, उसे स्पर्श का क्या आकर्षण। उसे जो चाहिये, वह क्या चमत्कार उसे दे सकते हैं।

'राम, राम, राम' वह गोस्वामी तुलसीदास जी के नवजलधर सुन्दर श्रीराम का ध्यान नहीं करता। उसे तो महात्मा कबीर का 'राम' पसन्द है। इस 'राम' नाम में उसे शक्ति जान पड़ती है। इसमें उसकी रूचि है। उसने रट लगा दी है- 'राम, राम, राम।'

'यह क्या हो गया? पहले तो जप में मन अच्छी तरह लगता था; किंतु अब क्या हो गया है? अब तो मुख से जप होता है और मन अपने उधेड़ बुन में रहता है।' उमेश... कुछ खिन्न हो गया है। उसे लगता है कि किसी दूसरे नाम या मन्त्र का जप करना चाहिए। 'प्रणव का बहुत अधिक माहात्म्य है। सन्तों ने 'सोऽहम्' के अजपा जप को अत्यधिक प्रभावशाली बतलाया है।' मन में अनेक विकल्प उठते हैं।

'जब गन्दे भवन की सफाई की जाती है, एक बार धूलि उड़ती ही है। वायुमण्डल पहले से अधिक धुँधला हो जाता है। क्या इस भय से तुम घर को स्वच्छ करना बन्द कर दोगे?' महात्मा जी ने उसे आश्वासन दिया। 'सभी भगवान्नामों में समान शक्ति है। जो बार-बार मार्ग बदलता रहेगा, वह यात्रा में प्रगति नहीं कर सकता। प्रगति के लिए निष्ठा की दृढ़ता अत्यन्त आवश्यक है।'

'यह सब कब तक करना होगा?' जब मन ऊबता है, कुतर्क एवं बहाने सूझने लगते हैं। उमेश सोचता है- 'ये महात्मा जी भी तो जप करते-से लगते हैं। तब क्या उसे सदा ही इसी प्रकार जप की खटपट करनी होगी?'

'झाड़ू, तब तक देनी पड़ती है, जब तक गृह स्वच्छ न हो जायँ।' महात्माजी हँसे- 'अब तक ऐसा कोई घर नहीं बना, जिसके विषय में यह कहा जा सके कि उसे एक बार स्वच्छ कर देने पर वह फिर गन्दा न होगा। स्वच्छता तो सदा करने की आवश्यकता

रहती है। स्वच्छता का प्रयास बन्द करने से गन्दगी एकत्र होती है। जब तक प्रकृति के क्षेत्र में हैं- स्वच्छता का प्रयत्न चलता ही रहना चाहिए।'

'अर्थात् जीवनभर साधना करना पड़ेगा मुझे?' उमेश ने निराशा से पूछा।

'तुम्हें जीवन भर भोजन करते रहने और जल पीने, श्वास लेने आदि की आवश्यकता रहती है, इसमें क्या आपत्ति है?' स्वर में अत्यधिक स्नेह और आश्वासन आया- 'तुम तब तक इसे करणीय समझकर करो, जब तक इसमें रस न आने लगे। जब मन लगने लगे, तब चाहो तो छोड़ सकते हो।'

'राम, राम, राम' उमेश ने निश्चय कर लिया है और अपने निश्चय में वह कभी असफल नहीं हुआ। वह जुट गया है। मन लगे या न लगे, उसे जप करना है- जप करते ही रहना है। चलते-फिरते, उठते-बैठते, काम करते, आराम करते उसकी जीभ को विश्राम नहीं।

मन क्या करें? मन का सर्वथा संयोग न हो तो शरीर का एक रोम तक हिल नहीं सकता। पूरा न सही, पर जब हम एक क्रिया करने पर उतारू हो जाते हैं, मन को अपने एकांश का योग वहाँ करना ही पड़ता है और फिर वही क्रिया मटमैले मन को रगड़ना प्रारम्भ कर देती है। उमेश की जिह्वा अखण्ड रूप से रगड़ने में लगी है- 'राम, राम, राम'।

× × ×

'आज पाँच महीने से ऊपर हो गये जप करते!' उमेश के नेत्रों से अश्रु झर रहे हैं।

'जब कुछ नहीं होता तो छोड़ दो।' सन्त के नेत्रों में अद्भुत कौतुक आया- 'तुम्हारे लिए मेरी आज्ञा है कि अब इसी क्षण से जप एकदम बन्द कर दो।'

'मुझसे रहा नहीं जाता।' केवल आध घण्टे पीछे उमेश लौट आया था।

'नहीं! अब तुम जप नहीं करोगे!' मुख और वाणी को गम्भीर बनाकर सन्त ने आज्ञा दी।

'देव! मुझे मर जाने की आज्ञा दें!' और एक घण्टे व्यतीत करके उमेश लौटा। वह फूट-फूटकर हिचकियाँ लेते हुए रो रहा था। 'मैं जप किये बिना रह नहीं सकता। मेरा हृदय जैसे बाहर निकला पड़ता है। इससे तो मृत्यु सरल है मेरे लिए।'

'बच्चे! तू तो कहता था कि जप से कुछ हुआ ही नहीं।' सन्त ने स्नेहपूर्वक मस्तक पर हाथ फेरा। 'श्वास की कितनी आवश्यकता है और वह हमारे शरीर में कितना काम करती है, यह तब तक हम जान नहीं पाते, जब तक श्वास की गति में

कोई बाधा न पड़े। भगवन्नाम जीवन का एक अविच्छिन्न अङ्ग बन गया, यही तो साधन की सफलता है।'

'लेकिन चित्त की शुद्धि?' उमेश ने मुख उठाया।

'अच्छा!' महात्मा जी देर तक बच्चों की भाँति हँसते रहे। 'तू अब भी चित्त की चिन्ता करता है? कल आना मेरे पास। आज जाकर अपने प्रश्न पर स्वयं मनन कर।'

'चित्त की शुद्धि? चित्त भी तो शरीर ही है, क्या हुआ जो वह सूक्ष्म शरीर है।' उमेश घर पहुँचकर विचार मग्न हो गया है। 'शरीर का शौच-भला शरीर का क्या शुचि होगा? शौच का तात्पर्य तो है शरीर से उपरति। '**शौचात् स्वाङ्गजुगुप्सा**' जैसे शरीर के रोगों से निरपेक्ष होना है, वैसे ही चित्त के रोगों से क्या निरपेक्ष नहीं होना है?' उमेश के मन में श्रीमद्भागवत में भगवान् हंस का उपदेश स्फुरित हुआ-

गुणोष्वाविशते चेतो गुणाश्चेतसि च प्रजाः।
जीवस्य देह उभयं गुणाश्चेतो मदात्मनः।।
गुणेषु चाविशच्चित्तमभीक्ष्णं गुणसेवया।
गुणाश्च चित्तप्रभवा मद्रूप उभयं त्यजेत्।।

(श्रीमद्भ० 11।13।25-26)

अनेक बार उमेश ने इन श्लोकों को पढ़ा है। श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध से उसे विशेष अनुराग है। अनेक टीकाए पढ़ी हैं उसने। इन श्लोकों की व्याख्या पर उसका पहला भी पर्याप्त ध्यान गया है किंतु आज जो भावराशि स्वयं जाग्रत् हो गयी है, शब्दों में वह कभी नहीं आ सकेगी। नेत्रों से आनन्द की धारा उमड़ने लगी है। शरीर-का रोम-रोम खड़ा हो गया है। उमेश किसी ओर ही लोक में पहुँच गया है।

जैसे मरे हुए मकड़े का बड़ा-सा शरीर, देखने में कुछ डरावना, कुछ बीभत्स; किंतु अन्तःसारशून्य, वायु की नन्ही लहरियों पर इधर-से-उधर रूई से भी हल्का होकर उड़ता हो- समस्त दृश्य जगत् जैसे वैसा ही हल्का, वैसा ही थोथा हो गया है। जैसे दूध का फेन देखने में बहुत-सा; किंतु धूप में डाल दें तो तनिक देर में एक धब्बा बनकर रह जाता है- यह सम्पूर्ण विराट् वैसा ही फूला-फूला फेन और वेसे ही एक धब्बा-सा बन गया हो जैसे धुएँ की उड़ती कुण्डलियों में जैसे मनुष्य के सिर, सर्प की कुण्डली आदि आकृतियाँ बनती है और फिर अनन्त में लीन हो जाती हैं- पूरा विश्व जैसे, वैसे ही धुएँ-जैसे तत्त्व की आकृति मात्र हो और लीन हो गया हो वह अनन्त शून्य में।

उमेश की अनुभूति शब्दों में व्यक्त नहीं हो पाती। अनुभूति कोई भी हो, किसी की भी हो, वह अनुभूति ही रहती है। शब्द बनाना अनुभूति को नहीं आता है।

'मैं मन नहीं हूँ, इन्द्रिय नहीं हूँ और शरीर भी नहीं हूँ। इनके धर्म मेरा स्पर्श तक नहीं कर सकते !' जब दूसरे दिन उमेश महात्मा जी के चरणों में प्रणाम कर चुका, तब सन्त ने हँसते हुए अपने पुराने वाक्य दुहरा दिये।

'मैं केवल दर्शन करने आया हूँ।' उमेश के नेत्र भर आये। कण्ठ गद्गद हो गया। अब उसके पास कोई शङ्का है कहाँ, जिसका समाधान चाहेगा वह।

'शराबी शराब के नशे में अपने को सम्राट् घोषित करता है। विषयी पुरुष तर्क के उन्माद में अपने को शरीर और मन से परे बतलाता है। शरीर की आसक्ति, इन्द्रियों की विषय लिप्सा रखते हुए इनसे ऊपर होने की बात करना दम्भ है या फिर शराबी की बहक है।' सन्त ने आज समाधान किया – 'लेकिन सम्राट् की सत्ता तो है ही। शरीर, इन्द्रिय एवं मन से परे अवस्थिति है और वह प्राप्त होती है।'

'अर्थात् आचार प्रथम आवश्यक है और उस स्थिति के पश्चात् स्वाभाविक।' उमेश ने पूछा।

'अब पूछने की क्या बात रही है। तुम अब नाम-जप क्यों करते हो, यह भी क्या पूछने की बात रह गयी है?' सन्त हँस पड़े- 'ये हरि हैं ही धर्म के स्वामी। जो हरि में लगता है, वह धर्म से दूर रह नहीं सकता।'

किसी समय शौनक जी ने भी पूछा था- 'ये आत्माराम आप्तकाम महापुरुष क्यों श्रीकृष्ण के चक्कर में पड़ते हैं? उन्हें भजन से क्या लेना-देना रहता है?'

सूत जी ने धीरे से कहा था-

'इत्थम्भूतगुणो हरिः'

'ये श्यामसुन्दर हैं ही ऐसे। बचपन से नवनीत और दही चुराने का स्वभाव हो गया है इनका। जहाँ कोई चित्त स्वच्छ हुआ- बस, उज्ज्वलतापर इनके बड़े-बड़े नेत्र सीधे ही पड़ते हैं और-और फिर तो श्रुतियाँ भी हाथ जोड़कर कहती हैं-

'तस्कराणां पतये नमः'

सुदामा का स्वागत

पत्नी के आग्रह–अनुरोध तथा अपने भुवनमोहन सलोने बालसखा की अनोखी छबि से नेत्रों को तृप्त करने की लालसा से सुदामा किसी प्रकार दो मुट्ठी चिउड़ा की पोटली लेकर द्वारिका पहुँचे। उनके सखा सर्वेश होकर भी दीन–बन्धु ठहरे। अतएव वे उनका आतुर आलिङ्गन पाकर उनके अन्तःपुर में पहुँच गये। सखा के निजी पर्यङ्क पर उन्हें आसन मिला।

द्वारिका का वैभव, जिसमें लोकपालों की सब विभूतियाँ आकर एकत्र हो गयी थीं, संसार की तो चर्चा ही व्यर्थ है। द्वारिका ने स्वर्ग को सुधर्मा सभा और कल्प–वृक्ष से सूना कर दिया था। उस वैभवमयी नगरी में द्वारिकेश का भवन और उसमें भी उनकी प्रधान प्रिया श्रीरुक्मिणी जी का अन्तःपुर और वहाँ भी श्रीश्यामसुन्दर का पर्यङ्क। विश्व की सारी विभूति, सम्पूर्ण सुषमा एवं समस्त लालित्य मानो साकार घनीभूत हो गया था।

मैल जमे, बिवाइयों से शतशः बिदीर्ण चरण मानों ग्रीष्म का शुष्क सरोवर दरारों से मुख फाड़े खा जाना चाहता हो। घुटने से भी ऊपर ही मैली धोती, जो स्थान–स्थान पर पैबन्द लगी और गाँठों से भरी थी। इतने पर भी बेचारी शरीर को पूरा ढ़क नहीं सकती थी। उसमें से जानुओं का सूखा चमड़ा उतावली से बाहर आने को झाँक रहा था– स्थान–स्थान से। उस धोती का भी बड़ा भाई उत्तरीय तो अपने अस्तित्व पर रो रहा था। सिर पर वह भी नहीं। हड्डी के ढाँचे पर चर्म मढ़ दिया गया था। नसें ऐसी उभड़ गयी थीं मानो किसी ने ऊपर से चिपका दी हो। रक्त–मांस का नाम नहीं। दुर्बलता, दरिद्रता एवं करुणा की साकार प्रतिमा!

उन नटखट ने किया क्या? दरिद्रता एवं कुरुप करुणा की इस प्रतिमा को उस विभूति तथा सौन्दर्य–माधुर्य–के घनीभाव पर उठाकर अपने हाथों से स्थापित कर दिया। इसीलिए तो वे दीनबन्धु अनाथनाथ के साथ श्रीपति सर्वेश है। यह क्या कम उपहास हुआ। नटखट ही क्या जो यहीं शान्त रहे? सुदामा को पता ही नहीं था कि अभी सोलह हजार एक सौ आठ का चक्कर बाकी है।

पता नहीं होली थी कि नहीं; लेकिन बहुत दिन पर दो बाल–मित्र मिले थे। यही

उनके लिए पर्याप्त था। आमोद, कौतुक आज न होगा तो कब होगा? श्यामसुन्दर ठहरे सदा सदा के शरारती, उन्होंने रूक्मिणी जी को कुछ संकेत किया और नाटक प्रारम्भ हो गया।

सुदामा पलँग पर बैठे। उन्होंने स्नान-भोजन कर लिया था। मार्ग का श्रम दूर हो चुका था। अब रूक्मिणीजी ने आकर उनके श्रीचरणों पर मस्तक रखा। सुदामा इतनी देर में उनसे परिचित हो चुके थे। हाथ उठाकर आशीर्वाद दिया। 'सौभाग्यवती, पुत्रवती, पतिप्रिया भव!' रुक्मिणी जी एक ओर हट गयीं। सत्यभामा जी आयीं। उन्होंने भी वैसे ही प्रणाम किया। सुदामा ने परिचय के लिए सखा के मुख की ओर दृष्टि की।

'ये आपके सखा की-' श्यामसुन्दर मुसकराये।

'सौभाग्यवती, पुत्रवती, प्रतिप्रिया भव!' ब्राह्मण ने आशीर्वाद दिया और वे भी हट गयी। अब जाम्बवती जी ने चरणों पर मस्तक रक्खा। विप्र ने दृष्टि उठाकर सखा से फिर परिचय चाहा।

'ये भी!' सखा के मन्द मुसकान में परिचय संक्षिप्त कर लिया। फिर वही आशीर्वाद मिला और उनके हटने पर सत्याजी आकर प्रणत हुईं। इस बार सखा की ओर दृष्टि उठाने पर केवल संकेत से संक्षिप्त उत्तर मिला 'हूँ!' बेचारे ब्राह्मण ने आशीर्वाद दे दिया।

दो, चार, छः- यह तो प्रणाम करनेवालों का ताँता ही नहीं टूटता। 'कितनी रानियाँ हैं इनके?' ब्राह्मण ने मन-ही-मन कहा। परिचय-जिज्ञासा के उत्तर में वही 'हूँ!' मिलते देख उन्होंने परिचय जानने के लिए सखा की ओर देखना छोड़ दिया और धड़ाधड़ आशीर्वाद देने लगे।

दर्जन पूरे होते-होते ब्राह्मण को लगा कि उसका आशीर्वाद बहुत लम्बा है और रानियों का ताँता टूटता ही नहीं था। इसलिए उन्होंने अपने आशीर्वाद का संक्षिप्त संस्करण किया 'पुत्रवती, पतिप्रिया भव!'

लगभग एक दर्जन प्रणाम और हुए। ब्राह्मण-देवता घबड़ाये। उन्होंने फिर आशीर्वाद को संक्षिप्त किया 'पति-प्रिया भव!' लेकिन यहाँ तो रानियों का ताँता लगा था। जब आशीर्वाद देते-देते थक गये तो केवल 'भव!' कहकर काम चलाने लगे और जब जिह्वा ने सत्याग्रह कर दिया तो हाथ हिलाकर ही सन्तोष करना पड़ा। बेचारा वह दुर्बल हाथ भी कब तक साथ देता? थक गया। सिर हिलाकर, नेत्रों के संकेत से आशीर्वाद देना प्रारम्भ हुआ। यहाँ भी पार पड़ता दीख नहीं पड़ा। शरीर बैठे रहने में भी असमर्थ होने लगा। ब्राह्मण झुँझला गये।

'भई! तुम्हारी रानियों की संख्या का आदि अन्त भी है या तुम्हारी ही भाँति वे भी

अनन्त है?' उन्होंने कातर वाणी से पूछा।

'नहीं-नहीं!' सखा मुसकाये- 'अभी दो हजार सात सौ तेरह ने प्रणाम किया है। रानियों की संख्या सिर्फ सोलह हजार एक सौ आठ है।'

'बाप रे!' सुदामा बहुत घबड़ाये 'अब इस आशीर्वाद से पिण्ड कैसे छूटे?' उन्होंने कहा- 'संख्या तो चाहे जितनी बढ़े, कोई आपत्ति नहीं। वह खूब बढ़े; पर यह सबको आशीर्वाद....।' उन्होंने अपनी उलझन प्रकट की।

सखा जोर से हँस पड़े। रानियाँ भी मुसकरा पड़ी। ब्राह्मण्यदेव को ब्राह्मण पर दया आयी। उन्होंने झट बीच में उठकर विप्र के चरणों पर अपना मस्तक रख दिया। सुदामा डरे 'इन्होंने एक संख्या और बढ़ा दी!' लेकिन किसी ने हृदय में कहा 'पति अपनी सभी पत्नियों का प्रतिनिधि होता है।' झट प्रसन्नता से खिल उठे। आशीर्वाद दिया 'तुम्हारी सभी पत्नियाँ सौभाग्यवती, पुत्रवती और तुम्हें प्रिय हों।' इस प्रकार उन्हें आशीर्वाद से छुट्टी मिली। सभी रानियों ने एक ही साथ अञ्जलि बाँधकर सिर झुका दिये।

× × ×

'कल तो समय मिला नहीं, आज सब आपकी सेवा करने का सौभाग्य चाहती हैं।' नटखट सखा ने भूमिका बनायी।

सुदामा को स्नान करना था। वे विशाल सौध के प्राङ्गण में अपने बालसखा का हाथ पकड़े पधारे। मध्य में स्वर्ण की चौकी बिछी थी। उन्होंने उस पर चरण रक्खा ही था कि सारा प्राङ्गण तथा उसके चारों ओर के बरामदे सोलह हजार एक सौ आठ चल स्वर्णलतिकाओं के द्वारा झूम उठे। सौन्दर्य एवं सुरभि फटी पड़ती थी। किसी के हाथ में उबटन, किसी के चन्दन, किसी के तैल और किसी के करों में सुवासित जल से पूर्ण स्वर्णकलश। विप्र के दर्शन रिक्तहस्त करने की धृष्टता किसी ने नहीं की थी।

ब्राह्मण ने एक बार दृष्टि उठायी। 'उफ्! इतनी भीड़, एक-एक बूँद भी जल डाले तो मेरा क्या होगा?' वे बहुत डरे। उनके सखा हँस रहे थे। बड़ी ही नम्रता से उन्होंने कहा 'समस्त विश्व की श्रद्धा का विपुल उपहार ग्रहण करने की क्षमता तुम सर्वशक्तिमान् में ही है। यह तीन हड्डियों का कङ्काल पूजा के इस विराट् सम्भार को सह लेने में समर्थ नहीं।'

सखा क्यों उत्तर देने लगे? वे एक ओर खिसक गये। उस सुषमा की भीड़ ने कलकण्ठ से स्तुतिगान प्रारम्भ किया और साथ ही विप्राभिषेक भी। जैसे ही कुछ मृदु करों ने ब्राह्मणों के शरीर पर उबटन का स्पर्श कराया- वे नेत्र बन्द करके बैठ गये और लगे अपने नटखट सखा का ध्यान करने। उन्हें आशा नहीं कि कि वे इस चन्दन, तैल और जल के प्रवाह में से निकल कर फिर खड़े होने योग्य रहेंगे।

उन्हें कोई कष्ट नहीं हुआ। उन्होंने नेत्र बन्द किये–ही–किये अनुभव किया कि सुगन्धित उबटन के कीच में शरीर आकण्ठ ढ़क दिया गया है। हाथ हिल नहीं सकते। वे डरे 'कहीं और उबटन चढ़ा तो नाक–आँख भी....। उन्हें उबटन समाधि लेनी होगी।' पर ऐसा हुआ नहीं। उनके मस्तक पर तैल की सुगन्धित धारा पड़ने लगी। शिवजी के ऊपर तो सब धाराबद्ध जल चढ़ाते हैं और यहाँ बहुमूल्य तैल–इत्र। विप्र ने तनिक नेत्र खोले। आँगन में इत्र मोरियों में उमड़ चला था। 'कहीं नेत्रों में न जाय।' उन्होंने नेत्र जोर से बन्द कर लिए। वैसे ही बोले 'ऐसी अखण्ड धारा चढ़ानी है तो शङ्कर जी को पकड़ लाओ।' पर उस स्तोत्र–गान में उनकी सुने कौन?

तैल इत्र बन्द हो गया और केशरिया चन्दन चढ़ने लगा। उबटन ने तो कण्ठ तक ही जकड़ा था, चन्दन दो–चार सेर मस्तक पर भी चढ़ ही गया। कुशल इतनी रही कि नाक और मुख ढ़कने के पूर्व ही मस्तक पर जलधारा पड़ी। मन्दोष्ण सुवासित जल की कुछ पतली और कभी–कभी मोटी धारायें मस्तक से चरणों तक पड़ रही थीं। शरीर थोड़ी ही देर में थरथरा उठा। रोमाञ्च हो आया और तभी जलधारा और स्तुति–गान समाप्त हो गया। सहसा शान्ति हो गयी।

'ध्यान ही करते रहेंगे या वस्त्र भी बदलेंगे? अपने करों में सुकोमल वस्त्र को लेकर उनका शरीर पोंछते हुए उनके सखा हँसते–हँसते कह रहे थे। अभी और कोई वस्तु न चढ़ने लगे, इसी भय से विप्र ने नेत्र खोले नहीं थे।

यह क्या? बाजीगर के खेल के समान हो गया। पूरा प्राङ्गण सुनसान पड़ा था। सखा के अतिरिक्त वहाँ कोई था नहीं। विप्र को भी इस परिहास पर हँसी आ गयी। उन्होंने वस्त्र बदले और पहले से प्रस्तुत दूसरे आसन पर एक कुसुम–कुञ्ज में सन्ध्या–पूजा के लिए बैठ गये।

× × ×

ऊपर कौशेय वस्त्र का मण्डप तना था। नीचे दुग्धोज्ज्वल चाँदनी बिछी थी। मध्य में एक मृदुल आस्तरण–आस्तृत रत्नजटित स्वर्ण चौकी रक्खी थी। रजत–पीठों पर स्वर्णथालियों में विविध व्यञ्जन एवं जल पात्र रक्खे थे। समस्त मण्डप में थालियों की पंक्ति लगी थी। दो पंक्तियों के मध्य में जाने को स्थान था। प्रत्येक पंक्ति मध्य के रत्न पीठ से प्रारम्भ होती थी। हाथ में चँवर लिए श्यामसुन्दर स्वयं चँवर कर रहे थे। इस प्रकार सुदामा भोजन–स्थान के उस दिव्य मण्डप के द्वार पर पहुँचे।

'प्रत्येक रानी ने अपनी योग्यता के अनुसार अपना थाल सजाया है। उन्होंने इन व्यञ्जनों के बनाने में किसी सेवक से कोई सहायता नहीं ली है।' सखा ने परिचय दिया।

ब्राह्मण के चरण द्वार पर ही रुक गये। 'द्वारिकेश की प्रियाओं ने स्वयं अपने कोमल करों से अग्नि के सम्मुख बैठकर इस कङ्गाल के लिए यह कष्ट किया है।' विप्र बड़े धर्मसकङ्कट में पड़े। 'जगदाधार जगन्नाथ की कुसुम सुकुमार रानियाँ, जो स्वयं पुष्प-चयन करने में भी कष्ट पाती होंगी, महेन्द्र भी जिनकी कठोर भृकुटि से काँपते हैं, सचराचर जिनके चरण-रेणु मस्तक पर रखकर पवित्र होता है, उन्होंने अग्नि की उष्णता और धूम्र की नेत्रों को पीड़ा देने वाली कटुता की चिन्ता न करके यह प्रसाद प्रस्तुत किया है। ब्राह्मण के लिए इतनी श्रद्धा! इतनी कष्टसहिष्णुता, इतना आदर?' वे गद्गद् हो गये।

रानियों की श्रद्धा और कष्ट को देखेते वह प्रसाद जितना महान् था, थालियों की संख्या की दृष्टि से उतना ही विपुल भी। ब्राह्मण का हृदय बैठा जाता था। वे किसे छोड़ दें? इतने थालों में एक-एक ग्रास तो क्या एक-एक दाना उठाने की भी शक्ति यदि उनमें होती- कितने प्रसन्न होते वे?

द्वार पर ही घुटनों के बल बैठकर उन्होंने भूमि पर मस्तक रख दिया।

'आप यह क्या कह रहे हैं?' हँसते हुए सखा ने पूछा।

'मोहन!' विप्र के नेत्र भरे थे। 'इस दुर्बल शरीर में इतनी भी शक्ति नहीं कि इन थालियों के चारों ओर घूम आवे। इनमें जो रानियों की श्रद्धा और कष्ट का प्रतीक है, उसे प्रणाम कर रहा हूँ।'

'आप आसन पर भी पधारेंगे या नहीं?' सखा ने हँसकर कहा। 'क्या करूँगा वहाँ जाकर?' ब्राह्मण इस परिहास से विचलित हो रहा था। 'आपने कोई भोजन का डौल तो किया नहीं है। इतनी लंबी थालियों की पंक्ति में मैं दौड़, या भोजन करूँ? मैं न कुम्भकर्ण हूँ, न अगस्य। न काल हूँ। न समुद्र। आपकी बुआ के लड़के भीमसेन होते तो भी बात दूसरी थी। मेरा दुर्बल शरीर तो इतना हिल भी नहीं सकेगा कि इनमें से एक-एक दाना उठा सकूँ।'

'आप व्याख्यान देंगे या आसन पर चलेंगे?' श्याम ने तनिक ठेला। चुपचाप जाकर सुदामा आसन पर बैठ गये।

'इन प्रसाद के पात्रों को कृतार्थ करें।' दोनों हाथ जोड़कर, बनावटी गाम्भीर्य दिखाते हुए सखा ने कहा।

'बस कृपा करो!' ब्राह्मण ने दोनों हाथ जोड़े और नेत्र बन्द कर लिए। अब नटखट को दया आ गयी। पलक मारते विप्र के सामने एक थाल आ गया। सबसे बड़ा, सबसे सुन्दर, सबसे बहुमूल्य। उसी में सब थालों में से एक-एक, दो-दो कण योगमाया ने संग्रह कर दिये। रानियों को सन्तोष हो गया। वे झटपट अपने-अपने थाल 'प्रसाद' समझकर उठा ले गयीं। ब्राह्मण ने नेत्र खोले और छककर भोजन किया।

आचमन करने पर एक ताम्बूलों का पर्वत उन्हें दिखाया गया। झट उन्होंने नेत्र बन्द करके एक ताम्बूल उठाया और मुख में ले लिया। अबकी बार उन्होंने सखा को छका दिया था। दोनों खिलखिलाकर हँस पड़े।

× × ×

उत्तमासन पर दोनों बाल मित्रों का हास-परिहास चल ही रहा था कि हाथ जोड़कर श्री रुक्मिणी जी सम्मुख उपस्थित हुई। 'मेरा परम सौभाग्य है कि आप मेरे भवन-को अपने चरण रेणु से पवित्र करते हैं!' उन्होंने स्तुति की।

'पर पता नहीं हमारे किस जन्म के पाप उदय हुए हैं कि हमारे सदन आपके श्रीचरणों से वञ्चित ही हैं।' सत्यभामाजी ने पास ही खड़े होकर प्रार्थना की।

'मेरी बहिनें मेरे सौभाग्य पर ईर्ष्या करती हैं। रुक्मिणी जी मुसकरायीं।

'ठीक भी तो है' श्यामसुन्दर हँसते-हँसते बोले- 'आपको कम-से-कम एक दिन की सेवा का सौभाग्य तो सभी को देना चाहिये।' उन्होंने प्रस्ताव किया।

'एक-एक दिन सबको?' सुदामा ने चौंकर पूछा।

'इसमें आपको सुविधा होगी। न कलशों जल चढ़ेगा और न थालियों की प्रदक्षिणा करनी होगी। एक-एक दिन में सबको सभी प्रकार की सेवा भी प्राप्त हो जायगी; और आपको कष्ट भी नहीं होगा।' नटनागर हँस रहे थे।

'सोलह हजार एक सौ आठ दिन। चौवालीस वर्ष से भी अधिक!' ब्राह्मण ने चौंककर डरते हुए कहा। 'श्याम-सुन्दर! इतने दिनों में बेचारी ब्राह्मणी प्रतीक्षा करते-करते मर जायगी और सम्भवतः इस केवल एक-एक दिन के सत्कार को बीच में ही छोड़कर यह दुर्बल ब्राह्मण भी......!'

'तब जाने दें!' द्वारिकेश ने मुख गम्भीर कर लिया।

'हमारे भवन चरण-रज से भी वञ्चित ही रहेंगे?' सत्यभामा जी ने कुछ करुण-स्वर में पूछा।

'हाँ- एक बार आप सब भवनों में हो आवें!' सखा ने चट से कह दिया।

'सब भवनों में हो आवे! जैसे बच्चे का खेल है! भवन भी तो थोड़े ही हैं न ?' विप्र ने झुँझलाहट से कहा।

'नहीं, नहीं, आपको पैदल नहीं दौड़ना होगा!' सखा ने आश्वासन दिया, 'कोई है? दारुक से कहो मेरा रथ प्रस्तुत करे।' व्यवस्था होने लगी।

'और मैं सोलह हजार एक सौ आठ बार रथ से चढ़ा-उतरी कर व्यायाम करूँ?' ब्राह्मण की झुँझलाहट दूर नहीं हुई थी।

अन्त में, गरुड का आह्वान हुआ और सुदामा पक्षिराज-की पीठ पर आगे

श्यामसुन्दर को बैठाकर पीछ बैठे उन्हें जोर से पकड़कर। वह भी इस शर्त पर कि वे किसी के आँगन में पक्षिराज से नहीं उतरेंगे।

ब्राह्मण के लिए यह पक्षि-यान था नवीन ही। वे डरते थे। जोर से आगे बैठे सखा को दोनों हाथों से पकड़े थे। गरुड़ प्रत्येक रानी के प्राङ्गण में उतरते। वहाँ उनकी अर्घ्यं, पाद्य, धूप दीप से पूजा होती। नैवेद्य वे ग्रहण करते नहीं थे। केवल लेकर गरुड के आगे रख देते थे और गरुड़ इस प्रसाद को क्यों छोड़ते। मालाएँ भी गरुड़ के गले में ही सुदामा डाल देते थे। गरुड़ अधिक हो जाने पर उन्हें उड़ते-उड़ते ही समुद्र में छोड़ आते थे। इस प्रकार सबके भवनों को पक्षि-यान से पवित्र करते-करते सुदामा को कई सप्ताह में छुट्टी मिली।

अन्त में उनके नटखट सखा ने उन्हें द्वारिका से विदा किया, उनकी उसी फटी लँगोटी और अँगोछे में। कौशेय दुकूल वहीं छोडकर उन्होंने अपनी फटी लँगोटी लगा ली थी और सखा ने कोई आपत्ति की नहीं थी। स्वागत-सत्कार तो खूब हुआ; पर 'दक्षिणाभावे अक्षतम्' भी नहीं रहा। वे जो दो मुट्ठी तन्दुल ले आये थे, उसे भी छीनकर नटवर ने खा लिया था। खाली हाथ ही लौटे।

× × ×

ब्राह्मण ने रो-गाकर अपनी कुटिया के स्थान पर बने विराट् राजसदन में प्रवेश किया। वे तो द्वार से ही लौट जाते, पर उनकी पत्नी ने देख लिया और द्वार तक आकर वे अपने पतिदेव को ले गयीं। भीतर दासियों का मेला लगा था। ब्राह्मण ने पूछा 'कितनी हैं ये?' पत्नी ने हँसकर कहा 'सोलह हजार एक सौ आठ।'

इसी समय उन्हें भवन के पृष्ठभाग में कई मील लम्बे-चौड़े घेरे में गौएँ-गौएँ ही दृष्टि पड़ीं। सभी के खुर एवं सींग सोने से मढ़े थे। सब रत्नजटित झूलों से आच्छादित थीं। सबके समीप सुन्दर दो-तीन महीने के बछड़े थे। सब हृष्ट-पुष्ट थीं।

ब्राह्मण ने उल्लासित होकर कहा- 'कितनी सुन्दर गौएँ हैं !'

पत्नी ने मुसकराकर बताया 'हैं भी सोलह हजार एक सौ आठ।'

ब्राह्मण समझ गये यह सखा के पत्नियों की संख्या है। यही उन्हीं की दी हुई दक्षिणा है। जब सखा ने यह वैभव दिया तो उनकी पत्नियाँ ब्राह्मण को एक-एक गौ और ब्रह्मणी को एक-एक दासी क्यों न दें?

उन्होंने देखा- उनके घर में सोलह हजार एक सौ आठ का साम्राज्य है। थाली, लोटा, छाता, खड़ाऊँ, रत्न आदि सभी उसी संख्या में आ पहुँचे हैं। फिर भी वे द्वारिका की सजी हुई सोलह हजार एक सौ आठ थालियों, स्नान के उस सम्भार अथवा प्रणाम की उस अड़चन को भूल सकेंगे?

यहाँ की संख्याएँ तो वहाँ की प्रतीक हैं। ❑❑

राष्ट्र-पुरुष

महोत्कट- यह उसका नाम है, यों उसका पूरा नाम लेना हो तो कहना पड़ेगा अरण्यसार्वभौम दुर्दान्त महोत्कट। वह शकद्वीप (अफ्रीका) के गहन अरण्य प्रान्त का सार्वभौम शासक है। अरण्यनिवासी उसे अपना अग्रणी मानते हैं। सामान्य मानव के लिए अगम्य वह प्रान्त उसके लिए क्रीड़ा-उपवन-जैसा है। यह ठीक है कि अरण्यवासियों का कोई राज्य नहीं है। उनकी अनेक जातियाँ हैं और वे छोटे-छोटे गाँवों में इतनी दूर-दूर बिखरी हैं कि एक ग्राम वासी दूसरे ग्रामवासी से पूरे जीवन में भी कभी मिलेगा या नहीं, कोई कह नहीं सकता। कँटीली झाड़ियों से घिरी थोड़ी-सी भूमि के मध्य कुछ झोंपड़े-यही वहाँ के ग्राम हैं। वहाँ के ग्राम का जीवन उन झाड़ियों के बाहर अकल्पित दूरी तक फैले घोर वन में संघर्ष का जीवन है। अरण्य उनका जीवन हैं और वही मृत्यु भी है। वहीं से उन्हें फल, कन्द, छालें तथा आखेट प्राप्त होता है। और वहाँ के सिंह, शरट्, सर्प, वनमानुष आदि हिंसक क्रूर पशु- कौन कह सकता है कि कब कौन-सा वनवासी मानव किस पिशिताशन पशु के पंजे में आ जायगा।

जीवन के इस संघर्ष में महोत्कट जैसे विजय के लिए ही उत्पन्न हुआ। उसका जन्म अपने छोटे से गाँव के नायक के घर हुआ। कोई नहीं जानता था उस समय तक कि अरण्य के अनन्त विस्तार में 'शङ्कु' नामक झोंपड़ियों का छोटा झुण्ड कहाँ है। महोत्कट युवा होने से पूर्व ही अपने नामक को सार्थक करने लगा। उसे अपने गाँव, अपनी झोपड़ी की जैसे अपेक्षा ही नहीं रही। उसका शरीर जैसे बटे हुए रस्सों से बना था। कज्जल कृष्णवर्ण, घुँघराले केश, मोटे अधर, छोटे नेत्र - यह तो प्रत्येक शकद्वीपवासी की विशिष्ट आकृति है। महोत्कट ने महादीर्घकाय पाया था और उस काया में जैसे पराक्रम कूट-कूटकर भरा था। जब वह केवल बारह वर्ष का था- एक केशरी से भिड़ गया और वनराज पञ्जे फटकारे, इससे पहिले तो महोत्कट ने उसके जबड़े चीर डाले। मृत सिहं को भूमि पर फेंककर उसके ऊपर जब दाहिने पैर को रखकर उसने चिचकारी मारी-कानन गूँज गया बालक की चिचकारी से और महोत्कट की वह पहिली जय-घोषणा थी।

अपने ग्राम से महोत्कट कब अदृश्य हो जायगा और कब फिर लौटेगा, कोई नहीं जानता। उसे बचपन से व्यसन है अरण्य में चाहे जहाँ भटक जाने का। अरण्य के महाकाय शरट् उसके थपेड़ों से अनेक बार पिस चुके हैं। अरण्यग्रामों के क्रूर अपरिचित वनवासी- वह किसी ग्राम में चाहे जब निर्भय पहुँचकर गर्जना करता है- 'मैं हूँ महोत्कट ! युद्ध करोगे या अतिथि बनाओगे? रात्रि-विश्राम के लिए एक झोपड़ी और भोजन-बस, मुझे इतना ही चाहिये।' कई बार- कहना चाहिये कि शतशः अवसरों पर युद्ध हुए; किंतु अकेले महोत्कट ने आक्रमण-कारियों को जब चिचकारी मारते हुए पटकना, पीसना और हिंस्रपशु की भाँति चीरकर फेंक देना प्रारम्भ किया- उससे सन्धि करने के अतिरिक्त दूसरा उपाय क्या था। अब तो वह अरण्यसार्वभौम है। जिन दूरस्थ अरण्यवासियों ने उसे कभी नहीं देखा, वे भी उसके नाम को उसी प्रकार आदर से लेते हैं, जिस प्रकार कोई राजभक्त प्रजा अपने सम्राट का स्मरण करती है।

अरण्यसार्वभौम दुर्दान्त महोत्कट ने इस बार भारत की यात्रा का निश्चय किया है। शकद्वीप के आरण्य मानव के इतिहास में कदाचित् यह पहली बात है कि उसका प्रतिनिधि भारत जायगा। 'भारतीय पुरुष देवपुरुष हैं। उनसे युद्ध की बात तो सोचना ही पाप है। उनकी निन्दा करनेवालों को यमराज नरकाग्नि में अवश्य भूनते हैं।' यह विश्वास- (आप अन्धविश्वास कहें तो भी कोई आपत्ति नहीं) शकद्वीप में युगों में चलता आया है। यह विश्वास न भी हो तो भारत की कोई हानि नहीं। उसके महारथियों के दिव्यास्त्र काननवासियों के अन्धविश्वासों से अधिक शक्तिशाली हैं। भारतीय नरेश बार-बार अश्वमेध यज्ञ करते हैं। शकद्वीप युद्ध की बात कभी सोचता ही नहीं। उसके तटप्रान्त के अधिवासी बड़ी श्रद्धा से 'कर' देते हैं। भारत-सम्राट् को 'कर' देना वही सौभाग्य माना जाता है। लेकिन इस बार धर्मराज युधिष्ठर राजसूय यज्ञ कर रहे हैं। राजसूय यज्ञ जो भारत में भी कोई चक्रवर्ती सम्राट् ही कदाचित् कर सकता है। शकद्वीप के घोर आरण्य शासनहीन भाग का कोई प्रतिनिधि उसमें उपस्थित नहीं होगा? अरण्य को सम्राट के श्रीचरणों में अपने उपहार भेंट करने का अवसर नहीं मिलेगा? जब यज्ञीय अश्व शकद्वीप के तटीय अधिवासियों के नायकों से उपहार लेकर लौट गया- महोत्कट को बड़ा दुःख हुआ। वह आरण्य ग्रामों में जहाँ तक स्वयं जा सका घूम आया। अनेक स्थानों में उसने प्रतिनिधि भेजे। आरण्य-ग्रामों के नायक पहली बार एकत्र हुए और उन्होंने निश्चय किया कि राजसूय यज्ञ में अरण्य का प्रतिनिधि उपहार लेकर उपस्थित हो। महोत्कट के नेतृत्व में देवभूमि भारत के दर्शन का सौभाग्य-सम्भव होता तो अरण्य की पूरी जनसंख्या भारत आ जाती। ग्राम नायकों को समझाने में बड़ी कठिनाई हुई। पूरे पाँच सौ आरण्य चुने गये इस दिव्य यात्रा के लिए।

सम्राट् को उपहार भेंट करने के लिए अरण्यवासियों के पास अभाव क्या था। नगरों के लिए सुदुर्लभ औषधियाँ, अलभ्य चर्म, महामूल्यवान् मणिराशि और विश्व की श्रेष्ठतम गजमुक्ता। कोई सम्राट् भी जिस धन की स्पृहा करे, आरण्य नायकों के लिये वह सहज-सुगम पदार्थ थे।

गजदन्त और शङ्ख के आभूषण, चर्म वस्त्र, धनुष तो सार्वभौम आयुध ठहरा- उसके साथ वनपक्षियों के पंखों के चित्र-विचित्र मुकुट अद्भुत शोभा देते थे। महोत्कट को जो कठिनाई हुई- वह अरण्य से समुद्र तट तक अपने दल एवं उपहार लाने में ही हुई। तट पर भारतीय पोत खड़े थे। जीवन में पहली बार जिन्होंने पोत देखे हों वे वणिक्पोत और युद्धपोत का भेद समझ नहीं सकते। महोत्कट ने बताया- 'उनका दल सम्राट् को राजसूय यज्ञ में उपहार भेंट करने जाना चाहता है।'

'आप लोग भारत के अतिथि हैं!' एक पोत के अध्यक्ष ने बड़े आदर से कहा। उसके पश्चात् महोत्कट को कुछ नहीं करना पड़ा। उसके पूरे दल को लेकर एक भारतीय पोत चल पड़ा। आरण्य मानवों को समुद्रयात्रा में कोई कष्ट न हो, इसकी पूरी व्यवस्था करना पोत के अध्यक्ष ने अपना कर्त्तव्य मान लिया था।

× × ×

'भारत देवभूमि है!' महोत्कट और उसके सहचरों ने परम्परा से सुना है। उन्होंने एक कल्पना कर रक्खी थी देवभूमि के सम्बन्ध में। लेकिन जहाँ चारों ओर हिंस्र पशुओं से भरे घोर अरण्य हैं, जहाँ प्रत्येक मानव अपरिचित मानव के लिए किसी भी क्रूर पशु से कहीं अधिक भयावह है, जहाँ अहर्निश आत्मरक्षा के लिए जागरूक एवं आहार-प्राप्ति के लिए व्यग्र पशुप्राय जीवन ही जीवन है, वहाँ के निवासी की भव्यतर कल्पना भी कहाँ तक जा सकती है?

भारतीय धरा पर चरण रखने से बहुत पूर्व इन आरण्य यात्रियों को भारतीय देवमानवों के शील, आतिथ्य एवं सद्व्यवहार का परिचय पोत में ही प्राप्त हो गया था। भारत भूमि पर उतरते ही वे जैसे एक अकल्पनीय लोक में पहुँच गये। शस्य-श्यामला धरा, फलाभार से झुके विटप, कुसुमसौरभ का उपहार सजाये लतिकाएँ-अरण्य ही जिनका जीवन है, उनके लिए भी भारतीय उपवन अकल्पनीय थे। नगर और भवनों की तो चर्चा करना ही व्यर्थ है। वे जिधर दृष्टि डालते थे, चकित से देखते रह जाते थे।

पशु भी सुहृद् होता है, निर्भीक होता है- अधिक-से-अधिक पालतू कुत्तों के विषय में उनकी यह धारणा थी। लेकिन भारतीय काननों एवं उपवनों के मृग जब उन्हें सूँघकर बछड़े की भाँति फुदक उठते- वे देखते रह जाते। 'यह देवताओं का प्रभाव है।'

महोत्कट चिल्ला उठा था, जब उसने देखा कि एक ऋषि-आश्रम में केहरी मस्तक झुकाये बैठा है और नन्हा ऋषिकुमार देवोपम सौन्दर्य सौकुमार्य की मूर्ति उस वनराज की पीठ पर चढ़कर अपने किसलय करों से उसके मस्तक को थपथपा रहा है। 'मनुष्य का चिरशत्रु सिंह भी मित्र बन सकता है।'

भारत के मनुष्यों की बात तो पूछने योग्य ही नहीं। इनके सौन्दर्य, सम्पत्ति और शील की कल्पना कोई वनवासी कैसे कर सकता है। शकद्वीप के आरण्य अतिथि देववाणी नहीं जानते। उनकी भाषा इतनी अपभ्रंश है कि उसे भारत में सामान्य जन समझ नहीं पाते। लेकिन अतिथिप्राण भारत में उनकी भाषा समझी जाय या न समझी जाय, उनकी सुविधा का ध्यान तो प्रत्येक व्यक्ति रखता है। वे जिससे मिलते हैं, वही उनका भरपूर सत्कार करता है। पूरी चेष्टा करता है कि उन्हें अपरिचयजन्य कष्ट न हो।

अतिथियों को इन्द्रप्रस्थ जाना है। जिस पोत से वे आये हैं, उसके अध्यक्ष ने उनको रथों से पहुँचाने की व्यवस्था कर दी है। उनके साथ मार्गदर्शक है। मार्ग के ग्राम, आश्रम एवं नगरों के लोगों में से प्रत्येक चाहता है कि उनके आतिथ्य का उसे अवसर मिले। उनको क्या आवश्यकता कब हो सकती है- यह अनुमान इतना ठीक-ठीक कर लिया जाता है कि अतिथियों की यह धारणा हो गयी है कि प्रत्येक भारतीय सर्वज्ञ है। अतिथियों की भाषा भले न समझी जाय, उनका संकेत समझने में कभी भूल नहीं होती।

भारत श्रद्धा की- पूजा की भूमि है। आरण्य अतिथि समझ नहीं पाते कि वे यहाँ के देव-मानवों के सत्कार का कैसे उत्तर दें। उन्हें लगता है कि यहाँ का शिशु भी उनका पूज्य है। उन्हें स्थान-स्थान पर उपहार देने का प्रयत्न होता है। ऐसे उपहार जो किसी अरण्यवासी तो क्या नागरिक के लिए भी स्पृहा के योग्य हों। अश्व, गज, वस्त्र, आभूषण, वृषभ, गायें तथा और भी नाना प्रकार की वस्तुएँ- लेकिन जो पूज्य हैं, जिनको भेंट देनी चाहिए, उनसे उपहार लिया कैसे जा सकता है। अतिथि बार-बार भूमि-में मस्तक रखकर प्रणत होते हैं, बार-बार करबद्ध होते हैं और उनके नेत्रों का सजल होना तो एक सहज कर्म हो गया है।

अद्‌भुत आश्चर्यों से भरे देवभूमि के देव-मानवों की अकल्पनीय दया का दर्शन करते जब अतिथिवर्ग इन्द्रप्रस्थ के समीप पहुँचा- स्तब्ध रह गया। इतनी भीड़, इतना कोलाहल, इतना ऐश्वर्य और वहाँ भी इतनी व्यवस्था! इतनी भव्यता! इतनी शक्ति!! महाराज युधिष्ठिर राजसूय यज्ञ कर रहे हैं। घर के कोने-कोने से जनसमुदाय इन्द्रप्रस्थ में एकत्र हो रहा है। नरेशों की सेनाएँ, ऋषियों के समूह, वणिग्वर्ग के वाहनों की

पंक्तियाँ–इन्द्रप्रस्थ मानव–महासागर हो रहा है। मनुष्यों के प्रवाह चले आते हैं वहाँ। संसार के सभी भागों के लोग, विभिन्न वेश, विभिन्न भाषा और अपने पूरे साज से आये हैं। ऐश्वर्य साकार होकर उतर आया है। इस धरा पर। सबमें उत्सुकता है सम्राट् के दर्शन की। कोई इधर–उधर नहीं देखता, किसी को अवकाश नहीं।

'कौन पूछेगा हमें? कितने तुच्छ हैं हम अरण्यवासी इस देवराजधानी में?' महोत्कट ने कुछ कहा नहीं; किंतु उसने अपने सहचरों की ओर जिस दृष्टि से देखा, उसका दूसरा कोई भाव नहीं हो सकता था। अरण्य के उस दुर्दान्त अपरिजेय मानव के मन में पहली बार अपनी तुच्छता का भाव आया और वह हतप्रभ हो उठा।

'बन्धु महोत्कट!' महोत्कट तो चौक उठा। इस मानव–महासागर में कौन उसे उसकी भाषा में पुकारता है? यहाँ उसे पहचानने वाला कौन आ गया? मनुष्य का स्वर इतना मधुर– इतना जलद गम्भीर!

'तुमको मार्ग में कष्ट तो नहीं हुआ?' देखा महोत्कट ने पता नहीं कहाँ से चार उज्ज्वल अश्वों से जुता एक अद्‌भुत रथ उसके रथ के सम्मुख आकर रूक गया है और उसमें बैठा एक नव–जलधर–सुन्दर मुस्कराता हुआ कुछ पूछ रहा है। वह रणस्थ भुवनमोहन– वह तो मनुष्य नहीं, देवता नहीं– वह क्या है, कौन है– जब ऋषियों के मानस भी इसे समझ नहीं पाते तो बेचारा आरण्य महोत्कट क्या समझे इसे। उसकी ओर उसके सहचरों की दृष्टि पड़ी और वे काष्ठ की मूर्ति की भाँति निश्चेष्ट रह गये। उनसे हिला या बोला नहीं जा सकता था उस समय। उनके नेत्रों से अश्रुप्रवाह चल रहे थे, शरीर का रोम–रोम पुलकित हो उठा था और वे भूल गये थे कि इन्द्रप्रस्थ के मार्ग पर रथ पर बैठे हैं।

'मैं हूँ वासुदेव!' रथ से उतर पड़ा मयूरमुकुटी। 'सम्राट ने मुझे अतिथियों को अर्घ्य निवेदित करने की सेवा दी है। अतिथि–वर्ग के चरणप्रक्षालन–कार्य का सौभाग्य प्राप्त है मुझे। आप मुझे अपना बन्धु समझें।'

दीनबन्धु वासुदेव को छोड़कर आरण्य असभ्य मानव का यहाँ इन्द्रप्रस्थ में भला दूसरा कौन बन्धु हो सकता है। अतिथि के चरण–प्रक्षालन– उसे अर्घ्यदान का कार्य उन वासुदेव को छोड़कर दूसरा कर कौन सकता था। यहाँ विश्व के सभी भागों से, सभी प्रकार के अतिथि आते थे, वहाँ उनका अग्रिम स्वागत कर सके, उनकी सुविधा समझ सके, इतनी शक्ति, इतना ज्ञान तो सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् को छोड़कर मानव में पाया नहीं जा सकता।

वासुदेव के रथ से उतरते–न–उतरते महोत्कट और उसके सहचर रथों से कूद पड़े थे और भूमि में गिर पड़े थे प्रणिपात करते। अपना नामोच्चारण करने–जैसी शक्ति उनके गद्‌गद कण्ठों में आयी नहीं थी। उनमें से प्रत्येक को लगा कि वासुदेव ने उसी

को उठाकर पहले हृदय से लगाया है।

'आप रथों पर विराजे! आप सबको आवास देकर और अर्घ्य अर्पित करके मैं कृतार्थ बनूँगा।' श्रीकृष्णचन्द्र सर्वसुहृद् हैं। यह उनकी ही विशिष्ठता है कि प्रत्येक मिलते ही उन्हें अपना आत्मीय समझ लेता है। 'जो भी आवश्यकता हो, आप निःसङ्कोच मुझे नहीं कहेंगे तो मुझे खेद होगा और मैं समझूँगा कि आप सब मुझे अपना बन्धु नहीं मानते।'

दो क्षण में ही स्थिति बदल गयी थी। वही ऐश्वर्य-वही मानव-महासागर, वही अट्टालिकाओं की पंक्तियाँ और वही क्षण-क्षण पर स्तब्ध करने वाली शोभा-सम्पत्ति जैसे सामान्य हो गयी। उन आरण्य मानवों के लिए भी जैसे कुछ अद्भुत, कुछ आश्चर्यजनक एवं कुछ कुतूहलप्रद नहीं रह गया। वासुदेव उनके अपने हैं- उन्होंने अनुभव किया इसे और इस अनुभव ने जैसे इन्द्रप्रस्थ के वैभव को सामान्य बना दिया।

उन्हें सम्राट् के क्रीड़ा-कानन में आवास मिला। आरण्य मानव का सुपास इससे अधिक नहीं हो सकता था। अट्टालिकाओं का आवास तो उसे आबद्ध कर लेता था। मार्ग में उन सबको आतिथ्यि मिला था, आदर मिला था और अकल्पनीय ऐश्वर्य के दर्शन हुए थे; किंतु इन्द्रस्थ में उनको वासदेव मिले। वासुदेव- जो अनन्त ऐश्वर्य तुच्छ ही नहीं- हेय हो उठता है। वासुदेव-जो पूज्यों के भी परम पूज्य, वन्दनीयों के भी परम वन्दनीय एवं सृष्टि के सर्वाधार हैं। वासुदेव- जो यह सब होते हुए भी सबके सुहृद्, सबके अपने हैं। आरण्य मानवों को उनकी भाषा में उनसे बातचीत करने वाले, उनके अपने जन-से वासुदेव मिले और वे जैसे कृतार्थ हो गये।

× × ×

धर्मराज युधिष्ठर का यज्ञ सम्पन्न हुआ। सहस्त्र-सहस्त्र ऋषि-कण्ठों से निकले सामगान ने अन्तराल को परिपूत कर दिया। आहुतियों का भाग लेने सुर साकार हुए और परितृप्त होकर भी उन्होंने प्रयाण नहीं किया। अपने आसनों पर वे शान्त आसीन रहे। आरण्य महोत्कट और उसके साथियों ने देखा कि भारतीय मानव केवल देव-मानव नहीं हैं, देवताओं के लिए भी आदरणीय हैं। देवता भी उनसे सत्कृत होकर कृतार्थ का अनुभव करते हैं।

समस्त यज्ञ-सम्भार, सम्पूर्ण कार्य-संचालन एवं सभी एकत्रित समुदाय की श्रद्धा के केन्द्र थे वासुदेव- भगवान् वासुदेव। नृपति, ऋषि एवं सुरसमूह- सब-के-सब उनकी स्तुति करते थकते नहीं थे। पाण्डवों के तो वे सर्वस्व थे ही; किंतु प्रत्येक आगत यही समझता था कि वे उसके अपने ही हैं। उसी पर श्रीकृष्ण का ममत्व है।

वे स्नेहमय, आनन्दघन भुवनमोहन वासुदेव - महोत्कट और उसके सहसचरों ने राजसूय के उस अकल्पनीय सम्भार एवं क्रियाकलाप में वासुदेव को छोड़कर और कुछ नहीं देखा, यह कहना अत्युक्ति नहीं है। श्यामसुन्दर कहाँ हैं, क्या कर रहे हैं, क्या कहते हैं- जब नितान्त निःस्पृह, ज्ञानघन महर्षियों के नेत्र एवं श्रवण भी क्षण-क्षण इसी उत्सुकता में एकाग्र रहते थे तो आरण्य सरल-हृदय मानवों-का मन उस विश्वविमोहन ने आकर्षित कर लिया, इसमें आश्चर्य क्या?

यज्ञ सम्पूर्ण हुआ। सदस्यों के पूजन का समय आया। 'प्रथम-पूजन किसका हो? अग्रपूजा का सम्मान पृथ्वी के एकच्छत्र सम्राट् किसे दें?' नरेशों में, ऋषियों में तथा विद्वद्वर्ग में कान-फूसी होने लगी। अनेक विकल्प प्रकट हुए। महोत्कट झुँझलाया- 'ये इतने बड़े लोग, ऐसे विचारवान् इतने विचारहीन क्यों हो रहे है? सर्वज्ञ कहे जाने वाले ऋषियों को क्यों नहीं सूझता कि अग्रपूजा तो विश्व का सम्राट् विश्व के राष्ट्रपुरुष की ही कर सकता है। जो सबसे समर्थ, सबसे महान् होकर भी सबका अपना है उस वासुदेव को ये देखकर भी क्यों नहीं देखते। वही तो हमारा राष्ट्रपुरुष है।' महोत्कट का मन कहता था कि वह उठ खड़ा हो और चिल्लाकर सम्राट् से कहे- 'राष्ट्रपुरुष हैं वासुदेव और इस समय जब विश्व एकराष्ट्र हुआ है, राष्ट्रपुरुष के अतिरिक्त किसी दूसरे की प्रथम पूजा सोची तक नहीं जा सकती।'

भला हो सहदेव का। क्या हुआ जो वह अभी बालक है। उसने उठकर महोत्कट के मन की बात कह दी- श्रीकृष्ण की पूजा में ही सबकी पूजा है- सारे विश्व की पूजा।'

पितामह भीष्म-जैसे विद्वान् एवं सर्वमान्य शूर ने समर्थन किया- 'सहदेव ठीक कहता है। वासुदेव ही प्रथम-पूज्य हैं।'

महोत्कट का हृदय उत्फुल्ल हो उठा। उसे कनिष्ठ पाण्डव सहदेव का शौर्य इतना रूचा कि वह अपने आसन पर उठ खड़ा हुआ। कुछ असत् पुरुष भी थे उस सत् समुदाय में। वासुदेव की पूजा के विपक्ष में कुछ लोगों ने काना-फूसी प्रारम्भ की और कनिष्ठ पाण्डव का सिंहनाद सुनायी पड़ा- 'हम श्रीकृष्ण की अग्रपूजा कर रहे हैं। जिनको यह न रुचता हो उनके मस्तक पर यह मेरा वामपाद!' महोत्कट ने कठिनाई से अपने को रोका। वह दौड़कर कनिष्ठ पाण्डव को हृदय से लगा लेने के लिए पागलप्राय हो उठा था। वह जन्मजात शूर-शौर्य का समादर उसका स्वभाव जो है।

धर्मराज विश्वसम्राट् धर्मराज युधिष्ठिर बैठ गये श्रीकृष्णचन्द्र के चारु चरणों के समीप। सम्राज्ञी द्रुपद राजकुमारी ने रत्नपात्र उठाया और सुरभित निर्मल जलधारा से श्रीकृष्ण के पावन पदों को सम्राट् प्रक्षालित करने लगे। गगन से दिव्य सुमनों की वृष्टि प्रारम्भ हो गयी।

पूजन पूर्ण होते ही सबने देखा- शिशुपाल खड्ग को कोष से खींचे अपने आसन से उठ खड़ा हुआ है। क्रोध से चीत्कार कर रहा है। वह कब से इस प्रकार खड़ा है, यह अग्रपूजा के आनन्दोल्लास में किसी ने नहीं देखा है। लेकिन वह जो अपशब्द कह रहा है- कहता जा रहा है वासुदेव को-महोत्कट के नेत्र अङ्गार बने। उसकी वज्र मुष्टियाँ बँधीं, वह अपने करों में पकड़कर पीस देगा इस बकवादी को। उसके कर- केहरी को चीर फेंकनेवाले उसके कर शिशुपाल को पकड़ भर पावें- लेकिन दूर है, बहुत दूर है शिशुपाल। वह बहुत आगे नरेशों की अग्रिम पंक्तियों में है। पाण्डवों से सम्बन्ध होने का लाभ मिला है उसे। बेचारा अरण्य महोत्कट - लाख-लाख व्यक्ति उसके आगे बैठे हैं। वह अपने आसन पर खड़ा दाँतों को पीस रहा है। मुट्ठियाँ उसकी कसती जा रही हैं और......।

'भगवान् वासुदेव की जय!' क्या हुआ- किसी ने स्पष्ट नहीं देखा। सहसा श्रीकृष्ण उठे। उन्होंने दक्षिण बाहु उठायी और जैसे भगवान् भुवनभास्कर यज्ञमण्डप में उतर आये हों। असह्य तेज से सबके नेत्र बन्द हो गये। जब नेत्र खुले- शिशुपाल का शव छिन्नमस्तक पड़ा था। उसके शरीर से एक तेज निकलकर श्रीकृष्ण के चरणों में प्रविष्ट होता लक्षित हुआ।

'हमारे वासुदेव! राष्ट्रपुरुष वासुदेव!' जब समस्त सभासद् जयध्वनि कर रहे थे महोत्कट और उसके आरण्य सहचर अपने उद्दाम वन्यनृत्य में निमग्न थे। आनन्दातिरेक में भूल ही गये थे कि वे कहाँ हैं। सबने आश्चर्य से देखा- अभी-अभी जिनकी अग्रपूजा हुई है, वे सर्वपूज्य सर्वाधार श्रीकृष्ण अपने सिंहासन से उठकर सीधे उन आरण्य अतिथियों की ओर जा रहे हैं।

'बन्धु महोत्कट!' वासुदेव महोत्कट के कन्धे पर अपना अरुण कर रखा- 'मैं तुम लोगों का अभिनन्दन करने आया हूँ।'

'राष्ट्रपुरुष वासुदेव!' महोत्कट एवं उसके सहचरों का गद्गद स्वर सुनायी दे सकता था। गगन गूँज रहा था- 'भगवान् वासुदेव की जय!'

महान् उपहार

'दादा! कल कन्हाई को क्या देगा तू?' व्रजबालकों में सबसे छोटे, श्याम के सबसे प्रिय तोकने श्रीबलराम से पूछा।

कल श्रीकृष्णचन्द्र की वर्षगाँठ है। व्रज में सभी कल उसे कुछ-न-कुछ उपहार देंगे। सबकी एकान्त अभिलाषा है कि वह ऐसा कोई उपहार दे, जिसे पाकर श्यामसुन्दर सर्वाधिक प्रसन्न हो। सप्ताहों से नहीं, महीनों से सबके चिन्तन का विषय यही रहा है- 'इस वर्षगाँठ पर क्या दें नन्दनन्दन को?' अब कल ही वर्षगाँठ है। आज तोक दाऊ से पूछने बैठा है। दाऊ क्या देगा, यह पता लग जाय तो तोक भी कुछ निश्चय कर लें।

'मैं क्या दूँगा, बताऊँ?' मधुमङ्गल ने बीच में ही छेड़ लिया।

'रहने दे!' तोकने तनिक घूमकर देखा उधर। 'तू देगा आशीर्वाद।'

'ब्राह्मण का आशीर्वाद यों ही नहीं मिला करता।' गम्भीरता का अभिनय किया मधुमङ्गल ने- 'आशीर्वाद तो तब मिलेगा, जब यह मुझे दक्षिणा देकर प्रणाम करेगा।

'नहीं तो!' इस बार कन्हाई बोला।

'हूँ!' घूसा दिखाया मधुमङ्गल ने।

'तो तू कल यही देना!' श्याम हतप्रभ हो नहीं सकता। वह हँस उठा। सचमुच कन्हाई ही ऐसा है, जो उपहार में मीठी चपत या घूसा भी लेकर प्रसन्न हो सकता है। भीष्म के शराघात का उपहार जो स्वीकार कर सके, असुरों के उन्मद आक्रमण को जो अर्चन मानकर उन्हें स्वधाम दे सके- कुछ अटपटा तो नहीं है उसके लिये यह उपहार भी।

'दादा! बता न, तू क्या देगा?' तोक ने दाऊ का कन्धा पकड़कर हिला दिया।

'मैं बताऊँ?' श्याम ने उत्तर की अपेक्षा किये बिना बताया - 'दादा देगा यह आज का अपना पुष्पमाल्य।'

दाऊ क्या बताये? उसका यह व्रज में किसी का ऐसा है क्या, जो श्याम का नहीं

है। किंतु श्याम है ही ऐसा कि उसे तो कल कोई उसी का पटुका या उसी की मुरली उठाकर दे दे तो उसे महान उपकार मानकर खिल उठेगा। वह अभी से अपने बड़े भाई की उतारी पुष्पमाला माँगने लगा है। नित्य लोग उसे उसी की वस्तुएँ तो भेंट करते हैं। ऐसी वस्तु कहाँ से आयेगी जो उसकी न हो।

'तू क्या लेगा?' दाऊ बतलाता नहीं तो तोक श्याम से ही क्यों न पूछ ले।

'मैं तुझे लूँगा।' कन्हाई ने झट से बिना सोचे उत्तर दे दिया।

'चल!' तोक को ऐसी बात रुची नहीं। ये सब बड़े वैसे हैं- कोई उसे सहायता नहीं देता कि वह कल का उपहार चुन सके। कन्हाई का वह कब नहीं है- वह तो सदा से श्याम का छोटा भाई है। उसे लेने की नयी बता का क्या अर्थ हो सकता है।

× × ×

'कौन हो तुम?'कटि में फटा-सा मैला चिथड़ा, मस्तक पर रूखे धूलिभरे केश, कपोलों पर अश्रु की सूखी चमकती रेखा, इतना दुर्बल, इतना विषण्ण, इतना हतप्रभ बालक यह कौन है? व्रज में ऐसा बालक! नन्हें तोक को आश्चर्य हुआ तो बड़ी बात क्या हुई। वह दौड़ गया और हाथ पकड़कर उसने बालक से पूछा।

'तुम कहाँ से आये?' तोक ने हाथ झकझोर दिया उस बालक का। यह बोलता क्यों नहीं? यह तो स्वप्न से सहसा जाग्रत् हुए कि भाँति इधर-उधर बड़े आश्चर्य से केवल देख रहा है।

'तुम किस गाँव के हो? गूँगे हो तुम? तुम्हें किसने मारा है?' तोक को अद्भुत लग रहा है यह बालक। यह इतना उदास और कङ्गाल क्यों दीखता है? व्रज में तो कोई भिक्षुक भी ऐसा नहीं होता।

कंस के अनुचरों का अत्याचार चल रहा है चारों ओर। उसके क्रूर राक्षस गाँवों को जला देते हैं, हरे वृक्षों को काट देते हैं। मानव का रक्त- उनके लिए तो वह एक विनोद उत्पन्न करने की वस्तु है। कल जिसका घर असुरों ने भस्म कर दिया, जिसके स्वजन आततायियों के द्वारा मार दिये गये, जो किसी प्रकार प्राण बचाकर भागा और पूरी रात्रि उन्मत्त की भाँति भागता रहा बिना किसी लक्ष्य के, वह क्या कहे? क्या बताये?

वह बालक- वह आपत्ति का मारा, यमराज के अनुचरों- जैसे दानवों के आतङ्क से अर्धमूर्छित बालक और वह आ कहाँ गया- यह सुषमा-सार-सर्वस्व व्रजधरा, ये कल्पपादपनिन्दक तरु-वल्लरियाँ और ये नर-नारी यदि मानव हैं तो देवता कौन होंगे? इतना सौन्दर्य, इतना वैभव, इतनी प्रफुल्लता-बालक तो विमूढ़ हो रहा है।

सबसे बड़ी बात– यह नवघन–सुन्दर, पीत वस्त्र, सौकुमार्य की मूर्ति नन्हा चपल शिशु–जिसने बालक का हाथ सहसा पकड़ लिया है– बालक केवल देख रहा है तोक की ओर। उसकी वाणी असमर्थ है। उसके नेत्र झरने लगे हैं। वह केवल देख रहा है।

'तुम मेरे साथ आओ! भूख लगी है तुम्हें? रोओ मत, मैं तुमको मक्खन दूँगा।' तोक आतुर हो उठा है। वह इस बालक की पीड़ा कैसे दूर कर दे?

'कनूँ? कनूँ! देख तो!' तोक ने दूर से ही पुकार लिया। तोक पुकारे और श्याम दौड़ न आये.......।

'यह तेरा उपहार है!' नवीन बालक पता नहीं क्यों श्याम के चरणों पर गिरने झुका और कन्हाई ने उठाकर भर लिया उसे दोनों भुजाओं में। अपने साथ आये बड़े भाई की ओर देखता मोहन कह रहा था– 'दादा! यह तोक का उपहार– आज का सबसे महान् उपहार है न?'*

* मत पूछिये कि यह घटना कहाँ किस पुराण में लिखी है। यह कहानी है और सत्य घटना हीं हुआ करती। घटना तो कहानी का सौन्दर्यमात्र है। कहानी का सत्य है उसकी प्रेरणा और शिवत्व है उसका वह प्रभाव, जो आप पर (पाठक पर) पड़ता है। श्याम सदा आतुर है अपनाने के लिए– सबको, जीवमात्र को अपनाने के लिए। वह जीव का नित्य–सखा–उसके लिए महान् उपहार है अपने–आपको उसे दे देना। इस कहानी–का सत्य यही है और यह नित्य–सत्य नहीं है, ऐसा आप कैसे कहेंगे।

–लेखक

दूसरों न कोई

'वत्स! यह सम्राट् का यज्ञीय अश्व है- सम्राट् धर्मराज युधिष्ठर का!' महारानी ने अपने कुमार को उत्साह में भरे आते देखा तो वे चौंक पड़ीं। पुत्र का अभिनन्दन अभीष्ट नहीं था। 'तुम इसे क्यों पकड़ ले आये?'

'माँ ! मुझे किसी का अश्व नहीं चाहिए; किंतु इसके मस्तक पर जो कुछ स्वर्णपत्र में लिखा गया है, उसे पढ़कर तो देखो।' कुमार आवेश में था। अभी वह बालक है। वह अपने आवेश में कहता जा रहा है- 'सम्राट् का अश्व है तो क्या हो गया। युधिष्ठिर सम्राट् हैं, इसी से तो उन्हें अधिकार नहीं कि वे हमारा अपमान करें। हमको सम्राट् की आवश्यकता नहीं है। हमारे चाचाजी हैं न- हमें उनको छोड़कर और कुछ नहीं चाहिए और वे हैं तब सम्राट् से मैं कहाँ डरता हूँ।'

'चाचा जी तो हैं?' महारानी का कण्ठ भर आया। उनको छोड़कर और अपना है ही कौन; किंतु इस अश्व को तुम पकड़ोगे तो युद्ध होगा। अश्व के पीछे ही उसके रक्षक आते होंगे। सम्भावना यही है कि गाण्डीवधन्वा अर्जुन ही प्रमुख अश्व-रक्षक हों।

'मेरे पिता ने युद्ध में प्राण दिये हैं! मैं युद्ध से डर जाऊँ तो तुम मुझे अपना पुत्र कहोगी माँ? और चाचाजी ही क्या कहेंगे?' बालक ने कन्धे पर से ज्यासज्जित छोटा-सा धनुष उतारकर हाथ में ले लिया- 'अश्वरक्षक अर्जुन ही हैं, मैंने लोगों से यह सुन लिया है। किंतु उनके पास गाण्डीव है तो मेरे पास ही धनुष का अभाव कहाँ है?'

'अर्जुन तुम्हारे चाचाजी के सखा हैं!' महारानी कैसे समझायें अपने इस दस वर्षीय किशोर को, समझ नहीं पाती हैं। उनके पतिदेव महाभारत-युद्ध में धर्मराज की सहायता करने गये थे पूरी सैन्यशक्ति के साथ कोई भी लौटा नहीं उस युद्ध से। एक भी सैनिक समाचार देने नहीं लौटा। समाचार तो मिला सम्राट् ने अभिषेक के पश्चात् जो चर भेजा, उसके द्वारा। वह महाविनाश और आज उनका एकमात्र आधार यह कुमार फिर धनुष उठाये युद्ध का आह्वान कर रहा है?

महारानी सती नहीं हो सकीं। पतिदेह मिल भी गया होता वे सती नहीं हो सकती थीं। पतिदेव ने यह जो अपने वंशधर को उनकी गोद में दे दिया था– तब यह केवल छः महीने का शिशु था, जब महाराज ने अन्तिम बार इसे गोद में लेकर स्नेह से सिर सूँघा इसका और कुरुक्षेत्र को प्रस्थान किया। जाते–जाते वे आदेश दे गये–

'इसकी सावधानीपूर्वक रक्षा करना। यही अपने पितरों को परित्राण देगा।'

महारानी अपने इस लाल का मुख देखकर पति का वियोग झेल गयीं। अब यह दस वर्ष का हुआ और फिर युद्ध! बड़ा हठी है– बड़ा निष्ठुर है क्षत्रिय का धर्म भी। कुमार ने अश्व को पकड़कर अधर्म तो किया नहीं है। उसे रोक दिया जाय? अश्व छोड़ देने की आज्ञा दे दी जाय? हृदय यह भी तो स्वीकार नहीं करता। क्षत्राणी क्या मोह को कर्त्तव्य के ऊपर विजय पाते देख सकेगी?

कुमार मान ही जायगा अश्व छोड़ने की आज्ञा– इसका भी विश्वास कहाँ है। वह कहता है– 'अर्जुन होंगे चाचा जी के मित्र; किंतु चाचा जी तो मेरे हैं, मेरे नहीं हैं क्या वे?'

'नहीं क्यों होंगे!' महारानी ने दृढ़ स्वर में कह दिया– 'वे तुम्हारे ही हैं।'

महाराज युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ किया था। स्वर्गीय महाराज के साथ महारानी भी गयी थीं उस समय इन्द्रप्रस्थ। राजसूय यज्ञ की महापरिषद् ने जिसको प्रथम पूज्य माना, वही मयूरमुकुटी, इन्दीवरसुन्दर, नगर–प्रवेश करते ही उनका स्वागत करने आया था। उस द्वारिकेश ने हृषीकेश ने कहिये, अतिथियों के चरण धुलाने की सेवा ले रक्खी थी।

'भाभी!' महाराज को पाद्य–निवेदन करके वह महारानी के सम्मुख आया और उसका वह नित्य प्रफुल्ल श्रीमुख, उसकी वह त्रिभुवन–मोहन छटा। उसका वह सम्बोधन–स्वर– महारानी के प्राणों में वह सम्बोधन बस गया। वे आत्मविस्मृत खड़ी रह गयी थीं और आज भी वे विभोर हो जाती हैं उस सम्बोधन–स्वर का स्मरण करके!

'भाभी!' क्या हुआ कि श्रीकृष्ण ने केवल एक बार ही उन्हें इस प्रकार पुकारा था। क्या हुआ कि राजसूय की व्यस्तता में फिर मुकुन्द से मिलने का सौभाग्य नहीं मिला। क्या हुआ कि यज्ञान्त में भी दूर से ही उस कमललोचन के दर्शन करके विदा लेनी पड़ी। श्रीकृष्ण की वाणी तो असत्य का स्पर्श नहीं करती। उन लोकनाथ ने एक बार तो पुकारा था भाभी कहकर।

'माँ, मेरे और कोई नहीं है। अकेली तू है मेरी।' कुमार ने अपने शैशव में एक दिन कहा था। कितना खिन्न स्वर था उसका। महारानी ने उसी दिन कुमार को बताया– 'फिर ऐसी बात मत कहना। तुम्हारे चाचा हैं– स्नेहमय, सर्वसमर्थ चाचा। वे तुम्हारे ही हैं।'

'मेरे चाचा! कौन हैं वे? कहाँ रहते हैं? कैसे हैं? यहाँ क्यों नहीं आते?' शिशु ने प्रश्नों की झड़ी लगा दी थी और महारानी ने गद्‌गद स्वर से उस अद्‌भुत देवर का वर्णन किया था। माता-पुत्र में यह वर्णन का एक दिन का कहाँ रह गया। बार-बार प्रायः पुत्र अपने चाचा के विषय में पूछता और माता बतलाते थकती नहीं।

'श्रीकृष्ण तुम्हें शीघ्र दर्शन देंगे!' अभी पिछले वर्ष महर्षि दुर्वासा आशीर्वाद दे गये कुमार को और आज यह धर्मराज का यज्ञीय अश्व-तो इस प्रकार पार्थ-सारथि के दर्शन करेगा यह?

'मैं देख लूँगा अर्जुन को और उनके गाण्डीव को भी? कुमार अपना नन्हा धनुष लिए अश्व को बाँधने चला गया है अश्वशाला में। वह बचपन से अदम्य है। उसके आग्रह को महारानी प्रायः टाल नहीं पातीं।

पिछले वर्ष महर्षि दुर्वासा अकस्मात् आ गये थे। वे आये दिन में तब, जब भोजनशाला स्वच्छ हो चुकी थी और अर्घ्य स्वीकार करने से पूर्व ही आदेश दिया- 'मुझे अभी गरम खीर चाहिये! बहुत क्षुधातप्त हूँ।'

'आप आसन ग्रहण करें! अभी प्रस्तुत होता है नैवेद्य!' महारानी और कह भी क्या सकती थी।

'मुझे क्षणों का विलम्ब भी असह्य हैं!' महर्षि ने नेत्र कड़े किये - 'दुर्वासा को कोप त्रिभुवन विख्यात है!'

'आप अकारण रूष्ट हुए जा रहे हैं!' कुमार बालक ही तो है। महर्षि आतङ्कित करना चाहते हैं, यह उसे अच्छा नहीं लगा और बोल उठा- 'भय दिखलाकर तो आप कुछ हमसे नहीं करा सकते!'

'इतना सासह! इतना अपमान मेरा?' महर्षि ने जल ले लिया कमण्डलु से हाथ में। महारानी उनके चरणों में गिर पड़ी; किंतु उधर भला वे क्यों ध्यान देते। उनका रोषकम्पित स्वर गूँजा- 'किस बल पर तू यह अहङ्कार दिखला रहा है?'

'चाचा को छोड़कर हमारा और है भी कौन!' कुमार निर्भय खड़ा रहा। माँ ने बार-बार कहा कि उसके चाचा सर्वलोकमहेश्वर हैं, यज्ञ और तप के परम भोक्ता वही हैं, तब ये महर्षि उसका बिगाड़ क्या सकते हैं?

'कौन है तेरा चाचा?' महर्षि दुर्वासा सम्भवतः उसे भी शाप देने की बात सोच चुके थे।

'श्रीकृष्णचन्द्र!' कुमार का स्वर अविचल था।

'श्रीकृष्णचन्द्र!' महर्षि के नेत्र सीधे हो गये। अञ्जलि का जल धीरे से उन्होंने अपने कमण्डलु में ही डाल लिया। उनकी वाणी में पता नहीं, कैसे रोष के स्थान पर स्नेह की धारा उमड़ आयी- 'तुमने उन हृषीकेश को देखा है वत्स?'

'यह सौभाग्य मुझे अभी तक नहीं मिला!' कुमार भी विनम्र हो गया। 'लेकिन वे मेरे चाचा हैं। निश्चय वे मेरे हैं।'

'तुम्हें उनके शीघ्र दर्शन होंगे।' महर्षि ने शाप के स्थान पर वरदान दे दिया। 'तुम मुझे क्षमा कर दो! श्रीकृष्ण निश्चय तुम्हारे हैं और उनके जनों पर रोष करने का साहस अब मुझमें कभी नहीं आयेगा!'

महर्षि ने सानन्द प्रसाद ग्रहण किया था। वे पुनः शीघ्र श्यामसुन्दर के दर्शन की बात कह गये थे और आज युद्ध आ गया अपने प्राङ्गण में। महारानी को पता ही नहीं लगा इस तन्मयता में कि उनका कुमार नन्हा धनुष लेकर राजसदन से बाहर भी जा चुका है।

× × ×

'पार्थ! एक अनस्त्र बालक पर दिव्यास्त्र उठाते तुम लज्जा नहीं आयी।' उस मेघ-गम्भीर स्वर को पहचानना नहीं पड़ता। दारुक पूरे वेग में रथ दौड़ाता आ रहा है। पाण्डव-सेना ने सादर मार्ग छोड़ दिया है। अचानक श्रीकृष्णचन्द्र यहाँ आयेंगे, सम्भावना भी किसी को नहीं थी।

'गाण्डीवधारी कल को प्रद्युम्न अथवा साम्ब पर भी इसी प्रकार दिव्यास्त्र उठा सकते हैं।' स्वर में झिड़की है, रोष है, व्यङ्ग है और पता नहीं क्या-क्या है। लज्जित अर्जुन ने अपना दिव्यास्त्र फिर त्रोण में पहुँचा दिया है।

'श्यामसुन्दर!' बड़ा खिन्न, शिथल स्वर धनंजय का था। वे इस दस वर्षीय बालक से युद्ध करने को विवश हुए थे। उन्होंने कितना चाहा था कि युद्ध टल जाय। बालक अद्भुत शूर है। पार्थ हृदय से उसके प्रशंसक हैं। अकेले बालक ने प्रायः पूरी पाण्डव-वाहिनी को त्रस्त कर दिया था। आधे मुहूर्त में रणभूमि में टूटे रथों, मेरे गजों एवं अश्वों से पट गयी। बालक के शरों ने सैनिकों के शव बिछा दिये। अन्त में अर्जुन आगे बढ़े थे। उन्होंने सेना को रोक दिया था युद्ध करने से।

'कहीं भगवान् पिनाकपाणि ही तो बालक का वेश बनाकर धनुष लिए युद्ध करने नहीं आ गये है।' अर्जुन को सचमुच सन्देह हो गया था। बालक उनके शरों के टुकड़े उड़ाये दे रहा था। उसके छोटे-से धनुष से छूटे बाण गाण्डीव-धन्वा का कवच फोड़कर सीधे शरीर में घुस जाते थे। रक्त झरने लगा था पार्थ की देह से। वे अत्यन्त आहत हो चुके थे। सामान्य शरों से काम न चलते देखकर ही उन्होंने गान्धर्वास्त्र उठाया था; किंतु यह मयूरकुटी उनका सखा तो रुष्ट हो गया लगता है।

'श्यामसुन्दर!' अर्जुन ने धनुष रख दिया और पुकारा; किंतु श्रीकृष्णचन्द्र का रथ तो आगे ही बढ़ा जा रहा है। उन्होंने किसी का अभिवादन आज स्वीकार नहीं किया। पार्थ की पुकार पर उन्होंने ध्यान नहीं दिया।'

'चाचा जी!' सहसा विजय की दृष्टि आगे गयी। बालक धनुष फेंककर रथ से कूद पड़ा है। साथ ही वे कूदे मयूरमुकटी। दारुक ने रथ को रोक लिया है और वे दौड़े जा रहे हैं। द्वारिकानाथ दोनों भुजाएँ फैलाये।

'वत्स!' बालक को पदों में पड़ने का अवकाश नहीं मिला। श्यामसुन्दर ने उसे हृदय से लगा लिया है भुजाओं में भरकर। सम्भवतः उनके कमललोचनों से स्नेह के सुधाकण झर रहे हैं। उनका गद्‌गद स्वर सुनायी पड़ा– 'मुझे तनिक विलम्ब हो गया आने में बेटा!'

अर्जुन समझ नहीं पाते कि बात क्या है। श्यामसुन्दर की गति कभी किसी की समझ में कहा आती है। पार्थ ने रथ आगे बढ़ा दिया है। अपने सखा के समीप उन्हें जाने में कब हिचक हुई।

'धनञ्जय!' सहसा पुटके से नेत्र पोंछते, बालक का हाथ अपने हाथ में लिए श्रीकृष्ण ने पीछे मुड़कर देखा– 'यह भी मेरा ही राज्य है। द्वारका से अधिक मेरा है यहाँ। आज धर्मराज के सैनिक राजसदन में मेरा आतिथ्य स्वीकार करें।'

बालक गद्‌गद हो रहा है। एक शब्द उसके कण्ठ से निकल नहीं पाता है। वह जो कुछ कह सकता था, श्याम को वाणी की अपेक्षा कहाँ है। वे उन अनकहे भावों को स्वीकृति दे रहे हैं अपने-आप।

'अर्जुन! मैं भाभी के चरणों में प्रणाम करने जाता हूँ।' बालक को अपने ही रथ पर बैठा लिया उस भुवनेश्वर ने– 'तुम मेरा आतिथ्य स्वीकार करोगे न?'

इस आतिथ्य को अस्वीकार करे, इतना अज्ञ कौन होगा यह आमन्त्रण ही था अर्जुन का अहोभाग्य।

अवतार

'संसार के प्राणी अत्यन्त दुःखी हैं दयाधाम!' देवर्षि नारद गोलोकेश्वर का सत्कार स्वीकार करके आसन पर आसीन हो गये थे और कुशल-प्रश्न का अवकाश दिये बिना ही उन्होंने स्वतः प्रार्थना प्रारम्भ कर दी- 'आपकी अहैतुकी कृपा के अतिरिक्त उनका और कोई आश्रय नहीं है।'

'मैं कृपा-कृपण नहीं हुआ हूँ देवर्षि!' तनिक मुस्कराये मयूरमुकुटी- 'जीवों के परम कल्याण के लिए श्रुति की शाश्वत वाणी मैंने पूर्व से उन्हें प्रदान की। सृष्टि के प्रारंभ में ही मैं स्रष्टा को वेद-ज्ञान दे देता हूँ, जिससे जीवों को अज्ञान के अन्धकार में भटकना न पड़े।'

'वे अब भी भटक रहे हैं।' कृपा की अतिशयता के कारण नारद जी के नेत्र टपकने लगे- 'जप-तप, योग-यज्ञ आदि में प्रथम तो उनकी प्रवृत्ति नहीं होती और कदाचित् हो भी गयी तो आपकी लोकविमोहिनी माया के प्रलोभन कहाँ कम हैं। भोग, यश, स्वर्ग और कुछ न हो तो अहङ्कार- इन पाशों से परित्राण कैसे पायें वे दुर्बल?'

'अन्ततः आप चाहते क्या हैं?' सीधा प्रश्न किया गया। श्रीनारदजी का क्या ठिकाना कि कब उठ खड़े हों। उनको कहीं स्थिर बैठना आता नहीं। उनकी खड़ाँऊ हिलने लगी है। दूसरे, ये लम्बी चुटियावाले वीणाधारी विचित्र स्वभाव के हैं। इधर की उधर लगाने में, पहेली बुझाने में इन्हें आनन्द आता है। क्या पता कब कह दें कि आगे की बात अपने आप समझो। अभी सानुकूल हैं।

अतएव अभी सीधे ही पूछ लेना अधिक उपयुक्त था।

'मेरे चाहने का कोई महत्त्व नहीं।' देवर्षि ने उलाहना नहीं दिया। वे प्रार्थना के स्वर में ही बोल रहे थे- 'आप सर्वज्ञ हैं; किंतु जीव इसे समझ नहीं पाते। उनके मध्य आप पधारो और स्वयं अपने व्यक्त दृगों से उन्हें देखो। वे आपके परम मङ्गलायतन स्वरूप का दर्शन करें। आपके व्यक्त सगुण-साकार श्रीविग्रह के रूचिर क्रीड़ा-विहारों का आधार मिले उनके चञ्चल चित्त को। तब कहीं माया भगवती भी कुछ संकुचित होंगी, कुछ कृपा करना आवेगा उन्हें।'

पीताम्बरधारी ने तनिक देखा निकुञ्जेश्वरी की ओर। तात्पर्य स्पष्ट था- 'इनकी

छाया-शक्ति ही माया है। आप इनसे क्यों नहीं कहते?'

'ये नित्य प्रेमस्वरूपा-इन्हें तो स्नेह ही देना आता है!' देवर्षि ने अञ्जलि बाँधकर मस्तक झुकाया- 'आपकी क्रीड़ा-प्रियता में बाधा न पड़ती; इन्होंने कहाँ कब उपेक्षा सीखी है किसी की। इनके स्मरण से माया का अन्धकार तिरोहित होता है; किंतु जीवों का अभाग्य वे स्मरण ही कहाँ कर पाते हैं। उनके लिए स्मरण का स्पष्ट, व्यक्त, सुरम्य, आधार प्रदान करने आप स्वयं धरा पर पधारे देव!'

'आपकी इच्छा पूर्ण हो!' देवर्षि ने वीणा तब उठायी, जब सर्वेश्वर के श्रीमुख से यह सुन लिया।

× × ×

'मैं बार-बार धरा पर गया और मैंने जीवों के कल्याण के साधन उन्हें प्रदान किये।' युगों के पश्चात् देवर्षि फिर गोलोक पधारे थे और इस बार श्यामसुन्दर स्वतः बता रहे थे- 'मानव कर्म में नित्य स्वतन्त्र है और वह उन्हीं कर्मों को प्रिय मानता है, जो उसके बन्धन को और दृढ़ करते हैं। वह अपने क्लेश को बढ़ाने में लगा है। मेरी ओर देखने का तो जैसे उसके पास समय ही नहीं।'

'आपने महामत्स्यरूप धारण किया और मानव के एक आदिपुरुष को स्वतः श्रीमुख से धर्म का उपदेश किया!' देवर्षि की वाणी में इस बार व्यङ्ग्य था- 'मानव का अभाग्य कि वह उस धर्म की ओर ध्यान नहीं देता और ध्यान नहीं देता प्रलयाब्धिविहारी महामत्स्य की ओर।'

'देवर्षि! मैं मत्स्यावतार, वाराहवतार या वामन अथवा नृसिंहवतार की चर्चा नहीं कर रहा हूँ।' श्रीकृष्णचन्द्र खुलकर हँसे- 'ये अवतार मनुष्यों के मध्य नहीं हुए और मानव इनमें आकर्षण न पाये तो उसे दोष देने का कारण नहीं है।'

'मनुष्य के कल्याण के लिए आप गृहत्यागी बने और नर-नारायणरूप से आपने दीर्घकालीन तपस्या की। कपिलरूप में आपने तत्त्व का प्रसंख्यान किया और तप का आदर्श स्वतः उपस्थित किया।' देवर्षि का स्वर परिवर्तित नहीं हुआ- 'कर्म, यज्ञ, हयशीर्ष, मोहिनी अवतार की चर्चा आप करेंगे नहीं; क्योंकि वे भी मनुष्यों के मध्य नहीं हुए। यही अवस्था हंस, धन्वन्तरि-जैसे अवतारों की है और प्रभु! ऋषभरूप से भी वही तप का आदर्श दिया आपने। मानव तप कर नहीं पाता। थोड़े से ऋषियों के वश का है तप। जहाँ वह अपने को समर्थ नहीं पाता, वहाँ से उदासीन तो होगा ही।'

'आप अपने को और अपने अग्रज सनकादि कुमारों को गणना में लेने वाले नहीं है। परशुराम का अवतार साधन प्रदान करने के लिए हुआ नहीं। आगे भी बुद्ध तथा कल्किअवतार प्रयोजन विशेष से होने हैं तथा गजेन्द्र के उद्धार या ध्रुव के लिए हुए

अवतार की बात भी मैं नहीं करता।' इस बार श्री भगवान् का स्वर गम्भीर हो गया- 'आप चाहें तो कह सकते हैं कि पृथु के रूप में भी मैं सत्युग में धरा पर गया और यज्ञ का ही विशेष रूप से मैंने प्रतिपादन किया; किंतु मैंने त्रेता में मानव को सम्यक् आदर्श देने में कहाँ त्रुटि की देवर्षि? मैंने सम्पूर्ण मानव-चरित को क्या उचितरूप में अयोध्या में उपस्थित नहीं किया?'

'मन्दप्रज्ञ ही मर्यादापुरुषोत्तम के मङ्गल चरित में त्रुटि देखते हैं!' देवर्षि के स्वर में श्रद्धाभरित हुए- 'आप अनन्त कृपा-पयोधि हैं, इसीलिए तो यह जन इन श्रीचरणों में पुनः जीवों पर कृपा-याचना करने उपस्थित हुआ है।'

'तब आप चाहते हैं....।' श्यामसुन्दर की बात पूरी नहीं हुई। देवर्षि ने अञ्जलि बाँधकर मस्तक झुकाया।

'कलि-कलुष मानव को मर्यादा में रहने नहीं देता देव! आपके भुवन-पावन चरित उसे निर्मल करते हैं और आपका यह पावन 'राम' नाम निखिल पाप-तप का विनाशक है। आपने मानव के समस्त वर्गों के लिए सम्पूर्ण वैदिक ज्ञान एवं साधन-प्रणाली अपने कृष्णद्वैपायन रूप से सुगम कर दी है; किंतु......।' दो क्षण रुककर पुनः बोले देवर्षि- 'यदि आप अपने इन त्रिभुवनमोहन रूप से पधारते! यदि अपने इन दिव्य चरितों को प्रकाशित करते धरा पर, जो श्रवणमात्र से चित्त को अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं।'

'प्रेम मानव को श्रीचरणों की ओर अधिक आकर्षित करता है मर्यादा की अपेक्षा और भक्तिदेवी पर आपका सर्वाधिक अनुग्रह भी है।' देवर्षि ने इस बार श्रीनिकुञ्जेश्वरी के पाद-पङ्कजों की ओर मस्तक झुकाया- 'महाभाव का आलोक यदि एक बार धरा को धन्य कर जाता।'

'इसका अर्थ है कि अंश और कला का अवतरण देवर्षि को सन्तुष्ट नहीं कर सका है। आदर्श की मर्यादा से भी ये नित्य अवधूत कुछ अधिक चाहते है; किंतु महाभाव...' मयूरमुकुट उन महाभाव की नित्यमूर्ति अपनी अभिन्न सहचरी की ओर झुका- 'वह तो अन्यत्र व्यक्त नहीं होता। उसका आलोक धरापर यदि व्यक्त होता है तो वह दूसरे में व्यक्त हो, यह कैसे हो सकता है। आप धरापर पधारेगी?'

'अस्वीकृति मैंने कभी सुनी नहीं।' देवर्षि बीच में ही बोले- 'अनन्त स्नेह, अनन्त कृपा और अनन्त वात्सल्य जहाँ से शिशु पाता है, वहाँ उसकी याचना पूर्व-स्वीकृत ही रहती है।'

'एवमस्तु' सुनने की भी अपेक्षा देवर्षि ने नहीं की। वे वीणा करों में उठा चुके थे और उठ चुके थे आसन से। उनकी अंगुलियाँ वीणा के तारों से उल्लासपूर्ण झंकृति गुञ्जित करने लगी थीं। भला कहीं किसी की आकांक्षा इन चारु चरणों तक पहुँचकर भी कभी अपूर्ण रही है?

दैहिक साधन

'वत्स! तुम यह श्रम प्रतिदिन क्यों करते हो?' महर्षि शाकल्य जब से इस वन में आये और उन्होंने इस जलस्रोत के समीप की गुहा को अपना साधन स्थल बनाया, यह वृद्ध वनवासी कोल उनके यहाँ सूखी समिधाएँ, कन्द और फल प्रतिदिन रख जाता है। वह आता है, भूमि में मस्तक रखकर ऋषि को प्रणाम करता है, अपना गट्ठर एक ओर रखता है। समिधाएँ एक ओर, कन्द और फल तथा कुछ बड़े-बड़े पत्ते एक ओर रखकर गुहा के आस-पास की भूमि बुहारने लगता है और यह काम पूरा करके फिर भूमि पर मस्तक रखकर चला जाता है।

वृद्ध कोकल को इससे कुछ मतलब नहीं है कि ऋषि ने उसे देखा या नहीं। वह न एक शब्द बोलता है और न इसी की अपेक्षा करता है कि ऋषि उसे आशीर्वाद दें। अनेक बार ऋषि उसे गुफा में नहीं दीखते। वह सदा एक ही समय नहीं आ पाता। ऋषि स्नान करते होते हैं या वन में गये होते हैं। वह वैसे ही गुफा की ओर मुख करके ऋषि के आसन को प्रणाम करता है आने पर और जाते समय भी। उसने अपने आप एक सीमा मान ली है। गुफा के आस-पास के उतने क्षेत्र से वह बाहर ही रहता है और उससे बाहर के ही क्षेत्र को स्वच्छ करता है। उसे लगता है- उसके अपवित्र देह की छाया ऋषि के हवनादि स्थल पर नहीं पड़नी चाहिए।

वर्षा-आँधी और शीत-बनवासी जातियों के लिए ये कोई बाधाएँ नहीं हैं। प्रकृति की उन्मुक्त गोद में खेलना उन्होंने जन्म से सीखा होता है। वृद्ध प्रबल वर्षा में भी किसी दिन रूका नहीं। वह तो तब भी नहीं रुका था, जब उसका देह ज्वर से तप रहा था। उस दिन भी उसने अपने स्थान पर अपनी पत्नी या पुत्र को ऋषि के लिए काष्ठ ले जाने नहीं दिया था।

महात्माओं की दशा भी विचित्र है। सृष्टिकर्ता भी नहीं जानते कि ये बाबाजी लोग कब क्या करेंगे। नहीं ध्यान देंगे तो पूरी प्रलय हो जाय, आँख उठाकर देखने की आवश्यकता नहीं जान पड़ेगी, और ध्यान देंगे तो एक टाँग टूटी चींटी की सेवा में भी अपने देह को भूल बैठेंगे। महीनों हो गये इस वृद्ध को लकड़ियाँ और कन्द लाते, महर्षि

शाकल्य को यही पता नहीं लगा कि कोई उनकी सेवा कर रहा है। आज इधर ध्यान गया उनका तो वृद्ध को देखते ही आसन से उठे ओर सीधे उसके सामने आ खड़े हुए।

'क्या चाहिए तुम्हें?' अब देवधीश को भी लगना चाहिए। महर्षि का क्या ठिकाना। वे इस काले-कलूटे, लँगोटीधारी बूढ़े कोल को सशरीर- इसी देह से इन्द्रासन पर बैठने का वरदान दे दें तो सृष्टि में उनका प्रतिवाद करने वाली शक्ति कहाँ से आयेगी?

'डरो मत! हिचको मत! तुम्हें जो कुछ माँगना हो माँगो!' सुप्रसन्न तपस्वी के अभय स्वर- कोई सुर भी इसकी स्पृहा ही कर सकता है।

'इस वन में कन्द और फल बहुत हैं।' वृद्ध ने बड़ी नम्रता से कहा- 'आपकी कृपा से मेरे दोनों पुत्र स्वस्थ बलवान् हैं। वे मेरा आदर करते है। मुझे तो कुछ भी नहीं चाहिए।'

'तुम यह मेरी सेवा प्रतिदिन क्यों करते हो?' महर्षि भी इस अशिक्षित, असंस्कृत वन्य मानव की निष्कामता से चकित रह गये थे।

'मेरा बाप मरने लगा था तो उसने मुझसे कहा था' वृद्ध ने हाथ जोड़कर प्रार्थना की- 'कभी कोई ऋषि-मुनि इस वन में आ जायँ तो अपने बनते उनकी सेवा करना मुनियों की सेवा से भगवान् प्रसन्न होता है।'

'मैं और सेवा कर भी क्या सकता हूँ? आपके चरण भी छू जायँ तो आपको स्नान करना पड़े।' वृद्ध कह रहा था- 'लकड़ियाँ और ये कन्द तो वन के हैं। इनमें मेरा क्या है। लड़कों को मैंने कह दिया है कि 'एकल, सुअर, लागू पड़ने वाले बाघ आदि को वे यहाँ से दूर खदेड़ में भूल न करें।'

'भगवान् प्रसन्न हो जायँ तो तुम उनसे क्या चाहोगे?' महर्षि को लगा, यह वृद्ध समझता नहीं कि ईश्वरीय सष्टि में जो कुछ भी मनुष्य प्राप्त कर सकता है, वह सब देने की क्षमता उनमें है।

'भगवान् सब संसार को बनाता है। सबका पालन करता है। वह यह सब करते हुए बहुत-बहुत थक जाता होगा।' वृद्ध ने बड़े सरल भाव से कहा। 'वह प्रसन्न रहे तो उसे थकावट नहीं लगेगी। मैं जब आनन्द में रहता हूँ, कितना भी ढ़ेर-सा काम करूँ। थकता नहीं हूँ।'

'तुम तो भगवान् के भी सेव्य हो।' वृद्ध कोल की समझ में नहीं आया कि इन ऋषि ने क्यों उसको हाथ जोड़कर प्रणाम किया। उसने तो घबरा कर भूमि में सिर रख घुटनों के बल बैठकर और शीघ्रता से लौट पड़ा अपनी झोपडी की ओर।

× × ×

'तुम्हारी झोपड़ी कहाँ है? दूसरे दिन जब वृद्ध कोल लकड़िया लेकर आया, उसे लगा कि महर्षि शाकल्य उसकी प्रतीक्षा कर रहे थे। उसने जैसे ही भूमि पर मस्तक रक्खा, महर्षि आसन से उठ आये। उन्होंने क्या आशीर्वाद दिया, वृद्ध समझ नहीं सका; किंतु ऋषि तो उससे उसका निवास पूछ रहे थे।

'यहाँ से एक कोस दूर, नाले के किनारे हम कोलों के झोपड़े हैं।' वृद्ध ने प्रार्थना की- 'पापी पेट के लिए हम वनवासी लोग पशुओं को मारते हैं। वहाँ आसपास अस्थियाँ पड़ी हैं और हमारे आवास बहुत अपवित्र हैं। आप वहाँ पधारें, ऐसा स्थान वह नहीं है।'

'भगवान् श्रीद्वारिकानाथ इन्द्रप्रस्थ आये थे धर्मराज युधिष्ठिर के समीप।' महर्षि शाकल्य ने कहा- 'आज एक परिव्राजक अतिथि पधारे थे। उन्होंने बताया कि वे धनञ्जय को साथ लेकर आखेट करने निकले हैं। यद्यपि उनका आखेट-शिविर यहाँ से पर्याप्त दूर है; किंतु अर्जुन-के रथ के लिए यह दूरी गणना करने योग्य तो नहीं है।'

'मैंने अपने बाप से सुना है, महाराज पाण्डु हमारे स्वामी थे।' वृद्ध हर्षित हो गया था- 'पाण्डुपत्र अर्जुन इधर आवें तो उनकी पद-वन्दना का भाग्य मिलेगा। इस अधम को भगवान् तो आप जैसे महात्मा के यहाँ आवेंगे ही।'

'श्रीकृष्ण इस आश्रम पर आवें- इसकी मुझे सम्भावना नहीं है।' वृद्ध कोल ऋषि की बात सुनकर उनका मुख देखता रह गया। ऋषि सर्वज्ञ हैं, अतः ठीक ही कहते होंगे। लेकिन जब ऋषि का दर्शन करने अर्जुन-श्रीकृष्ण के आने की आशा नहीं है, उनके दर्शन होने की उसे भी क्या आशा है। उसका उत्साह शिथिल हो गया। वह राजशिविर में जाने का साहस अपने में नहीं पाता है।

'कल तुमने मुझसे कुछ माँगा नहीं।' महर्षि अद्‌भुत भरे-भरे स्वर में बोल रहे थे- 'आज मैं तुमसे माँग रहा हूँ, तपस्वी की माँग को अस्वीकार मत करना।'

'आज्ञा भगवन्!' वृद्ध तो लगभग भय से काँपने लगा। ऋषि इस प्रकार क्यों उससे बोल रहे हैं। ऐसी क्या बात है, जिसके लिए वे उसे सीधे आज्ञा नहीं दे सकते।

'श्रीकृष्ण तुम्हारे झोपड़े में आवें तो उनसे अनुरोध करना कि वे इस ओर से निकलें।' महर्षि ने अत्यन्त विनीत स्वर में यह बात कही।

'भगवान् मेरे झोपड़े में आयेंगे?' वृद्ध जैसे आकाश से नीचे गिरा हो, इस प्रकार चौंका।

'वे तुम्हारे वहाँ आये बिना वन से इन्द्रप्रस्थ लौट नहीं सकते।' महर्षि कह रहे थे- 'कौन जाने, तुम्हारे झोपड़े-तक आने के लिए ही उन्होंने यह आखेट का बहाना बनाया हो। मैं कल ही समझ गया था कि इस वन में श्रीकृष्ण को आकर्षित करने की शक्ति कहाँ है।'

वृद्ध ने ऋषि की पूरी बात सुनी, इसमें भी सन्देह ही है। वह कुछ क्षण तो स्थिर निष्कम्प खड़ा रहा और फिर एकदम घूमकर भाग खड़ा हुआ। उसे आज यह भी भूल हो गई कि ऋषि को प्रणाम करके वह लौटा करता है।

'भगवान् आवेंगे अपने झोपड़े में। ऋषि ने कहा है तो आवेंगे ही।' वृद्ध को लगता है कि कहीं श्रीकृष्ण उसके पहुँचने से पहले झोपड़े में पहुँच न गये हों। उसके पैरों में प्राण आ बसे हैं। उसे मार्ग-अमार्ग आज दीखता नहीं है।

'अपने झोपड़े में भगवान् आवेंगे!' पता नहीं कितने काम करने हैं। ग्राम-ग्राम के आस-पास की भूमि, झोपड़ा ही स्वच्छ करना नहीं है। यह वनमार्ग क्या उनके आने योग्य है। अब वृद्ध से कौन कहे कि श्रीकृष्ण को पैदल नहीं आना है।

मार्ग स्वच्छ करना है, समतल करना है और पता नहीं कहाँ तक करना है। मार्ग में को पत्ता, टहनी, कङ्कड़ी न रहे- वन के मार्ग में यह श्रम कितने समय टिक पाता है। बीच में स्मरण आता है- 'झोपड़े में पुष्प, कन्द, फल तो बासी हो गये।' वृद्ध दूसरी ओर दौड़ता है।

इन दिनों बूढ़ा ऐसा अद्भुत बन गया है कि सोचा तक नहीं जा सकता। पूरे वन के निवासी जिसे अपना सरदार मानते हैं, जिनकी हुंकार से इस बुढ़ापे में भी काँपते हैं, वह और तो और, अपनी स्त्री के सामने भी पृथ्वी पर मस्तक धर देने लगा है। कोई कुछ कहे, कोई प्रतिवाद करना चाहे, कोई उसके आदेश में अपनी असुविधा बताने लगे, उसे आजकल एक बात आती है- पृथ्वी पर सिर धरकर गिड़गिड़ायेगा- 'भगवान् आते होंगे इस झोपड़े में। तुम मुझ पर दया करो।'

सब है, सारी व्यस्तता है- इतनी व्यस्तता कि उसकी पत्नी और पुत्रों को लगता है कि वह पागल हो गया है। उसे भोजन कराने में भी प्रयास करना पड़ता है। किंतु महर्षि शाकल्य को वह लकड़ियाँ, कन्द, फल अब भी पहुँचा आता है और स्थान स्वच्छ कर आता है; किंतु अब उसे शीघ्रता रहती है और यह शीघ्रता तो उसे सभी कार्यों में रहती है।

× × ×

'धनञ्जय! आज एक साधक के दर्शन करने चलना है।' श्यामसुन्दर ने रथ चलते ही आखेट के सहचारियों को निषेध कर दिया कि वे अनुगमन न करें। शिविर में भी वे चलते-चलते कह आये हैं कि आज मध्याह्न में उनकी प्रतीक्षा न की जाय।'

'ऐसा साधक इधर कौन है, जिसके दर्शन करने को स्वयं द्वारिकाधीश उत्सुक हैं?' अर्जुन को आश्चर्य होना स्वाभाविक है। पाण्डव इतने प्रमादी नहीं हैं कि आस-पास के कानन में रहने वाले तपस्वियों की वे खोज-खबर न रक्खें। 'महर्षि शाकल्य

की गुहा पर चल रहे हैं आज आप?'

अर्जुन के आश्चर्य का कारण है। महर्षि शाकल्य तपस्वी हैं, योगी हैं, किंतु हैं भगवान् वेदव्यास के प्रशिष्य और जब व्यासजी ही श्रीकृष्ण के दर्शन करने इन्द्रप्रस्थ आते हैं, महर्षि शाकल्य को श्यामसुन्दर सन्देश भेज देते तो वे अपने अहोभाग्य मानते।

'मानव के समीप आध्यात्मिक साधन के तीन उपकरण हैं- मस्तिष्क, हृदय और देह।' चलते रथ में माधव अपने सखा को समझा रहे थे- 'मस्तिष्क के जो साधक हैं- प्रतिभा का प्रसाद जिन्हें मिला है, उन महर्षियों के दर्शन हम दोनों इन्द्रप्रस्थ में कर लेते है। इन ज्ञानमूर्तियों की उपस्थिति धरा को धन्य करती है।'

'हृदय का धन जिनके पास है, भक्ति देवी के जो अनुग्रहभाजन हैं; नन्दनन्दन को उनके द्वार तक दौड़ना पड़ता है।' अर्जुन ने हँसकर अपने नित्य सखा की ओर देखते हुए कहा।

'सो तो है ही। इसीलिए द्वारिका से बार-बार दौड़कर वह इन्द्रप्रस्थ आता है।' श्रीकृष्ण भी हँसे- 'लेकिन आज एक देह के साधक के द्वार पर हम चल रहे हैं। उसके पास न बुद्धि है और न भावुकता की शास्त्रीय बातें; किंतु देह को उसने लगा दिया है और तुम जानते हो कि देह सत्ता है। सत्ता का ठीक संयम होगा तो चित् और आनन्द उससे भिन्न नहीं रहेंगे।'

'सच्चिदानन्द स्वयं दौड़ा जा रहा है, यह तो देख रहा हूँ; किंतु वे महाभाग?' अर्जुन ने पूछा!

'हम उस किरात-पल्ली चल रहे हैं।' रथ के अकल्पित वेग ने अब तक गन्तव्य तक पहुँचा दिया था उन्हें और पार्थ को एक अद्भुत दृश्य देखने को मिला। सम्पूर्ण वन-निवासी जैसे मूर्ति बने खडे रह गये थे। श्रीकृष्ण स्वयं आतिथेय बन गये एक झोपड़ी में जाकर; क्योंकि उसका स्वामी वृद्ध तो अपने-आपको भी भूल ही गया था।

'बाबा, महर्षि शाकल्य को कह, हम उनके आश्रम के सम्मुख से जायँगे।' वृद्ध ने भले महर्षि को वरदान न दिया हो, उससे जो माँगा गया, श्याम उस माँग को अपूर्ण रहने कैसे दे सकता था। वृद्ध के श्रवण में स्वरों ने चेतना दी और वह सन्देश देने दौड़ा- वह दैहिक साधक, उसे भला क्या चाहिये था। उसे देने को त्रिभुवननाथ के पास भी क्या?

❑❑

पूजा

'सब प्रजाजन उपस्थित हो गये?'

'श्रीमान् की आज्ञा तथा जगत्पति के दर्शन के सौभाग्य को कौन अतिक्रमण कर सकता है महाराज? किंतु......।'

'किंतु-किंतु परन्तु क्या मन्त्रीप्रवर? यह किंतु क्या?' आनर्त महाराज कुछ चञ्चल एवं उद्विग्न हो उठे। 'क्या मेरे किसी पूर्व पाप अथवा दुर्भाग्य से भगवान् इधर से नहीं पधारेंगे? उन्होंने मार्ग बदल दिया है? आह! मैं इतना अधम हूँ कि उनके श्रीचरणों में दो पुष्प भी नहीं चढ़ा पाऊँगा!'

'आप व्यर्थ आकुल होते हैं। भगवान् इधर से ही पधार रहे हैं।' हाथ जोड़कर वृद्ध मन्त्री ने कहा। 'दूतों ने समाचार दिया है कि प्रभु की मध्याह्नसन्ध्या अपनी ही सीमा में होगी।'

'तब किंतु क्या?' आश्वस्त होकर महाराज ने पूछा।

'महाराज! मेरा कुछ और ही अर्थ था। वह सोमपीड़ बढ़ई.....।'

ओह, वह श्रद्धामय वृद्ध।' महाराज ने मन्त्री को बीच में ही रोका।

'वह सबसे प्रथम प्रभु के श्रीचरणों में अपना उपहार रखना चाहता है। उसे ऐसा कर लेने दो! उन चरणों में राजा और भिक्षुक का भेद नहीं। वहाँ केवल प्रेम ही पुरस्कृत होता है और हमें यह स्वीकार कर ही लेना चाहिये कि वह वृद्ध इस मार्ग में हम सबका नरेश है। उसे सम्मानूपर्वक सबसे पहले पूजन करने दो।'

'वह नहीं आया?' महाराज जैसे आकाश से गिरे।

'जी! वह नहीं आया और आना चाहता भी नहीं।' मन्त्री जी बहुत ही नम्रता से उत्तर दिया। 'मेरे विश्वस्त जनों ने मुझे सूचित किया है।'

'ऐसा हो नहीं सकता।' महाराज के स्वर में विचित्र आश्चर्य था। 'मन्त्रीवर! तुम जानते हो उस वृद्ध को! भगवान् के हस्तिनापुर जाने का समाचार पाकर ही वह प्रेमोन्मत्त हो गया था। उसी दिन से उसने मार्ग के तोरणद्वार बनाने प्रारम्भ कर दिये थे।

कल मध्यरात्रि तक वह सिंहासन सजाने में लगा था। मेरा तो पूर्ण विश्वास है कि उसी के प्रेम के कारण प्रभु ने इधर से द्वारिका जाना निश्चित किया है।'

'श्रीमान् उचित ही कहते हैं।' मन्त्री ने कहा। 'उसने कुछ भी पारिश्रमिक हम लोगों के बार-बार आग्रह करने पर भी ग्रहण नहीं किया है। साथ ही वह इतना श्रम न करता तो यह तोरणद्वार इतना सुन्दर बन भी न पाता।'

'तब वह प्रभु के ठीक आगमन के समय उपस्थित न हो, यह कैसे हो सकता है?' महाराज का गला भर आया था। 'तुम स्वयं जाकर ले आओ उसे।'

'जो आज्ञा।' राजकीय रथ लेकर प्रधानमन्त्री उस बढ़ई को लेने चल पड़े।

[2]

एक फूस की झोंपड़ी है। फूस की दीवार और फूस के छप्पर। गोबर से लिपी-पुती स्वच्छ। एक कोने में बढ़ई के औजार समेटकर रक्खे हैं। एक ओर पुआल पड़ा है और औजार समेटकर रक्खे हैं। और एक केले के पत्ते पर पुष्पों की वनमाला, चावल, चन्दन सजा रक्खा है। ताँबे के लोटे में सम्भवतः जल होगा।

पूजा का सब उपहार तो सजा है; पर पुजारी सावधान हो तब न? मन्त्री ने रथ उसी झोंपड़ी के द्वार पर रोक दिया। उन्होंने देखा– बूढ़ा हाथ में तुलसी की माला लिए सामने के तुलसी चबूतरे पर लगी श्रीतुलसी जी को ध्यान से देख रहा है। हाथ में माला स्थिर पड़ी है और नेत्रों से अविरल अश्रुप्रवाह चल रहा है।

'आपको महाराज स्मरण कर रहे हैं।' मन्त्री के वचनों से उसकी तन्मयता भङ्ग हुई। सकपकाकर उसने दोनों हाथ जोड़ लिए और इस प्रकार मन्त्री के मुख की ओर देखने लगा मानो कुछ सुना ही नहीं।

'श्रीद्वारिकाधीश के दर्शनों के लिए आपको ले चलने मैं रथ लेकर आया हूँ। प्रभु पहुँचने ही वाले हैं!' मन्त्री ने आग्रह किया।

'आपने व्यर्थ कष्ट किया।' वृद्ध की अञ्जलि बँधी थी और उसके स्वर में अत्यधिक नम्रता थी। 'हम इस प्रकार महाराजाओं की भाँति प्रभु के दर्शन नहीं करते।'

'तब किस प्रकार आप दर्शन करेंगे?' मन्त्री आश्चर्यचकित था।

'जब वे मेरे द्वार पर आवेंगे'– वृद्ध ने सरलता से कहा। इस बूढ़े के गर्व पर मन्त्री हँसी को रोक न सके। 'जो राजसूय में प्रथम पूज्य माने गये, जो महाराज के आग्रह पर भी राजसदन में आने की प्रार्थना को अस्वीकृत कर चुके है, जिनके दर्शन के निमित्त स्वयं महाराज सीमा तक दौड़े गये हैं, वे इस झोपड़ी के द्वार पर जायेंगे? मन्त्री को इस गर्व से अरूचि हुई। उन्होंने पीठ फेर ली। पता नहीं उन्होंने सुना भी या नहीं। वृद्ध ने

कहा– 'दीनों के द्वार पर दीनबन्धु को छोड़कर और कौन आवेगा?'

रथ जैसे आया था, वैसे ही लौट गया।

गरूड़ध्वज दृष्टि पड़ा। कोलाहल मच गया। सब लोग दौड़े। स्वयं महाराज पैदल पूजा का थाल लिए आगे–आगे बालकों की भाँति दौड़ रहे थे। 'यह क्या? रथ तो दूसरी ओर मुड़ पड़ा! भगवान् उधर कहाँ जा रहे हैं?' लोग आश्चर्यपूर्वक उधर ही चलने लगे!

'रोको दारुक!' प्रभु ने सारथि को आज्ञा दी और वह चारों कर्पूरगौर अश्व वहीं स्थिर हो गये।

वृद्ध बढ़ई कुछ समझ सके, तब तक तो रथ में से कूदकर मयूरमुकुटधारी एक नीलोज्ज्वल ज्योति उसके सम्मुख खड़ी हो गयी। एक बार मुख ऊपर उठाकर देखा। खड़े होने का भी तो अवकाश नहीं मिला था। वैसे ही मस्तक उन कमलाकरलालित चरणों पर लुढ़क गया!

महाराज, मन्त्री, सामन्त, सेनापति प्रभृति सभी धीरे–धीरे पहुँच गये। सब आश्चर्य से एवं सङ्कोच से प्रभु के रथ के पास ही खड़े थे। दीनबन्धु दीन के द्वार पर खडे थे और दीन उनके श्रीचरणों पर पड़ा था। पूजा की सामग्री केले के पत्ते पर धरी ही रही। उसे छूने का अवकाश एवं स्मृति किसे?

बहुत देर हो गयी। न तो प्रभु हिले और न वृद्ध! बड़े सङ्कोच से हाथ जोड़कर दारुक ने कहा, 'महाभाग! प्रभु कब से खड़े हैं। पूजा तो कर लो!'

'दारुक! पूजा तो हो गयी।' उन कमल नेत्रों से दो बिन्दु उस वृद्ध के मस्तक पर पड़े! जीव–ब्रह्म की एकता से बड़ी पूजा क्या है? वह पूजा तो सचमुच ही हो गयी थी। श्रीचरणों पर वृद्ध का शरीर ही पड़ा था। वह तो श्यामसुन्दर से एक हो चुका था!

❑❑

भक्तवत्सल

तुलसीदलमात्रेण जलस्य चुलुकेण वा।
विक्रीणीते स्वमात्मानं भक्तेभ्यो भक्तवत्सलः।।

सूर्य-ग्रहण के महापर्व पर कुरुक्षेत्र में अपार मानव-समुदाय एकत्र हुआ था। अधिकांश ऋषिगण तथा राजाओं के समुदाय आये थे। महान् स्नान के पुण्य को प्राप्त करने का सुअवसर तो था ही, श्रीकृष्णचन्द्र के सामीप्य का सुरदुर्लभ लाभ सबसे बड़ा आकर्षण था। द्वारिका में ऋषि जा सकते थे; किंतु वहाँ राजसदन में उन अरण्यवासियों को वह उल्लास कैसे प्राप्त हो सकता था जो इस विस्तीर्ण तीर्थभूमि में सहज सुलभ था। नरपति कोई भी कुशस्थली जाय, उसे यादवाधीश का अतिथि ही होकर तो रहना होता। यहाँ राजाओं के अपने शिविर हैं। साथ ही श्रीकृष्ण-दर्शन का महान् सुयोग। महाराज उग्रसेन अपने पूरे परिकर के साथ पधारे हैं। यादवों की सभा में विराजमान मधुसूदन की जो परमैश्वर्य मण्डित दिव्य मूर्ति है, उसके पादाभिवन्दन का सौभाग्य यहाँ सहज सुलभ है।

इस महोत्सव के मञ्जु उल्लास में वसुदेव जी ने महायज्ञ किया। कोई आगत ऋषि-मुनि ऐसा नहीं था जो उस ऋज्ञ में ऋत्विक् बनने को स्वयं आगे न आया हो। यज्ञ और दान की महिमा, कुरुक्षेत्र की इस भूमि में, समन्त-पञ्च क्षेत्र में अल्पदान का भी अतिशय माहात्म्य बार-बार श्रवणों में पड़ा और सत्यभामाजी के चित्त में एक लालसा जागी। उन्होंने एक दिन अपने आवास में पधारे देवर्षि से पूछा- 'देव! दान में जो कुछ दिया जाता है, वह वस्तु अक्षय होकर उपलब्ध होती है, यह सत्य है?'

'हाँ देवि! यदि दाता में शुद्ध श्रद्धा हो, दान पुण्य-स्थल पर, शुभ समय में और सत्पात्र को दिया जाय।' देवर्षि ने किञ्चित आश्चर्य से पूछा- 'किंतु श्रीहरि की बल्लभा को ऐसा क्या अप्राप्य है, जिसकी वे कामना करें। उनकी उपलब्धि को तो काल स्पर्श नहीं करता।'

'मैं कुछ दान करना चाहूँ, आप स्वीकार करेंगे?' सत्यभामा जी ने देवर्षि के प्रश्न

का उत्तर नहीं दिया। उनमें शुद्ध श्रद्धा नहीं है, यह आशङ्का कोई कलुष-हृदय भी नहीं कर सकता। यह भगवान् परशुराम की पुण्य यज्ञस्थली धर्मक्षेत्र-इस-जैसा पुण्यस्थल उपलब्ध है और दान का महापर्व काल है। सम्मुख खड़े महाभागवत, नित्य-विरक्त देवर्षि नारद यदि दान ग्रहण करना स्वीकार कर लें तो श्रेष्ठतम सत्यपात्र की समस्या भी सुलझ गयी।

'नारद निवासहीन पर्यटक है और नित्य निष्परिग्रही' देवर्षि ने फिर भी कहा- 'देवि! ऐसा कोई भाग्यहीन नहीं जो आपके करों से प्राप्त प्रतिग्रह को अपने शत-शत जन्मों के पुण्यपुञ्जल का उदय न माने।'

'तब आप कल प्रभात में दर्शन देने का अनुग्रह करें।' सत्यभामा जी ने अञ्जजि बाँधकर, मस्तक झुकाकर बड़ी श्रद्धा से नमन किया।

× × ×

'आप मुझसे सचमुच प्रेम करते हैं?' प्रातः कृत्य, सन्ध्या-हवन, गो-विप्रार्चन, दान तथा सेवकों का उचित सत्कार समाप्त करके श्यामसुन्दर आसन पर विराजे तो श्री रुक्मिणीजी के अनन्तर सत्यभामाजी ने आकर उनके चरणों पर मस्तक रक्खा और उनका अर्चन करते-करते ही उन्होंने मन्दस्मित के साथ पूछ लिया।

'यह भी कोई पूछने की बात है। मैं तो तुम्हारा ही हूँ।' श्रीकृष्ण ने सप्रेम स्मितपूर्वक देखा। 'कहीं यह मानिनी आज मान तो नहीं करने वाली है?'

'आप तो इस प्रकार सभी से कहते हैं।' सत्यभामाजी में मान नहीं, उच्छलित राग था। 'मेरा तो यह मेरे कर का रत्नकङ्कण है। जिसे चाहूँ, उसे दे दूँ।'

'यह जन भी तुम्हारा इसी प्रकार का रत्नाभरण है। इसे भी जिसे चाहो दे सकती हो।' - माधव का कमलमुख सहज हास्य-भूषित हुआ।

'सच? सत्यभामा ने अद्भुत भङ्गिमा से देखा। 'आपका कुछ विश्वास नहीं।'

'देवि! यह तीर्थभूमि है और मैं आजकल नियम-पालन कर रहा हूं, यह आप जानती है।' श्रीकृष्णचन्द्र सुप्रसन्न थे।

'नारायण! गोविन्द!' देवर्षि की वीणा की झङ्कार आयी। इतने में वे दिव्य दम्पत्ति उनके स्वागत में उठ खड़े हुए। सत्यभामा जी ने स्वयं स्वर्णपीठ पर सुकोमल आस्तरण बिछाया। द्वारिकानाथ ने देवर्षि का जब तक पूजन किया, सत्यभामा स्वर्णपात्र में जल, कुश ले आयीं।

'अहं श्रीकृष्णपत्नी सत्यभामा ब्रह्मपुत्राय नारदाय त्वामिमं पतिं प्रददे।' सविधि सम्पूर्ण देश-कालादि उच्चारणपूर्वक हाथ में जल-कुश लेकर सत्यभामाजी

ने सङ्कल्प का उच्चारण किया और देवर्षि ने दक्षिण हस्त बढ़ाकर वह कुशाक्षत ग्रहण कर लिया। प्रातः वन्दन के लिए उपस्थित सभी राजमहर्षियों ने आश्चर्य से एक-दूसरे का मुख देखा।

'श्याम! नारद परिव्राजक हैं। अब उठो और मेरे साथ चलो।' देवर्षि ने वीणा उठायी। श्रीकृष्णचन्द्र चुपचाप उठ खड़े हुए।

'भगवन्! आप इनका उचित मूल्य ले लें।' सत्यभामाजी ने अब करबद्ध प्रार्थना की।

'देवि! नारद परिग्रही नहीं है। कोई भी वस्तु लेकर मैं क्या करूँगा? प्रतिग्रह में प्राप्त वस्तु का विक्रय प्रतिग्रहीता की इच्छा पर निर्भर है और मैं श्रीकृष्ण का विक्रय नहीं करूँगा?' देवर्षि ने खुलकर हँसते हुए कहा। 'देवी ने ठीक सोचा था कि इस पावनस्थली में इन चिरचञ्चल का दान करके आप इन्हें अक्षयरूप से प्राप्त कर लेंगी; किंतु यह तो ऐसा धन नहीं हे कि इसका लोभ नारद के मन में न हो। श्रीकृष्ण! आओ, चले।'

सत्यभामा जी मूर्छित नहीं हो गयी यही बहुत बड़ी बात हुई। एकत्रित राजरानियों का मुख निष्प्रभ हो गया जिसे जो सूझा उसने वही प्रारम्भ किया। देवर्षि के चरण पकड़े अनेकों ने। रुदन क्रन्दन तथा भाग-दौड़ प्रारम्भ हुई। महाराज उग्रसेन, वसुदेव जी, माता देवकी तथा समस्त यदुवंश क्षणों में वहाँ एकत्र हो गया।

'श्रीकृष्ण का विक्रय मैं नहीं करूँगा।' देवर्षि अनुचित हठ कर रहे हैं, यह भी कोई कैसे कह दे। अपने आराध्य को बेचने की बात तो किसी सामान्य साधक के मन में भी नहीं आती।

'दया करें प्रभु!' महारानी रुक्मिणी अन्त में आगे आयीं।

'दया तो आप कर रही है करूणामयी।' देवर्षि सहसा गम्भीर हो गये। 'आप कह सकती हैं कि यह दान अवैध है। श्रीकृष्ण पर आपका स्वत्व सर्वाधिक है; किंतु आपको यह विवाद नारद से तो नहीं करना है। अच्छा, आप चाहती हैं तो में इन निखिल ब्रह्माण्ड नायक का उचित मूल्य लेने को प्रस्तुत हूँ।

मैं दूँगी मूल्य। आप जो माँगना चाहें, ले लें।' सत्यभामा सोल्लास आगे आ गयीं।

'निखिल ब्रह्माण्डनायक' रूक्मिणीजी के अधरोष्ठ काँपे। वे मुख झुकाकर पीछे हट गयीं। वे जानती हैं कि उनके आराध्य भावैकगम्य हैं। जो उन्हें जैसा मानता-जानता है, उनके लिए वे वैसे ही होते हैं। अब इस समय देवर्षि उन्हें निखिल ब्रह्माण्डनायक देखना चाहते हैं- तब उन अनंतकोटि ब्रह्माण्डाधीश का मूल्य कहाँ से आयेगा? सत्यभामा के उल्लास में उन्हें केवल बाल-चापल्य दीखा।

'उचित मूल्य देवि!' नारद जी किञ्चित् व्यङ्ग के ढङ्ग से हँसे। 'इन्हें तुला में बैठा दीजिये।' नारद के लिए तो रत्न, स्वर्ण तथा शिलाएँ समान हैं। आप दूसरी ओर ताम्र,

लौह, पाषाण भी रक्खें तो मुझे आपत्ति नहीं है। श्रीकृष्ण तुल जायँ, बस इतना मुझे चाहिए।'

विशाल तुलास्तम्भ तत्काल स्थापित हो गया। यदुकुलशिरोमणि की पट्टमहिषी अपने प्राणधन को रत्नों से तौल देने के उत्साह में थीं; किंतु रत्न, स्वर्णराशि, रजत भी जब पर्याप्त नहीं हुआ, ताम्र तक पर यदुवंशी उतर आये। अन्ततः उन्हें श्रीकृष्ण को खोना तो था नहीं।

'वे भावमय हैं। आप दूसरी तुला पर सङ्कल्पित धन का कोण प्रतीक भी धरेंगे तो वह अपना सम्पूर्ण भार देगा।' देवर्षि ने समझाया।

रानियाँ निराभरण हो चुकी थीं। किसी यादव के शिविर में तथा शरीर पर एक आभूषण नहीं बचा था। पाण्डवशिविर ही नहीं, दूसरे मित्र राजाओं के शिविर भी उस तुला पर रिक्त हो चुके थे। इतने पर भी श्रीकृष्ण जिस पलड़े पर थे, वह भूमि पर स्थिर धरा था।

'सम्पूर्ण राज्य एवं राजकीय कोष।' एक साथ महाराजा उग्रसेन तथा चक्रवर्ती सम्राट् युधिष्ठिर ने अपने मुकुट तुला पर धर दिया। तुला किञ्चित् भी तो हिली होती! उसमें तो क्षुद्रतम कम्पन भी नहीं हो रहा था। केवल स्थिर खड़े थे एक ओर पितामह भीष्म और दूसरी ओर पाण्डव-सम्राज्ञी द्रौपदी। दोनों के नेत्र झर रहे थे। दोनों के कण्ठों से प्रायः गद्‌गद स्वर साथ ही फूटे- 'भक्तवत्सल!'

× × ×

वत्से!' माता देवकी ने रूक्मिणी जी की ओर देखा।

'मातः! मैं उनकी चरण-चर्चिका हूँ।' उन श्रीस्वरूपा ने मस्तक झुका लिया। 'मैं अपने सम्पूर्ण वैभव के साथ स्वयं भी तुला पर बैठ जाऊँ- निखिल ब्राह्माण्ड का वैभव अपने नायक की समता तो नहीं कर सकेगा।'

'तुम? माता ने श्रीहलधर की ओर देखा।

'यह ठीक कि श्रीकृष्ण मेरे अनुज हैं।' श्रीसङ्कर्षण ने माता को कोई आशा नहीं दी। 'लेकिन इस समय तुला में उनका समत्व करने-जैसा साहस मैं अपने में नहीं पाता हूँ।'

'बेटी! ऐसे अवसर पर सम्मान रखना चाहोगी तो काम चलेगा नहीं।' माता रोहिणी ने सत्यभामा के कंधे पर हाथ रक्खा। 'वज्रराज के शिविर में जाओ। श्याम प्रेम के मूल्य में बिकता है और वहाँ प्रत्येक इसका धनी है। किसी को भी ले आओ वहाँ से।'

आश्चर्य की बात नहीं थी कि व्रज के शिविर से कोई अब तक वहाँ आया नहीं था, श्रीकृष्ण को सहन नहीं था कि व्रज के जन द्वारिका के शिविर में आकर किसी की भी उपेक्षा देखें। उन्होंने बाबा से आग्रह कर रक्खा था- 'द्वारिका के जिस किसी को श्रीचरणों का दर्शन करना हो, उसे यहाँ आना चाहिए। केवल विशेष रूप से आमन्त्रित होने पर ही यहाँ का कोई भी उस शिविर में जायगा।'

व्रज के लोग तो कन्हाई के संकेत पर प्राण देने वाले। उन्होंने देखना भी नहीं चाहा कि द्वारिका के शिविर का स्वरूप कैसा है। सत्यभामा जी तो इस समयविह्वल हो रही थीं। वे रथ में बैठीं और रथ जब व्रजराज के शिविर के सम्मुख रूका, उन्होंने यह भी नहीं देखा कि उन श्रीकृष्ण-पट्टमहषीको कौन, कैसे देख रहा है। रथ से उतरकर दौड़ी वे और सीधे वृषभानुजी के शिविर में कीर्तिकुमारी के चरण में सिर रख दिया। उन्होंने- बहिन ! शीघ्र चलो। इस विपत्ति से मुझे बचा लो।

'चलो महारानी! श्रीवृषभानुनन्दिनीको बड़ा सङ्कोच हुआ। बड़ी त्वरा से सत्यभामाजी को उठाकर अङ्कमाल दी। यह भी नहीं पूछा कि विपत्ति क्या है और कहाँ चलना है उन्हें। जैसे बैठी थीं, वैसे ही वे उठ खड़ी हुईं। उनकी दो सखियों ने स्वतः उनका अनुगमन किया; क्योंकि उन्होंने तो किसी को कोई संकेत तक नहीं किया। रथ पर ही उन्होने सुना था विपत्ति का रूप कैसा है।

'वत्से !' माता रोहिणीने दौड़कर अङ्क में ले लि था रथ से उतरते ही। 'तू ही आ गयी?'

संकेत से ही उन श्री रासेश्वर ने सत्यभामा जी को सूचित कर दिया कि तुला के दूसरे पलड़े पर जो कुछ भी अब तक रक्खा गया है, उसे उठा लिया जाना चाहिए। वे माता देवकी की पद-वन्दना करने बढ़ी तो तुला रिक्त होने लगीं। वहाँ उस सामग्री का रखना व्यर्थ तो सिद्ध ही हो चुका था।

अपने कण्ठ में पड़ीवनमाला से एक तुलसीदल निकाला उन्होंने। नमित-मुख बढ़ीं वे और वह दल कितने स्नेह, कितने सुकोमल ढङ्ग से तुला पर उन्होंने धरा- कोई अतिशय श्रद्धालु अपने आराध्य पर भी कदाचित् ही ऐसे दलार्पण कर पाता हो। तुलसीदल तुला पर चढ़ा और तुला का दूसरा पलड़ा उठ गया। तुला संतुलित-सर्वथा संतुलित हो गयी।

क्षणार्ध लगा इसमें। देवर्षि ऐसे आतुर होकर बढ़े, मानो कोई अन्य उस दल को उठा लेगा- ऐसा भय हो उन्हें। उस दल को उठाकर उन्होंने अपनी जटाओं में छिपा लिया। रोम-रोम पुलकित, स्वेद-स्नात स्वर्णाङ्ग, अजस्र-स्रवित लोचन, वे उद्दाम नृत्य करने लगे थे; किंतु गद्‌गद स्वर से वाणी फूट नहीं रही थी।

'आपको एक गोपकन्या ने वञ्चित किया; किंतु मैं ऐसा नहीं होने दूँगी।; देवर्षि

कुछ स्वस्थ हुए तो बड़े सम्मान, बड़े स्नेह से प्रेमहास्यपूर्वक श्रीराधा की ओर देखती हुई सत्यभामा जी ने नारदजी से कहा। 'आप जो रत्नादि लेना चाहे....।'

'किसने वञ्चित किया देवि? किसको वञ्चित किया?' देवर्षि बीच में ही बोल उठे। जटा में से वह दल उन्होंने एक बार निकालकर देखा और फिर जटा में रखते हुए कहने लगे- 'इन कृपामयी के द्वारा कभी कोई वञ्चित हो सकता है? इनके श्रीचरणों की छाया से माया की छलता दूर भागती है। यह तुलसी-वृन्दा, यह तो स्वयं इनका स्वरूप हैं और ये श्रीकृष्ण से नित्य अभिन्नरूपा नारद को श्रीकृष्ण मिले थे। चिरचञ्चल वे, उनकी स्थिरता का आश्वासन तो इन्होंने दिया। अब नारद को राधा-कृष्ण दोनों मिले और अब वे चपल चले तो जायँ!'

देवर्षि नारद फिर प्रेमविभोर होकर उन्मद नृत्य करने लगे थे।

(हरवंश तथा पद्मपुराण की एक कथा के आधार पर)

❑❑

कर्त्तव्यनिष्ठा

'हरिहर!'

'गुरुदेव!'

'क्षत्रिय उसे कहते हैं जो आर्तजनों की रक्षा करे!'

'हम क्या कर सकते हैं?'

'मन्दिर ध्वस्त हो रहे हैं। कुलवधुएँ नित्य अपमानित हो रही हैं और क्षत्रिय अपने प्राण बचाने में ही अपना पराक्रम मान बैठे हैं।'

'आपकी आज्ञा होने पर हम दोनों भाई कहीं भी मस्तक उत्सर्ग कर सकते हैं गुरुदेव!'

'इस बात को भूलना मत!'

'गुरुदेव का आदेश विस्मृत हो, इससे पहिले तो मृत्यु का वरण श्रेयस्कर है।'

'तब आज ही विजय मुहूर्त है।' आकाश की ओर बड़ी वेधक दृष्टि से देखते हुए उन विद्या की साक्षात् मूर्ति तपोधन ने आदेश दिया- 'यहीं पड़ेगी विजयनगर की नीवँ।'

'विजयनगर?'

'विजयनगर केवल नगर नहीं रहेगा। विजयनगर राज्य की स्थापना करनी है तुम्हें।' त्रिकालदर्शी की गम्भीरता से आचार्य माधव आदेश दे रहे थे- 'अपने खड्ग कोप से बाहर करो और तुम स्वतन्त्र नरेश हो। बुक्का! विजयनगर-नरेश हरिहर को पहला अभिवादन तुम्हारा मिलेगा।'

'कुछ नहीं था वहाँ। एक सपाट भूमि थी निर्जन। होयसल राज्य के सरदार दो सगे भाई हरिहर और बुक्का को बिना कुछ बताये उनके गुरु-दक्षिण भारत के सर्वज्ञ माने जाने वाले तपोमूर्ति आचार्य माधव अपने साथ वहाँ ले आये थे।

'विजयनगर-नरेश की जय!' भूमि में से केवल रज उठाकर गुरुदेव ने शिष्य के मस्तक पर तिलक कर दिया।

'विजयनगर-नरेश की जय!' बुक्का ने बड़े भाई के पैरों के पास तलवार रखकर

घुटनों के बल बैठकर अभिवादन किया।

'सेनापति! शस्त्र उठा लो। आचार्य ने आज्ञा दी। उनकी आज्ञा का पालन हो रहा था; किंतु बच्चों के खेल जैसा था यह आज्ञा-पालन एक निर्जन स्थान पर तीन व्यक्ति इस प्रकार का नाटय कर लें, इसका क्या अर्थ हो सकता है। लेकिन शिष्यों को अपने गुरु में अगाध श्रद्धा थी। शिष्यों की बात तो दूर- दक्षिण के यवन शासक भी इसका समाचार पा लेते तो उनको रात्रि में निद्रा नहीं आती। आचार्य माधव जो कहते हैं, वह होता है- यह सन्देह कैसा? वह तो हो चुका माना जाता है दक्षिण भारत में।

'राजन्!' आचार्य ने गौरव भरे स्वर में कहा- 'मैं वर्षों से इस मुहूर्त की प्रतीक्षा कर रहा था और इस भूमि की शोध में था।'

'गुरुदेव की कृपा महान् है।' हरिहर ने मस्तक झुका लिया।

'लेकिन राज्य की प्रतिष्ठा राज्य के लिए नहीं है। तुम अपनी बात स्मरण रखना।' गुरूदेव की गम्भीर स्वर में चेतावनी दी- विजयनगर तभी तक रहेगा, जब तक वह उत्पीड़ितों को आश्रय देता रहेगा। धर्म की रक्षा के लिए मस्तक देने को उसका शासक समुद्यत रहेगा। वह स्वयं आततायी एवं उत्पीड़क न बन जायगा।'

'आततायी क्रूर विधर्मी अत्यन्त प्रबल हो रहे हैं।' हरिहर के भाल पर चिन्ता की रेखाएँ आयीं।

'तुम्हें मस्तक देना है धर्म एवं उत्पीड़ितों की रक्षा के लिए।' गुरुदेव कहते गये- गौओं की, ब्राह्मणों की, मंदिरों की और सतियों की मर्यादा-रक्षा के लिए तुम्हें मस्तक देने को उद्यत रहना है। मनुष्य उद्योग कर सकता है और तुम्हें उद्योग में प्रमाद नहीं करना है।'

हरिहर ने मस्तक झुकाया। आचार्य माधव ने बुक्का की ओर मुख किया- 'सेनापति!'

'अपने नरेश के लिए और अपने गुरुदेव के लिए मेरा मस्तक सदा प्रस्तुत है।' बुक्का ने भी सिर झुका दिया।

'अपने नरेश को तुम्हें नरेश बनाना है।' आचार्य ने आज्ञा दी- 'मत देखो कि तुम्हारे सैनिक संख्या में कितने कम हैं। माधव का आशीर्वाद ही नहीं, स्वयं माधव तुम्हारे साथ रहेगा।'

कहने को बहुत कुछ नहीं रह जाता। दक्षिण के यवन शासकों ने कल्पना तक नहीं की थी कि होयसल राज्य के दो सरदारों की गिनी-चुनी सैनिक टुकड़ी कोई आक्रमण कर सकती है; किंतु बुक्का के मुट्ठी भर सैनिक जिधर निकले, विजयश्री मानो उन्हें वरण करने को पहले प्रस्तुत थी। शत्रु के सैनिकों की कई गुनी संख्या भागती दीखने

लगी और अन्त में कृष्णा से कावेरी के मध्य का प्रदेश विजयनगर नरेश के सिंहासन की अभय छाया पाकर आततायियों के अत्याचार से सुरक्षित हो गया।

'धर्म की रक्षा! देवमन्दिरों की रक्षा! कुलनारियों के सतीत्व की रक्षा! आर्त प्रजा की रक्षा!' विजयनगर राज्य की प्रतिष्ठा राज्य के लिए हुई होती तो बात समाप्त हो गयी थी; लेकिन आचार्य माधव की चतु:सूत्री विजय नगर का प्रेरणा-मन्त्र था। 'मस्तक देना है। मस्तक देने को उद्यत रहना है!' वहाँ तो कर्त्तव्य पुकार रहा था अहर्निशि।

× × ×

[2]

'गुरुदेव!'

'मेरा कर्त्तव्य मुझे पुकार रहा है राजन्!

'विजयनगर ने क्या अपराध किया है? आचार्य के एकान्त एवं त्याग में कब बाधा दी है इस सेवक ने? हम सब किसके चरणों में प्रणिपात करके प्रेरणा प्राप्त करेंगे?'

'एकमात्र जगदीश्वर ही प्रणम्य एवं शरण्य हैं राजन्!' आचार्य माधव जब कोई निश्चय कर लेते हैं। हिमालय के समान स्थिर होता है उनका निश्चय । उन्होंने संन्यास-ग्रहण का निश्चय कर लिया है। विजयनगर की प्रजा- हिंदू और यवन- सब अनाथ की भाँति रो रहे हैं। महाराज हरिहर हाथ जोड़े खड़े हैं। लेकिन जो त्रिलोकी के वैभव के त्याग का सङ्कल्प कर चुका हो, उसे क्या मोह?

'यहाँ गुरुदेव को क्या विघ्न होता है?'

'ब्राह्मण यदि ब्राह्मण हो तो उसे कहीं कोई विघ्न नहीं होता।' आचार्य ही है जो क्रन्दन करती भीड़ के मध्य भी मुसकरा सकते हैं। विजयनगर का वैभव जिसके आशीर्वाद से एकत्र हुआ और जिसके संकेत पर चलता है, वह राजगुरु, महामन्त्री, राज्य का सर्वेसर्वा- लेकिन वह कच्ची दीवारों से घिरी, तृणों से आच्छादित कुटीर में गोबर से लिपी वेदी पर कुशासन बिछाकर ग्रन्थों के अम्बार में निमग्न रहने वाला तपस्वी-भला ऐसे त्यागमय तपो मूर्ति ब्राह्मण के लिए कहीं कोई विघ्न हो कैसे सकता है?

'हम सबका हो कोई अपराध?'

'ब्राह्मण कृपा करना जानता है, अपराध देखना नहीं।' आचार्य ने मस्तक पर अभय कर रक्खा- 'त्याग ब्राह्मण का सहज स्वरूप है। मेरे-जैसा ब्राह्मण त्याग न करें तो समाज आदर्श किससे प्राप्त करेगा।'

'गुरुदेव ने संग्रह तो कभी किया नहीं।'

'तुम जिसे संग्रह कहते हो, वह तो भोग है। ब्राह्मण के लिए भोग तो सदा निषिद्ध हैं।' आचार्य आश्वासन दे रहे थे- 'मेरा शरीर जीर्ण हो रहा है। इस झोंपड़ी का मोह मुझे छोड़ना चाहिए। मैं कहीं जाता तो हूँ नहीं। श्रृंगेरी तुमसे कितनी दूर हैं। मैंने अब तक तुम्हें सम्मति ही तो दी है। संन्यासी किसी को भी सत् सम्मति एवं धर्म-प्रेरणा देने से कब अस्वीकार करता है।'

'गुरूदेव!'

'कातर मत बनो!' आचार्य कहते गये- मैंने अब तक गृहस्थ ब्राह्मणों के लिए शास्त्र का सङ्कलन किया है; किंतु परम दान है ज्ञान का दान और जो अध्ययन शील होकर ज्ञान का दान नहीं करता, वह ज्ञान खल कहा जाता है।'

'श्रीचरणों ने अब तक ज्ञानदान ही किया है।' नरेश ने चरण पकड़े- 'वह ज्ञान यज्ञ अखण्ड चलता रहे, इस प्रकार की प्रत्येक सेवा...।'

'ज्ञान सेवा-सम्मति या सहायता नहीं चाहता।' आचार्य ने बीच में ही रोक दिया। 'अब तक मैंने कर्मशास्त्र के आवश्यक अङ्गों का सङ्कलन किया है। ज्ञान शास्त्र का सङ्कलन एवं उपदेश वही कर सकता है जो जगत् के मिथ्यात्व का अनुभव करे। जब आचार वाणी से विपरीत होता है, पुरुष मिथ्यावादी कहलाता है।'

'हम सब.....!' भावरूद्ध कण्ठ बोल नहीं सका।

'मुझे मेरा कर्त्तव्य पुकार रहा है।' आचार्य ने आदेश के स्वर में कहा- 'संन्यास-ग्रहण के निश्चय में बाधा देना तब अपराध होता है, जब कोई अधिकारी न्यास का निश्चय कर चुका हो।'

'आशीर्वाद!' बड़ी कातर याचना थी। किसी में साहस नहीं था अधिक अनुरोध करने का।

'कर्त्तव्य का पालन स्वयं आशीर्वाद है!' आचार्य ने निरपेक्षभाव से कहा। संन्यास का निश्चय करके अब जैसे वे संसार से सर्वथा ऊपर उठ चुके थे- 'सफलता होगी या नहीं, यह मत सोचो। शुभ के लिए प्रयत्न सफल हो या असफल, यह कर्त्ता को पवित्र करता ही है।'

इतिहास जानता है कि आचार्य माधव संन्यास लेकर स्वामी विद्यारण्य हुए और उन्होंने संसार को उससे अधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थावली अपने इस आश्रम में भी दी, जितनी पूर्वाश्रम में दे आये थे। विजयनगर को उनकी प्रेरणा और आशीर्वाद सदा प्राप्त थे। वही आशीर्वाद- वहीं कर्त्तव्यनिष्ठा विजयनगर सिंहासन पर प्रतिष्ठित रही- तब भी प्रतिष्ठित रही जब हरिहर द्वितीय ने मैसूर, त्रिचनापल्ली और काञ्चीतक विजयनगर की सीमा विस्तृत कर दी।

राजा आये और गये। देवराय द्वितीय की प्रचण्ड वाहिनी ने विवश किया पीगू (ब्रह्मा) और लङ्कानरेश को कि वे विजयनगर को वार्षिक कर दें। कृष्णदेवराय सिंहासनासीन हुए और कलिङ्ग (उड़ीसा) नरेश को बार-बार युद्ध में पराजित होकर अपनी कन्या का विवाह उनसे करना पड़ा।

ग्यारह लाख सैनिकों की विशाल वाहिनी, कन्याकुमारी से बंगीय समुद्र तक का विशाल साम्राज्य; किंतु विजयनगर का विदेशियों को चकाचौंध में डाल देने वाला वैभव क्या वैभव के लिए था?

'धर्म की रक्षा! मन्दिरों की रक्षा! कुल-नारियों के सतीत्व की रक्षा! आर्त प्रजा की रक्षा!' जाग्रत् मन्त्र था विजयनगर का और वहाँ सिंहासन पर राजदण्ड-ग्रहण के स्थान में नवीन नरेश खड्ग लेकर दीक्षा ग्रहण करता था- 'मस्तक देने को उद्यत रहना है!'

× × ×

[3]

'मैंने समझा था मैं बहिश्त में आ गया हूँ।' उस दिन फारस का राजदूत अब्दुर्रज्जाक आया था विजयनगर में। नगर को देखकर वह ऐसा हक्का-बक्का रह गया था कि उसे राजसेवकों को सँभालना पड़ा। आज भी उसकी लगभग वही दशा है। वह महाराज कृष्णदेवराय का अतिथि होकर आया है राज्य-भ्रमण-यात्रा में और राजशिविर को देखकर आश्चर्य से दिङ्मूढ़ बन गया है।

'पाँच-पाँच खण्डों के तम्बू-पूरा महल, दरबार, घरों-की कतारें कपड़े के तम्बू में बन सकती हैं।' उसने कभी नहीं सोचा था और उसकी कल्पना में ही यह बात नहीं आयी थी कि ये विशाल वस्त्रगृह आधी घड़ी में कैसे खड़े कर दिये गये। द्वारों पर बैठे कृत्रिम केहरी, भेड़िये, व्याघ्र-कक्षों में कूदते-से सजीव दीखते मृग, जहाँ-तहाँ उड़ने को पङ्ख फैलाये पक्षी- वह विदेशी नेत्र फाड़-फाड़कर देख रहा था। उसे लगता था - 'हिंदू बादशाह जादूगर है।'

'आप प्रसन्न तो है!' जब महाराज ने उसके कंधे पर हाथ रख दिया, वह चौंक पड़ा। भूमि तक झुककर उसने अभिवादन किया।

'हमारे कलाकारों ने ये मूर्तियाँ इसलिए बनायी हैं कि हमें यह स्मरण रहे कि मनुष्य भवनों में बन्द रहने के लिए उत्पन्न नहीं हुआ है।' महाराज कृष्णराय ने उसे बताया- 'मनुष्यों को वन में जाना है। इन पशु-पक्षियों के साथ मित्र की भाँति रहना है और समस्त जगत को बनाने वाले परमात्मा की आराधना करनी है।'

'ये बुत हैं? जानदार नहीं हैं ये?' उस विदेशी राजदूत ने महाराज की बात सुनी ही नहीं। सुनने की स्थिति में नहीं था वह।

'आप किसी को छूकर देख सकते हैं।' महाराज मुसकरा उठे।

'सचमुच!' एक को छूकर उसने देखा और भली भाँति देखकर बोला– 'अजीब है। अजीब हैं आप लोग।'

'हम लोग क्या अद्भुत हैं? महाराज प्रसन्न थे।

'हमारी कौम जहाँ जाती है, कब्रिस्तान बना देती है। खून, तबाही, जुल्म और आखिर कब्रगाह या खाक हुए शहर।' राजदूत के नेत्र सजल हो आये। 'मैंने सुना था विजय नगर हिंदूराज्य है। मुझे लगा– महज शाहीरकीव होने की वजह मुझे आने की इजाजत मिली है, मगर उस दिन आपके शहर में आकर मैं हैरान रह गया। मन्दिरों की गिनती नहीं। कोई कहता था– विजयनगर में चार हजार मन्दिर हैं और उन मन्दिरों के बीच–बीच में मस्जिदों की मीनार बड़े मजे से खड़ी हैं।'

'इसमें क्या विचित्र बात है?' महाराज कह रहे थे– 'मुसलमान भी मनुष्य है। उनका धर्म वे पालन करें, इसमें किसी को क्या बाधा हो सकती है। उनके लिए मस्जिदें राज्य ने बनवा दी हैं। प्रजा धर्मात्मा रहे, अपने धर्म का पालन करे, इसे देखना और इसकी सुविधा करना राज्य का कर्त्तव्य है। मुसलमान हमारी विश्वस्त प्रजा के अङ्ग हैं। हमारी सेना में उनकी पर्याप्त संख्या है। ऊँचे पदों पर हैं।'

'जब मैंने देखा कि नगर में राज, बढ़ई और मजदूर तक कानों में सोने के हीरे–मानिक जड़े गहने पहने काम कर रहे हैं, तभी समझ गया कि मैं दुनिया के सबसे खूबसूरत नगर में नहीं बल्कि फिरिश्तों की आबादी में आ गया हूँ।' राजदूत ने भाव भरे कण्ठ से कहा– 'लेकिन तब भी मैं होश में नहीं था। आज मैं होश में हूँ और जानता हूँ कि खुदा ने अपने खास मुरीदों को जमीन पर भेज रक्खा है और वे सब महज विजयनगर में आबाद हो गये हैं।'

'हम सब मनुष्य हैं। मनुष्य का कर्त्तव्य है सेवा।' महाराज ने बड़े सङ्कोच से राजदूत के प्रशंसा–वाक्य सुने।

'मैंने सुना है, जैसे राजदूत को कोई भूली बात स्मरण हो आयी– महज मुस्लिम राज्यों का मुकाबला करने के लिए विजयनगर की बुनियाद पड़ी है।'

'किसी जाति का विरोध करने के लिए नहीं।' महाराज गम्भीर हो गये– 'अत्याचार और अन्याय का विरोध करके त्रस्त मानवता को परित्राण देने के लिए।'

'आप यह कह सकेंगे?' राजदूत ने प्रश्न स्पष्ट किया– 'आज हर कौम खुदगर्ज और जुल्म परस्त होती जा रही है। आप–जैसे फरिश्ते कितने हैं रूये जमीं पर?'

'हम नहीं कर सकेंगे, यह हम जानते हैं। हम जानते हैं हमारा प्रयत्न व्यर्थ होने के लिए है।' महाराज के स्वर में तनिक भी निराशा नहीं थी– 'हमारे शास्त्र कहते हैं कि यह कलियुग है। इस युग में अन्याय, अनाचार, असंयम बढेंगे ही। लेकिन इससे हुआ क्या? हम शुभ के लिए प्रयत्न करते हैं, यही पर्याप्त है हमारे लिए। हम अपना कर्त्तव्य करेंगे।'

'फरिश्ते हैं जनाब।' राजदूत ने फिर भूमि तक झुककर अभिवादन किया।

'मनुष्य है हम। जिसमें कर्त्तव्य निष्ठा नहीं, वह तो मनुष्य ही नहीं।' महाराज का स्वर बड़ा गम्भीर था– 'भारतीय मनुष्यों ने युग-युग में कर्त्तव्य पालन का आदेश प्राप्त किया है।'

महाराज के मन में उनका आदर्श वाक्य घूम रहा था– 'मस्तक देना है। मस्तक देने को उद्यत रहना है। कर्त्तव्य पर बलि– जीवन की इससे बड़ी भी कोई सफलता है?'

❑❑

चेतन कहाँ है?

'कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं।'

'रॉविन! हल्लो रॉविन! मैं सफल हो गया। मैंने चेतन को पा लिया।' टेलीफोन पर इतने उच्च स्वर से चिल्लाने की आवश्यकता नहीं होती, यह बात महान् वैज्ञानिक डा० एमर्सन न जानते हों, यह तो सोचना ही मूर्खता होगी। लेकिन दार्शनिकों की भाँति वैज्ञानिक भी बालक ही होता है। वह भी तो चिन्तनशील है। अपनी तल्लीनता में वह संसार, के नियम और शिष्टाचार को तो क्या, अपने आपको भी भूल जाता है। उसका रोष और उसकी उत्फुल्लता- दोनों में वह बालक के समान निर्द्वन्द्व रहता है।

'तुमने ट्यूब के प्रोटीन कणों को देख लिया?' दूसरी ओर से बड़ा गम्भीर स्वर आ रहा था- 'लेकिन ठहरो! मुझे आने दो। इस समय तुम अपने-आप में नहीं हो, ट्यूब टूट सकता है और तब तुम्हारा सब परिश्रम....नहीं, रुको! मेरे आने से पहिले ट्यूब को छूना मत।'

वैज्ञानिक जब सफल होता है, तब बालक के समान नाच उठता है। उसे पता नहीं रह जाता कि वह अपनी प्रयोगशाला में है और उसके उछलने-कूदने से पता नहीं, कितना विनाश हो सकता है। सफलता के इस आवेग में अनेक महान् वैज्ञानिकों ने अपनी बड़ी-बड़ी हानियाँ कर ली हैं। डा० एमर्सन को ठीक समय पर सावधान किया गया था। वे टेलीफोन रखकर अपनी गद्देदार कुर्सी पर धूप में बैठ गये। लेकिन उनके मुख के भाव स्पष्ट कह रहे थे कि उन्हें यह रोकना अच्छा नहीं लगा है। उनके नेत्रों में बालकों के समान भोला कुतूहल था और अपना परीक्षण-नलिका पर ही उनके नेत्र लगे थे।

'रॉविन! रॉविन!' बाहर मोटर रुकने का शब्द होते ही डा० एमर्सन इस प्रकार दौड़े जैसे छोटा बच्चा कोई पुष्प या पत्ता पा जाने पर माता को दिखाने दौड़ता है। वे वृद्ध एवं प्रतिष्ठित गम्भीर वैज्ञानिक- लेकिन इस समय उनका दौड़ना तथा उत्साह देखने योग्य था। उनका चश्मा मेज पर ही छूट गया और उज्ज्वल अलकें ललाट पर झुक आयीं। अपने मित्र के बढ़े हुए हाथ को उन्होंने देखा ही नहीं, वे तो उसके गले में दोनों भुजाएँ डालकर लिपट गये।

'तुमने कुछ नहीं पाया है। व्यर्थ फूलो मत!' रॉविन का उद्देश्य अपने इस मित्र के उत्साहातिरेक को कुछ घटा देना था, जिसमें कोई दुर्घटना न हो और परीक्षण-नलिका का ठीक निरीक्षण हो सके 'तुम्हें चेतन या जीवन तत्त्व नहीं मिला है। भूल में हो तुम। तुमने पाये हैं प्रोटीन के कुछ निर्जीव कण, जीवन-तत्त्व का देह या आहार जो भी संज्ञा तुम उसे देना चाहो।' 'क्या?' डा० एमर्सन का उत्साह सचमुच समाप्त हो गया। 'मेरे प्रोटीन कण-सजीव नहीं हैं?'

'यह तो हम दोनों अभी देखेंगे।' रॉविन ने कमरे में आकार परीक्षण-नलिका उठा ली। उन्हें भी दुःख ही हुआ अपनी बात ठीक होती देखकर। बिना कुछ कहे उन्होंने डा० एमर्सन को संकेत किया नलिका देखने का।

'हे भगवान' बड़ी दयनीय स्थिति होती है जब एक वैज्ञानिक अपने किसी मुख्य प्रयोग में असफल होता है। आप कल्पना कर नहीं सकते। महीनों रात-दिन एक करके, भूख-प्यास भूलकर, संसार की समस्त बातों से अपना सम्बन्ध-विच्छेद करके प्रयोगशाला में अपने को बंदी बना ले, बिना थके, बिना सोये लम्बी अवधि तक नाना प्रकार के रासायनिक पदार्थों को उठाने, धरने, मिलाने, उबालने तथा अनेक प्रकार की क्रियाओं में लगा रहे; दीर्घकालीन संयम, सावधानी और प्रतीक्षा का फल जब उसे मिले निराशा- डाक्टर एमर्सन दोनों हाथों पर सिर धरे चुपचाप बैठे थे।

'निराश होने से क्या होगा मेरे मित्र!' रॉविन की भी समझ में नहीं आ रहा था कि क्या कहकर वे अपने मित्र को आश्वासन दें।

'तुमने कैसे बिना देख अनुमान कर लिया कि मेरे प्रोटीन निर्जीव है?' डा० एमर्सन ने अपने मित्र की ओर जिस दृष्टि से देखा, उसमें सन्देह नहीं था, यह कहना कठिन है।

'बड़ी सीधी बात है।' रॉविन ने लम्बी श्वास ली- 'तुम जानते हो कि मैं भी अपने क्षेत्र में लगभग यही प्रयोग कर चुका हूँ। वनस्पति के प्रोटीन मेरी नलिका में बनाने में भी सफल हो गया था; किंतु वे निर्जीव प्रोटीन निकले थे।

'ओह!' मनुष्य में अनेक बार दुर्भावना भी कुछ स्फूर्ति दे जाती है। मित्र पर सन्देह करके एमर्सन में जो मस्तक उठाने की शक्ति आयी थी, सन्देह नष्ट होते ही वह भी चली गयी। उनका मस्तक फिर झुक गया। उनका मुख इतना विवर्ण हो गया था कि देखकर डर लगता था।

'हमें प्रारम्भ से पुनः विचार करना चाहिये।' रॉविन ने धैर्य देने का प्रयत्न किया- कहीं प्रारम्भ में ही भूल हो रही है।'

'ठीक!' जैसे डा० एमर्सन को कुछ सूत्र मिल गया। वैज्ञानिक के लिये घोर निराशा से फिर जागरूक हो जाना और पहिले की भाँति प्रयोग में जुट पड़ना एक

साधारण बात है। वह इसका अभ्यस्त होता है। 'हम पुस्तकालय में बैठेंगे।'

दोनों वैज्ञानिक मित्र प्रयोगशाला से अपने निजी पुस्तकालय में चले आये।

× × ×

[2]

डाक्टर एमर्सन प्राणिशास्त्र के महान विशेषज्ञ हैं। उन्होंने चिकित्सा-शास्त्र को अनेक अद्‌भुत उपहार दिये हैं। लेकिन उनकी खोज का मुख्य विषय जीवन-तत्त्व है। चेतन क्या है? इस प्रश्न का वे व्यावहारिक समाधान चाहते हैं। दूसरे सभी वैज्ञानिकों की भाँति विकासवाद में उनका विश्वास है। सृष्टि में किसी विशेष परिस्थिति में जीवनतत्त्व का अविर्भाव जड़ पदार्थों से ही हुआ, यह उनकी मान्यता है। लेकिन वैज्ञानिक मान्यता पर तो नहीं चला करता। मान्यता में निहित सत्य जब तक उसकी प्रयोगशाला में अपने को प्रकट न कर दे, इसे वैज्ञानिक-सत्य कैसे माना जा सकता है।

डा० एमर्सन ने पहले कुत्तों तथा दूसरे पशुओं के भ्रूण लेकर उन्हें प्रयोगशाला में पालन किया कुछ घण्टों के गर्भ को निकालकर उससे जीवित स्वस्थ पशु प्राप्त करने में उन्हें सफलता मिली, वह तो सभी जानते हैं। कुछ घण्टे ही क्यों- परीक्षण-नलिका में ही पशु के वीर्य एवं मादा के रज आदि उपकरणों को एकत्र करके जीवित पशु-शावक पाया जा सकता है, उनके इस सिद्धान्त को भी वैज्ञानिकों ने स्वीकार कर ही लिया है।

जीवन-तत्त्व कैसे उत्पन्न होता है? बड़े परिश्रम से यह शोध पूर्ण हो गयी है कि पृथ्वी की किस प्रारम्भिक अवस्था में, किस प्रकार के जलवायु में, किन तत्त्वों के संयोग से जीवन तत्त्व व्यक्त हुआ होगा। बड़ी सावधानी से गत तीन वर्षों से डाक्टर एमर्सन इसी शोध में लगे हैं। अपनी प्रयोगशाला में उन्होंने प्रकृति की वह प्रारम्भिक अवस्था, वही जलवायु, वही वातावरण उत्पन्न कर लेने में सफलता प्राप्त कर ली। अपनी परीक्षण-नलिका में वे उन तत्त्वों को एकत्र कर सके, जिनके मिलने से जीवन-तत्त्व के व्यक्त होने की सम्भावना है।

डाक्टर रॉबिन मित्र हैं। डाक्टर एमर्सन के। उनकी ख्याति यदि डॉ० एमर्सन से अधिक नहीं है तो कम भी नहीं है। वे वनस्पति-विज्ञान के विशेषज्ञ हैं और उन्हें भी जीवन-तत्त्व की ही शोध की धुन है। यह दूसरी बात है कि उनके प्रयोग जीवित प्राणियों के माध्यम से न होकर लता-पौधों के माध्यम से चलते हैं। 'प्रथम वनस्पति-कण कैसे उत्पन्न हुआ?' यही उनकी भी समस्या है।

अन्तर इतना है कि लगभग एक-सा वातावरण अपनी प्रयोगशाला में निर्मित करके भी डा० रॉबिन लगभग एक महीने पहले सफल या विफल, आप जो कहना चाहें, वह हो गये- अपने परिणाम पर पहुँच गये और उसके मित्र डॉक्टर एमर्सन को एक महीने बाद उसी परिणाम पर पहुँचना पड़ रहा है।

'प्रोटीन ही जीवन-तत्त्व है, यह मानना भूल है।' रॉबिन ने कहा- 'वह जीवन तत्त्व का वाहक या उसका आहार मात्र है।'

दोनो ही वैज्ञानिक अपनी-अपनी प्रयोगशाला में, अपने प्रयोग-नलिका में नवीन प्रोटीन कण बनाने में उत्पन्न करने में सफल हो गये थे; किंतु उनके द्वारा निर्मित वे कण सजीव नहीं थे। वे केवल निर्जीव कण थे और उन्हें बाहर डाल दिया जाता तो सरलता से वे चींटी या दूसरे किसी सजीव प्राणी का आहार बन सकते थे।

'किसी जड़-तत्त्व में चेतननहीं है। किसी जड़ तत्त्व के किसी भी प्रकार के मिश्रण से किसी दशा में चेतन अर्थात् जीवन-तत्त्व की उत्पत्ति नहीं हो सकती।' अपने पुस्तकालय में डा० एमर्सन ने एक बड़ी पुस्तक बंद करते हुए कहा- 'जीवन-तत्त्व को उत्पन्न किया जा सकता है, यह मान्यता ठीक नहीं है। हमारा काम अब केवल यह रह जाता है कि जीवन-तत्त्व है क्या? चेतन इन जड़-तत्त्वों से ठसाठस भरे जगत् में कहाँ रहता है? उसके व्यक्त होने के नियम क्या हैं?'

'अब तुम्हें दार्शनिक बन जाना चाहिए।' रॉविन हँस पड़े, 'तुम यह क्यों भूलते हो कि चेतना यदि स्वतन्त्र तत्त्व है तो उसमें इच्छा एवं बुद्धि भी हो सकती है। उसे तुम अपने परीक्षण-नलिका में आने के लिए विवश नहीं कर सकते। फिर तो उसकी शोध के लिए कदाचित् तुम हिमालय की किसी कन्दरा में बैठना पसन्द करोगे।'

'धन्यवाद मित्र !' डा० एमर्सन उछल पड़े - 'सचमुच भारत की सहायता के बिना हम चेतन की शोध नहीं कर सकते। तुम मेरे साथ चलना अस्वीकार नहीं कर सकते। हिमालय से अधिक उपयुक्त स्थान तुम्हारी विचित्र घासों के मिलने और उन पर प्रयोग करने का दूसरा नहीं हो सकता।'

× × ×

[3]

'जीवन-तत्त्व क्या है?' दोनों प्रसिद्ध वैज्ञानिकों को भारत आने में कोई कठिनाई नहीं होनी थी। वे कोई राजनीतिज्ञ नहीं थे कि भारत-सरकार यहाँ उनके पीछे गुप्तचर लगा रखती। उनकी सुविधा की पूरी व्यवस्था की गयी थी; किंतु जब उन्होंने सब प्रकार

की सुविधा सहायता अस्वीकार कर दी, उनको इच्छानुसार घूमने और जो रुचे-करने को स्वतन्त्र छोड़ दिया गया। वे कहाँ गये यह पता लगाने का उपाय नहीं था। गढ़वाल के पर्वतों में वे कहीं अदृश्य हो गये थे। किसे पता था कि वे गङ्गोत्री से भी आगे इरावती की धारा के सहारे चलकर भटक गये हैं। डॉ० रॉबिन अद्भुत गुल्म-लताओं की खोज में अपने मित्र को इधर ले आये थे। सहसा एक दिगम्बर तेजस्वी जटा-जूटधारी वृद्ध को देखकर दोनों उसके पास पहुँच गये थे।

'ऐसा क्या है जो जीवन-तत्त्व से भिन्न है?' वैज्ञानिकों ने भारत में पूरे दस महीने केवल इस बात में व्यतीत किये थे कि अपने काम के शब्दों को वे संस्कृत या हिंदी में बोलना सीख लें। उन्हें किसी भारतीय योगी से मिलना था और जहाँ सच्ची इच्छा होती है, सफलता वहाँ पहले से विजय माला लिये खड़ी रहती है। हिमालय के निविड़ गहन प्रदेश में मिलने वाले वलीपलित निर्द्वन्द्व दिगम्बर महापुरुष कोई अद्भुत योगी होंगे, यह वैज्ञानिकों को समझाने की आवश्यकता नहीं थी। उन्होंने महापुरुष से इधर-उधर की बातें न करके सीधा प्रश्न किया और उनसे भी परिचय आदि की जिज्ञासा न करके उत्तर में प्रश्न ही पूछा गया।

'ऐसी बात?' दोनों वैज्ञानिकों ने एक दूसरे की ओर देखा। नीचे से ठोस पत्थर की एक कङ्कडी उठाकर उन्होंने महापुरुष की ओर बढ़ा दी- 'यह एकदम निर्जीव है।'

'तुम क्या चाहते हो?' महापुरुष ने खुले हाथ पर कङ्कड़ी पड़ी रहने दी- 'एक छोटा पुष्प या एक जीवित प्राणी?' वैज्ञानिकों में एक वनस्पति-शास्त्री है और एक प्राणि-शास्त्री, सम्भवतः यह बात उनसे छिपी नहीं थी।

'एक धीरे चलने वाला कीड़ा?' वैज्ञानिकों ने फिर एक दूसरे का मुख देखा। भारतीय योगियों के चमत्कार की बात वे बहुत सुन चुके थे। उन्हें ऐसा प्राणी नहीं चाहिए था जो फुर्र से उड़ जाय।

'इसे मारना मत!' मुट्ठी बंद नहीं की गयी थी। हाथ पर रक्खी कङ्कड़ी का रङ्ग वही था; किंतु वह हिलने लगी थी और जब डा० एमर्सन ने अपने हाथ पर उसे लिया तो देखते रह गये एकटक। वह सचमुच एक सुकोमल कीड़ा था। जो बात प्रयोगशाला में वर्षों के श्रम से शक्य नहीं हुई, बिना किसी उपकरण के वह यहाँ कैसे साध्य हो सकी? चेतन कहाँ है? कहाँ से आया वह इसमें! वैज्ञानिकों ने बड़ी नम्रता से पूछा।

'चेतन कहाँ नहीं है? चेतन ही तो है यह पूरा विश्व।' महापुरुष एक बार रुके, सम्भवतः वे समझ गये कि उनकी बात दार्शनिक भले समझ ले, वैज्ञानिक के लिए समझना कठिन है। 'जहाँ तक इस कीड़े की बात है- यह एक जीव है। इसे इस कीड़े की योनि में जन्म लेना ही था। मैं इस बात को जान सकता हूँ, एक कङ्कड़ी का अपने

संकल्प से तुम्हारे निर्जीव प्रोटीन की भाँति प्रोटीन मय शरीर में बदल सकता हूँ और इस जीव को उस शरीर में आकर्षित कर सकता हूँ।'

'आपने कंकड़ी को ही जीव नहीं बनाया है?' वैज्ञानिकों ने साथ ही पूछा।

'नहीं भाई।' महापुरुष हँसे- 'नित्य तत्त्व बनाया जा सकता। चेतन तो नित्य तत्त्व है। लेकिन तुम यह भी समझ लो कि चेतन का संचालन, आकर्षण भी चेतन ही कर सकता है। तुम्हारे जड़ यन्त्र उसे किसी देह में आकृष्ट नहीं कर सकेंगे। यह तो चेतन के संकल्प से ही साध्य है।'

'आप क्या कहना चाहते हैं' वैज्ञानिकों ने स्पष्टीकरण चाहा।

'परमात्मा- मैं परमात्मा की बात कह रहा हूँ।' महापुरुष ने गम्भीर स्वर में बताया- 'वही परम चेतन है। वह चेतन जीवों का संचालक हैं, वही सर्वेश्वर है। वह परम चेतन कहाँ नहीं है?'

वैज्ञानिकों ने श्रद्धा से मस्तक झुका दिया। लेकिन जब उन्होंने फिर सिर उठाया, तब महापुरुष पास के सघन वन में कहीं अदृश्य हो चुके थे।

❑❑

सात्त्विकता विजयिनी है

'जय महाकाल!' लेकिन सुपुष्ट कण्ठ का गम्भीर जयघोष दीवालों में प्रतिध्वनित होकर भी जैसे शून्य रह गया। इतनी उदासीनता तो भगवान् महाकाल के मन्दिर में कभी नहीं रही है। मन्दिर का प्राङ्गण मालव-गणनायकों से भरा है- उन मालव-गणनायकों से, जिनकी पराक्रम परम्परा भारतीय बन्दियों के कण्ठ अहर्निश गान करते हैं। किंतु आज तो जैसे सब पर एक अद्‌भुत उदासी छायी है। तप्ताङ्गार-से तेजोमय मुख मानो भस्माच्छादित हो रहे हैं। सबने मस्तक झुका रक्खे हैं। आगत तरुण ने एक बार चारों ओर देखा। मुख्य द्वार से वह बिना किसी ओर देखे सीढ़ियों से उतरा था और मन्दिर तक के लिये भीड़ ने जो मार्ग छोड़ रक्खा है, उससे गर्भगृह तक आ गया था। भगवान् महाकाल को प्रणिपात करके उसने जयध्वनि की। 'क्यों एक कण्ठ भी उसका साथ नहीं दे रहा है? उसे आश्चर्य हुआ।

'जय महाकाल' घंटे को हाथ ऊपर करके उसने बजाया, फिर जयनाद; किंतु वही शून्यता मिली उसे। वह प्रणिपात करके गर्भ-गृह से बाहर आया। 'आज क्या मालव-गणनायकों में भगवान् का जयघोष करने जितनी भी श्रद्धा नहीं?' झुँझलाकर बिना किसी व्यक्ति-विशेष को लक्ष्य किये उसने पूछा।

'उज्जयिनी से बाहर के दीखते हो भाई! एक वृद्ध गणनायक ने कहा- 'आज इस उत्साह का क्या अर्थ है? मिहरकुल की सेनाएँ मथुरा से आगे बढ़ चुकी हैं। मालव गणनायक भगवान् महाकाल की शरण में श्रद्धा से ही एकाग्र हुए हैं, लेकिन हूणों के उद्धत आक्रमण के इस घोर काल में मन्दिरों में और कितने समय यह श्रद्धा-गद्‌गद जयघोष गूँजेगा- कौन कह सकता है।'

'मिहरकुल शिवभक्त है न?' तरुण ने आश्चर्य से वृद्ध की ओर देखा।

'सो तो है।' वृद्ध के स्वर में जैसे वेदना एवं व्यंग का तीक्ष्ण विष उतर आया- पर दुःखभञ्जक मालव-मुकुटमणि महाराज विक्रम ने जिनके चरणों में अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित की- वे भगवान् महाकाल म्लेच्छ की दया से अछूते रहेंगे, यही तो तुम कहना चाहते हो? हम जानते हैं, वह शैव है। शिव-मन्दिरों को वह ध्वस्त नहीं

करता। लेकिन मथुरा के मन्दिरों का वहाँ खँडहर खड़ा है । मार्ग के ग्राम-तक खँडहर हो गये। सतियों को सतीत्व की रक्षा के लिये कुएँ, सरोवरों और चिता की शरण लेनी पड़ी। अबोध शिशु पिशाचों के भालों पर उछाले गये। नृशंसा आततायियों का अपार समुदाय उमड़ा आ रहा है अवन्ती की ओर और उनका अग्रणी शैव है - इतना कहकर तुम संतोष करना चाहते हो। मालवा की पीठस्थ मूर्तियाँ अपने पावन पीठों पर प्रतिष्ठित न रहें, मालव सतियों का सतीत्व सुरक्षा के लिये चिता या कूपों की शरण देखे- मालव-नगर-ग्राम खँडहर बने खड़े हों तो ये मालव-सम्राट् महाकाल यहाँ क्या करेंगे? हम तो इनकी शरण आये हैं। इन्हीं से पूछे आये हैं। ये रहेंगे- पर इनका जयघोष भी होगा या बन्द किया जाय?'

'जयघोष तो होगा!' तरुण के नेत्र जैसे अङ्गार हो उठे- 'महाकाल का जयघोष न बन्द हुआ है और न होना है। भगवान् तो हमारे साथ हैं। हमारी भुजाएँ शिथिल हो जायँ- इस कायरता का दोष...।'

'मालव-योधा कायर हैं?' एक साथ क्रुद्ध शतशः कण्ठ गूँजे।

'मैं किसी शूर का अपमान नहीं करना चाहता! तरुण ने उसी निर्भय स्वर में उत्तर दिया- 'मालव-भूमि आज पुकार रही है। भगवान् महाकाल कदाचित् अपनी मुण्डमाल पूर्ण करना चाहते हैं। मलेच्छवाहिनी को उसकी धृष्टता का उत्तर देना ही है। शूर कायर नहीं हो तो संग्राम के लिए उसे सहायकों की अपेक्षा भी नहीं होती। सिंह कभी नहीं गिनता कि गीदड़ों का दल कितना बड़ा है।'

'तुम्हारा परिचय भाई?' वृद्ध ने बड़े सौम्य, स्नेहपूर्ण कण्ठ से पूछा।

'मेरा नाम यशोधर्मा और मैं मालव हूँ।' तरुण ने स्थिर धीर-भाव से कहा- 'शत्रु जब सीमान्त पदाक्रान्त करता हो, परिचय का अधिक अवकाश नहीं हुआ करता। मैं चलता हूँ। मुण्डमाली प्रभु मेरे साथ हैं- कोई और न भी हो तो। जय महाकाल!'

'जय महाकाल!' शतशः कण्ठ गूँजे और खड्गों नें अपनी चमक से दिशाओं को उज्ज्वल कर दिया 'हम सब तुम्हारे साथ चलते हैं।

जहाँ आत्मबलिका अदम्य उत्साह है, जहाँ निष्कलुष, निःस्वार्थ गौरवमय त्याग है, वहाँ अनुयायियों की अपेक्षा हो या न हो, उनका अभाव नहीं हुआ करता।

'जय महाकाल!' यशोधर्मा का अश्व उड़ा जा रहा था। उड़े जा रहे थे उसके पीछे शतशः अश्व और उनकी संख्या बढ़ती जाती थी- बढ़ती ही जा रही थी।

'जय महाकाल!' किसानों ने खेतों में हल पटक दिये और खड्ग सम्हाल लिया। कारीगरों ने अपने कला-कौशल को स्थगित कर दिया। मालव-माताओं एवं कुलबधुओं ने बिना पूछे पुत्रों एवं पतियों के भाल पर कुंकम का तिलक करके उनके

हाथों में तलवार पकड़ा दी। नगर के नगर, गाँव-के-गाँव सैनिक शिविर बन गये।

'जय महाकाल!' यूथ-के-यूथ घुड़सवार, दल-के-दल पैदल आते हैं- आते-जाते हैं। कोई नहीं पूछता- 'कहाँ जाना है? क्या करना है? सैन्यदल बढ़ता जा रहा है- बढ़ता ही जा रहा है। सहस्र-सहस्र बलिदानी शूरों का वह सैन्यदल। सम्पूर्ण मालवा सैनिकों का शिविर-ग्राम-ग्राम से मूँछे उमेठते, भाले उछालते खिले मुख उमड़ते चले आते मालवा-योधा- 'महाकालकी मुण्डमाला में अपना मस्तक सम्मिलित होगा क्या?' बड़ा अद्‌भुत उत्साह है।

'जय महाकाल!' गूँज रही हैं दिशाएँ। धूल से दिवस भी संध्या-सा म्लान बनता जा रहा है। मलेच्छ-वाहिनी ने इसे देखा और उसके पैर उखड़ गये। मगध के सम्राट् जिसके भय से निद्रा नहीं ले पाते वह मिहरकुल-लेकिन मिहरकुल कोई भी हो, वह मनुष्य ही है। वह सम्राटों के साम्राज्य ध्वस्त कर सकता है; किंतु यदि भगवान् महाकाल पृथ्वी के प्रत्येक तृण को सैनिक बनाकर खड़ा कर दें- मिहरकुल को लगा कि मालवा का तृण-तृण मनुष्य बन गया है और उसके विरुद्ध शस्त्र लेकर दौड़ पड़ा है।

'जादू! जादू है यह।' मिहरकुल ने चिल्लाकर कहा- 'किसी जादूगर ने करामात की है, लौटो! पूरी गति से पीछे लौट चलो।' मल्च्छ-वाहिनी लौट नहीं रही थी- भाग रही थी!

× × ×

[2]

'जादू! जादूगर यशोधर्मा!' मिहरकुल जब से पराजित होकर मालव-सीमान्त से लौटा है, पागल-सा हो गया है। वह एकान्त में भी बार-बार पैर पटकता है, मुट्ठियाँ बाँधता है और अपने होंठ दाँतों से काट लेता है। वह निसर्ग-क्रूर किसी कर्मचारी को कोड़े लगाने या गर्दन उड़ा देने की आज्ञा दे देना उसके लिये सदा साधारण बात रही है और इन दिनों तो वह उन्मत हो रहा है। 'मुझसे भी वह जादूगर विजय छीन ले गया।'

'महेश्वर की जय!' महामन्त्री ने प्रवेश किया। किसी प्रकार मिहरकुल का क्रोध शान्त न हुआ तो किसी भी दिन उनका मस्तक धड़ से पृथक् कर देने की वह आज्ञा दे बैठेगा। कोई उपाय होना चाहिये मिहरकुल के मन की दिशा बदलने का हूण-महामन्त्री ने उपाय सोच लिया, बड़े परिश्रम से साधन एकत्र करके वे स्वीकृति लेने आये हैं। हाथ जोड़कर बड़ी नम्रता से उन्होंने कहा- 'कश्मीर विश्व की सौन्दर्य-भूमि है। श्रीमान् की सेवा में इस सौन्दर्यभूमि की कुछ सर्वश्रेष्ठ सुन्दरियाँ....।'

'क्या बकते हो?' चिल्लाया मिहरकुल। 'गंदी नाली के कीड़ों के साथ तुम मिहरकुल की गिनती करना चाहते हो?' उसने इतने जोर से धूसा पटक दिया कि सामने रक्खी हाथी-दाँत की रत्न-जटित चौकी टूट गयी।

'मैं....।' महामन्त्री थर-थर काँपने लगे। उनके मुख से शब्द निकल नहीं पा रहा था।

'फूलों से खेलना बच्चों का काम है और फूलों को खाकर नष्ट कर देना गन्दे कीड़ों का काम।' मिहरकुल गम्भीर बना बोल रहा था - 'तुमने कभी मुझे विलासी देखा है? मैं महेश्वर का आराधक-प्रलयङ्कर महारुद्र का दास। ध्वंसविनाश मेरी उपासना है। भव्य नगरों के खँडहर मेरा यशोगान करते हैं। मैं महेश्वर श्री अङ्ग में जनपदों को श्मशान करके उनकी विभूति अर्पित करने की महती कामना हृदय में सेवित करता हूँ। वीणा की पिन्-पिन् और छुई-मुई सी लड़कियों की चें-चें, पें-पें मेरा मनोरञ्जन करेंगी? मेरा मनोरञ्जन!'

'श्रीमान्!' जैसे मन्त्र प्रेरित कोई कार्य हो रहा हो, मिहरकुल की दैत्याकार भयङ्कर आकृति। उपसचिव हाथ जोड़े कक्ष में आ खड़ा हुआ। केवल नेत्रों के संकेत से ही उसे अपनी बात कह देने की आज्ञा मिल गयी। उसने निवेदन किया- 'सामने के शिखर पर पूरे सत्ताईस महागज चढ़ाये जा चुके हैं। नीचे जनसमूह श्रीमान् की प्रतीक्षा कर रहा है।'

'ठीक!' मिहरकुल उठा खड़ा हुआ। 'मन्त्रि-श्रेष्ठ! मिहरकुल का मनोरञ्जन आपका मनोरञ्जन कर सके तो साथ चल सकते हैं।'

मिहरकुल का मनोरञ्जन-कदाचित् ही संसार में कोई इतना क्रूर आयोजन कभी करे। एक पर्वत की एक दिशा मिट्टी एकत्र करके ढालू बना ली गयी है और उस ढाल के सहारे किसी प्रकार चलते-फिरते पर्वतों-जैसे हाथी पर्वत के शिखर पर पहुँचा दिये गये हैं। शिखर पर पहुँचाकर उनकी सूँड़ और पैर जंजीरों से जकड़ दिये गये हैं। बेचारे हाथी हिल तक नहीं सकते।

हूण सैनिकों ने खड्ग उठाकर जयघोष किया और मिहरकुल उनके मध्य होता आगे आ खड़ा हुआ। उसे तड़क-भड़क स्वीकार नहीं। साज-सज्जा वह सदा अनावश्यक मानता है। मैदान साधारण स्वच्छ भर किया गया है। लेकिन मैदान से मिहरकुल को करना भी क्या है। दोनों पैर फैलाकर दोनों हाथ कमर पर रखकर वह खड़ा हो गया पर्वत-शिखर की ओर मुख करके।

शिखर पर हूण-सैनिकों ने मोटे-मोटे लट्ठों के सहारे एक हाथी को धक्का दिया। बेचारा हाथी गिरा लुढ़क पड़ा। चिग्घाड़ मारता पर्वत से गिरिशृङ्गर के समान लुढ़क चला वह दीर्घकाय गज। उसी क्षण-क्षण करुण चिग्घाड़-स्थान-स्थान से टकराता,

लुढ़कता, चिथड़े बनता शरीर- मांस, रक्त, मेदका लुढ़कता लोथड़ा-और 'हाँ;हाँ' करके अट्टहास करके नीचे उसे देख-देख कर प्रसन्न होता मिहरकुल।

एक, दो तीन-एक के बाद एक गज लुढ़काया जा रहा है। नीचे सैनिकों तक के भाल पर स्वेद आ गया है। उनके पैर काँप रहे हैं। उन्होंने नेत्र बन्द कर लिए हैं; किंतु मिहरकुल- वह क्या मनुष्य है? वह तो पिशाच है पिशाच। चल रहा है उनका पैशाचिक मनोरञ्जन! उच्च स्वर से वह बार-बार पुकार रहा है - 'एक और! एक और लुढ़कने दो!!'

'श्रीमान्!' सहसा प्रधान सेनापति का घोड़ा दौड़ता आया। स्वेद से लथ-पथ हाँफते हुए अस्त-व्यस्त, सेनापति ने मर्यादानुसार 'महेश्वर की जय!' का जो घोष किया, वह भी थके, भयाकुल कण्ठ से और घोड़े से कूदकर मिहरकुल के पास आ खड़ा हुआ।

'रुको दो क्षण!' मिहरकुल अपने मनोरञ्जन में बाधा पड़ने नहीं देना चाहता था। उसने सेनापति की ओर देखा तक नहीं।

'श्रीमान्! समय नहीं है।' सेनापति ने आतुरता से कहा- 'यशोधर्मा की अपार सेना ने चारों ओर से नगर घेर लिया है। अपने सैनिक गिरते जा रहे हैं।'

'यशोधर्मा!' चौंककर मिहरकुल घूम पड़ा- 'कहाँ है यशोधर्मा?'

'ठीक कहाँ है, यह कैसे कहा जा सकता है। लगता है कि नगर के सभी मोर्चों पर वही है।' हूण-सेनापति ठीक कह रहा था। यशोधर्मा का अश्व इतनी त्वरा से अपनी सेना के समस्त अग्रिम मोर्चो पर घूम रहा था कि स्वयं उसके सैनिक समझते थे कि उनका प्रधान सेनापति उनकी टुकड़ी के ही साथ है। हूण-सेनापति इससे और भी अस्त-व्यस्त हो उठा था। उसने कहा- 'बहुत सम्भव है- कुछ क्षणों में वह यहीं दिखयी पड़े। इस पर्वत पर होकर ही निकल जाने का मार्ग रहा है।'

'जय महाकाल!' दिखाएँ गूँज रही थीं। नगर द्वार लगता था टूट चुके। कोलाहल पास आता जा रहा था। मिहरकुल के लिए भाग जाने को छोड़कर दूसरा कोई मार्ग रहा ही नहीं था।

× × ×

[3]

'सम्राट् यशोधर्मा की जय!' बहुत चाहा यशोधर्मा ने जयघोष को अटकाने; का किंतु जनता के उत्साह को कोई आबद्ध कर सका है?

'सम्राट्!' जयघोष समाप्त होने पर जब मालव-गण-नायकों के प्रतिनिधियों की ओर से वृद्ध महासेन खड़े हुए, उन्हें यशोधर्मा ने रोक दिया- 'यशोधर्मा न राजा है और न सम्राट् है, वह मालव का एक सैनिक है, एक नागरिक है, एक सेवक है और एक सेवक ही रहना चाहता है।'

'कोई माता के उदर से राजा या सम्राट् होकर जन्म नहीं लेता श्रीमान्!' वृद्ध ने हँसते हुए कहा- 'मालव भूमि में तो गणनायक जिसे सम्राट् बना दें वही सम्राट् होता है और गणसभा की अवज्ञा करने का अधिकार किसी को नहीं है। यशोधर्मा को भी नहीं।'

'मैं गणसभा का विनम्र सैनिक हूँ।' यशोधर्मा ने हाथ जोड़ लिए! लेकिन पवित्र मालवभूमि के सम्राट् एकमात्र भगवान् महाकाल हैं। यशोधर्मा उनका तुच्छ सेवक होने में ही अपना गौरव मानता है।'

'ब्रह्मपुत्र महेन्द्र पर्वत तक और हिमालय से पश्चिम समुद्र तक जिसकी भुजाओं के शौर्य ने मालव-गण-की विजय ध्वजा फहरायी है, मालव-भूमि उसे अपनी कृतज्ञता का उपहार देगी।' वृद्ध ने हाथ पकड़कर यशोधर्मा को सिंहासन पर बैठा दिया।

'आज के इस महोत्सव के समय पड़ोसियों को भी कुछ उपहार मिलना चाहिए सम्राट्! जयघोष एवं अभिषेक समारोह समाप्त होने पर जब मालव-गणनायक मर्यादानुसार अपने उपहार अर्पित कर चुके, वाकाटक-नरेश हरिषेण उठ खड़े हुए।

'मालव कृतघ्न नहीं होते।' यशोधर्मा ने हरिषेण को अपने पार्श्व के आसन पर बैठाने की व्यवस्था का संकेत सचिव को करते हुए घोषणा की- 'सङ्कट के समय वाकाटक नरेश ने अपनी सीमावृद्धि के प्रयत्न के स्थान पर अवन्ती को सहायता देने की उदारता दिखायी, इसे हम भूल नहीं सकते।'

'मेरी माँग बहुत बड़ी नहीं है!' हरिषेण ने निर्दिष्ट आसन पर बैठने के लिए कोई उत्सुकता नहीं व्यक्त की। वे अपने आवास से समारोह के अन्त में आये थे और अभी खड़े ही थे। अपनी बात से उन्होंने सबको चौंका दिया- 'भगवान् महाकाल का जयघोष करने और उनकी अभय छाया पाने का अधिकार वाकाटक को भी है, इसके प्रतीक की भाँति महाकाल के प्रतिनिधि के अभिषेक का अधिकार मिलना चाहिए।'

'वाकाटक प्रदेश मालव-सम्राट् को सम्राट् मानेगा?' मालव-गणनायकों ने एक दूसरे की ओर बड़ी उत्सुकता से देखा।

'हम तो आपके सदा के मित्र हैं।' यशोधर्मा ने बड़े सङ्कोच से कहा।

'लेकिन मैं सम्राट् का मित्र नहीं, पार्श्वचर होने का गौरव चाहता हूँ।' हरिषेण स्थिर खड़े रहे। उनके सेवक ने उनके करों में अभिषेक का मङ्गल स्वर्ण थाल दे दिया।

'भगवान्.महाकाल निखिल ब्रह्माण्ड नायक हैं।' यशोधर्मा ने बाधा नहीं दी। 'उनके पार्श्व में आने से हम किसी को कैसे वारित कर सकते हैं।'

'भगवान् महाकाल की जय!' जन-समूह आनन्द से उल्लासित हो उठा। कोई सशक्त, समृद्ध नरेश इस प्रकार किसी को सम्राट् स्वीकार कर ले- बड़ी अद्‌भुत और बड़ी ही गौरवमय बात थी मालव गण के लिए।

'लेकिन आज के उपहार इन चमकते पदार्थों से पूर्ण नहीं होते!' समारोह समाप्त होने जा रहा था कि यशोधर्मा ने उठकर एक नवीन सन्देश सुनाया- 'अब भी मातृभूमि का भय दूर नहीं हुआ। ये स्वर्ण एवं रत्न; किंतु अभी तो देश को शूरों की आवश्यकता है।'

'वाकाटक की वाहिनी को इस बार विजय-गौरव मिले।' हरिषेण फिर उठकर खड़े हुए- 'मालव-योधा शान्त नहीं हुआ करते, यह मैं जानता हूँ, किंतु यश में अपने सहयोगियों को भाग देने का औदार्य भी उनमें होना चाहिये।'

'मालव और वाकाटक पर्याप्त नहीं हैं, महाराज!' यशोधर्मा कह रहे थे- 'युद्ध से युद्ध को दबाया जा सकता हैं, मिटाया नहीं जा सकता। मिहरकुल भाग गया है। कोई नहीं जानता कहाँ है वह और कब उसके नृशंस आक्रमण देश को ध्वस्त करने लगेंगे।'

'वह अभी साहस करेगा?' अनेक मालव-शूरों ने एक साथ पूछा।

'वह पराजित होनेवाला शूर नहीं है। यशोधर्मा ने कहा- 'जब तक मैं उससे प्रत्यक्ष मिल न लूँ, उसके सम्बन्ध में कुछ कह नहीं सकता। लेकिन इतना निश्चित है कि चुप नहीं बैठेगा। उसे ढूँढ़ना पड़ेगा, यदि देश को निर्भय करना है।'

'उसे ढूँढ़ना पड़ेगा?' हरिषेण और वृद्ध मालव-गण-नायक तक चौंके - 'क्या काश्मीर से असम-प्रदेश (आसाम) तक का पर्वतीय प्रान्त इतना क्षुद्र और सुगम है कि उसमें किसी सौ-दो सौ सैनिकों के दल को ढूँढ़ा जा सके?'

'कार्य चाहे जितने कठिन हो, जिसे करना ही है, उसे अस्वीकार करने से लाभ?' यशोधर्मा ने दृढ़ निश्चय सुना दिया- 'मैं कल ही प्रस्थान करूँगा और देश के इस महाभय को समाप्त कर देने के लिये उन सब शूरों का आह्वान करूँगा जो भगवान् महाकाल की विजय में विश्वास करते हैं।'

'जय महाकाल!' मालव तरुणों ने एक साथ उद्‌घोष किया। भारत के गौरव प्राण तरुणों ने कब धर्मयुद्ध के आवाहन को अस्वीकार किया है? जो आज कर देते।

× × ×

[4]

'जय महाकाल!' मिहरकुल स्वप्न में भी चौंक पड़ता है। 'जादूगर यशोधर्मा।' मिहरकुल इस जादूगर से संत्रस्त हो गया है। कैसा है उसका जादू? जङ्गल की घास,

खेतों के पौधे और कदाचित् पर्वतों के पत्थर भी उसके जादू से सैनिक बनकर उठ खड़े होते हैं और युद्ध करने दौड़ पड़ते हैं।'

पर्वतों के मार्ग से वन-वन भटकता बेचारा मिहरकुल! उसके सैनिकों की संख्या घटती जा रही है। कोई भूखों मरता है, कोई पर्वत से लुढ़ककर गिरता है और कच्ची हिम में लुप्त हो जाता है। पहाड़ी जड़ें, पत्ते, कड़वे-कषैले फल- किसी प्रकार पेट भरना पड़ता है। आखेट भी कभी-कभी हो पाता है। घोड़े हों तो आखेट प्राप्त हो और घोड़े या तो छोड़ने पड़े या हिम में लुढ़क गये। अब तो दो-चार बच रहे हैं।

हूण-सैनिक-ये पर्वतीय युद्ध के अभ्यस्त, कठोर-देह, विकटाकार, धैर्यशाली क्रूर सैनिक भी हिमालय की शीत, हिम और निरन्तर भटकते रहना कहाँ तक सह सकते हैं? बहुतों ने चुपचाप अपना मार्ग लिया। कुछ वन-पशुओं की भेंट हो गये। जो बचे हैं- कब तक बचे रहेंगे?

'यशोधर्मा आ रहा है!' दुर्बल, क्षीण-काय मिहरकुल- वह जिधर भटकता निकलता है, जिस दिशा से जनपदों के पास पहुँचना चाहता है, उसे एक ही समाचार मिलता है- 'यशोधर्मा की असंख्य सेना चढ़ी आ रही है।'

'यशोधर्मा! काश्मीर में नेपाल में, असम में, जिधर जाओ उधर यशोधर्मा! यधोधर्मा की असंख्य सेना!' मिहरकुल ठीक समझ नहीं पाता कि कितने यशोधर्मा हैं। कितनी सेना है उनकी। जादू के अतिरिक्त यह सब कैसे हो सकता है, यह उसकी समझ में नहीं आता- नहीं आ सकता।

'महाकाल की जय!' स्वप्न से चौंका मिहरकुल और उठकर बैठ गया- 'मैं भी उसी महाकाल-महेश्वर का उपासक हूँ। क्या अपराध किया है मैंने महाकाल का? मैंने रुद्र की अर्चना के लिये ही इतने ध्वंस किये और वहीं प्रलयङ्कर मुझसे अप्रसन्न हो गया?'

उसने उठकर हाथ-पैर धोये, आचमन किया और बैठ गया नेत्र बन्द करके- महेश्वर! प्रलयङ्कर महारुद्र! तूने क्यों एक जादूगर मेरे पीछे लगा दिया है? क्या दोष है मेरी आराधना में? मिहरकुल ने कहाँ अपना स्वार्थ सिद्ध किया है?' उस पाषाण-जैसे दीखने वाले मिहरकुल के नेत्रों से भी धाराएँ चल रही थीं उस दिन।

'जय महाकाल!' तब हिम-शिखर अरुणोदयकी अरुणिमा लेकर सिंदूरारुण हो रहे थे, ध्यानस्थ मिहरकुल ने चौंककर नेत्र खोल दिये। एक गौर-वर्ण शस्त्र-सज्ज कान्तिमान् पुरुष उसके सामने खड़ा था। मिहरकुल ने स्थिर भाव से पूछा- 'कौन?'

'यशोधर्मा!' बड़े शान्त स्वर में उत्तर मिला।

'यशोधर्मा?' मिहरकुल को विश्वास नहीं हुआ।

'हाँ!' बहुत छोटा उत्तर था।

'यशोधर्मा! तब तू मेरे प्राण छोड़ दें।' मिहरकुल ने दीनता से कहा– 'मैं मानता हूँ– महेश्वर की तुझ पर कृपा है। महेश्वर को छोड़कर किसी के आगे न झुकने वाला मिहरकुल का सिर तेरे चरणों पर झुकता है।' सचमुच चरणों पर मस्तक रख दिया उसने।

'तुम महेश्वर को ही मस्तक झुकाओ भाई!' यशोधर्मा ने झुककर उठा लिया मिहरकुल को – 'मैं तुम्हारे प्राण लेने नहीं आया। तुम्हें महेश्वर का संदेश देने आया हूँ।

'क्या?' फटे नेत्रों से देखता रह गया वह हूण–सम्राट्!

'महेश्वर केवल प्रलय के समय प्रलयङ्कर होते हैं!' यशोधर्मा ने शान्तस्वर में कहा– 'देखते नहीं उन महाकाल का यह सुविस्तृत श्वेत–स्वरूप! वे महाकाल आशुतोष शिव हैं। जगत् की रक्षा– प्राणियों का पालन उनका व्रत है। क्रूरता नहीं बन्धु! सात्त्विकता उनकी सच्ची सेवा है। उठो! चीन–हिंद से पश्चिमोत्तर प्रदेश तक का तुम्हारा समस्त प्रदेश तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा है। तुम शक्तिशाली हो, महान् हो, विश्व को महेश्वर का यह पावन संदेश दो।'

'तुम सचमुच विजयी हो यशोधर्मा!' मिहरकुल के नेत्र भर आये। 'सचमुच सात्त्विकता विजयी है। लेकिन मुझे अब राज्य नहीं चाहिये। मैं तो महेश्वर की उस उत्तुङ्ग विभु सात्त्विकता की उपासना करने जा रहा हूँ।'

सैनिक उस छोटे–से पर्वतीय शिविर को घेरे खड़े थे। जब यशोधर्मा बाहर आये– हूण सैनिक मस्तक झुकाये उनके पीछे चले आये। स्वयं यशोधर्मा ने मस्तक झुका रक्खा था। मिहरकुल चला जा रहा था दूसरी ओर हिमश्रेणियों में दूर–दूर और उसकी वह धुँधली छाया धीरे–धीरे नेत्रों से अदृश्य हो गयी!

❑ ❑

संस्कृति के प्रेरक

'जय एकलिङ्ग !'

'जय एकलिङ्ग!' स्वभाववश प्रतिध्वनि की भाँति कण्ठ से गम्भीर उत्तर निकलते-न-निकलते महाराणा अस्त-व्यस्त गुफाद्वार की ओर दौड़े। यह चिरपरिचित स्वर, नाभि से उठने वाली परा वाणी का यह जयघोष राजस्थान के आराध्य चरणों को छोड़कर दूसरे कण्ठ से निकल नहीं सकता। द्वार पर दण्ड की भाँति महाराणा पृथ्वी पर संवेग प्रणत हुए। उनका स्वर्ण-मुकुट पाषाण पर हर्षित होकर भङ्कृत एवं कान्तिमान् हो गया। जैसे विनत ने अपनी शुभ्रता व्यक्त कर दी हो।

'कल्याणमस्तु!' महाराणा के मस्तक पर जो वलीपलित कर आशीर्वाद देने फैल गया था, उसकी दिव्य छाया सुरपति के लिए भी स्पर्धा की ही वस्तु रहेगी।

'गुरुदेव!' पति के चरणों से तनिक हटकर जीर्ण मलिन वस्त्रों में चित्तौड़ की अधिष्ठात्री ने अपने यशोधबल भाल से भूमि का स्पर्श किया।

'सौभाग्यवती हो वीरमातः !' वृद्ध कुलगुरु की दृष्टि नन्हे अमर की ओर थी, जो उनके चरणों पर मस्तक रखकर शीघ्रता से गुफा में भाग गया था और अब एक नारिकेल पात्र में जल लिए आ रहा था।

'तू क्या कर रहा है?' स्नेह से गुरुदेव ने पूछा।

'अर्घ्य दे रहा हूँ!' बालक ने अपनी तोतली वाणी से बताया। वह जल की धारा गिराकर पात्र रिक्त कर चला था। वृद्ध ने स्नेह से उसे खींच लिया। वे उसके मस्तक को वात्सल्य से सूँघ रहे थे।

'प्रभु पधारे!' एक शिला पर महारानी ने कुछ तृण बिछा दिये थे और बड़ी कठिनाई से उनके भरे कण्ठ से ये शब्द निकलते थे। आज राजस्थान-सम्राट् के समीप दूसरा पात्र भी नहीं कि उसमें कुलगुरु के चरणोदक का सौभाग्य प्राप्त हो। महारानी की चिन्ता व्यर्थ नहीं थी; परन्तु गुरुदेव के पादपद्म तो हिंदकुलसूर्य ने अपने नेत्रों के जल से धो दिये थे।

एक युग था। मानव को किसी उपकरण की आवश्यकता नहीं थी। वह भगवती महाशक्ति की खुली गोद में निरन्तर महेश्वर का ध्यान करता था। उसके अन्तर की श्रद्धा ही आराध्य का पूजोपकरण बनती और अतिथि का सत्कार! कुलगुरु ने आसन स्वीकार कर लिया था। बालक अमर अभी उनकी गोद में ही था। महाराणा उनके चरणों के समीप मस्तक झुकाये हाथ जोड़े बैठे थे और बिना पीछे देखे भी वे जानते थे कि उनकी सहधर्मिणी उनकी ओट में अपने अश्रु-प्रवाह को छिपाने का असफल प्रयास कर रही है।

'प्रताप!' तुम्हारे त्याग ने सत्ययुग की उस सात्त्विकता को यहाँ साकार कर दिया है!' ब्राह्मण के दीप्त भाल की ज्योति दुगुनी जगमगा उठी। उनके नेत्र अर्धोन्मीलित हुए और निर्वात दीपशिखा की भाँति उनका निष्कम्प चित्त महेश्वर के ध्यान में एकाग्र हो गया।

'सृष्टि के आदि में कुलपुरुष भगवान् भास्कर ने जिनकी आत्मरूप से आराधना की, पितामह वैवस्वत से लेकर रघुवंश के आराध्य भगवान् मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम ने राजसूय-अश्वमेधादि महायज्ञों से जिनकी अर्चा की, वे साक्षात् भगवान् वैश्वानर पधारे हैं, देवि!' महाराणा ने पीछे देखा। उन्होंने संकेत से ही पुत्र को गुरुदेव की गोद से नीचे बुला लिया था।

'अपने कङ्गाल कुटीर में आज समिधाएँ भी कहाँ हैं?' राजमहिषी की वेदना दूसरा कोई कैसे समझेगा। महीनों से महाराणा प्रातःकालीन हवन समिधाओं से ही सम्पन्न कर रहे हैं। इस वन में शाकल्य और धृत कहाँ। आज साक्षात् अग्नि स्वरूप गुरुदेव पधारे हैं; परन्तु गुफा में तो सूखी समिधाएँ भी नहीं हैं। केवल जल से अपने कुलगुरु की अर्चना पूरी करनी है और वह भी उसे, जो चित्तौड़ का राजमुकुट सिर पर धारण करता है। दैव!....।

'प्रताप! धन्य हो तुम!' गुरुदेव के नेत्र कुछ क्षणों में ही खुल गये। 'तुम्हें स्मरण है न – प्रत्येक कुम्भपर्व पर तीर्थ की पावनभूमि में भारत के सम्राट् अपना सर्वस्व दान कर दिया करते थे! एक ऐसे ही समय, जब महाराज रघु के समीप एक ऋषि कुमार पहुँचे, महाराज के समीप पाद्य एवं अर्घ्य के लिए केवल मृत्तिका के पात्र थे!'

'गुरुदेव! महाकवि कालिदास की वाणी जिस यशोगान से परिपूत हुई है, उसे कैसे विस्मृत किया जा सकता है; किंतु प्रताप का सर्वस्व क्या? कङ्गाल है वह।'

'राणा! धर्म के सङ्कट की पुण्य तिथि में जिसने अपने सर्वस्व की आहुति दे दी है, उस कङ्गाल की यशोगाथा से कवियों की वाणी पावन होगी! मैं आज चक्रवर्ती रघु के उस यज्ञान्त का स्मरण कर रहा हूँ।'

'देव! सन्तोष भी जिनके श्रीचरणों से प्रेरणा प्राप्त करता है, उनकी शाश्वत तुष्टि

में बाधा दे सके, ऐसी शक्ति कहाँ है!' महाराणा की वाणी आगे कुछ कह न सकी; किंतु उनकी दृष्टि उस रिक्त नारिकेल जलपात्र पर थी, जो औंधा पड़ा था और वह दृष्टि अपनी व्यथा सुनाने के लिए वाणी की अपेक्षा नहीं करती थी।

× × ×

[2]

'जय एकलिङ्ग!' एक वन्य भील ने भूमि पर लेटकर प्रणाम किया और भूर्जपत्र आगे बढ़ा दिया। इस गुफा में इन निष्काम सेवकों का प्रवेश अबाध है। अन्ततः इन्हीं की सेवा तो महाराणा को यहाँ निरापद रखती हैं।

'जय एकलिङ्ग!' महाराणा के कण्ठ से बड़ी कठिनता से एक ध्वनि इधर निकलती है। वे इसके साथ ही चौंक पड़े। पत्र को ध्यान से देखा, जैसे वह कोई विषैला जन्तु हो। 'पत्र में पाँच तहें हैं, पाँच ही बार उन पर सूत्र लपेटा गया है। सूत्र भी पीत है, श्वेत नहीं। तब पत्र किसी अपने अनुचर का है।' दाहिने हाथ में पत्र ले लिया उन्होंने।

'एक राजपूत ने दिया है! वह उत्तर की प्रतीक्षा करेगा घाटी के उस पार! कहता था, दिल्ली से आया है!' भील के स्वर में घृणा, तिरस्कार, उपेक्षा उत्कण्ठा- पता नहीं क्या-क्या थी। वह स्थिर दृष्टि से राणा की ओर देख रहा था।

'दिल्ली से आया है?' राणा चौंके। पत्र हाथ से छूट गया।

'दिल्ली से पत्र!' महारानी ने सुना और पास आ गयीं। उनके नेत्रों में विस्मय था।

'उस दिन वन-बिलवा ने तुम्हारी घास की रोटी कुमार के हाथ से छीन ली और वह क्रन्दन कर उठा!' महाराणा नीचे गिरे पत्र की ओर मस्तक झुकाये स्थिर देख रहे थे।

'रहने भी दीजिये! बालकों की रोने-गाने की बातों पर ध्यान देकर कहाँ तक कोई कर्त्तव्य पर स्थिर रह सकता है!' वाणी में चाहे जो कह लिया जाय, माता का हृदय क्या ऐसे स्मरण शान्ति से सह पाता है?

'मैं भी अन्ततः मनुष्य ही हूँ- दुर्बल मनुष्य! मेरे धैर्य की सीमा समाप्त हो गयी उस दिन। मैंने अकबर को पत्र भेज दिया।' महाराणा-जैसे किसी महापाप की गाथा सुना रहे हों।

'पत्र! अकबर को? क्या....

'यही कि मैं उसकी राज्य-सत्ता को स्वीकृति दे दूँगा यदि.....।'

'यदि वह आप पर, आपके बच्चे पर, आपकी स्त्री पर दया करें! आपको कोई दरबार में बड़ा पद....।' जैसे वज्रपात से सिहिंनी चीत्कार कर उठी हो वह। जङ्गली

भील उस महाशक्ति के चरणों की ओर पृथ्वी पर मस्तक रखकर बड़े जोर से चिल्ला पड़ा– 'जय एकलिङ्ग !'

'मैं आज प्रातः गुरुदेव के दर्शनार्थ गया था।' महाराणा अपराधी की भाँति मस्तक झुकाये कहते जा रहे थे। गुरुदेव के नाम ने महारानी को तनिक शान्त कर दिया।

'मेरे प्रणिपात का उत्तर नहीं मिला। गुरुदेव हवनकुण्ड के समीप विराजमान थे। समिधाएँ, प्रज्वलित नहीं हो रही थीं। धूम्र से उनके नेत्र अश्रुपूर्ण एवं अरुण हो गये थे, जैसे उन दयामय ने मेरे अपराध पर उठे रोष को भीतर ही रोक लिया हो। महारुद्र के समान वे लाल-लाल नेत्र अश्रु से करुणापूर्ण हो गये थे।' महाराणा ने दोनों हाथ मस्तक पर रख लिए। उनके नेत्रों से टप-टप बूँदे गिर रही थीं।

'पहली बार प्रताप को गुरुचरणों से आशीर्वाद नहीं मिला। उन तपोमय के आशीर्वाद का अधिकारी अब मैं रहा ही नहीं। बड़ी ही वेधक करुणदृष्टि से उन्होंने मेरी ओर देखा।' दो क्षण के लिए वाणी रुक गयी।

'आदियुग में अग्निदेव ब्राह्मण के हृदय में निवास करते थे। कल्मष था ही नहीं, तब शासन और पवित्रता किसकी की जाय। त्रेता के अन्त तक ब्राह्मण की वाणी ही भगवान् वैश्वानर का वाहन थी। नरेशों की विशुद्ध श्रद्धा से सम्पन्न हुए यज्ञों में विप्रो के सङ्कल्प से मूर्तिमान् अग्निदेव प्रकट हो जाते थे। देवता स्वयं अपना भाग आकर स्वीकार करते थे। द्वापर का अन्तिम चरण तक साक्षी था कि जनमेजय के सर्पसत्र में भी अग्निज्वालाएँ मन्त्र पाठ का अनुगमन करती थीं। ब्राह्मण के लिए अरणिमन्थन केवल उपचारमात्र था। अग्निदेव तो आह्वान की प्रतीक्षा करते रहते थे। यह कलियुग है। अग्नि का धाम ब्राह्मण का मुख हो गया है प्रताप ! केवल पवित्र शासन ही अग्नि के उत्थान से शुद्ध होता है। मैंने देखा है, तुम्हारी धर्मनिष्ठा ने भगवान् हव्यावाह् का पथ नित्य प्रशस्त रक्खा है। मैंने देखा है कि मानसिंह अत्यन्त धार्मिक, श्रद्धालु एवं शुद्धाचारी हैं; पर उनके तपःपूत विप्रो के आहवनीय-कुण्डों से उठी धूम्रशिखाएँ नेत्रों को कलुषित, पीड़ित करती हैं, प्रताप !' गुरुदेव का वह सम्बोधन महाराणा के हृदय में बाण की भाँति अब तक चुभ रहा है। चुभता ही जा रहा है।

'भगवान् एकलिङ्ग का पवित्र नाम लेने में उसी दिन से जिह्वा काँपती है। आज गुरुदेव ने मस्तक झुका लिया और अब वह पत्र आया है दिल्ली से...।' जैसे कोई अपने प्राण दण्ड के आज्ञापत्र को देख रहा हो।

'उसमें धागे के पाँच फेरे हैं। ये धागे पीले हैं !' भील को स्वयं भी आश्चर्य था कि दिल्ली का पत्र इस प्रकार क्यों है।

'जय एकलिङ्ग!' जैसे महाराणा में पुनः जीवन लौट आया हो। उन्होंने पत्र खोला बड़ा शिथिलता से था; किंतु शीघ्र ही वह शिथिलता दूर हो गयी। मुखमण्डल हर्ष, उल्लास से दमक उठा। हाथ मूछों पर गये और फिर कटि में बँधे खड्ग की मूठ पर।

'सिंह के शिशु बन्दी होकर भी शृगाल नहीं हो जाते! दिल्ली में भी सिंह तो हैं। भगवान् एकलिङ्ग! गुरुदेव!' महाराणा ने पृथ्वीराज का ऐतिहासिक पत्र चकित राजमहिषी को बढ़ा दिया। उनकी दृष्टि कृतज्ञता पूर्वक ऊपर उठी और श्रद्धा से मस्तक झुक गया।

× × ×

'एकलिङ्गेश्वर की जय!' वल्गा खिंचने से अश्वों के अगले पैर एक क्षण उठे ही रह गये और वीरों के कण्ठों ने आश्रमद्वार को जयघोष से ध्वनित किया।

'जय एकलिङ्ग!' वृद्ध ब्राह्मण की दृष्टि उठने से पूर्व राजस्थान का जाग्रत् शौर्य उनके पदों में प्रणिपात कर रहा था।

'महामन्त्री भामासाह का त्याग प्रताप का प्रोत्साहन बन गया है और भीलराज की वन्यवाहिनी अदम्य है। विजयश्री तो श्रीचरणों के आशीर्वाद की अनुगामिनी है! महाराणा कुलगुरु के चरणों के समीप सरल भाव से बैठ गये थे घुटनों के बल। जैसे कोई आराधक अपने आराध्य के पदों में बैठा हो। महामन्त्री संकुचित पीछे करबद्ध खड़े थे और आश्रमद्वार पर जानु टेके भीलराज अपनी पीछे खड़ी सेना के आगे ऐसे लगते थे जैसे शूरता की उतुङ्ग जलराशि इस सत्त्व के पुलिन से पवित्र होने आयी हो और उसे मर्यादा ने साकार होकर सीमित कर दिया हो।

'धर्म नित्य विजयी है! वह आशीर्वाद की अपेक्षा नहीं करता! भगवान् हव्यावह तुम्हारा मार्ग प्रशस्त करें!' आचार्य अब भी हवन के आसन पर ही खड़े थे। सम्मुख कुण्ड में आहुतितृप्त अग्निदेव की निर्धूम लाल-लाल सीधे लपटें उठ रही थीं- लाल-लाल लपटें, ब्राह्मण के त्याग, तप संयम एवं क्षत्रिय के शौर्य, ओज, प्रचण्ड प्रताप की प्रतीक। महाराणा ने अतृप्त उल्लासित नेत्रों से दो क्षण अग्निदेव के दर्शन किये और फिर भूमि पर मस्तक रक्खा

'ब्राह्मण- नित्य तुष्ट, प्रभु की इच्छा में अपनी इच्छा विलीन करनेवाला, सबका शुभैषी होता है, प्रताप!' गुरुदेव की वाणी स्नेह-स्निग्ध थी। 'उसके लिये कोई न कोई शत्रु है, न मित्र। न दण्डीय है और न स्नेह-पात्र; किंतु जब शासक शिथिल होता है, तब ब्राह्मण की वृत्ति विकृति हो जाती है। उसकी शक्ति प्रकृति के राजस क्षेत्र में उन्मुक्त नहीं हो पाती!'

'गुरुदेव !' महाराणा इस वाणी का मर्म जानना चाहते हैं।

'ब्राह्मण की तपस्या और पवित्रता के साथ शासक का अदम्य शौर्य अपेक्षित है, संस्कृति के इस प्रोज्ज्वल प्रतीक को धूम्रहीन रखने के लिये !'

'ओह !' महाराणा को विलम्ब नहीं लगा समझने में। उस दिन उन्होंने सोचा था कि गुरुदेव हवनीय-कुण्ड से भी धूम्र क्यों उठना चाहिये और दयामय गुरुदेव केवल संकेत किया था। आज इस यात्रा के समय का आदेश है इसमें उनके लिये। उन्होंने खड्ग खींच लिया और यज्ञाग्नि के सम्मुख मस्तक झुका दिया। गुरुदेव का हाथ उनके मस्तक पर छाया करता फैल गया था।

इतिहास साक्षी है हिंदू-कुल-मुकुटमणि की उस मूक प्रतिज्ञा का। वह शौर्य अन्त तक अग्नि-सा प्रज्वलित, प्रकाशमय, दुर्धर्ष रहा। सम्राट् अकबर का अपार अध्यवसाय उसमें आहुति बनकर रह गया !

❑ ❑

आस्था

'नृमुण्डमालिनी की जय!' जयध्वनि उच्चस्वर से नहीं की गयी। उसने ओष्ठ के भीतर ही कह लिया और मन-ही-मन खड्गहस्ता, खप्परधारिणी, आलीढासना मुण्डमालिनी महाकाली के पावन चरणों में प्रणाम करके पूर्णतः प्रस्तुत हो गया।

'सावधान! घोर वन, तीन हजार सत्रह फुट, सत्तासी! सत्तासी! सत्तासी!' हवाई जहाज की सूचना नलिका से आदेश मिला। एक खटका हुआ, एक हल्का झटका लगा और वह आकाश में पत्थर की भाँति नीचे गिर रहा था।

'एक, दो, तीन, चार' हाथ पैराशूट की रस्सी पकड़े हुए थे। यदि गिनने में तनिक भी गड़गड़ हुई- शीघ्रता से या अधिक रुक-रुककर गिना गया तो प्राण बचेंगे, इसका कोई ठिकाना नहीं था। 'पाँच, छः, सात, आठ' वह सहज स्वाभाविक ढङ्ग से गिन रहा था। तीन हजार सत्रह फुट ऊपर आकाश से फेंक दिये जाने पर भी मस्तिष्क व्यवस्थित रखकर ठीक-ठीक गिनना था। गिनने की गति में विलम्ब हो तो पृथ्वी पर टकराकर हड्डियाँ चूर-चूर हो रहेंगी और शीघ्रता हो जाय- पैराशूट वायु के प्रवाह में कहाँ ले जायगा, इसका क्या ठिकाना। नीचे चारों ओर शत्रु की ही छावनियाँ हैं। कोई पैराशूट से उनका शत्रु सैनिक वहाँ पकड़ा जाय तो उसका स्वागत कैसे होगा- कोई भी समझ सकता है।

'नौ, दस, ग्यारह.......।' गिनता जा रहा है वह। 'पचासी, छियासी, सत्तासी' अभ्यस्त हाथ ने रस्सी खींच दी। एक अच्छा झटका लगा। पीठ पर गठरी के समान बँधा पैराशूट खुलकर आकाश में हंस के समान तैरते धीरे-धीरे उतरने लगा।

कृष्णपक्ष की त्रयोदशी की रात्रि है। नीचे कहीं किसी दीपक की एक रश्मि तक नहीं दीखती। युद्धकाल में सर्वत्र व्यवस्थित अन्धकार रखने की सजगता तो दिखायी ही जायेगी। वह जानता है कि उसे जहाँ गिराया गया है, वहाँ नीचे घोर वन है। यह तो प्रारब्ध पर ही निर्भर है कि पैराशूट उसे कहाँ पटकता है। कँटीली झाड़ी, किसी क्रूर वन-पशु की माँद, कोई घड़ियालों से भरी नदी, कोई बड़ा वृक्ष या थोड़ी समतल भूमि- सभी कुछ सम्भव है। गिरनेवाला वन-पशुओं या घड़ियालों के पेट में भी चला

जा सकता है, काँटों से उसके शरीर का भरपूर बिंध जाना, गहरी चोट लगना या सकुशल उतर जाना, यह सब उतरने वाले के लिए सम्भव है। सब उसके प्रारब्ध पर है।

'माँ! जगदम्बा!' गिनती बन्द होते ही मन-ही-मन वह अपनी आराध्य मूर्ति का ध्यान और उनका स्मरण करने लगा। नीचे कुछ देखने का प्रयत्न उस घोर अन्धकार में व्यर्थ था। उसे मृत्यु का भय नहीं है। मृत्यु को तो उसने जान-बूझकर आमन्त्रित किया है। लेकिन उसे विश्वास है- मृत्यु में इस प्रकार उसका तिरस्कार करने का साहस हो नहीं सकता। वह 'माँ' का पुत्र है- जगद्धात्री माँ काली का पुत्र। कलकत्ते में माँ को प्रणिपात किये बिना वह मर नहीं सकता।

'माँ! मातृभूमि की- तुम्हारी पावन पीठ भारत-धरा की थोड़ी-सी सेवा यह शिशु कर सके! दयामयी जगज्जननी ने जैसे उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। उसके पैरों का स्पर्श किसी वृक्ष की ऊपरी टहनी से हुआ। एक क्षण में पैरों की पकड़ में एक डाली आ गयी। उसने दोनों पैर डाल में लपेट दिये। पैराशूट ने पूरा झटका दिया। शरीर की नस-नस उखड़ जायगी, ऐसा उसे लगा और पैराशूट उलट गया।

पैराशूट को टहनियों की उलझन से अलग करके तह करने में दो मिनट लगे। पेड़ से नीचे उतर आया वह। चारों ओर घोर वन है, यह अनुमान करते ही उसने समझ लिया कि उसे ठीक स्थान पर ही गिराया गया है। अब प्रातः काल तक यहीं प्रतीक्षा करना है। उसके दूसरे चार साथी भी कहीं आस-पास उतरे हो सकते हैं। तनिक झुटपुटा हो जाय तो निश्चय करे कि किधर जाना चाहिये।

सैनिक जब युद्धक्षेत्र में होता है- 'उसका प्रत्येक क्षण बहुमूल्य होता है और जब कोई सैनिक पैराशूट से शत्रु-प्रदेश में उतार दिया जाता है- उसका प्रत्येक क्षण कितनी सावधानी से काम लिया गया, इसी पर उसका जीवन निर्भय करता है। प्रातःकाल होने से पूर्व उसे बहुत कुछ कर लेना है। बिना आधे क्षण रुके वह अपने काम में लग गया। पैर के पास ही कमर से छुरा निकालकर उसने गड्ढा खोदना प्रारम्भ किया। पैराशूट छिपा देना चाहिये और अग्नि जलायी नहीं जा सकती। उससे तो आस-पास के लोग चौंकेगे। बड़ी सावधानी से पैराशूट को उसने मिट्‌टी दबाया। बूटों से मिट्टी कुचलकर उस पर थोड़े सूखे पत्ते समेटकर डाल दिये, जिसमें कोई उधर से निकले तो नयी खोदी मिट्टी देखने से उसे संदेह न हो।'

× × ×

[2]

'तुम्हारा नाम?'

'अनिल कुमार!'

'तुम बङ्गाली हो?'

'बङ्गाली तो मैं पीछे हूँ, पहले भारतवासी हूँ।'

'कहाँ घर है तुम्हारा!' उस धूर्त सैनिक अफसर ने बँगला बोलना प्रारम्भ कर दिया। अंग्रेज होते हुए भी बङ्गाल में रहकर उसने बँगला सीख ली है। 'हम तुम्हारे घर तुम्हारे स्वस्थ और सुरक्षित होने का समाचार भेज देंगे। तुम सैनिक सेवा में हो, यह कह दिया जायगा और पाँच हजार रुपये तुम्हे वेतन के बताकर तुम्हारे घर के लोगों को दे दिये जायँगे।'

'मेरा घर है महाकाली के चरणों में।' वह खुलकर हँस पड़ा। 'वहाँ रुपये नहीं, मस्तक भेंट में दिये जाते हैं। तुम्हारे-जैसे अपवित्र लोगों के मस्तक वहाँ नहीं चढ़ा करते।'

'तुम घर का पता न देना चाहो तो कोई बात नहीं!' अफसर ने पूरी कूटनीति की परीक्षा करने का निर्णय कर लिया था। 'तुम्हें सेना में ले लिया जायगा। कैप्टन बनाया जाय- यह मैं लिख दूँगा और प्रयत्न करूँगा कि चार महीने की छुट्टी देकर घर जाने की सुविधा दी जाय तुम्हें! उसके बाद भी तुम मोर्चे पर न आना चाहो तो पीछे के दलों में रक्खे जा सकते हो। मैं तुम्हारे लिये पूरा प्रयत्न करूँगा।'

'मैं सेना में हूँ। अवकाश लेने की मुझे कोई आवश्यकता नहीं है।' अनिल ने गम्भीरता से कहा- 'मैं अपनी मातृभूमि का सैनिक हूँ। स्वतन्त्रता के संघर्ष में अगले मोर्चे पर रहने की कामना रखता है प्रत्येक देश-सेवक।'

'यह तो मैंने तुम्हारी सुभीते के लिये कहा था' अफसर ने जान-बूझकर अनिल की बात का उलटा अर्थ लिया- 'तुम अगले मोर्चे पर रहना चाहोगे तो बड़ी प्रसन्नता से रह सकोगे!'

'लेकिन भारत को पराधीन रखनेवालों का विनाश करने के लिए मैं सैनिक बना हूँ।' अनिल ने अब स्वर कठोर कर लिया- 'उनकी दासता करना स्वीकार होता तो मातृभूमि से बाहर भटकता न फिरता।'

'अभी तुम युवक हो। जापानियों ने तुम्हें भड़का दिया है।' अफसर शान्त बना रहा- 'कदाचित् तुम नहीं जानते कि अंग्रेजों ने भारत को स्वराज्य देना निश्चित कर लिया है और उसके लिये योजनाएँ बनायी जा रही है।'

'बहुत खूब!' अनिल ने हँसकर व्यङ्ग किया– 'बड़े दयालु हैं आप लोग! भला योजना बनाने की बात क्या है? आप लोग कल भारत और बर्मा छोड़ दें। हम लोग जापानियों से निपट लेंगे और अपने घरों को सम्हाल भी लेंगे।'

'अभी तुम परिस्थिति से परिचित नहीं हो।' अफसर को बुरा लगा, पर शान्त ही रहा वह– 'कुछ दिनों में ही तुम्हें सब बातों का पता लग जायगा। अभी तो तुम इतना करो कि मैं जो पूछता हूँ उसे ठीक–ठीक बता दो। केवल जापानियों के सम्बन्ध में तुम्हें बतलाना है। अपने देश की सेवा ही करोगे इससे तुम।'

'मैंने आपको स्पष्ट बता दिया है कि मैं कुछ नहीं बताऊँगा।' अनिल ने चौथी बार कहा– 'भारतीय विश्वासघाती नहीं हुआ करते। मुझे आप फुसला नहीं सकते और न डरा सकते हैं।'

'तुम जानते हो कि क्या परिणाम होगा?' अफसर ने भी रूख बदल दिया– 'तुम शत्रु के जासूस हो, युद्धबन्दी बनाने का तुम्हारे लिए प्रश्न ही नहीं उठता। एक बार और सोच लो! सेना में कैप्टन हो सकते हो और घर जा सकते हो परसों। वैसे तुम्हारे तीन साथी और पकड़े गये हैं। उन्होंने सब बता दिया है, जो वे जानते हैं। तुम उनके नायक हो, उनसे कुछ अधिक बता सकते हो, उनकी बतायी बातें तुमसे पुष्ट हो जायँ, इतना ही हम चाहते हैं। तुम कुछ न भी कहोगे, तो भी हमारी कोई हानि नहीं होनी है।'

'तीन साथी और पकड़े गये हैं। उन्होंने सब कुछ बता दिया है।' अनिल ने मस्तक झुकाकर सोचा। 'इसका केवल यह अर्थ है कि कोई एक साथी पकड़ा नहीं गया है। किसी ने कुछ बताया नहीं है। यह धूर्त केवल धोखा देना चाहता है भेद नीति से।'

'तुम सोचना चाहो तो आधे घण्टे पीछे मैं आ सकता हूँ।' अफसर ने कहा– 'इससे अधिक प्रतीक्षा करने को सेना नायक प्रस्तुत नहीं है।'

'मैं सोच चुका हूँ और जो कुछ कहना था, कह चुका हूँ।' अनिल स्थिर रहा।

'परिणाम नहीं सोचा तुमने!' अफसर ने चेतावनी दी।

'तुमसे अधिक मैं जानता हूँ।' अनिल ने उपेक्षा से कहा– 'मैं महाकाली का पुत्र हूँ। मेरा परिणाम तुम्हारे हाथ में नहीं, मेरी दयामयी माँ के हाथ में है।'

'आज शाम को तुम्हें गोली से उड़ा दिया जायगा!' अफसर मुड़ा– 'मैं एक बार और आऊँगा!'

'तुम न आओ तो धन्यवाद दूँगा!' अनिल हँसा– 'सिंहवाहिनी के पुत्र को गीदड़ों के बच्चे गोली से उड़ा सकते हैं, इस कल्पना का आनन्द तुम लोग लेना चाहो तो कुछ देर ले सकते हो।'

× × ×

जापान की सेनाएँ ब्रह्मा में बढ़ती जा रही थीं। बार-बार अंग्रेजी सेना को 'बड़ी वीरता के साथ' पीछे हटने को विवश होना पड़ता था। टोकियो में श्रीरासविहारी बोस के यहाँ भारतीय देशभक्तों की बैठकें प्राय: नित्य होती थीं। नेताजी सुभाषचन्द्र बोस उस समय बर्लिन में थे। उन्हें ब्रह्मा लाना है- यह योजना कुछ गिने-चुने उच्च अधिकारियों तक ही सीमित थी।

'ब्रह्मा में पर्याप्त भारतीय है। वे अपनी मातृभूमि की स्वतन्त्रता के लिए किसी से कम उत्सुक नहीं है। लेकिन अंग्रेजों के प्रचार ने बहुत को भ्रान्त कर दिया है। जापान के प्रति वे सन्दिग्ध हो गये हैं। साथ ही उन्हें प्रोत्साहित एवं सङ्गठित करने के सूत्र भी वहाँ नहीं है। कुछ जापानी अधिकारियों और रासविहारी बोस में पहले ही यह मन्त्रणा हो चुकी थी।

'परिणाम कुछ पता नहीं है। मातृभूमि के लिये मस्तक देना है।' बिना किसी भूमिका और आश्वासन के स्पष्ट स्थिति जापान स्थित भारतीय देशभक्तों के आगे स्पष्ट कर दी गयी।

'देश के निमित्त प्राण देनेवाला धन्य है।' जापान में रहकर देश के लिये आत्मबलि की जाग्रत् भावना का नित्य आदर्श देखा जा सकता है। भारतीयों के रक्त में त्याग का स्रोत निहित है। जापानी बलिदानी वीरों ने उसे प्रदीप्त कर दिया था। सभी भारतीय युवकों एवं तरुणों ने अपने रक्त से हस्ताक्षर किये प्रतिज्ञा-पत्र पर।

कुछ उपयुक्त व्यक्ति चुन लिये गये। सामान्य सैनिक शिक्षा तो सबके लिये आवश्यक थी; किंतु कुछ लोगों को पैराशूट से नीचे उतरना सिखलाया गया। उन्हें सब आवश्यक बातें बतला दी गयीं। केवल सप्ताह की शिक्षा-अधिक के लिये अवकाश ही नहीं था। एक जापानी हवाई जहाज पाँच भारतीय तरूणों को एक रात्रि ब्रह्मा की वन-भूमि पर आकाश से उतार आया।

पास में नक्शे नहीं थे। वे स्मृति में रहे यही निरापद माना गया था। कहाँ कौन-सी बस्तियाँ हैं, किन बस्तियों में जाना चाहिये, किन स्थानों में एवं बस्तियों में सावधान रहना चाहिये, यह सब बतला दिया गया था। टोकियों में सोचा यही गया था कि पाँच में से एक भी बच सका तो सफल समझना चाहिये इस प्रयत्न को। सचमुच केवल एक शत्रुओं की आँखों से बच सका। चार पकड़ लिये गये।

पैराशूट ठीक बिन्दु पर किसी को गिरा सके, यह शक्य नहीं है। मील आधामील इधर-उधर हो जाना साधारण बात है। अपरिचित भूमि में- वन में कोई कहाँ तक रटे हुए नक्शों के आधार पर मार्ग पा सकता है। इधर-उधर भटकना पड़ा। सावधान शत्रु के जासूसों ने देख लिया। पकड़ लिए गये चार देशभक्त भारतीय सूर्योदय होने के कुछ देर के भीतर।

'वन्देमातरम्!' चारों अलग-अलग रक्खे गये। उन्हें प्रलोभन दिये गये। धमकाया गया और जहाँ तक बना यातनाएँ दी गयी। चारों ही अडिग थे। जापानी सेना बढ़ी आ रही थी। अंग्रेजी सेना के सेनापति ने वीरता पूर्वक हट जाने में कुशल समझ ली। प्रात: पकड़े गये चारों भारतीय एक छोटे मैदान में एकत्र हुए। उन्होंने हवाई जहाज से गिराये जाने के बाद पहले-पहले एक दूसरी को देखा। जयध्वनि की उन्होंने।

'नृमुण्डामालिनी की जय!' अनिल कुमार ने दूसरी जयध्वनि भी की।' उसने कहा- 'मित्रों! यह नाटक बहुत देर तक नहीं चलेगा। डरने की कोई बात नहीं है।

'भारतीय मृत्यु से नहीं डरा करते। हमारे ऋषियों ने कहा है- जीवन शाश्वत है।' दूसरे तरुण ने कहा- 'शरीर तो मिट्टी है। जिस मातृभूमि ने यह मिट्‌टी हमें दी उसी की सेवा में इसे विसर्जित करने का भला अवसर तो मिला।'

'अभी वह अवसर नहीं आया! अनिल की बात इस बार कोई समझ नहीं सका। वह कह रहा था- 'मुण्डमालिनी के पुत्रों को छूने का साहस मृत्यु करे तो उसे भी मरना पड़ सकता है। मातृभूमि का दिया शरीर तो उसकी गोद में भगवती जाह्नवी के तट पर ही विसर्जित होगा।'

'यह विश्वासघात करेगा?' दूसरे तरुणों ने एक दूसरे की ओर देखा। दूसरा क्या अर्थ हो सकता है इसकी बात का?' लेकिन संदेह व्यर्थ था। सैनिक अफसर अंतिम प्रयत्न करने आया अवश्य; किंतु दूसरों की भाँति अनिल से भी निराशा ही उसके हाथ लगी।

'बड़ा सुन्दर खेल है!' सामने अंग्रेजी सेना के अफ्रिकन सैनिकों ने भरी बन्दूकें छाती से लगा रक्खी थीं। उन्हें अफसर के मुख से निकले केवल एक शब्द की प्रतीक्षा थी। चार भारतीय, जिनके हाथ हथकड़ियों से पीछे जकड़े थे; उनके सामने खड़े थे। बड़ा आश्चर्य हो रहा था उन सैनिकों को मृत्यु की इस अन्तिम घड़ी में भी ये परिहास करने वाले - कैसे हैं ये लोग?

'वन्देमातरम्!' एक तरुण ने कहा।

'नृमुण्डमालिनी की जय!' पहले जय-नाद के बाद अनिल कुमार ने अकेले जयनाद किया। 'माता जन्मभूमि की वन्दना और उसकी सेवा के लिये तो अभी पूरा जीवन पड़ा है। यह अवसर तो महाकाली की मनोहर क्रीड़ा देखने का है।'

'क्रूर उत्पीड़न ने इसे उन्मत्त कर दिया। साथियों के नेत्र सहानुभूति से भर आये।

'क्या बकता है?' सैनिक टुकड़ी के नायक अंग्रेज ने आश्चर्य से पूछा।

'तू अपना काम कर!' अनिल ने उसे झिड़क दिया- मैं तेरी मूर्खता देख रहा हूँ।'

'तुझे मरने से डर नहीं लगता?' अफसर ने फिर पूछा।

'मरने वाला मैं हूँ या तुम सब हो, यह अभी निर्णय हुआ जाता है।' अनिल बराबर

हँस रहा था – 'कुत्तों की मौत आती है तो वे सिंहनी के शावक को भूँककर डराना चाहते हैं। तुम सबने सिंहवाहिनी के पुत्र को डराने का प्रयत्न किया है।'

'पागल!' मृत्यु के भय ने पागल कर दिया अनिल को। इसके अतिरिक्त उस अंग्रेज के मस्तिष्क में कुछ कैसे आ सकता था, जबकि अनिल के साथी ही उसे पागल समझ रहे थे।

'फाय....' शब्द पूरा नहीं हो सका था, इतने में बड़ा भारी धमाका हुआ। एक, दो, चार – लगातार धमाके होते चले गये। धुएँ से दिशाएँ भर गयीं। सैनिकों ने बन्दूकों का उपयोग किया भी हो तो उन धमाकों में कुछ पता नहीं लगा। वृक्षों के ऊपर या पीछे ठीक अनुमान करना कठिन था कि शत्रु कहाँ है, कितना बड़ा दल है। धमाके होते ही जा रहे थे।

'वन्देमातरम्!' धुएँ के पीछे से किसी कण्ठ ने पुकारा।

'वन्देमातरम्!' मैदान में खड़े चारों बन्दियों ने उत्तर दिया।

'नृमुण्डमालिनी की जय!' अनिल ने भूमि पर मस्तक रख दिया वहीं।

अंग्रेज अफसर और हब्शी सैनिकों के शरीर छिन्न-भिन्न हुए पड़े थे। अंग्रेजी सेना लारियों में बड़ी उतावली से भरती जा रही थी। 'वीरतापूर्वक' पीछे हट जाने के लिये तम्बू, शस्त्रागार के शस्त्र और भोजन तक साथ लेने या नष्ट करने का अवकाश उसके पास नहीं था।

सेनापति को जब पीछे हट जाने के दो दिन बाद बाद पता लगा कि केवल कुछ पास की बस्ती के लोगों और एक भारतीय ने हाथ से फेंके जाने वाले बम फेंककर उसे डरा दिया– बहुत पछताया वह। समाचार को दबा देने में ही कुशल थी। उसके प्रकट होने पर स्वयं उसे मरना पड़ सकता था और खोया स्थान तो खो ही गया। वहाँ तो अब जापानी अग्रिम दल पहुँच भी चुका था।

× × ×

[4]

'नृमुण्डमालिनी की जय!' नेताजी की सेना में अनिल कुमार ही ऐसा था जो प्रत्येक जयध्वनि के पश्चात् यह अपनी जयध्वनि कर लिया करता था। उसे कभी किसी ने छेड़ा नहीं। उसके-जैसा निर्भीक, साहसी, कष्ट सहिष्णु– वैसे तो स्वतन्त्रता के सेवकों की सेना थी। नेता जी की पूरी सेना और उसका प्रत्येक वीर अपने त्याग, सहिष्णुता एवं धैर्य में अद्वितीय था; किंतु अनिल कुछ दूसरी ही मिट्टी से बना था। उसे कहीं भय दीखता ही नहीं था।

'माँ! माँ! दयामयी माँ!' एकान्त में वह प्रायः उच्च स्वर से पुकारता और रोया करता था और जब मृत्यु के भयङ्कर पञ्जें प्रत्यक्ष-से दीखते थे- वह निर्भय था। अनेक बार लोगों को भ्रम हुआ करता था कि वह पागल है।

'नृमुण्डमालिनी की जय!' उसे तो उस दिन भी हताश होते नहीं देखा गया, जब नेताजी ने जापान लौट जाने का निश्चय किया। आजाद हिंद सेना के वीर रो रहे थे और वह चुप खड़ा था। उसने केवल इतना कहा- 'मैं स्वदेश जाऊँगा।'

'अकेले?' किसी ने मना नहीं किया। मना करने का कुछ अर्थ भी नहीं था। प्रारब्ध ने सारे प्रयत्न को कुचल कर धर दिया था। जापान हथियार डाल चुका- अब तो भाग्य के विधान के सम्मुख मस्तक झुकाना था। उसे अनुमति मिल गयी थी। एक साथी ने पूछा भी बड़े खेद से। 'इस प्रकार मरने से क्या हम सबके साथ भाग्य की प्रतीक्षा करना अच्छा नहीं?'

'मुझे मारेगा कौन?' उसे भय का कारण नहीं जान पड़ता था। यों वह इस बात से अनजान नहीं था कि मार्ग बहुत लम्बा है। वन हिंस्र पशुओं और उनसे भी हिंस्र नरभक्षी जातियों से भरा है। अंग्रेजी सेना ने सब पगडण्डियाँ घेर रक्खी है। लेकिन उसकी आस्था यह सब देखने नहीं देती। 'महाकाली के पुत्र को मारने के लिए हाथ उठाने वाला मरे बिना नहीं रह सकता।'

'नृमुण्डमालिनी की जय!' पैरों में छाले पड़ गये थे। वस्त्र चिथड़े हो गये थे। दाढ़ी और नख बढ़ गये थे। वन-पशु तो उसके मित्र थे। नरभक्षी लोगों ने उसका आखेट करने के बदले उसे फल और कन्द खिलाये। यह आप विश्वास न करें तो मेरे पास कोई उपाय नहीं। लेकिन नरभक्षियों ने पता नहीं क्यों, उसे देखते ही साधु समझ लिया था। उसकी सेवा- उन लोगों के लिए पुण्य बन गयी थी।

'तु मुझे जाने देगा या मारेगा?' सैनिक प्रहरियों से सीधा प्रश्न करता था वह।

'अब जा!' एक निःशस्त्र, फटेहाल भिखारी किसी सैनिक से इस प्रकार पूछे तो सैनिक उसे पागल न समझे तो समझे क्या। गोली तो दूर, उसे गाली भी किसी ने नहीं दी।

'नृमुण्डमालिनी की जय!' कलकत्ते पहुँचकर तो वह सचमुच पागल-सा हो गया। वह नाचने लगा, कूदने लगा, हँसने लगा और बीच-बीच में रोने भी लगा- 'माँ! माँ! दयामयी माँ! तूने मुझे पुकारा! मैं तुझे प्रणाम करने आ गया माँ!'

कलकत्ते के काली-मन्दिर में पुजारी के लिए उस दिन एक समस्या हो गयी। एक पागल नाचने लगा मन्दिर से और मूर्ति के सामने दण्डवत् पड़ा तो घण्टेभर पड़ा रहा। फिर उठा और फिर पड़ गया। फाटक तक जा-जाकर लौट आता था। पता नहीं क्यों, उसे हटाने या रोकने का साहस ही किसी को नहीं होता था। ❑❑

मन्दिर का मान

[1]

'पाटन का सेनापति आया था?' कुमार चन्द्रचूड़ को समाचार मिला है कि पाटन का सेनानायक अकेला ही आज इधर से आया है। समाचार मिलते ही कुमार अपनी साँढ़नी पर सवार हो गये। ऊँट अपनी पूरी शक्ति से दौड़ता आया है।

पाटन और जूनागढ़ की शत्रुता बहुत पुरानी है और अब तो जयसिंह नरेश जूनागढ़ पर आक्रमण करने की योजना भी बना चुके हैं। पाटन का सेनानायक आया है तो कोई दुरभिसन्धि होगी। अकेला क्यों आया वह? उसके सैनिक कहाँ छिपे हैं पीछे?

कुमार चन्द्रचूड़ ने अपने छोटे भाई 'रा' खेंगार को समाचार भेज दिया है। अब सेनानायक आवे, सेना आवे या स्वयं जयसिंह आवें- जूनागढ़ कुछ कोरी की झोपड़ी नहीं कि उसे कोई उजाड़ जायगा। अब तक तो 'रा' ने सब ओर चर भेज दिये होंगे। पाटन की सेना कहाँ छिपी है, यह बात छिपी नहीं रह सकती।

'केशव- यह पाटन का सेनानायक केशव अकेला कैसे आया? कोई सन्देश लेकर आया होता तो उसे सीधे आना था। जूनागढ़ को एक ओर छोड़कर यह इस प्रकार क्यों निकल गया? गढ़ को घेरने और अपनी सेना के पड़ाव निश्चित करने आया हो तो? पर अकेला- कुछ भी हो, इसे पकड़कर गढ़ के तलघर में बन्द किया और जयसिंह की योजना का एक पैर टूटा। इसे तो आज पकड़कर बन्द कर ही देना ठहरा।' कुमार की साँढ़नी दौड़ती आयी थी और उनके मन में ये विचार उमड़ते-घुमड़ते आये थे। उनका उत्साह-आज वे उत्साह की मूर्ति बन गये थे। पाटन के सेनानायक को पकड़ लेने का उन्हें पूरा विश्वास था।

'काले घोड़े पर बैठा पट्टनी सेनानायक केशव यहाँ आया था?' कुमार ने एक ग्रामीण से पूछा। केशव आया तो इधर ही था और वह यहाँ ठहरा भी होगा। यह पानी पिये बिना वह आगे बढ़े, ऐसा नहीं हो सकता। आगे का मरुस्थल-मरुस्थल का मार्ग जब चुना है उसने, तो इस ग्राम से जल लिए बिना काम कैसे चल सकता है उसका।

'आया तो था कुमार।' ग्रामीण ने दोनों हाथ जोड़कर नमस्कार किया। 'वह धीर सिंह के यहाँ रूका था।'

कुमार चन्द्रचूड की ऊँटनी आगे बढ़ गयी। धीर सिंह अपने द्वार पर जैसे उनका मार्ग देखता ही खड़ा था।

उसने नमस्कार किया और कुमार ने उसे तनिक व्यङ्ग से फटकारा- 'जानते हो कौन रुका था तुम्हारे यहाँ?'

'उसने बताया था कुमार।' धीरसिंह में न भय जान पड़ता था, न गर्व। वह शान्त खड़ा था।

'उसने बताया था? उसे जानकर भी जाने दिया तुमने! तुम सोरठी हो?' कुमार चन्द्रचूड़ के नेत्र चढ़ गये। उनका स्वर कठोर हो गया।

'मैं सोरठी हूँ। राजपूत हूँ। सोरठ की मर्यादा, सोरठ का गौरव मेरा गौरव है। सोरठ के लिए मेरा सिर चढ़ता हो तो मैं पीछे नहीं हटूँगा।' धीर सिंह की वाणी में जो गौरवपूर्ण ओज था, वह किसी राजपूत को ही शोभा दे सकता है। 'कुमार को मेरे सोरठी होने में सन्देह है?'

'मैं तुम्हारा अपमान करना नहीं चाहता।' कुमार के स्वर में नरमी आ गयी। उनके पास यहाँ उलझने का समय नहीं। एक-एक पल उनके लिए मूल्यवान् है। उनका शत्रु उनसे दूर-दूर होता जा रहा है। उन्हें उसे पकड़ना है। 'वह सोरठ के शत्रु का सेनानायक है। कहाँ गया? किधर गया वह? मुझे मार्ग बताओ।'

'कोई हो वह' वह धीर सिंह उसी गम्भीर स्वर में कहता गया- 'उसने अपने को छिपाया नहीं। अपना नाम परिचय बताकर उसने कहा कि वह अतिथि है। एक ब्राह्मण- एक अतिथि आवेगा और सोरठी उसे पानी नहीं देगा? उसे दूध नहीं पिलायेगा? मैंने उसे दूध पिलाया, उसके घोड़ों को पानी दिया। वह चला गया।'

'गया किधर?' कुमार चन्द्रचूड़ ने आतुरता से पूछा।

'कुमार! वह मेरा अतिथि हुआ था।' धीर सिंह ने मस्तक झुका लिया। जो उसका अतिथि बना, क्या हुआ कि वह शत्रु था। वह उसका मार्ग बताकर विश्वासघात करे? एक राजपूत अतिथि के साथ विश्वासघात करे?

क्या सोचते हैं आप कि कुमार ने उसकी गर्दन पर तलवार दे मारी होगी? उसे लौटने पर पकड़वा मँगाया होगा? जूनागढ़ के स्वर्गीय 'रा' नवधन के कुमार ऐसे ही होते तो प्रजा का बच्चा-बच्चा उनके लिए सदा प्राण देने को उत्सुक रहता? शूर वह शूर नहीं जो दूसरे शूर की भावना का सम्मान नहीं करता। जो धर्म को महत्त्व नहीं देता, जो धार्मिक के आगे मस्तक नहीं झुका पाता, वह विजयी हो, सम्पत्ति का स्वामी हो और कुछ भी हो, शूर नहीं है। शूर क्रूर पिशाच को नहीं कहा करते। शूर में शौर्य होता है तो औदार्य भी होता है। जूनागढ़ के 'रा' का, उनके कुमारों का इतिहास गुण गाता है- केवल इसलिए कि वे शूर थे। सच्चे अर्थ में शूर।

'धन्य हो तुम! तुम-जैसे सोरठियों से ही सोरठ का मस्तक ऊँचा है।' कुमार

चन्द्रचूड़ ने अपने गले से मोतियों की माला उतारकर धीर सिंह के गले में डाल दी। उनका स्वर गूँजा– 'जय सोमनाथ!' उनकी साँढ़नी दौड़ चली।

'जय सोमनाथ!' धीर सिंह दौड़ा अपनी साँढ़नी पर चढ़ने के लिए। अपना आतिथ्य–धर्म उसने पूरा कर दिया। अपने कुमार को अब अकेले वह शत्रु के सामने नहीं जाने दे सकता। उसे कुमार के पीछे जाना है।

× × ×

[2]

'कोई आता है?' केशव ने एक बार घूमकर पीछे देखा और उसका घोड़ा दुगुने वेग से उड़ चला। 'वह साँढ़नी।' साँढ़नी पर कौन है, यह देखने का केशव को अवकाश नहीं। वह टीला– वह सामने का टीला। टीले पर उसका घोड़ा पहुँच जाय और फिर चाहे कोई आवे। 'रा' आवे या 'रा' की पूरी सेना आ जाय।

'वह जा रहा है! वह जा रहा है केशव!' कुमार चन्द्रचूड़ ने भी देख लिया था दूर से उसे। उन्होंने स्वयं उसे ढूँढ़ा था। धीर सिंह केवल उनके पीछे आ रहा था।

'इसे अब सोमनाथ जाना था, इतना चक्कर क्यों काटा इसने?' कुमार की समझ में कुछ आ नहीं रहा था। 'केशव भगवान् सोमनाथ के दर्शन करने अकेला आवे, यह कुछ मन में आने योग्य बात नहीं। समुद्र के मार्ग से भी वह नौका से आ सकता था और जूनागढ़ में कभी किसी ने भगवान् सोमनाथ के यात्री को रोका तो है नहीं। वह सूचना देकर या बताकर आता तो बाधा क्या थी उसे।'

'बड़े काइयाँ होते हैं ये पट्टनी।' कुमार अपने–आप बोल रहे थे। 'पता नहीं कहाँ जाना था इसे। हम लोग पीछे लगे हैं, यह इसने ताड़ लिया और इधर निकल आया।'

'अब जा कहाँ सकता है?' धीर सिंह ने ऊँट को दौड़ने के लिए अधिक उकसाया।

'तुम निरे योद्धा हो।' कुमार चन्द्रचूड़ हँसे। 'वह टीला–वह टीला देखते हो न। उस टीले पर पहुँचने से पहले हम केशव को पकड़ सकें तो ठीक।'

'अब, अब, अब।' लगता था कि केशव अब पकड़ा ही जायगा। घोड़ा थक गया था। पसीने–पसीने हो रहा था। कुमार चन्द्रचूड़ इतने निकट आ गये थे कि उन्होंने भाला उठा लिया दाहिने हाथ में और ललकारा– 'केशव! पाटन के सिद्धराज जयसिंह के सेनापति के लिये भागना शोभा देता है क्या?'

''बस यह टीला! चढ़ तो जा बेटा!' केशव ने ललकार का उत्तर नहीं दिया। उसने घोड़े के मस्तक को थपथपा दिया।

'जय सोमनाथ!' कुमार चन्द्रचूड़ देखते रह गये। टीले पर केशव का घोड़ा पहुँचा और वह कूदकर पृथ्वी में भगवान् सोमनाथ को दण्डवत् नमस्कार करते गिर गया।

'जय सोमनाथ!' कुमार के हाथ का भाला गिर पड़ा। उन्होंने वहीं से हाथ जोड़े।

'कुमार!' धीरसिंह ने टीले पर साँढ़नी चढ़ाने के लिये जिधर मार्ग था, उधर मोड़ी और कुमार को उत्साहित किया।

'पागल हुए हो धीरसिंह!' कुमार ने हँसकर रोक दिया उन्हें। 'टीले पर से भगवान सोमनाथ के ध्वज के दर्शन हो जाते हैं, यह भूल गया क्या तुम्हें? अब शीघ्रता क्या है? अब तो केशव के साथ हम भी भगवान् के दर्शन करेंगे।'

'जय सोमनाथ!' केशव टीले पर खड़ा हो गया था। उसने बड़ी स्थिरता के साथ धीरसिंह की ओर देखा।

'जय सोमनाथ!' धीरसिंह ने भी हाथ जोड़ लिये। उसे सचमुच यह बात भूल गयी थी कि इस टीले से सोमनाथ के गगनचुम्बी मन्दिर पर फहराती दिव्य ध्वजा के दर्शन हो जाते हैं। जहाँ तक ध्वजा के दर्शन होते हैं, वह सब प्रदेश भगवान् सोमनाथ का है। उस क्षेत्र में पैर रखने के पश्चात् प्रत्येक प्राणी निर्भय हो जाता है। सेनानायक केशव अब सोमनाथ के क्षेत्र में भगवान् सोमनाथ की शरण में खड़ा है। किसका साहस है जो उसे छू सके। सोमनाथ- गुर्जर के आराध्यदेव, उनकी सीमा में तनिक भी इधर-उधर करते-न-करते तो सम्पूर्ण गुजरात उलट-पलट हो रहेगा। भगवान् सोमनाथ की मर्यादा का अतिक्रमण करके भला कोई गुजरात में सकुशल रह सकता है?

'आओ कुमार!' केशव स्वस्थ प्रसन्न मुख बोल रहा था। 'अब यहाँ तक आ गये हो तो भगवान् का दर्शन किये बिना कहाँ लौटा जा सकता है। लेकिन मेरा अश्व बहुत थक गया है।'

'हम भी विश्राम करेंगे केशव।' कुमार ऊपर आ रहे थे। 'इतने दूर तुम्हारे साथ आये हैं तो तुम्हारे साथ ही भगवान् के दर्शन करेंगे।'

'आपको संदेह है कि मैं लौट पड़ूँगा?' केशव ने कटाक्ष किया।' मैं तो भगवान् सोमनाथ की यात्रा ही करने निकला हूँ। सोरठ के कुमार ब्राह्मण पर विश्वास न करें तो उपाय क्या?'

'सोरठ को तुमने पहले भी कभी अविश्वासी देखा है? कुमार को बात लग गयी जान पड़ती थी। 'हमें सावधान तो रहना पड़ता है; किंतु यहाँ भगवान् सोमनाथ के क्षेत्र में किसी पर अविश्वास करने और उसके पीछे रहने का हमें क्या अधिकार है। तुम्हे बुरा लगता है तो हम यह चले। लेकिन तुम यात्रा करने निकले हो, सच कहते हो?'

'राजमाता को भगवान् सोमनाथ के दर्शन करने हैं, यह तो आप भी जानते होंगे।' केशव ने कहा। 'समुद्र के मार्ग में तो कुछ देखना है नहीं, इस मार्ग की तत्काल क्या स्थिति है, यह मैं स्वयं देख लूँ, इस बात की सत्यता में संदेह क्यों हुआ आपको?'

'मार्ग देखने सेनापति निकलें और अकेले?' कुमार की शङ्का को आप असङ्गत कैसे कह देंगे?'

'मार्ग तो देखना ही था। इसी बहाने सेनापति की सोमनाथ यात्रा भी हो जायगी। राजमाता के साथ कहीं महाराज भी आये तो केशव ब्राह्मण को तो पाटन में ही पड़े रहना ठहरा न।' केशव ने बात स्पष्ट की। 'भगवान् सोमनाथ के दर्शन करने क्या सेना के साथ आना शोभा देता मुझे। मैं तो भगवान् का एक तुच्छ किंकरमात्र ठहरा। सेना आनी होगी तो महाराज के साथ आ रहेगी।'

'अपने यहाँ भगवान् सोमनाथ के यात्री का हम सत्कार कर पाते, तुमने हमें इस योग्य भी नहीं ठहराया केशव?' कुमार के स्वर में पता नहीं कहाँ का स्नेह और करुणा उमड़ पड़ी।

'एक दीन ब्राह्मण भगवान् के यहाँ आने को चला कुमार! उसे सेनापति बनकर नहीं, एक दीन बनकर ही आना चाहिये था न?' केशव का स्वर भी आर्द्र होता जान पड़ता था। 'राजकुल का सम्मान तो राजकुल के ही उपयुक्त है। मैं तो केवल आपकी दृष्टि बचाकर भगवान् के चरणों तक पहुँच जाना चाहता था। आप चुपचाप लौटने दोगे तो ठीक, नहीं तो, पाटन भी तो समुद्र-तट पर ही है।'

'तुम समुद्र के मार्ग से क्यों लौटेगे केशव? कुमार ने बड़ी दृढ़ता से कहा। 'हमें तुम सत्कार का सौभाग्य नहीं देना चाहते तो न सही। जूनागढ़ में जहाँ से, जिधर से, जो कुछ देखते तुम्हें जाना हो, देख जाना। 'रा' खेंगार तुम्हारा पीछा नहीं करेंगे।'

कुमार साँढ़नी से उतर पड़े थे। उन्होंने और धीर सिंह ने भी भूमि में लेटकर भगवान् सोमनाथ की ध्वजा का वन्दन किया। आधी घड़ी पहले जो एक-दूसरे के शत्रु थे, वे पास-पास ऐसे बैठे थे, जैसे दो अभिन्न मित्र बैठे हों। भगवान् सोमनाथ के मन्दिर के स्वर्ण कलश से ऊपर श्वेत ध्वज फहरा रहा था और उसकी छाया में तो भय, अविश्वास, आशङ्का को स्थान नहीं है।

× × ×

[3]

'जय सोमनाथ!'

'जय सोमनाथ!' कुमार चन्द्रचूड़ ने देखा कि केशव अपना घोड़ा सजाये सामने खड़ा है। सोमनाथ पहुँचकर कुमार ने यह पता ही नहीं रक्खा कि केशव कहाँ है। भगवान् सोमनाथ की इस पुरी में किसी का पीछा करना तो अपराध है। आज सहसा केशव सम्मुख आ खड़ा हुआ। कुमार ने पूछा - 'प्रसन्न तो हो केशव?'

'भगवान् की कृपा है।' केशव ने कहा। 'भगवान् के दर्शन हो गये। उनकी पूजा का सौभाग्य मिला। अब पाटन लौटना है। कुमार! मेरी यात्रा पूरी हो गयी। अब पाटन का सेनापति सोरठ में गुपचुप कुछ देख जाय, यह शोभा की बात नहीं है। आप कब लौट रहे हैं?'

'केशव !' कुमार केवल सम्बोधन करके एकटक देखते रह गये।

'आप लोग कहते हैं कि पट्टनी काइयाँ होते है।' केशव गम्भीरता से बोल रहा था। 'लेकिन पट्टनी अपने आराध्य के मन्दिर का सम्मान करना जानते है। भगवान् सोमनाथ का यात्री आपको धोखा देकर आपके यहाँ से चला जाय, यह कैसे हो सकता है कुमार ! मैं सोरठ की सीमा आपके साथ पार करूँगा।'

'सुना है जयसिंह जूनागढ़ को घेरने की योजना बना चुके हैं।' कुमार ने एक भिन्न ही बात कही।

'यहाँ खड़े होकर झूठ नहीं बोला जा सकता।' केशव ने एक बार मस्तक उठाकर मन्दिर के स्वर्ण कलश को देखा। 'मैं लौटा और कूच। वहाँ मेरे लौटने की ही प्रतीक्षा होगी महाराज को। राजमाता भगवान् सोमनाथ के दर्शन करने आवें तो उन्हें सोरठ का स्वागत नहीं, अपने पट्टनी सैनिकों की ही सेवा मिलनी चाहिये यहाँ तक।'

'जयसिंह का गर्व तो बहुत बड़ा है।' कुमार चन्द्रचूड़ हँसे। 'लेकिन यदि उनका सेनापति लौटे ही नहीं? वह जूनागढ़ के किसी तलघर की शोभा बढ़ाता रह जाय?'

'यह आप कहते हैं कुमार!' केशव भी खुलकर हँसा। 'आप यहाँ हैं, इसलिए आप ऐसा परिहास कर सकते हैं। सोरठ की सीमा में पहुँचने पर सोरठ के राजकुमार यह परिहास भी नहीं कर सकेंगे, सो क्या मैं जानता नहीं हूँ। लेकिन कुमार एक बात बताये देता हूँ। महाराज की योजना तो महाराज की ही होती है। वह किसी के लिए अटका नहीं करती। उनका सेनापति जूनागढ़ के तलघर में होता तो उनकी वाहिनी दुगुने वेग से चलेगी और अपने सेनापति की मुक्ति के लिये उनके दोनों हाथ तलवार चलावेंगे।'

'केशव ! तू हमें डराता है?' कुमार हँसे। 'जयसिंह दोनों हाथों से तलवार चलाते हैं, यह तो हम भी जानते हैं; किंतु यह तो सोरठ का प्रत्येक सैनिक कर लेता है। लेकिन तुम यह ठीक कहते हो कि तुम्हें पकड़ने की बात परिहास ही है और ऐसा परिहास भी जूनागढ़ की सीमा में पहुँचकर नहीं किया जा सकता। भगवान् सोमनाथ के यात्री का अपमान करने की बात परिहास में भी सोरठ के किसी नागरिक के मुख से नहीं निकलेगी।'

'लेकिन कुमार चल कब रहे हैं?' केशव ने हँसते हुए पूछा।

'तुम अपना रास्ता लो न। मुझे कहाँ तुम्हारे पीछे अपनी साँढ़नी को थकाना है।' कुमार भी हँसे।

'जब नहीं थकाना था तब तो कुमार ने बेचारी को दौड़ाते-दौड़ाते थका मारा।' केशव हँसता रहा- 'अब ब्राह्मण को पहुँचाये बिना कहीं छुटकारा होता है उसका।'

'हम ब्राह्मण सत्कार करना जानते हैं। तुम कब चल रहे हो?' कुमार ने एक क्षण में साथ चलने की स्वीकृति दे दी। उन्होंने धीरसिंह के कान में धीरे से कुछ कह दिया। वह वहाँ से शीघ्रता से चला गया।

× × ×

'जयसोमनाथ!' गगनभेदी ध्वनि, आकाश को छाककर उड़ता बढ़ता आता धूलि का अम्बार, यदा-कदा उसमें जहाँ-तहाँ चलती विद्युत-रेखा पता नहीं कितनी सेना चढ़ी आ रही है।

'जय सोमनाथ! कुमार चन्द्रचूड़ तथा केशव ने एक साथ ध्वनि की; किंतु केशव के स्वर में वह उल्लास नहीं जो कुमार के स्वर में है। उसने जिज्ञासा से कुमार की ओर देखो।'

'सोमनाथ का एक ब्राह्मण यात्री' कुमार चन्द्रचूड़ के अधरों पर हास्य आया- 'जूनागढ़ के 'रा' उसका स्वागत करने का सौभाग्य छोड़ तो नहीं दे सकते।'

'रा' खेंगार मेरा स्वागत करेंगे- पाटन के सेनानायक का स्वागत?' केशव विस्फारित नेत्रों से कुमार को देखता रह गया।

'पाटन के सेनापति का स्वागत तो जूनागढ़ की तलवार करेगी। लेकिन वह तो पाटन के सेनापति की बात है। पाटन के सेना के साथ ही तो केशव सेनापति है।' कुमार ने गम्भीरता से कहा- 'रा' खेंगार तो भगवान् सोमनाथ के यात्री का स्वागत करने आ रहे हैं।'

'जय सोमनाथ!' कोलाहल बढ़ता आ रहा था, धूलि बढ़ती आ रही थी। 'रा' की साँढ़नी रत्नों के आभूषणों से सजी झलमल करती सोने के नूपुरों का रणत्कार करती सामने चली आ रही थी।

'जय सोमनाथ!' कुमार चन्द्रचूड़ ने पूरी शक्ति से पुकारा और जरा-सा मस्तक झुकाकर अपने 'रा' के प्रति सम्मान प्रकट किया।'

'रा' की साँढ़नी आयी। किसी शत्रु के सामने, किसी प्रतापी के सामने, यहाँ तक कि मृत्यु के सामने भी न झुकने-वाला रत्नमुकुट-सज्जित 'रा' खेगार का मस्तक झुक गया - 'जय सोमनाथ।'

केशव जानता है यह उसका सम्मान नहीं, यह पाटन के महाप्रतापी सिद्धराज महाराज जयसिंह के प्रधान सेनापति का सम्मान नहीं, यह भगवान् सोमनाथ के यात्री का, भगवान सोमनाथ का सम्मान है। उसका मस्तक भी झुक गया- 'रा' खेंगार के सामने? अरे नहीं, भगवान् सोमनाथ के प्रति अपूर्व श्रद्धा के सामने- भगवान् सोमनाथ के सामने। उसका कण्ठ यह कहते-कहते भर गया- 'जय सोमनाथ!'

❑❑

स्वभावविजय : शौर्यम

'यह कापुरुषों का कार्य नहीं है; क्षीणकाय, हीनसत्त्व, अपङ्ग असमर्थ- जो संसार में कुछ नहीं कर सकते, ऐसे आलसी एकत्र कर लिये जायँ, साधनाश्रम इसके लिये स्थापित नहीं हुए हैं।' समर्थ स्वामी रामदास निरे साधु नहीं थे। वे उन जीवनसम्पन्न महापुरुषों में थे, जिनके श्रवण अत्याचार पीड़ितों की आर्त पुकार सुनने को सदा सावधान रहते हैं।

'नायमात्मा बल हीनेन लभ्यः' श्रुति का अंश सदा सम्मुख रहता था। समर्थ के शिष्यों के। साधनाश्रम सुपुष्ट, व्यायामशील, सतेज, तरुण साधुओं के आश्रम थे। उनमें निरुद्योग, रसना की तुष्टि के लिये उदर को अनावश्यक भरते रहने वालों के लिये स्थान नहीं था। जिनके अन्तर में उत्साह हो, आर्तों को आश्रय देने की उदारता हो और साथ ही संसार के विषयों से सचमुच वैतृष्ण्य हो, वे ही उन आश्रमों के साधक बन पाते थे।

गोपालन, आश्रमसेवा, व्यायाम और आस-पास के अन्याय पीड़ित, अनाश्रित अथवा प्रारब्धपीड़ित रुग्णजनों की सेवा, उनकी सहायता- आपत्ति में पड़े प्राणियों का उद्धार श्रीसमर्थ के आश्रमों की यही आदर्श परम्परा थी।

बड़ा सीधा पथ था। प्रायः श्रीसमर्थ ने अपने आश्रमों में गोमयनिर्मित मारुति-मूर्तियाँ स्थापित की थीं। उनमें से अनेक मूर्तियाँ अब भी हैं। सेवा तथा शौर्य के प्रतीक उन श्रीरामदूत की उपासना- उन्हीं का आदर्श।

आश्रम के साधु ब्रह्मचारी थे। उन्हें मुख्य शिक्षा मिलती थी- 'शरीर अनित्य है। मनुष्य तो मृत्यु का ग्रास होता ही है। सौभाग्य उसका जो श्रीरघुनाथ की सेवा में शरीर उत्सर्ग कर सके।'

अपने लिए दो कौपीन के टूक और एक तुम्बी का कमण्डलु पर्याप्त था साधकों को। आश्रम की गायें उन्हें दूध दे देती थीं। ज्वार के टिक्कर उन्हें सुस्वादु लगते थे और यह कुछ भी न हो- पत्ते, दूर्वा, बिल्व आदि से क्षुधा सन्तुष्ट कर लेना उन्होंने सीखा

था। वे अन्ततः श्रीमारुति के उपासक थे।

वे शान्ति के समुपासक – यों संसार जानता है कि श्रीसमर्थ के सेवक शस्त्र रखते थे, शस्त्र-शिक्षा प्राप्त करते थे। किसी आपत्ति में पड़े का उद्धार करना हो– उन्हें शस्त्र उठाने के लिए सोचना नहीं पड़ता था; किंतु उन्होंने अपवाद स्वरूप ही कहीं शस्त्रघात किया होगा– केवल वहीं, जहाँ पीड़ित का उद्धार उसके बिना अशक्य हो गया हो।

'साधु का कोई शत्रु नहीं होता।' समर्थ स्वामी की अद्‌भुत शिक्षा थी। 'अत्याचारी दया का पात्र है; क्योंकि वह सत्य से भटक गया है। वह दण्डनीय भी हो तो यह काम साधु का नहीं।'

'प्राण देकर भी पीड़ित का उद्धार कर लेना परम व्रत है।' साधक साधुओं को उनके अनुपम गुरु ने सिखाया था। 'उसका उद्धार करने में अपने पर आघात सह लेना सच्ची शूरता है। आघात तो उतना ही और वहीं आवश्यक है, जहाँ जितने के बिना स्वयं आहत होकर भी पीड़ित को परित्राण देना शक्य न रह जाय।'

कदाचित् ही कभी ऐसा अवसर आया हो। समर्थ के सेवकों में एक भी आततायियों के समुदाय में जहाँ पहुँच पाता था, उसका आतङ्क ही पीड़ित के प्राण बचा देने को पर्याप्त था।

'ये काफिर फकीर– शैतानों का काफिल इनके काबू में है। ये शमशेर उठाते हैं तो डायने खप्पर लेकर उतर आती है आसमान से।' अत्याचारी-वर्ग में पता नहीं कितनी बातें फैली हैं– 'इनकी बददुआ से पूरी फौज महामारी से मर जाती है।'

'समर्थ का साधु आ गया!' अच्छे-अच्छे सेनापतियों के हौसले पश्त हो जाते थे यह सुनते ही। 'अच्छा, उसे निकल जाने दो। वह जिन्हें ले जाना चाहे, ले जाने दो।'

पूरा आक्रमण जिस अबला को उड़ाने के लिए था, समर्थ का एक साधु समूची सेना में से उसे सुरक्षित ले निकल जाता। 'वह किसी को मारेगा नहीं। दौलत बचाने की उसे कोई फिक्र नहीं होगी।' शत्रु के सैनिक भी यह समझते थे।

'अब तुम आश्रम के योग्य नहीं हो।' अपने ऐसे अद्‌भुत साधुओं में भी एक आश्रम के संचालक को उस दिन श्रीसमर्थ ने कह दिया। 'तुम में कापुरुषता के बीज आ गये। कहीं घर बना लो और विवाह करके गार्हस्थ्य स्वीकार करो!'

× × ×

'बचाओ, मेरी बच्ची को बचाओ!' लगभग अर्धरात्रि के समय आर्त चीत्कार ने निद्रा से उठा दिया था रघुनाथ को। आतुरतापूर्वक उन्होंने प्रदीप उठाया और कुटिया का द्वार खोला।

'वे उसे लिए जा रहे हैं! वे पिशाच उसे घोड़ों पर ले जा रहे हैं।' एक रक्तस्नात पुरुष दौड़ता आ रहा था। उसके पैर अस्तव्यस्त पड़ रहे थे।

'उसे बचाओ! मेरी बच्ची...।' रघुनाथदास शीघ्रता से लपके; किंतु वह लड़खड़ाकर गिर पड़ा। दुर्भाग्य से उसका सिर एक बड़े पत्थर पर पड़ा। यह अन्तिम आघात- पहले ही उस पर पता नहीं कितनी चोटें पड़ी थीं। अवश्य उसने शत्रुओं का डटकर सामना किया होगा। एक बार शरीर में तड़पन हुई और वह शान्त हो गया।

प्रदीप पास रखकर रघुनाथदास पृथ्वी पर बैठ गये। उन्होंने नाड़ी देखी, हृदय पर हाथ रखा- कोई जीवन चिह्न नहीं था। शव को उठाकर आश्रम में ले आये।

आज वे एकाकी रह गये हैं आश्रम में। आवश्यक सूचना पर सभी साधु अन्यत्र सेवाकार्य के लिए चले गये हैं। एक ही अश्व रह गया और... किंतु कोई आर्य कन्या अत्याचारियों के हाथ पड़ गयी है। श्रीसमर्थ के आश्रम तक उसकी आर्त पुकार पहुँच चुकी तो उसका उद्धार अनिवार्य हो गया। अश्वारोही पता नहीं किधर कितनी दूर निकल गये। एक-एक क्षण मूल्यवान् था। शव को सुरक्षित रखकर अपना अश्व कसा और शस्त्र सम्हाले। एक आश्रम का संचालक साधु दो क्षण में पीड़ित-परित्राण का सैनिक बना घोड़े पर उड़ा जा रहा था।

आहत परिचित था। उसके ग्रास तक पहुँचना कठिन नहीं हुआ। आक्रमणकारियों का दल किधर गया, यह वहाँ से पता लग गया।

'जय जय श्रीरघुवीर समर्थ!' अरुणोदय से पूर्व ही रघुनाथदास का अश्व आक्रमण करके निश्चिन्त चले जाते शत्रु-सैनिकों के पीछे पहुँच गया।

'समर्थ का साधु!' आततायियों में आतंक व्याप्त हो गया। वे यद्यपि संख्या में पर्याप्त अधिक थे- एक साधु पैंतालीस सशस्त्र सैनिकों का क्या लेता? किंतु रघुनाथदास को तो शिक्षा मिली थी- 'आर्त का परित्राण प्रभु की सेवा है। उसमें शरीर उत्सर्ग हो जाय, परम सौभाग्य!'

'उस लड़की को उतार दो चुपचाप!' शत्रु-सैनिकों के मध्य उनका अश्व अशङ्का भाव से चलता चला गया और सरदार के पार्श्व में पहुँचकर उन्होंने ललकारा- 'समर्थ के साधु को शस्त्र उठाने पर विवश मत करो!'

'उतार दो ! उतार दो, सरदार, उसे!' शत्रु के सैनिक ही चीखने लगे। 'खुदा के लिये उतार दो!'

चारों ओर घोर वन, मशालों की रोशनी आस-पास और ऊपर जहाँ तक जाती है, उससे आगे लगता है प्रेतों का झुंड मुख फाड़े अँधेरे में छिपा है। भय से उन अत्याचारियों ने इधर-उधर और ऊपर देखा। वन के पत्ते, डालियाँ वायु से खड़खड़ाते

ही रहते हैं। वे काँप उठे। 'यह शमशेर उठायेगा तो अभी भूतनियाँ खप्पर लेकर आसमान से उतर आयेंगी।'

'चुपचाप उसे उतार दो, अन्यथा!' रघुनाथदास का अश्व सरदार के अश्व से आ सटा था। अपना एक हाथ तलवार की मूठ पर रखकर सरदार के मुख पर दृष्टि जमायी उन्होंने और दूसरा हाथ सरदार के आगे बैठी आकृति की ओर बढ़ा दिया। अश्व की लगाम इस क्षण मुख में आ गयी थी।

'उतार दो उसे!' साथी चीख रहे थे। सरदार का मुख पीला पड़ गया था। वह कुछ करे या सोचे, इससे पहिले उसके आगे बैठी आकृति को रघुनाथ के हाथ ने अपने अश्व पर उठा लिया और तब उनका अश्व पीछे मुड़ पड़ा।

'जान बख्शी खुदा ने!' सरदार का श्वास ऊपर अटक गया था भय से। अब वह आश्वस्त हुआ।

'मौत का फरिश्ता था यह काफिर!' दूसरों के घोड़े भी पास खिसक आये। 'इनके करिश्मों से खुदा बचाये।'

× × ×

'श्रीरघुनाथ की सेवा कापुरुषों का काम नहीं है।' समर्थ स्वामी रामदास प्रातःकाल आश्रम पर पहुँचे थे और अचानक सन्तुष्ट हो गये थे संचालक पर। 'जिसमें शौर्य नहीं है, वह साधन नहीं कर सकता।'

अब तक और साधु भी आ गये थे। सबने अपने भाग का सेवाकार्य सम्पन्न कर लिया था। प्रातः स्नान, सन्ध्या एवं अर्चन ने अवकाश मिलते ही सबको श्रीसमर्थ ने अपने समीप बुला लिया। अब सबके सम्मुख वे संचालक को सम्बोधित कर रहे थे– 'अब तुम आश्रम के योग्य नहीं रहे! कहीं अलग रहो और गृहस्थाश्रम अपना लो तो अच्छा।'

'हुआ क्या है?' किसी की समझ में बात नहीं आ रही थी। संचालक ने कोई प्रमाद नहीं किया था। रात्रि में वे एकाकी जाकर यवनों द्वारा हरण की गयी कन्या को ले आये थे। कहीं कोई कापुरुषता– उन सम्मान्य के द्वारा कापुरुषता की कल्पना भी कठिन है; किंतु श्रीसमर्थ सर्वज्ञ हैं। वे अकारण इतने क्षुब्ध भी तो नहीं हो सकते। अब तो वे साधु भी आ गये थे, जिन्हें रात्रि के सुरक्षित शव को सरिता में विसर्जित करने का आदेश मिला।

'वह लड़की कहाँ है?' समर्थ ने पूछा।

'लक्ष्मणदास उसे उसके मामा के यहाँ पहुँचाने गया है।' संचालक बोलने का

साहस नहीं कर सके तो एक दूसरे साधु ने कहा। 'वह बार-बार मूर्च्छित हो रही थी। सम्भव है, स्वजनों में पहुँचकर कुछ आश्वस्त हो।'

'इस बार श्रीचरण मुझे क्षमा करें! हिचकियाँ लेते हुए रघुनाथदास समर्थक के चरणों पर गिर पड़े।

सौन्दर्य की वह साकार सुकुमार मूर्ति - बहुत दूर तक उसे अश्व पर अपने-अपने अङ्क में बिठाकर लाना पड़ा था। अरुणोदय की आभा में उसकी यह म्लान मुखश्री- रघुनाथदास को दोष कैसे दिया जाय। साधन-परिशुद्ध उनके चित्त में पता नहीं कहाँ से मनोभव उठ खड़ा हुआ था। वे तरुण हैं, उनके बाहु थरथराये थे। बालिका को सम्भवतः कुछ अधिक सावधानी से अश्व पर उन्होंने सम्हाल लिया था- इससे अधिक तो कुछ नहीं।

'आँख का स्वभाव है रूप पर आकृष्ट होना' सर्वज्ञ गुरु शिष्यों को सचेत कर रहे थे- 'इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों का स्वभाव अपने-अपने विषयों की ओर जाना है। मन का स्वभाव सङ्कल्प-विकल्प करते रहना है। इन्द्रियों एवं मन के इस स्वभाव पर जिसने विजय प्राप्त कर ली, केवल वही शूर है। शेष सब कायर पुरुष हैं। साधु वह हो नहीं सकता, जिसमें शौर्य न हो। श्रीरघुवीर समर्थ की सेवा तो मन-इन्द्रिय वर्ग के स्वभाव पर विजय पाने वाला शूर ही कर सकता है।'

'केवल इस बार श्रीचरण मुझे क्षमा करें।' रो रहे थे रघुनाथदास गुरु के चरणों पर मस्तक रखे।

'आश्रम में तुम्हें स्थान नहीं दिया जा सकता।' कुसुमकोमल संत पता नहीं क्यों कभी-कभी वज्र-कठोर हो उठते हैं। 'तुम्हें गार्हस्थ्य स्वीकार करने की आज्ञा मैं नहीं देता। वह तुम्हारी इच्छा पर निर्भर है; किंतु कहीं अलग रहो। साधु रहना हो तो शौर्य का उपार्जन करना चाहिये।'

'श्रीचरणों के आशीर्वाद और कृपा का मैं अधिकारी रहूँ!' रघुनाथ दास ने आर्त प्रार्थना की- 'अलग रहूँगा आश्रम से।'

'अवश्य! अभी एकान्त-साधन आवश्यक है तुम्हें।' समर्थ ने आशीर्वाद दे दिया।